मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

तृतीय-भाग

आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी

- प्रकाशक -

आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट

A - 304 पूनम अपार्टमेन्ट्स, वरली, मुम्बई

ॐ

परमात्मने नमः

मोक्षमार्गप्रकाशक

प्रवचन

भाग-3

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक पर हुए
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद

(अधिकार 7 वाँ)

प्रस्तावना :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न एम.ए., पीएच.डी., जयपुर (राज.)

सम्पादन :

पण्डित अभयकुमार जैन

जैनदर्शनाचार्य

छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ

जिला – भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :

आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट

ए-३०४, पूनम अपार्टमेन्ट,

वरली, मुम्बई - ४०० ०१८

प्रथम संस्करण : 3100 प्रतियां
दिनांक 14 मई 2002
पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की
113 वीं जन्मजयन्ती

न्यौछावर राशि : 40 रूपये मात्र

प्राप्ति स्थान : **आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट**
ए-304, पूनम अपार्टमेन्टस,
वरली, मुम्बई 400 018
फोन 4921969

श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
वीतराग विज्ञान भवन, पुरानी मंड़ी, अजमेर
फोन 429397

श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
ए-4 बापूनगर, जयपुर 302 015
फोन 515581, 515458

पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला
4635/38, डिप्टीगंज, सदर बाजार, दिल्ली-6
फोन 3627825

टाईप सेटिंग : अजय गुप्ता
वेव कम्प्यूटर एवं प्रिन्टर, गोरधनपुरा, कोटा

मुद्रक : मौसम प्रिन्टर्स, दिल्ली

प्रकाशकीय

प्राणीमात्र के लिये कल्याणकारी पवित्र दिगम्बर जैनधर्म की मंगलमय प्रभावना एवम् उसके प्रचार प्रसार की आवश्यकता को गहराई से अनुभव करते हुए अजमेर निवासी, मुम्बई प्रवासी अध्यात्म रसिक श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया परिवार द्वारा 28 मई 1995 को श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण प्रशिक्षण शिविर, देवलाली (महाराष्ट्र) के पावन प्रसंग पर अध्यात्म जगत के मूर्धन्य मनीषी बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल'- कोटा के संरक्षकत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के कुशल निर्देशन में, "आचार्य कुन्दकुद शिक्षण संस्थान ट्रस्ट" की स्थापना की घोषणा की गई। उपस्थित विशाल जनसमूह ने अतिउत्साह से इस पवित्र कार्य का हार्दिक अनुमोदन किया। ट्रस्ट का मुख्य कार्यालय मुम्बई में स्थित है एवं इसका रजिस्ट्रेशन करवा लिया गया है।

ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य वीतराग दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार-प्रसारं करना है। इस उद्देश्य के प्रति समर्पित कार्यशील उदीयमान विद्वानों को, उनकी आर्थिक कठिनाईयों से मुक्त रखते हुए उन्हें हर संभव दृढ़ता प्रदान करना है जिससे उनकी सेवा एवम् तत्व समर्पण की भावना का अधिक से अधिक लाभ समाज को मिल सके।

इसके अतिरिक्त शिक्षण एवं शोधकार्य में निरन्तर रत प्रतिभाशाली विद्वानों का समुचित सम्मान करना भी ट्रस्ट का उद्देश्य है। इस श्रृंखला में अब तक 'जैनश्रमण-स्वरूप और समीक्षा' पर डॉ. योगेश जैन शास्त्री अलीगंज-एटा को, 'जैन कर्म सिद्धांते बन्धमुक्ति प्रक्रिया' पर डॉ. श्रीयासंकुमार सिंघई जयपुर को, 'महाकवि भूधरदास- एक समालोचनात्मक अध्ययन' पर डॉ. नरेन्द्रकुमार शास्त्री जयपुर को, 'आ. योगीन्दुदेव का व्यक्तित्व और कर्त्तत्व 'पर डॉ. सुदीपकुमार शास्त्री दिल्ली को, 'जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन- समालोचनात्मक अध्ययन' पर डॉ. विनोद 'चिन्मय' शास्त्री विदिशा को, 'श्री कानजीस्वामी व्यक्तित्व और कर्त्तत्व' पर डॉ. मुकेश 'तन्मय' शास्त्री विदिशा को, 'संस्कृत साहित्य में दिक्पाल की अवधारणा' पर डॉ. राजेशकुमार जैन शास्त्री ग्यारसपुर-विदिशा को, 'हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पं. सदासुखदासजी का योगदान' पर डॉ. श्रीमती मुन्नीदेवी जैन (ध.प.डॉ. फूलचंदजी जैन वाराणसी) को पीएच. डी. करने के उपलक्ष्य में सम्मानित किया गया है।

इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों आदि की जैन धार्मिक परीक्षाओं में प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्थान प्राप्त करने वाले छात्रों को सम्मानित करने का भी प्रावधान है।

अपने द्वारा नियुक्त विद्वानों के सौजन्य से ट्रस्ट समाज से शिक्षण-शिविर, व्याख्यान मालाएँ, पूजन-विधान, वेदीप्रतिष्ठा एवं पंचकल्याणकादि में आमन्त्रण-पत्र प्राप्त होने पर सहयोग प्रदान करने हेतु सदैव तत्पर है।

इस दिशा में विगत वर्षो से ट्रस्ट द्वारा नियुक्त विद्वान डॉ. कपूरचन्दजी कौशल (भोपाल) एवं पं. देवेन्द्रकुमार जी (बिजौलियाँ) द्वारा भारतभर के लगभग सभी प्रान्तों में किया गया तत्वप्रचार उल्लेखनीय है।

अपनी गतिविधियों को आगे बढ़ाते हुए अब ट्रस्ट ने अप्रकाशित सत्साहित्य एवम् पूज्य गुरूदेवश्री के अप्रकाशित प्रवचनों के प्रकाशन की दिशा में कदम बढ़ाये हैं और इस कड़ी में सर्वप्रथम आचार्यकल्प पूज्य पण्डित श्री टोडरमलजी द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक पर पूज्य गुरूदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का प्रकाशन कार्य हाथ में लिया है, जो चार भागों मे पूर्ण होगा।

उसमें से अधिकार 1 से 4 तक के प्रवचन भाग-1 के रूप में तथा पॉचवे-छठवें अधिकार पर हुए प्रवचन भाग-2 के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। और सातवें अधिकार पर हुए प्रवचनों को अब प्रकाशित किया जा रहा है।

पूज्य गुरूदेवश्री के ये प्रवचन, जो सन् 1953 में दिये गये थे, सोनगढ़ से प्रकाशित होने वाले गुजराती दैनिक 'श्री सदगुरु प्रवचन प्रसाद' में प्रकाशित हुए हैं। उस समय इनका लेखन एवं सम्पादन श्री अमृतभाई नरशीलाल भाई वे श्री खीमचंद जेठालाल सेठ करते थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पू. गुरुदेवश्री के सन् 1953 के प्रवचनों के साथ-साथ उसके कुछ समय पश्चात् दो क्षुल्लक जी महाराज के अनुरोधवश हुए प्रवचनों के मुख्य अंश भी सम्मिलित किये गये हैं।

इस प्रकार इस ग्रंथ में सातवें अधिकार के दो बार के प्रवचन संकलित किये गये हैं। साथ ही पंचास्तिकाय में समागत निश्चयाभासी व व्यवहाराभासी प्रकरण पर हुए पू. गुरुदेवश्री के प्रवचन भी ग्रंथ के अन्त में परिशिष्ट में दिये गये हैं।

इन प्रवचनों में पूज्य गुरुदेवश्री ने पण्डितजी के भाव को अत्यन्त गंभीरता से खोला है और प्रत्येक विषय का भाववाही स्पष्टीकरण किया है। अनेक विशेषताओं से भरपूर ये प्रवचन सूक्ष्म दृष्टि पूर्वक पठनीय हैं।

इन प्रवचनों का सम्पादन कार्य पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री छिन्दवाड़ा ने तथा हिन्दी अनुवाद पुवाविद्वान पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन, बिजौलियाँ राज. ने किया है। ट्रस्ट उनका अभारी है। पण्डित देवेन्द्रकुमारजी द्वारा अनुवादित व सम्पादित अन्य प्रवचन भी विभिन्न ट्रस्टों से प्रकाशित हो रहे हैं, जिनमें अष्टपाहुड़ प्रवचन, अनुभवप्रकाश प्रवचन, द्रव्यसंग्रह प्रवचन तथा नाटक समयसार प्रवचन आदि विशेष उल्लेखनीय है।

हमारे अनुरोध पर इस ग्रन्थ की महत्वपूर्ण प्रस्तावना अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त अध्यात्म मनीषी डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर ने लिखी है तथा इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें सुप्रसिद्ध दार्शनिक चिन्तक बाबू जुगलकिशोर जी 'युगल' कोटा, का समुचित मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है- ट्रस्ट उक्त विद्वानों का हार्दिक अभारी है। साथ ही भविष्य में भी ऐसे ही सहयोग की अपेक्षा रखता है।

इस ग्रंथ की कीमत कम करने हेतु साधर्मीजनों के द्वारा प्रदत आर्थिक सहयोग हेतु ट्रस्ट आभारी है। सूची अलग से प्रकाशित है।

इस ग्रंथ के लेजर टाईप सैटिंग का काम श्री अजय गुप्ता **"वेव कम्प्यूटर एवं प्रिन्टर"** कोटा द्वारा किया गया है एवं सुन्दर प्रकाशन का श्रेय इण्डिया बाईण्डिग हाऊस दिल्ली को जाता है।

ट्रस्ट की भावना है कि इसके आगे का भाग 4, जिसमे आठवे, नौवें अधिकार के प्रवचनों के अतिरिक्त रहस्यपूर्ण चिट्ठी, परमार्थ वचनिका व निमित्त-उपादान की चिट्ठी पर प्रवचन संकलित है, भी यथाशीघ्र प्रकाशित होकर स्वाध्यायी साधर्मीजनों को प्राप्त हों- तदर्थ अनुवाद/सम्पादन कार्य चल रहा है।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचनों के मर्म को समझकर अपना आत्मकल्याण करें। ऐसी भावना के साथ-साथ यदि कहीं भाव सम्बन्धी अशुद्धि आपको दृष्टिगोचर होवे तो कृपया हमें सूचित करें जिससे उसकी पुनरावृति से बचा जा सके।

दिनांक 14 मई 2002,
पूज्यगुरूदेव श्री कानजीस्वामी की
113 वी जन्मजयन्ती

बसंतभाई, एम. दोशी
मेनेजिंग ट्रस्टी
आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट
मुम्बई - 18

अहो भाग्य

आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के सातिशय प्रभावना योग में सहज सम्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति इस सदी का आश्चर्यजनक वरदान है। लगभग ४५ वर्षों तक जिनागम के अपूर्व रहस्यों का उद्घाटन करके उन्होंने लाखों भव्यजीवों को मुक्ति का भाजन बनाया है। उनकी वाणी में जिनागम में प्रतिपादित अनेक गूढ़ सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हुआ है, जिससे आत्मार्थी बन्धुओं को जिनगम का मर्म समझने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है।

आध्यात्मिक ग्रंथराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गुजराती-हिन्दी प्रकाशन मुमुक्षु समाज की अनेक संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा जगाई गई आध्यात्मिक चेतना में उक्त परमागम ग्रन्थों के साथ-साथ आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी विरचित मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ का भी उल्लेखनीय योगदान है। इस ग्रन्थ पर दो बार प्रवचन करके उन्होंने इसमें छिपे हुए रहस्यों को खोला है। इस ग्रन्थ के सातवें अध्याय से वे बहुत प्रभावित थे। यही कारण है कि सोनगढ़ में आयोजित शिक्षण-शिविरों में प्राय: सातवाँ अध्याय ही पढ़ाया जाता था। इस ग्रन्थ पर प्रवचन करते समय दिगम्बर गृहस्थ विद्वानों के प्रति बहुमान व्यक्त करते हुए वे प्राय: कहा करते थे कि – दिगम्बरों ना पण्डितोए पण गजब काम कर्यु छे....।

यद्यपि इस ग्रन्थ पर हुए उनके प्रवचन ''मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें'' इस नाम से प्रकाशित हो चुके हैं, तथापि अनेक मुमुक्षु भाइयों की भावना थी कि सन् १९५२ में हुए प्रवचनों – जो सद्गुरु प्रवचन प्रसाद में संकलित हैं – को हिन्दी में प्रकाशित किया जाए।

कुन्दकुन्द-शिक्षण-संस्थान के संस्थापक श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया की तीव्र भावना को देखते हुए पण्डित श्री देवेन्द्रकुमारजी बिजोलियां ने इसका हिन्दी अनुवाद किया। पूज्य गुरुदेव के भावों को अक्षुण्ण रखते हुए इसका सम्पादन करने का दायित्व मुझे सौंपा गया।

छिंदवाड़ा प्रवास करते हुए साहित्य रचना, अनुवाद तथा सम्पादन में पूर्ण समर्पण ही मेरा ध्येय है, अत: श्री लुहाड़ियाजी का अनुरोध मेरे लिए वरदान बनकर आया।

श्री देवेन्द्रकुमारजी के साथ अनुवाद कार्य जाँचते हुए पूज्य गुरुदेव के भावों को गहराई और स्पष्टता से समझने का अवसर पाकर मुझे जो ज्ञान और आनन्द का लाभ मिला, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। पूज्य गुरुदेव के प्रति महिमा भी बहुत वृद्धिंगत हुई। लगभग ५० वर्ष पूर्व उनके द्वारा किया गया पैना और स्पष्ट विवेचन पढ़कर हृदय बारम्बार उनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता है। इस उपकार के लिए मैं श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

अन्त में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी एवं पूज्य गुरुदेव श्री को विनम्र प्रणाम करता हुआ यही भावना भाता हूँ कि सभी आत्मार्थी बन्धु इन प्रवचनों के माध्यम से जिनागम का मर्म समझकर आत्मकल्याण की दिशा में अग्रसर होंगे।

– **अभयकुमार जैन शास्त्री**

श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द कहान विद्यापीठ, छिंदवाड़ा (म.प्र.)

अनुवादक के दो शब्द

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी एवं उनकी अनुपम कृति मोक्षमार्गप्रकाशक से समस्त तत्वप्रेमी स्वाध्यायी समाज सुपरिचित है।

नौ अधिकारों में उपलब्ध इस ग्रन्थ में पूज्य पण्डितजी साहब ने वह सब प्रतिपादित कर दिया है, जो एक आत्मसाधक को आत्मकल्याण के लिये जानना आवश्यक होता है।

यही कारण है कि जब संवत् 1982 में आध्यात्मिक सत्पुरूष पूज्य गुरुदेव कानजीस्वामी को यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ तो उन्होनें एक कुशल जौहरी की भांति इस ग्रन्थ की महानता को परख लिया। इस ग्रन्थ के सातवें अधिकार पर तो वे ऐसे रीझे कि पूरे अधिकार को अपने हाथ से ही लिख लिया।

तत्पश्चात् उन्होनें इस ग्रन्थ पर कई बार प्रवचन किये एवं अपने अन्य प्रवचनों में भी अपनी बात को पुष्ट करने के लिये इस ग्रन्थ एवं पण्डित टोडरमलजी का वे अत्यन्त आदर के साथ स्मरण करते रहे।

उनके द्वारा दिये गये प्रवचन सोनगढ़ से निकलने वाले दैनिक 'सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' में नियमित प्रकाशित होते थे जिन्हें श्री अमृतभाई नरशीलाल भाई एवं खीमचंद भाई जे. सेठ लिखकर सम्पादित करते थे। उक्त दोनो महानुभावों के असीम प्रयास से गुरुदेवश्री द्वारा प्रदत्त यह धरोहर हमें सहज उपलब्ध हो गई है। अतः पूज्य गुरुदेवश्री का तो हम पर अनन्त-अनन्त उपकार है ही, उनकी इस धरोहर को लिपिबद्ध करके सुरक्षित रखने हेतु इन दोनों विद्वानों का भी समाज पर बहुत उपकार है।

उक्त सम्पूर्ण प्रवचनों को चार भागों में प्रकाशित करने की योजना है, जिसका विभाजन इस प्रकार रखा गया है -

भाग - 1	:	अधिकार 1 से 4	भाग-2	:	अधिकार 5 व 6
भाग - 3	:	अधिकार 7	भाग-4	:	अधिकार 8 व 9

प्रथम व द्वितीय भाग के प्रकाशनोंपरान्त अब चिरप्रतीक्षित तीसरा भाग प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें सातवें अधिकार पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के दि. 24.1.1953 से 29.4.53 तक के सम्पूर्ण प्रवचन एवं दि. 18.8.53 से 19.12.53 तक हुए प्रवचनों के मुख्य अंश समायोजित किय गये हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में गुरुदेवश्री के दो बार के प्रवचन समायोजित हैं जो कि विषय के सर्वांगीण स्पष्टीकरण हेतु अत्यन्त आवश्यक हैं।

प्रथम बार के प्रवचन हो चुकने के कुछ माह पश्चात् ही दो क्षुल्लकजी महाराज सोनगढ़ पधारे थे और उन्होंने गुरुदेवश्री के श्रीमुख से सातवें अधिकार पर प्रवचन सुनने के भावना व्यक्त की थी। जिसके फलस्वरूप उन्होंने ये प्रवचन प्रदान किये हैं। जिसमें पूर्व के प्रवचनों की अपेक्षा भी कई विषयों पर गहराई से प्रकाश डाला गया है। अतः समस्त साधर्मीजन उस स्पष्टीकरण का भी लाभ प्राप्त कर सकें इस भावना से अत्यावश्यक एवं पहले प्रवचन में अनुपलब्ध स्पष्टीकरण को ग्रन्थ में समायोजित किया गया है। साथ ही पंचास्तिकाय संग्रह में समागत व्यवहाराभासी व निश्चयाभासी प्रकरण पर पू. गुरुदेवश्री के प्रवचन अन्त में परिशिष्ट में दिये गये हैं।

ग्रन्थ में हेडिंग मुख्यतः मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर संस्करण) के अनुसार ही रखे गये हैं। मात्र निश्चयाभासी व उभयाभासी के प्रकरण में उनकी विशेष भूलों पर ध्यानाकर्षण हेतु कुछ नये हेडिंग दिये गये हैं, जिनका आधार पूज्य गुरुवर्य पण्डित कैलाशचन्दजी बुलन्दशहर द्वारा संकलित 'जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला' भाग-6 रहा है।

पूज्य पण्डित कैलाशचन्दजी मेरे तत्वज्ञान प्रदाता विद्यागुरु हैं। उनके सानिध्य में रहकर ही मुझे जैन दर्शन एवं पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति विशेष भक्ति जागृत हुई है, जिसके फलस्वरूप गुरुदेवश्री के प्रवचन ग्रन्थों का अनुवाद आदि कार्य करने की भावना हुई है। इसके लिये आदरणीय पण्डित जी सा. का हार्दिक अभारी हूँ।

इन प्रवचनों में पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्रपाठी मिथ्यादृष्टियों के अन्तरंग अभिप्राय की गहरी भूलों का विश्लेषण किया है। वे पाठी भी ऐसे हैं जो अपने को धर्मात्मा और ज्ञानी ही मानते हैं। तथापि अन्तर में कैसी-कैसी भूलें पड़ी रह जाती हैं- यह

सारा विषय मूलतः पठनीय है। अतः सातवें अधिकार के भावपूर्ण लेखन प्रवचनों के लिये पूज्य पण्डित टोडरमलजी एवं पू.गुरुदेवश्री के प्रति नतमस्तक हूँ।

आदरयीय बाबूजी श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया ने इनके प्रकाशन का दायित्व स्वीकार कर मेरे उत्साह में अभिवृद्धि की है, तदर्थ अभारी हूँ।

आदरणीय बाबू जुगलकिशोर जी 'युगल' कोटा से मुझे इस विषय में समय-समय पर मार्गदर्शन मिला, साथ ही आदरणीय डॉ. हुकमचन्द जी भारिल्ल ने कई उपयोगी सुझावों के साथ-साथ प्रस्तावना लिखने की कृपा की, तदर्थ विद्वतद्वय का विशेष आभारी हूँ।

अनुवादोपरांत आतिशत श्रमपूर्वक सम्पादन कार्य मे सहयोग करने के लिये एवं उपयोगी सुझावों के लिये आदरणीय पण्डित अभयकुमारजी 'जैनदर्शनाचार्य' छिन्दवाड़ा का अभारी हूँ और भविष्य में भी उनका ऐसा ही मार्गदर्शन प्राप्त होगा- ऐसी आशा करता हूँ।

सभी साधर्मीजन इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण करें- इस भावना के साथ यह अनुरोध भी करना चाहूंगा कि यदि कोई भाव सम्बन्धी भूल ज्ञात होवे तो अवश्य सूचित करें, जिससे आगामी संस्करण मे सुधार के साथ-साथ अन्य प्रकाशनों में उसकी पुनरावृत्ति से बचा जा सके।

दिनांक 14 मई 2002,
पूज्यगुरूदेव श्री कानजीस्वामी की
113 वी जन्मजयन्ती

देवेन्द्रकुमार जैन
गुरु कहान मार्केट, बिजौलियां
जिला-भीलवाड़ा (राज.)
दूरभाष 36061, 36347

प्रस्तावना

–डॉ.हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के जीवन परिवर्तन में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थाधिराज समयसार के साथ-साथ आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक का भी महत्वपूर्ण योगदान है। समयसार विक्रम संवत् १९७८ में उनके हाथ लगा था और मोक्षमार्गप्रकाशक १९८२ में। इन दोनों ग्रन्थराजों ने उनके हृदय को आन्दोलित कर दिया।

जब समयसार उनके हाथ लगा और उन्होंने उस पर सरसरी नजर डाली तो उनके मुँह से सहज ही प्रस्फुटित हुआ कि यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है और मोक्षमार्गप्रकाशक का सातवाँ अधिकार उन्हें इतना प्रिय लगा कि उसे उन्होंने स्वयं अपने हाथ से पूरा का पूरा लिख लिया और सदा अपने पास रखा। उनकी वह हस्तलिखित प्रति आज भी सोनगढ़ में सुरक्षित है।

वे जीवन भर समयसार और मोक्षमार्गप्रकाशक के गीत गाते रहे। समयसार पर तो उन्होंने १९ बार सभा में प्रवचन किये। और मोक्षमार्गप्रकाशक पर भी उन्होंने प्रवचन किए। यह प्रकाशन उनके मोक्षमार्गप्रकाशक पर हुए प्रवचनों का ही संकलन है।

महापण्डित टोडरमल गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडम्बर विरोधी, दृढ़श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकनेवाले, आत्मानुभवी और लोकप्रिय प्रवचनकार थे। तत्कालीन समाज में तत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्रकरणों में उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किये जाते थे और धार्मिक उत्सवों में जनता की अधिक से अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का उल्लेख आकर्षण के रूप में किया जाता था। गृहस्थ होने पर भी उनकी वृत्ति और प्रवृत्ति साधुता का प्रतीक थी।

यद्यपि उनका अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता, तथापि कुछ समय उन्हें आजीविका के लिए सिंगाणा में रहना पड़ा था।

उनकी आत्मसाधना और तत्त्वप्रचार का कार्य सुनियोजित और सुव्यवस्थित था। मुद्रण की सुविधा न होने से तत्सम्बन्धी अभाव की पूर्ति के लिए दश-बारह कुशल लिपिकार शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ निरन्तर करते रहते थे। उनकी शास्त्रसभा में उनका व्याख्यान सुनने के लिए हजार-बारह सौ स्त्री-पुरुष प्रतिदिन आते थे। बालक-बालिकाओं, प्रौढ़ पुरुषों एवं महिलाओं के धार्मिक अध्ययन-अध्यापन की पूरी-पूरी व्यवस्था थी।

उनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष था और उनका प्रचार कार्य ठोस था। यद्यपि उससमय यातायात की कोई सुविधायें नहीं थीं; तथापि उन्होंने दक्षिण भारत में समुद्र किनारे तक धवलादि सिद्धान्त शास्त्रों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया था।

उनके जीवन के सन्दर्भ में यदि विशेष जिज्ञासा हो तो तदर्थ ''पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व'' का अध्ययन करना चाहिए।

वैसे तो उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें सिद्धान्त और अध्यात्म ग्रन्थों की टीकायें ही मुख्य हैं; तथापि मोक्षमार्गप्रकाशक उनकी मौलिक रचना है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जिनागम है। यद्यपि यह समग्र जैनागम को अपने में समेट लेने का सार्थक प्रयास था; तथापि खेद के साथ लिखना पड़ता है कि यह पूर्ण न हो सका।

अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिए प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रंथ है, जो अनेक भाषाओं में लाखों की संख्या में प्रकाशित होकर घर-घर में पहुँच चुका है और इसकी माँग सदा बनी ही रहती है। आज भी पण्डित टोडरमल दिगम्बर जैन समाज में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले विद्वान हैं।

प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक में नौ अधिकार हैं। आरम्भ के आठ अधिकार तो पूर्ण हो गये, पर नौवाँ अधिकार अपूर्ण है। इस अधिकार में जिसप्रकार विषय उठाया गया है, उसके अनुरूप उसमें कुछ भी नहीं कहा जा सका है।

अपूर्ण नौवें अधिकार को पूर्ण करने के उपरान्त उसके आगे और भी अनेक अधिकार लिखने की उनकी योजना थी। पण्डित टोडरमलजी के मस्तिष्क में न जाने कितने अधिकार प्रच्छन्न थे। प्राप्त नौ अधिकारों में लेखक ने बारह स्थानों पर ऐसे संकेत दिये हैं कि इस विषय पर आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला जावेगा।

उक्त संकेतों और प्रतिपादित विषय के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि यह महाग्रंथ निर्विघ्न समाप्त हो गया होता तो पाँच हजार पृष्ठों से कम का नहीं होता और उसमें मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विस्तृत विवेचन होता।

यह ग्रंथ विवेचनात्मक गद्य शैली में लिखा गया है और प्रश्नोत्तरों द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। जिस भी विषय को छुआ गया, उसके सम्बन्ध में उठने वाली प्रत्येक शंका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। प्रतिपादन शैली में मनोवैज्ञानिकता और मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शंका के समाधान में द्वितीय शंका की उत्थानिका निहित रहती है। ग्रंथ को पढ़ते समय पाठक के हृदय में जो प्रश्न उपस्थित होता है, उसे हम अगली पंक्ति में लिखा पाते हैं। ग्रंथ पढ़ते समय पाठकों को आगे पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है।

वाक्यरचना संक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एवं गंभीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमें नहीं है, पर विस्तार के संकोच में कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ कहीं विषय का विस्तार भी हुआ है; वहाँ उत्तरोत्तर नवीनता आती गई है। यह विषयविस्तार सांगोपांग विषयविवेचन की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होंने छुआ; उसमें

क्यों का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

विषय को स्पष्ट करने के लिए समुचित उदाहरणों का समावेश है। कई उदाहरण तो सांगरूपक के समान कई अधिकारों तक चलते हैं। जिसप्रकार कि रोगी और वैद्य का उदाहरण द्वितीय अधिकार से पंचम अधिकार तक प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में चलता है।

अपनी बात पाठक के हृदय में उतारने के लिए पर्याप्त आगम प्रमाण, सैकड़ों तर्क तथा जैनाजैन ग्रंथों के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। ऐसा लगता है कि वे जिस विषय का विवेचन करते हैं; उसके सम्बन्ध में असंख्य ऊहापोह उनके मानस में हिलोरें लेने लगते हैं तथा वस्तु की गहराई में उतरते ही उनकी अनुभूति लेखनी में उतरने लगती है। वे प्रत्येक विषय को पूरा स्पष्ट करते हैं। जहाँ विषय को प्रसंगानुसार अधूरा छोड़ना पड़ा है, वहाँ वे उल्लेख करते हैं कि इस विषय को यथास्थान आगे विस्तार से स्पष्ट करेंगे।

यद्यपि मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रत्येक वाक्य आर्षसंमत है; तथापि उसमें बहुत-सा नया प्रमेय भी उपस्थित किया गया है; जो जिनागम में उस रूप में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इसप्रकार के विषय ग्रंथ में सर्वत्र आये हैं; तथापि इस दृष्टि से सातवाँ व आठवाँ अधिकार विशेष उल्लेखनीय है।

निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी आदि प्रकरण तथा चार अनुयोगों की व्याख्यान पद्धति आदि विषय और उनका स्पष्टीकरण इसप्रकार का है कि जैसा जिनागम में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

जिन-अध्यात्म और सिद्धान्तों के तो वे विशिष्ट अध्येता थे ही; तत्कालीन समाज एवं उसके धार्मिक क्रियाकलाप भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सके थे। शास्त्राध्ययन एवं आत्मानुभवन के अतिरिक्त उनका लोकनिरीक्षण भी अत्यंत सूक्ष्म रहा है।

पण्डित टोडरमलजी मुख्यत: आध्यात्मिक चिन्तक हैं; परन्तु उनके चिन्तन में तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। उनकी यह विशेषता मोक्षमार्गप्रकाशक में सर्वाधिक मुखर हुई है।

वे हिन्दी साहित्य के तत्कालीन गद्य लेखकों में सर्वाधिक सशक्त गद्यकार हैं। उन्होंने अपनी गद्यशैली का निर्माण स्वयं किया है। उनकी गद्यशैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से बोझिल। उनके गद्य में उनका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हो उठा है।

उनकी शैली की एक विशेषता यह है कि प्रश्न भी उनके होते हैं और उत्तर भी उनके ही। पूर्व प्रश्न के समाधान में अगला प्रश्न उभरकर आ जाता है। इसप्रकार विषय का विवेचन अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने पर ही वह प्रश्न समाप्त होता है।

उनकी गद्यशैली में उनका अगाध पाण्डित्य एवं आस्था सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। दृष्टान्त उनकी शैली में

मणिकांचन योग से चमकते हैं। दृष्टान्तों के प्रयोग में पण्डितजी का सूक्ष्म वस्तुनिरीक्षण प्रतिबिम्बित है, जीवन के और शास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र से उन्होंने उदाहरण चुने हैं। उनके गद्य में लोकोक्तियों के प्रयोग भी खूब मिलते हैं।

उनकी शैली की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने अधिकांश आगम- प्रमाण शंकाकार के मुख में रखे हैं। उनका शंकाकार प्राय: प्रत्येक शंका आर्षवाक्य प्रस्तुत करके सामने रखता है और समाधानकर्त्ता आर्षवाक्यों का अपेक्षाकृत कम प्रयोग करता है और अनुभूतिजन्य युक्तियों और उदाहरणों द्वारा उसकी जिज्ञासा शांत करता है।

वे विशुद्ध आत्मवादी विचारक थे। उन्होंने उन सभी विचारधाराओं पर तीखा प्रहार किया जो आध्यात्मिकता के विपरीत थीं। आचार्य कुन्दकुन्द के साथ जो विशुद्ध अध्यात्मवादी आन्दोलन की लहर उठी थी; वे उसके अपने युग के सर्वोत्तम व्याख्याकार थे। वे अपने युग के जैन आध्यात्मिक विचारधाराओं के ज्योतिकेन्द्र थे। आध्यात्मिकता उनके लिए अनुभूतिमूलक चिंतन है। चारों अनुयोगों के अध्ययन के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने आध्यात्मिक अध्ययन पर सबसे अधिक बल दिया है।

प्रतिभाओं का लीक पर चलना कठिन होता है; पर ऐसी प्रतिभायें बहुत कम होती हैं , जो लीक छोड़ कर चलें और भटक न जायें। पण्डित टोडरमलजी भी उन्हीं में से एक हैं, जो लीक छोड़कर चले पर भटके नहीं।

महापण्डित टोडरमल के मोक्षमार्गप्रकाशक को इस युग में जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी और उनके द्वारा सम्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति को है। आचार्य कुन्दकुन्द और पण्डित टोडरमलजी की आध्यात्मिक क्रान्ति को इस युग में पुनरुज्जीवित करने का महान कार्य भी स्वामीजी ने ही किया है।

मोक्षमार्गप्रकाशक पर जो प्रवचन उन्होंने किये, वे सरल-सुबोध होने के साथ-साथ उन मार्मिक बिन्दुओं को स्पर्श करते हैं, जो हमारी पुरानी मान्यताओं को झकझोर कर रख देते हैं। विशेषकर सातवें और आठवें अधिकारों पर हुए उनके प्रवचन बेजोड़ हैं।

समयसार पर हुए उनके प्रवचनों का प्रकाशन तो 'समयसार प्रवचन' और 'प्रवचन रत्नाकर' के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं; पर मोक्षमार्गप्रकाशक पर उनके प्रवचनों का प्रकाशन हिन्दी भाषा में अभी तक नहीं हुआ थां। इस कमी की पूर्ति का काम आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट ने उठा लिया है, तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। इसका अनुवाद देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियां और सम्पादन का कार्य पण्डित अभयकुमारजी जैनदर्शनाचार्य ने किया है ; अत: इसकी प्रामाणिकता के संदर्भ में कुछ सोचने की आवश्यकता ही नहीं है।

मेरा पक्का विश्वास है कि मुमुक्षु समाज तो इसका पूरा-पूरा लाभ लेगा ही; परन्तु मेरी भावना तो यह है कि इस सार्थक प्रयास का पूरा-पूरा लाभ सम्पूर्ण जैन समाज ले – इसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२ ०१५

विषय – सूची

सातवाँ अधिकार (जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन)

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि 3

निश्चयाभासी की स्वच्छन्दता और उसका निषेध 65

केवल निश्चयाभास के अवलम्बी जीव की प्रवृत्ति 100

निश्चय व्यवहार के स्वरूप पर विशेष प्रवचन 148

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि 153

कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी 165

परीक्षारहित आज्ञानुसारी कर्मधारक व्यवहाराभासी 171

सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक व्यवहाराभासी 191

उक्त व्यवहाराभासी धर्मधारकों की सामान्य प्रवृत्ति 196

धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी 208

सम्यग्दर्शन का अन्यथारूप 208

देवभक्ति अन्यथारूप 209, गुरूभक्ति का अन्यथारूप 225

शास्त्रभक्ति का अन्यथारूप 232, सप्ततत्त्व का अन्यथारूप 238

जीव-अजीवतत्त्व का अन्यथारूप 243,

आस्रवतत्त्व का अन्यथारूप 252, बन्धतत्त्व का अन्यथारूप 262,

संवरतत्त्वका अन्यथारूप 267 निर्जरातत्त्व का अन्यथारूप 284

मोक्षतत्त्व का अन्यथारूप 311 सम्यग्ज्ञान का अन्यथारूप 325

सम्यक्चारित्र का अन्यथारूप 344 उभयाभासी मिथ्यादृष्टि 407

सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि 488

परिशिष्ट – (1) 535

परिशिष्ट – (2) 554

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

भाग - 3

नमः सिद्धेभ्यः

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

भाग - 3

सातवाँ अधिकार

जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन

अब दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्में और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की मान्यता वाले जीव भी मिथ्यादृष्टि किसप्रकार हैं- यह बात करते हैं। वेदान्त, बौद्ध, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि जैनमत के अनुसरण करने वाले नहीं हैं। उनकी बात तो पाँचवें अधिकार में की है। यहाँ तो जो जीव वीतराग प्रतिमा को पूजते हैं, नग्नमुनि को मानते हैं, उनके द्वारा कहे हुए शास्त्रों को मानते हैं-ऐसे जैनमतानुयायी भी मिथ्यादृष्टि किसप्रकार हैं- यह बतलाते हैं।

सत्तास्वरूपग्रन्थ में श्री भागचन्दजी छाजेड़ ने कहा है कि- 'दिगम्बर जैन कहते हैं कि- हम तो सच्चे देवादिक को मानते हैं, अतः हमारा गृहीत मिथ्यात्व तो छूट गया है। तो कहते हैं कि नहीं, तुम्हारे गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटा; क्योंकि तुम्हें गृहीत मिथ्यात्व का पता ही नहीं है। 'अन्य देवादिक को मानना,' इतना मात्र ही गृहीत मिथ्यात्व का स्वरूप नहीं है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को बाहर में भी यथार्थ व्यवहार जानकर श्रद्धा करनी चाहिये।' सच्चे व्यवहार को जाने बिना देवादिक की श्रद्धा करे तो भी गृहीत मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो अगृहीत मिथ्यात्व की बात करते हैं।

मंगलाचरण

दोहा- **इस भवतरू का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।**
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव।।

इस संसाररूपी वृक्ष का मूल एक मिथ्यात्वभाव ही है, उस मिथ्यात्वभाव का मूल में से नाश करके मोक्ष का उपाय करो।

....अब, जो जीव जैन हैं, जिन-आज्ञा को मानते हैं, और उनके भी मिथ्यात्व रहता है, उसका वर्णन करते हैं- क्योंकि इस मिथ्यात्वबैरी का अंश भी बुरा है, इसलिये सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है।....

जो सच्चे देवादिक को नहीं मानते वे जीव तो जैनी भी नहीं कहलाते। परन्तु जो जीव जैनीं हैं, जिन आज्ञा को मानते हैं उनके भी मिथ्यात्व रहता है। उसका यहाँ वर्णन करते हैं। जो दिगम्बर सनातन जैन कुल में जन्मा होवे वह जिन आज्ञा को माने, परन्तु देवादिक का स्वरूप कैसा होता है इसकी उसे खबर नहीं है- इस कारण उसके भी मिथ्यात्व होता है।

जो अठारह दोष रहित सर्वज्ञ वीतराग को देव माने, नग्न दिगम्बर अट्ठाईस मूलगुणों के धारक मुनि को गुरु माने और उनके कहे शास्त्रों को माने उसे भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप का भान न होने से मिथ्यात्व होता है। जिसको सच्चे देवादिक का पता नहीं उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है। जिसको आत्मा का यथार्थ भान हुआ है उसे तो सच्चे देवादिक की सच्ची श्रद्धा और भक्ति आये बिना रहती नहीं। भले ही नाम न ले परन्तु अन्तर में तो उसके भक्ति भाव होता है। यहाँ तो जिसको दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म लेकर सच्चे देवादिक की श्रद्धा होती है, परन्तु यथार्थ आत्मा का भान नहीं होता- उस मिथ्यादृष्टि की बात करते हैं।

हम तो सनातन जैन धर्मी हैं और वीतराग की आज्ञा मानते हैं- ऐसा मानने वाले जैन भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। इस मिथ्यात्व (बैरी) का अंश भी बुरा है इसलिये सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है।

....वहाँ जिनागम में निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। उसमें यथार्थ का नाम निश्चय है, उपचार का नाम व्यवहार है। इनके स्वरूप को न जानते हुए अन्यथा प्रवर्तते हैं, वही कहते हैं:-....

अब कहते हैं कि- जिनागम में निश्चय- व्यवहाररूप वर्णन है, उसमें यथार्थ का नाम निश्चय और उपचार का नाम व्यवहार है। षटखण्डागम और समयसारादि को आगम कहा जाता है। उनमें जैसा निश्चय- व्यवहार का स्वरूप कहा गया है वैसे स्वरूप को जो यथावत् नहीं जानते और विपरीत प्रकार से मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। उनकी बात यहाँ करते हैं-

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि

....कितने ही जीव निश्चय को न जानते हुए निश्चयाभास के श्रद्धानी होकर अपने को मोक्षमार्गी मानते हैं, अपने आत्मा का सिद्धसमान अनुभव करते हैं, आप प्रत्यक्ष संसारी हैं, भ्रमसे अपने को सिद्ध मानते हैं, वही मिथ्यादृष्टि है।

शास्त्रों में जो सिद्ध समान आत्मा को कहा है वह द्रव्यदृष्टि से कहा है, पर्याय अपेक्षा सिद्ध समान नहीं है। जैसे- राजा और रंक मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं, परन्तु राजापने और रंकपने की अपेक्षा से तो समान नहीं हैं; उसी प्रकार सिद्ध और संसारी जीवत्वपने की अपेक्षा समान हैं, परन्तु सिद्धपने और संसारीपने की अपेक्षा तो समान नहीं हैं। तथापि ये तो जैसे सिद्ध शुद्ध हैं, वैसा ही अपने को शुद्ध मानते हैं। परन्तु वह शुद्ध-अशुद्ध अवस्था पर्याय है; इस पर्याय अपेक्षा समानता मानी जाये तो यही मिथ्यादृष्टि है।....

जो अकेले निश्चय को मानते हैं परन्तु व्यवहार को मानते ही नहीं- ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों का स्वरूप कहते हैं।

कोई जीव निश्चय को नहीं जानकर मात्र निश्चयाभास के श्रद्धानी बनकर अपने को मोक्षमार्गी मानते हैं- वे निश्चय के स्वरूप को नहीं जानते। वे 'हमको मोक्षमार्ग प्रगट हुआ हैं'- ऐसा मानते हैं।

वे अपनी आत्मा को सिद्धसमान अनुभवते हैं; परन्तु स्वयं प्रत्यक्ष संसारी होने पर भी भ्रम से अपने को वर्तमान पर्याय में सिद्ध समान मान रहे हैं वही मिथ्यादृष्टि-निश्चयाभासी हैं। जो जैनकुल में जन्म लेकर, समयसारादि शास्त्र पढ़कर भी अपनी कल्पना से पर्याय में होने वाले विकार को नहीं मानते वे मिथ्यादृष्टि हैं।

आत्मा की पर्याय में रागादि हैं वह संसार है; वह प्रत्यक्ष होने पर भी संसार पर्याय को मोक्षपर्याय मानना भ्रम है। एकसमय में दो पर्याय नहीं होती- संसार पर्याय के समय सिद्ध पर्याय नहीं होती और सिद्ध पर्याय के समय संसार पर्याय नहीं होती। आत्मा में राग अथवा विकारी पर्याय अपने कारण से अपने अपराध से होती है, उसे कर्म के कारण माने अथवा उसे अपना परिणाम न माने, बल्कि जड़ का परिणाम माने तो वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

'सिद्ध समान सदा पद मेरो'- शास्त्र में आत्मा को सिद्ध समान कहा है वह द्रव्यदृष्टि से कहा है। आत्मा में सिद्ध होने की सामर्थ्य तीनों काल है- इस अपेक्षा से कहा है; परन्तु पर्याय अपेक्षा से सिद्धसमान नहीं कहा। स्वभाव की दृष्टि से विकार छूट जाता है- इस अपेक्षा से विकार को अभूतार्थ-व्यवहार कहा हैं।

यहाँ "सिद्धसमान अनुभवता है"- इसका अर्थ तो सिद्धसमान वर्तमान पर्याय है- ऐसा मानता है। वर्तमान में सिद्धपर्याय का अनुभव नहीं होने पर भी अनुभव है- ऐसा वह जानता है व मानता है; इसकारण वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि वर्तमान पर्याय में राग-द्वेषादि संसार दशा प्रत्यक्ष है, उदयभाव प्रत्यक्ष है। जबकि सिद्ध पर्याय में उदयभाव नहीं होता।

समयसार में आत्मा शुद्ध ज्ञायक है- ऐसा कहा है वह तो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव सिद्ध समान है- यह बताया है। कितने ही जीव समयसार पढ़कर अपने को वर्तमान पर्याय में भी सिद्ध समान मानते हैं, वे वेदान्त दृष्टि- एकान्त दृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टि, द्रव्य में अशुद्धता है- ऐसा नही मानता और पर्याय में अशुद्धता है- ऐसा मानता है। द्रव्य में पर्याय नहीं और पर्याय में द्रव्य नहीं- ऐसी दोनो की अस्ति

यथार्थपने ज्ञानी जानता है। भावलिंगी मुनि हों तो वे भी जानते हैं कि मेरा स्वभाव तो शुद्ध है और पर्याय में व्यवहार से अशुद्धता है तथा शरीर कर्मादि अजीव तत्त्व हैं; वे आत्मा से भिन्न हैं तथा पर्याय में आस्रव और बंध है- ऐसा मानते है। आस्रव तत्त्व को न माने तो सात तत्त्वों की भी श्रद्धा न रहे।

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से पर्याय अभूतार्थ है; परन्तु पर्याय सर्वथा अभूतार्थ नहीं है। निश्चय से अभूतार्थ है अर्थात् द्रव्य अपेक्षा से अभूतार्थ है; परन्तु व्यवहार अपेक्षा से पर्याय भूतार्थ है। संसारदशा में आस्रव-बंध होने पर भी जो भ्रम से मुक्तदशा मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। समयसार में ज्ञानी को आस्रव-बन्ध नहीं है-ऐसा कहा है, वह तो द्रव्यदृष्टि के विषय का जोर बतलाने के लिये कहा है, वहाँ सम्यग्दर्शन का महात्म्य बताना है; अतः द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से आस्रव बंध नहीं है- ऐसा कहा है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान पर्याय में चारित्रमोह- अस्थिरताजन्य रूप आस्रव-बन्ध भी सर्वथा नहीं है।

शास्त्र में आत्मा को सिद्धसमान शुद्ध कहा है वह तो द्रव्यदृष्टि से कहा है। अर्थात् पर से भिन्न अपने भाव से अभिन्न आत्मा है- इस अपेक्षा से शुद्ध है तथा त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से शुद्ध है; परन्तु पर्याय अपेक्षा से वर्तमान में सिद्ध नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में भी पर्याय अपेक्षा से सिद्धसमान नहीं है। केवली के भी विकार (योग कंपनादि) होता है। वह विकार चार कर्म शेष है इसलिये है- ऐसा नहीं है; परन्तु केवली की आत्मा में अभी वैभाविक आदि गुण विकाररूप परिणमते हैं। जब तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में भी जीव को संसारी कहा गया है, तो फिर निचलीदशा वाला अपने को पर्याय में सिद्धसमान माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

पर्याय अपेक्षा से संसारी और सिद्ध समान नहीं है। जैसे राजा और रंक मनुष्यपने की अपेक्षा समान है; वैसे ही सिद्ध और संसारी जीवत्वपने की अपेक्षा समान है; परन्तु पर्याय अपेक्षा से समान नहीं है। चार ज्ञान भी पूर्ण केवलज्ञानरूप दशा की अपेक्षा से अनन्तवें भाग है, तो फिर मिथ्यात्व की पर्याय, जो कि संसारभाव है उसे और सिद्धपर्याय को समान मानना तो भ्रम ही है। पर्याय में अनादि से शुद्धदशा होवे तो

संसार किसका ? चौदहवें गुणस्थान में भी औदयिक भाव-असिद्धत्व है। इसलिये पर्याय में सिद्ध है- ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

जीव के दो भेद हैं- (1) सिद्ध और (2) संसारी। जीव चौदहवें गुणस्थान तक संसारी कहलाता है। एक समय में सिद्ध और संसार-दोनो पर्याय साथ नहीं होती। शास्त्र में पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिये द्रव्यदृष्टि की बात की हो वहाँ निश्चयाभासी जीव पर्याय को नहीं मानता। इसप्रकार वह द्रव्य की भूल करता है।

यह सातवाँ अधिकार बहुत सुन्दर है और भलीभांति समझने जैसा है; क्योंकि इसमें सूक्ष्म मिथ्यात्व किसप्रकार रह जाता है उसकी बात की है।

यदि वर्तमान पर्याय में सिद्धदशा होवे तो आस्रव, बंध का अभाव करके संवर, निर्जरा और मोक्ष प्रगट करना नहीं रहता। पर्याय में जो अशुद्धता है उसे ज्ञानी भलीभांति जानता है। अरिहन्त भगवान भी अपने केवलज्ञान में अपनी वर्तमानदशा अभी संसारदशा वाली है, सिद्धदशा नहीं- ऐसा जानते हैं। यहाँ पर्याय की शुद्धता अशुद्धता की बात है। द्रव्यदृष्टि से शुद्ध कहा है- वह तो आत्मा पर भाव से भिन्न और अपने भाव से अभिन्न है- इस अपेक्षा से शुद्ध कहा है। सम्यग्ज्ञान प्रमाण ज्ञान है, इससे ज्ञानी द्रव्य अपेक्षा से शुद्ध और पर्याय अपेक्षा से अशुद्ध हैं- ऐसा सही जानता है।

द्रव्यदृष्टि से आत्मा प्रभु है और पर्यायदृष्टि स` पामरता है- इसप्रकार दोनो को यथार्थरूप से जानने वाला ज्ञान प्रमाण ज्ञान है। एक को जाने और दूसरे को नहीं जाने तो वह प्रमाणज्ञान नहीं है।

....तथा अपने को केवलज्ञानादिक का सद्भाव मानते हैं, परन्तु अपने को तो क्षयोपशमरूप मति-श्रुतादि ज्ञानका सद्भाव है, क्षायिकभाव तो कर्म का क्षय होनेपर होता है और ये भ्रम से कर्म का क्षय हुए बिना ही क्षायिकभाव मानते हैं, सो यही मिथ्यादृष्टि है।

शास्त्रों में सर्व जीवों का केवलज्ञान स्वभाव कहा है, वह शक्ति अपेक्षा से कहा है; क्योंकि सर्व जीवों में केवलज्ञानादिरूप होने की शक्ति है, वर्त्तमान व्यक्तता तो व्यक्त होनेपर ही कही जाती है।

कोई ऐसा मानता है कि आत्मा के प्रदेशों में तो केवलज्ञान ही है, ऊपर आवरण होने से प्रगट नहीं होता, सो यह भ्रम है। यदि केवलज्ञान हो तो वज्रपटलादि आड़े होने पर भी वस्तु को जानता है; कर्म आड़े आने पर वह कैसे अटकेगा? इसलिये कर्म के निमित्त से केवलज्ञान का अभाव ही है। यदि इसका सर्वदा सद्भाव रहता तो इसे पारिणामिकभाव कहते, परन्तु यह तो क्षायिकभाव है। 'सर्वभेद जिसमें गर्भित हैं ऐसा चैतन्यभाव, सो पारिणामिकभाव है।' इसकी अनेक अवस्थाएँ मतिज्ञानादिरूप व केवलज्ञानादिरूप हैं, सो यह पारिणामिकभाव नहीं है। इसलिये केवलज्ञान का सर्वदा सद्भाव नहीं मानना।

तथा शास्त्रों में जो सूर्यका दृष्टान्त दिया है उसका इतना ही भाव लेना कि जैसे मेघपटल होते हुए सूर्य का प्रकाश नहीं होता, उसी प्रकार कर्मउदय होते हुए केवलज्ञान नहीं होता। तथा ऐसे भाव नहीं लेना कि जैसे सूर्य में प्रकाश रहता है वैसे आत्मा में केवलज्ञान रहता है; क्योंकि दृष्टान्त सर्व प्रकार से मिलता नहीं है। जैसे- पुद्गल में वर्ण गुण है, उसकी हरित-पीतादि अवस्थाएँ हैं, सो वर्त्तमान में कोई अवस्था होनेपर अन्य अवस्था का अभाव है; उसी प्रकार आत्मा में चैतन्यगुण हैं, उसकी मतिज्ञानादिरूप अवस्थाएँ हैं, सो वर्त्तमान में कोई अवस्था होने पर अन्य अवस्था का अभाव ही है।....

अब केवलज्ञान पर्याय के बारे में क्या भूल करता है उसकी बात करते हैं:-

कोई अपने को केवलज्ञानादि का सद्भाव मानता है, अनन्त आनन्द, वीर्य आदि वर्तमान में प्रगट है- ऐसा मानता है; परन्तु वर्तमान पर्याय में तो अपने को क्षायोपशमिकभावरूप मति-श्रुतादि ज्ञान का सद्भाव है और क्षायिकभाव तो कर्म का क्षय होने पर ही होता है; फिर भी भ्रम से कर्म का क्षय हुए बिना ही अपने को क्षायिकभाव मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। जो इस पर्याय के स्वरूप को नहीं जानते- ऐसे जीव जैनमत में होने पर भी मिथ्यादृष्टि हैं।

जैनमत में होने पर भी निश्चयाभासी जीव मिथ्यादृष्टि क्यों हैं ? क्योंकि वे एकान्त निश्चय को मानते हैं। हमको ज्ञान हुआ है इसलिये वर्तमान केवलज्ञान ही है- ऐसा वे मानते हैं। शास्त्र में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द आदि स्वभाव शक्ति अपेक्षा से कहा है; कारण के सर्व जीवों में उसरूप होने की शक्ति है।

1. आत्मा का स्वभाव केवलज्ञान शक्तिरूप से है, उसे कोई व्यक्त पर्याय में है- ऐसा माने तो वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

2. आत्मा में केवलज्ञान सत्तारूप है, अर्थात् वह पर्याय में प्रगट है; परन्तु कर्म के कारण रुका हुआ है- ऐसा जो मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि जड़ कर्म के कारण पर्याय रुकी- ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

3. आत्मा शक्ति की अपेक्षा केवलज्ञान स्वरूप है-ऐसा जो मानता है किन्तु ऐसा भी मानता है कि निमित्त या शुभराग होवे तो वह प्रगटे तो- वह भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि जो शक्तिरूप से ध्रुव है उसमें एकाग्र होने से वह प्रगट होगा- ऐसा वह नहीं मानता; इसलिये वह दिगम्बर सम्प्रदाय में होने पर भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

जिसके उपरोक्त तीनों प्रकार की मान्यतायें विद्यमान है उसका मिथ्यात्व दूर नही हुआ है, इसलिये उसके सम्यक्त्व नहीं है।

केवलज्ञान शक्तिरूप से है इसका अर्थ यह है कि- द्रव्य में गुण अपेक्षा से अर्थात् त्रिकाली शक्ति अपेक्षा से केवलज्ञान है; परन्तु पर्याय अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं है; क्योंकि पर्याय अपेक्षा से केवलज्ञान होवे तो पर्याय तो प्रगट है इसलिये केवलज्ञान भी प्रगट होना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं है। जब आत्मा पुरुषार्थ की उग्रता करे तब शक्ति में से (केवलज्ञान) प्रगटरूप होता है- ऐसा ज्ञानी जानता है।

★वर्तमान पर्याय में संसार दशा होने पर भी जो प्रगट पूर्ण केवलज्ञानादि मानता है वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

★श्वेताम्बर मानते है कि केवलज्ञान सत्तारूप से है, वह कर्म के आवरण से प्रगट नहीं है- वे व्यवहाराभासी हैं।

★दिगम्बरमत वाले ऐसा कहते हैं कि- केवलज्ञान शक्तिरूप से है; परन्तु व्यवहार रत्नत्रय हो तो निश्चय रत्नत्रय प्रगटे; पंचमहाव्रतादि शुभभाव हो तो शुद्धभाव हो- ऐसा मानकर वे राग को केवलज्ञान प्रगट करने का साधन मानते हैं। केवलज्ञान

शक्तिरूप से है उसके अन्तर अवलम्बन से वह प्रगट होता है- ऐसा नहीं मानते, इसलिये वे भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि हैं।

छोटी पीपल में चौसठ पहरी चरपराहट शक्तिरूप से है, परन्तु प्रगटरूप नहीं, उसे वर्तमान प्रगटरूप मानने वाला तो मूर्ख है। तथा कोई प्रगट चोसठ पहरी माने और ऊपर डिब्बी या किसी अन्य वस्तु का आवरण है- ऐसा माने तो वह भी मूर्ख है। और जो शक्तिरूप है वह पत्थर के कारण से अथवा निमित्त के कारण से प्रगट होती है- ऐसा माने तो वह भी मूर्ख है। चौसठ पहरी चरपराहट तो शक्तिरूप है उसमें से प्रगटरूप होती है- ऐसा मानना बुद्धिमतापूर्ण है। इसीप्रकार आत्मा में भी केवलज्ञानादि शक्तिरूप से विद्यमान है, उस पर दृष्टि जाना चाहिये; परन्तु निमित्त होवे तो धर्म होगा और शुभराग करने से धर्म होगा- ऐसा मानने वाला, वस्तुतः शक्ति पड़ी है उसमें से व्यक्तरूप होती है उसे नहीं मानता इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

देखो! दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म लेकर और सच्चे देवादिक की श्रद्धा करके भी जिसको निश्चय-व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं है उसका मिथ्यात्व नहीं जाता।

दियासलाई में अग्नि प्रगटरूप नहीं, किन्तु शक्तिरूप है; उसमें से वह प्रगट होती है, वह अग्नि बाहर में से नहीं आती। उसीप्रकार शक्ति में केवलज्ञान है उसका जिसको विश्वास नहीं है वह दिगम्बर जैन साधु या श्रावक नाम धरावे, तो भी मिथ्यादृष्टि है। श्वेताम्बर तो केवलज्ञान सत्तारूप मानते हैं जो कि भ्रम है और दिगम्बर होकर शक्तिरूप से माने परन्तु वह पर के कारण से प्रगट होता है- ऐसा माने तो वह भी भ्रम है, उसका भी मिथ्यात्व नहीं जाता।

"एक होय तीनकाल में परमार्थ का पंथ" आम के वृक्ष के ऊपर आम ही पकता है- ऐसा एक ही प्रकार होता है। उसीप्रकार आत्मा का यथार्थ धर्म तो एक ही प्रकार से होता है। शुभ से अथवा निमित्त से भी धर्म होवे- ऐसा नहीं है। आत्मा में केवलज्ञान शक्तिरूप से है। वह अन्तर स्वभाव के आश्रय करने से प्रगट होता है। अन्तर पुरुषार्थ को नहीं माने और वर्तमान प्रगटरूप से माने अथवा तो कर्म के कारण से रुका हुआ है- ऐसा माने वे सब मिथ्यादृष्टि हैं।

द्रव्य में केवलज्ञान की शक्ति त्रिकाल पड़ी है उसका विश्वास आवे और निमित्त - व्यवहार की दृष्टि छूटे तो सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं। आत्मा के प्रदेशों में तो केवलज्ञान प्रगटरूप है और केवलज्ञानावरणी कर्म का आवरण है- ऐसा मानने वाला आत्मा के पुरुषार्थ से शक्ति में से केवलज्ञान होगा- ऐसा नहीं मानता- इसकारण उसको सम्यक्त्व का पुरुषार्थ भी नहीं होता। कोई दिगम्बर भी ऐसा कहते हैं कि- कर्म के कारण केवलज्ञान अटका है, केवलज्ञानावरणीय प्रकृति के कारण से प्रगट नहीं है, तो ऐसा मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञान तीनकाल तीनलोक को एकसमय में जानता है, वह कर्म के आवरण के कारण अटके- ऐसा नहीं बनता; परन्तु अपनी पर्याय में इतनी कमज़ोरी है इसलिये व्यक्त नहीं है, उसमें कर्म निमित्तमात्र है। कोई कहे कि कर्म है ही नहीं; तो ऐसा भी नहीं है। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव का लक्ष्य नहीं करता तब पर के ऊपर उसका लक्ष्य जाता है उसमें कर्म निमित्तमात्र है; परन्तु कर्म के कारण आत्मा की पर्याय रागरूप है अथवा अपूर्ण दशारूप है- ऐसा नहीं है। वर्तमान पर्याय में उसकी योग्यता से केवलज्ञानादि नहीं है, उसमें वर्तमान कर्म का निमित्त है- ऐसा मानना चाहिये। इसके सिवाय उल्टा-सीधा माने तो वह वस्तु के स्वभाव को नहीं मानता / निमित्त निमित्त में है और आत्मा में नैमित्तिकभाव अपने कारण से है- उसका जैसा है वैसा ज्ञान करना चाहिये। जिसने पर्याय में केवलज्ञान प्रगट माना उसे केवलज्ञान प्रगट करने का पुरुषार्थ करने को नहीं रहता। इसलिये पर्याय में केवलज्ञान प्रगट नहीं है- ऐसा मानना चाहिये। पुरुषार्थ की कमज़ोरी के कारण केवलज्ञान प्रगट नहीं है, चार घातिकर्म तो निमित्तमात्र है। आत्मा शक्ति अपेक्षा से त्रिकाल शुद्ध है ऐसा न मानकर जो पर्याय में शुद्धता मानता है वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। उसको केवलज्ञान प्रगट करने का अथवा सम्यग्दर्शनादि प्रगट करने का भी अवकाश नहीं है। इसलिये पर्याय में अल्पज्ञता और राग है- ऐसा जानना चाहिये।

आत्मा में परम पारिणामिकभाव त्रिकाल है। केवलज्ञान त्रिकाल शक्तिरूप से है; परन्तु केवलज्ञान की पर्याय त्रिकाल नहीं होती, किन्तु वह नई होती है। जो शक्तिरूप है वह व्यक्तरूप होती है और जब वह प्रगट होती तब कर्मों का अभाव होता है।

पूर्ण पर्याय को क्षायिकभाव कहते हैं। वह पारिणामिक भाव नहीं है। क्षायोपशमिकभाव अपूर्ण दशा है, उसका अभाव होकर क्षायिकभाव प्रगट होता है, वह पारिणामिक भाव नहीं हैं। ***"सर्वभेद जिसमें गर्भित है ऐसा चैतन्यभाव- वही पारिणामिक भाव है।"***

आत्मा का चैतन्य स्वभाव त्रिकाल है। निगोद में भी चैतन्यभाव है। मति-श्रुत ज्ञानादि जो प्रगटरूप है वह पारिणामिकभाव नहीं है। चैतन्यभाव अनादि-अनन्त है। सम्यक् मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्यायज्ञान आदि और अन्त वाला भाव है और केवलज्ञान की आदि है पर अन्त नहीं है। समयसार गाथा छह में कहा है कि- आत्मा ज्ञायक है, वह प्रमत्त नहीं और अप्रमत्त भी नहीं, किन्तु ज्ञायक तो एक ज्ञायक ही है। उसे ज्ञायकभाव कहो या परमपारिणामिकभाव कहो- वह एक ही है। ध्रुव एकरूप शक्तिरूप है। नियमसार में उसे कारणपरमात्मा कहा है। उसके अवलम्बन से केवलज्ञान प्रगट होता है, परन्तु केवलज्ञानादि का सद्भाव सर्वदा मानना योग्य नहीं है।

आत्मा में ज्ञानगुण त्रिकाल है। उसकी पूर्ण प्रगट दशा न होने पर भी जो पर्याय में केवलज्ञान मानता है, वह पर्याय को नहीं पहिचानता। आत्मा में ज्ञान, आनन्द, चारित्रादि शक्तियाँ त्रिकाल है। जीव वीतरागदशा अथवा आनन्द दशा प्रगट करना चाहता है; उसकी स्वभाव में नित्य शक्ति है, उसमें से प्रगट होती है। वर्तमान में शान्ति और वीर्य पूर्ण नहीं है और प्रगट करना चाहता है, वह स्वभाव में से आयेगा- ऐसा निर्णय किये बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती । जैसे छोटी पीपल में से चौसट पहरी चरपराहट आती है, परन्तु पत्थर में से नहीं आती। उसीप्रकार कर्म अथवा शरीर में से केवलज्ञान नहीं आता। आत्मा कर्म और शरीर से भिन्न है, राग-द्वेष और अल्पज्ञता पर्याय में है। जिसे राग-द्वेष और अल्पज्ञता मिटाना होवे उसे निर्णय करना चाहिये कि मेरा स्वभाव ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण भरा है- ऐसी मान्यता से वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होता है। देह की क्रिपा से, विकार की क्रिया से शान्ति नहीं आती। विकार तो स्वयं अशान्ति है, अशान्ति में से शान्ति नहीं आती । स्वभाव में ज्ञान, आनन्द और शान्ति शक्ति भरी है, उसमें एकाग्र होने से ज्ञान और शान्ति प्रगट होती है।

यहाँ कहते हैं कि वर्तमान अपूर्ण संसारदशा में ही केवलज्ञान प्रगटरूप है- ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। जिसको आत्मा में ज्ञान और आनन्द की दशा अपेक्षित होवे उसे चिदानन्द स्वभाव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और आनन्द भरा पड़ा है- ऐसा प्रथम विश्वास करना चाहिये। पर में से, विकार में से अथवा अल्पज्ञ पर्याय में से शान्ति और आनन्द आयेगा- ऐसा विश्वास छोड़ देना चाहिये।

एकसमय में तीनकाल और तीनलोक को जानने वाले भगवान किसप्रकार हुए? अन्तर स्वभाव में एकाग्रता करने से हुए? उसी तरह हम भी अपनी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता करने से केवलज्ञान प्रगट कर सकते हैं- ऐसा मानना चाहिये।

जैसे छोटी पीपल में वर्तमान में थोड़ी चरपराहट प्रगट है, चौसट प्रहरी प्रगट नहीं; परन्तु शक्ति है। उसीप्रकार वर्तमान में मति-श्रुत ज्ञान प्रगट है; परन्तु केवलज्ञान प्रगटरूप नहीं, केवलज्ञान शक्तिरूप है- ऐसा मानना चाहिये।

शास्त्र में सूर्य का दृष्टान्त दिया है। उसका इतना परमार्थ समझना चाहिये कि जिसप्रकार मेघपटल के दूर होने पर सूर्य का प्रकाश प्रगट होता है; उसीप्रकार कर्मोदय दूर होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है। कर्म तो जड़ है। आत्मा अपने में एकाग्र हो और केवलज्ञान प्रगट करे तो कर्म उनके स्वयं के कारण दूर होते हैं। दृष्टान्त में सूर्य जाज्वल्यमान है और मेघों से आच्छादित है; उसीप्रकार आत्मा में केवलज्ञान जाज्वल्यमान अथवा प्रकाशरूप है और ऊपर कर्मरूपी मेघों के आजाने से ढँक गया है- ऐसा नहीं है। वर्तमान पर्याय में तो मति- श्रुतज्ञान है। जीव का कर्मों की ओर झुकाव है; जबतक वह स्वसन्मुख नहीं होता तबतक पर्याय में केवलज्ञान प्रगट नहीं हो सकता और तभी तक कर्म निमित्तरूप होते हैं।

जिसप्रकार अग्नि की ज्वाला पर कोई बरतन ढ़ँक दे, उसीप्रकार आत्मा के भीतर केवलज्ञान की ज्वाला जल रही है और ऊपर कर्मों के आवरण ने उसे ढ़ँक दिया दिया है- ऐसा नहीं समझना चाहिये; किन्तु जिसप्रकार दियासलाई के सिरे में अग्नि प्रगट होने की शक्ति है; उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान की शक्ति है। आत्मा अपने में एकाग्र होवे तो केवलज्ञान की ज्वाला प्रगट होकर कर्मरूपी मेघ छिन्न-भिन्न हो जायें। इसी प्रकार सभी गुणों में समझना।

शरीर की क्रिया से अथवा पंच महाव्रत से चारित्र प्रगट नहीं होता। वस्तु में चारित्र शक्ति भरी पड़ी है, उसमें एकाग्र होने से चारित्र दशा प्रगट होती है। प्रथम चारित्र शक्ति की प्रतीति होनी चाहिये और फिर एकाग्रता करनी चाहिये। कोई कहे कि वस्त्र-पात्र होवे तो भी मुनिपना प्रगट हो गया, तो यह बात मिथ्या है। तथा कोई मुनि निर्दोष आहर ले, अपने लिये बनाया आहार न ले, तो भी वह वृत्ति धर्म नहीं है; उससे चारित्र प्रगट नहीं होता। अन्दर में एकाग्रता होने पर चारित्र और शान्ति प्रगट होती है और ऐसी अन्तरदशा प्रगट होने पर बाहर में नग्नदशा न होवे- ऐसा भी नहीं होता तथा बाहर में नग्नदशा और पंचमहाव्रत के परिणाम हुए इसलिये चारित्र प्रगट होता है- ऐसा भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि पंचमहाव्रतादि के परिणाम राग हैं, उनमें आनन्द नहीं है; आनन्द अन्तर में भरा पड़ा है। इसलिए विकार और परपदार्थो की रुचि छोड़कर अपने स्वभाव की रुचि करनी चाहिये; फिर उसमें स्थिरता करने पर आनन्द प्रगट होता है। आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रिकाल विद्यमान है; उनमें से उनकी दशा प्रगट होती है। दया, दानादि से अथवा पर में से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा नहीं आती। इसलिये निमित्त की, विकार की अथवा अल्पज्ञ पर्याय की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करनी चाहिये। स्वभाव की रुचि की, इसलिये वर्तमान में केवलज्ञान प्रगट हो गया- ऐसा नहीं है; परन्तु क्रमश स्थिरता करने पर केवलज्ञान प्रगट होता है।

छोटी पीपल और पत्थर- दो भिन्न वस्तुयें हैं। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने में वर्तती है, एक दूसरे को स्पर्श नहीं करती। ये दो अगुँलियां है, प्रत्येक अगुँली स्वयं अपने में वर्त्त रही है; वह अपनी पर्याय में ही वर्तन करती है। वर्तन = वर्तमान पर्याय। एक का दूसरे में अभाव है; तथापि एक वस्तु दूसरी का स्पर्श करती है- ऐसा कहना व्यवहार का कथन है।

आत्मा क्या है ? उसकी (त्रैकालिक) शक्तियाँ क्या है और वर्तमान (प्रगट पर्याय) में क्या है ? -यह जानकर स्वभाव शक्ति सन्मुख झुकने से सुख प्रगट होता है। अज्ञानी ऊठाईगीर होकर पर में सुख मानता है; परन्तु आत्मा का सुख पर में नहीं है। अपने में सुख-आनन्द त्रिकाल है, उसका प्रथम निर्णय करना चाहिये।

यहाँ कहते हैं कि शास्त्र में सूर्य के आड़े मेघपटल का दृष्टान्त दिया है उसका अर्थ इतना लेना कि मेघ हट जाने से सूर्य दिखेगा, उसी प्रकार कर्म की और का झुकाव मिट जाने से केवलज्ञान प्रगट होगा; परन्तु अन्दर में सूर्य की तरह केवलज्ञान प्रगट है- ऐसा नहीं समझना। जिसे इस बात का पता नहीं है उसे अरहन्त और सिद्ध का पता नहीं है, आचार्य-उपाध्याय और साधु के स्वरूप का भी पता नहीं है।

हीरे के तौल में किंचित भी फेरफार होवे तो बड़ी हानि होती है, इसलिये हीरे का काँटा बारीक होता है; उसी प्रकार यहाँ मुनिपने को अथवा धर्म को तौलने का काँटा अत्यन्त सूक्ष्म होता है। आत्मा क्या है? गुण क्या है? पर्याय क्या है? -इत्यादि का जिसको ज्ञान नहीं है उसको धर्म नहीं होता।

जैसे दियासलाई को घिसने से अग्नि की ज्वाला होती है; वैसे ही आत्मा के ज्ञानस्वरूप में एकाग्र होने से केवलज्ञानरूपी ज्वाला होती है, तब कर्मरूपी बादल दूर होते हैं।

जैसे मेघपटल होने से सूर्य का प्रकाश प्रगट नहीं होता; वैसे ही कर्म उदय होने से केवलज्ञान नहीं होता। कर्मउदय का अर्थ क्या? स्वयं ज्ञानानन्द स्वभावी है- ऐसी प्रतीति और एकाग्रता न करे तो केवलज्ञानावरणीय कर्म निमित्त है और सर्वथा एकाग्रता करके केवलज्ञान प्रगट करे तो केवलज्ञानवरणीय कर्म छूट जाता है। जैसे कि सच्ची श्रद्धा करने से दर्शनमोहनीय कर्म दूर हो जाता है और वीतरागता करने से चारित्रमोहनीय कर्म टल जाता है।

प्रथम सम्यग्दर्शन-निर्विकल्प प्रतीति होती है; किन्तु प्रतीति हुई इसलिये चारित्र हो गया- ऐसा नहीं है। बल्कि आत्मा में विशेष एकाग्रता होने से चारित्रदशा प्रगट होती है और उस समय मुनि को विकल्प दशा में अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का विकल्प आता है।

संतो ने मार्ग सुलभ कर दिया है, कुछ बाकी नहीं रखा। पर में अथवा राग में आत्मा की शक्ति नहीं है, पर्याय में आत्मा की परिपूर्ण शक्ति नहीं है; परिपूर्ण शक्ति

तो द्रव्य में विद्यमान है। -ऐसी प्रतीति बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन बिना चारित्र नहीं होता।

जैसे वर्तमान पर्याय में चारित्र नहीं होने पर भी चारित्र मान लेने वाला मूढ़ है। अन्दर चारित्र की परिपूर्ण शक्ति विद्यमान है, उसमे एकाग्र होने से चारित्र प्रगट होता है। वर्तमान पर्याय में जितनी प्रगटता है उतनी मानना- ऐसा यहाँ कहते हैं। उसी प्रकार वर्तमान में केवलज्ञान नहीं होने पर भी पर्याय में केवलज्ञान प्रगट मानना मिथ्यात्व है।

इस लकड़ी की वर्तमान में लाल अवस्था है, वर्तमान में हरी अवस्था प्रगट नहीं है। पुद्गल में रंगगुण त्रिकाल है; उसकी हरी या लाल अवस्था के समय अन्य अवस्थाओं का अभाव है। लाल के समय हरी का अभाव है। हरी अवस्था होने की शक्ति है, किन्तु लाल के समय हरी (अवस्था) प्रगट माने तो भूल है। उसी प्रकार आत्मा में ज्ञानगुण त्रिकाल है; उसमे मति-श्रुतज्ञान की अवस्था के समय केवलज्ञान प्रगट माने तो भूल है। केवलज्ञान शक्तिरूप से है, किन्तु उसे प्रगट माने तो वह भूल है। आत्मा और ज्ञान गुण त्रिकाल है। उसकी पर्याय में मतिज्ञान के समय केवलज्ञान प्रगट हो- ऐसा नहीं हो सकता और केवलज्ञान के समय मतिज्ञान रहे- ऐसा भी नहीं हो सकता।

अल्पज्ञ पर्याय होने पर भी पूर्ण पर्याय मानना असत्य है। असत्य माने अधर्म है। आत्मा में ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसके आश्रय से पूर्ण पर्याय प्रगट होती है। अपूर्ण पर्याय में पूर्ण पर्याय न मानना सत्य है, धर्म है और अहिंसा है। किन्तु निमित्त, शरीर अथवा राग से धर्म होगा- ऐसा मानना अधर्म है, हिंसा है। संसार और मोक्ष-दोनो प्रतिपक्षी है। जिस पथ से संसार है उस पथ से मोक्ष नहीं और जिस पथ से मोक्ष है उस पथ से संसार नहीं।

....तथा कोई कहे कि आवरण नाम तो वस्तु को आच्छादित करने का है; केवलज्ञान का सद्भाव नहीं है तो केवलज्ञानावरण किसलिये कहते हो?

उत्तरः- यहाँ शक्ति है, उसे व्यक्त न होने दे; इस अपेक्षा आवरण कहा है। जैसे- देशचारित्र का अभाव होने पर शक्ति घातने की अपेक्षा अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहा, उसी प्रकार जानना।

तथा ऐसा जानना कि वस्तु में परनिमित्त से जो भाव हो उसका नाम औपाधिकभाव है और परनिमित्त के बिना जो भाव हो उसका नाम स्वभावभाव है। जैसे- जल को अग्नि का निमित्त होने पर उष्णपना हुआ, वहाँ शीतलपने का अभाव ही है; परन्तु अग्निका निमित्त मिटने पर शीतलता ही हो जाती है; इसलिये सदाकाल जल का स्वभाव शीतल कहा जाता है, क्योकि ऐसी शक्ति सदा पायी जाती है और व्यक्त होनेपर स्वभाव व्यक्त हुआ कहते हैं। कदाचित् व्यक्तरूप होता है। उसी प्रकार आत्मा को कर्म का निमित्त होनेपर अन्य रूप हुआ, वहाँ केवलज्ञान का अभाव ही है; परन्तु कर्म का निमित्त मिटने पर सर्वदा केवलज्ञान हो जाता है; इसलिये सदाकाल आत्मा का स्वभाव केवलज्ञान कहा जाता है, क्योंकि ऐसी शक्ति सदा पायी जाती है। व्यक्त होने पर स्वभाव व्यक्त हुआ कहा जाता है।

तथा जैसे शीतल स्वभाव के कारण उष्ण जलको शीतल मानकर पानादि करे तो जलना ही होगा; उसी प्रकार केवलज्ञानस्वभाव के कारण अशुद्ध आत्मा को केवलज्ञानी मानकर अनुभव करे तो दुःखी ही होगा।

इसप्रकार जो आत्मा का केवलज्ञानादिरूप अनुभव करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।....

प्रश्नः- आवरण नाम तो वस्तु को आच्छादित करने का है। अब यदि पर्याय में केवलज्ञान प्रगट नहीं है तो केवलज्ञानावणीय क्यों कहते हो? वर्तमान में अल्पज्ञ पर्याय है और सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं है, तो फिर केवलज्ञानावरणीय कर्म क्यों कहते हो? क्योंकि आवरण शक्ति में तो होता नहीं, व्यक्त (प्रगट) पर्याय में होता है; इसलिये केवलज्ञान को प्रगट माने तो क्या आपत्ति है?

समाधानः- शक्ति को व्यक्त न होने दे- इस अपेक्षा से आवरण कहा है। शास्त्र में निमित्तकर्त्ता की बात है। निमित्तकर्त्ता कहो या व्यवहार से कर्त्ता कहो एक ही बात

है। अर्थात् निश्चय से निमित्त कर्त्ता नहीं है- ऐसा उसका अर्थ समझना चाहिये। निमित्त अपेक्षा से केवलज्ञानावरणीय है; वह केवलज्ञान प्रगट न होने में निमित्त कारण है- ऐसा यहाँ उपचार से कहा जाता है। व्यवहार से निमित्त को कर्त्ता, करण, अधिकरण आदि कहा जाता है। निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने को ऐसा कहा जाता है; परन्तु पहले निरपेक्ष स्वयं अपने से कर्त्ता-करणादि हैं- ऐसा निर्णय करने के पश्चात उपचार से निमित्त में सापेक्षता से कर्त्ता- करण आदि कहे जाते हैं। छहों कारक निमित्त में लागू पड़ते हैं। निश्चय-व्यवहार को जैसा है वैसा जानना चाहिये। जिस समय उपादान में छह कारक लागू पड़ते हैं उसी समय निमित्त में उपचार से छह कारक लागू पड़ते हैं। निमित्त है इसलिये उपादान में कर्त्ता-करणादि है- ऐसा नहीं, परन्तु निमित्त की उपस्थिति है- ऐसा बतलाते हैं।

यहाँ आत्मा में जो शक्ति है उसे व्यक्त न होने दे उसमें कर्म निमित्त कारण है- ऐसा कहा जाता है। आत्मा स्वयं उपादान कर्त्तारूप से शक्ति में जो केवलज्ञान है उसको व्यक्त नहीं करता, तब केवलज्ञानावरणीय कर्म व्यक्त नहीं होने देता- ऐसा निमित्त से कहते हैं। आत्मा स्वयं केवलज्ञान प्रगट करे तब कर्म को अभावरूप निमित्तकर्त्ता कहा जाता है। इसी प्रकार कर्म, करण सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण- ये छहों कारक लागू पड़ते हैं। साधन दो प्रकार से हैं- निश्चय को साधन माना तब व्यवहार साधन हुआ कहा जाता है। यदि निमित्त उपादान का कार्य करे तो दो साधन नहीं रहते।

आत्मा स्वभाव का अवलम्बन लेकर शुद्धता प्रगट करे तो पंचमहाव्रतादि को व्यवहार साधक कहा जाता है। वस्तुतः तो शुभभाव बाधक है, तथापि आत्मा अपना साधन करके शुद्धभाव प्रगट करे तो शुभभाव को निमित्त से साधक कहा जाता है। निमित्त ने नहीं होने दिया- ऐसा कहा हो उसका अर्थ यह है कि अपनी नैमित्तिक अवस्था प्रगट नहीं हुई तो निमित्त ने प्रगट नहीं होने दी- ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः तो निमित्त ऐसा प्रसिद्ध करता है कि- नैमित्तिक स्वतन्त्र अपने कारण से परिणमन कर रहा है, तो उपस्थित अन्य अनुकूल वस्तु को निमित्त कहा जाता है। जब नैमित्तिक पर्याय होती है तब निमित्त में निमित्त कर्त्ता का आरोप आता है- इस अपेक्षा से ऐसा कहा है कि कर्म ने आवरण किया।

अब दृष्टान्त देते हैं- आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् देशचारित्र अर्थात् पाँचवां गुणस्थान प्रगट न होने देने की अपेक्षा से अप्रत्याख्यानावरण कषाय कही है। किंचित् भी प्रत्याख्यान न होने दे अर्थात् अंशतः स्थिरता भी न होने दे- उसमें निमित्त अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। प्रगटदशा है और कर्म ने आवरण किया है- ऐसा नहीं है; परन्तु आत्मा स्वयं स्वभाव की स्थिरता करके आंशिक देशचारित्र की दशा प्रगट नहीं करता; इसलिये निमित्त से अप्रत्याख्यानावरणीय कर्म ने चारित्र प्रगट नहीं होने दिया- ऐसा कहा जाता है।

प्रश्नकार ने प्रश्न किया था कि हम केवलज्ञान को प्रगट मानते हैं और कर्म ने उसे रोक रखा है, क्योंकि केवलज्ञानावरणीय नाम का कर्म है; तो उससे कहते हैं कि भाई! जैसे चौथे गुणस्थान में देशचारित्र की दशा नहीं है, वहाँ अप्रत्याख्यानावरणीय कर्म देशचारित्र की पर्याय को प्रगट नहीं होने देता- ऐसा कहा जाता है; परन्तु वहाँ देशचारित्र प्रगटरूप है और उसे अप्रत्याख्यानावरणी कर्म ने रोका है- ऐसा नहीं है। आत्मा में यथाख्यातचारित्र प्रगट होवे- ऐसा स्वभाव तो शक्तिरूप से त्रिकाल है; किन्तु उसे प्रगट न करे वहाँ तक निमित्तरूप कर्म है- ऐसा कहा है। स्वयं नैमित्तिकभाव प्रगट नहीं करता, इसलिये कर्म पर आरोप आता है। यहाँ तो कर्म निमित्तरूप है उसका ज्ञान कराते हैं; परन्तु उस निमित्त के कारण आत्मा का देशचारित्र रुका हुआ है- ऐसा नहीं है।

जब आत्मा में मुनिपने की दशा (सकलचारित्ररूप शुद्धि) प्रगट होती है उस समय निमित्तरूप से पाँच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प होता है; इसलिये उसे निमित्तकर्त्ता भी कहा जाता है। शरीर में नग्नदशा हुए बिना आत्मा में मुनिपना नहीं होता- ऐसा निमित्तकर्त्तारूप से यथार्थ है; परन्तु इसका अर्थ ऐसा है कि -आत्मा में मुनिपने की नैमित्तिक पर्याय प्रगट करे तो शरीर की नग्नदशा पर निमित्तकर्त्तापने का आरोप लागू पड़ता है। इसी ग्रन्थ में आगे कहा है कि- "मुनिलिंग धारण किये बिना तीनकाल में मोक्ष नहीं होता।" आत्मा केवलज्ञान का पुरुषार्थ करे और नग्नदशा न हो- ऐसा नहीं होता। इसलिये मुनिलिंग धारण किये बिना मोक्ष नहीं होता- ऐसा कहा है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि नग्नदशा के कारण से मोक्ष होता है।

आत्मा में चारित्रदशा हुए बिना मोक्ष नहीं होता और वह चारित्र आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है। आत्मा के स्वभाव को यथार्थ जानकर उसमें लीन होकर जब जीव यथार्थ चारित्र प्रगट करता है तब निमित्तरूप से नग्नदशा होती है- ऐसा निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध है; परन्तु आत्मा के भान बिना केवल नग्नदशा धारण करने मात्र से मुनिपना नहीं होता। इसलिये निश्चय व्यवहार का ज्ञान करना चाहिये।

सर्वज्ञ परमात्मा देवाधिदेव ने जो मार्ग कहा है, उससे विरूद्ध जिनकी प्ररूपणा है उसे परम्परा मार्ग नहीं कहते। उसे तो व्यवहार मार्ग का भी यथार्थ परिज्ञान नहीं है, और जो मुनि नाम धराकर केवल नग्नदशा धारण करे उसे, मुनि मानना भ्रम है। उसका विनय-सत्कारादि करने से गृहीत मिथ्यात्व को पोषण होता है।

सागार धर्मामृत मे टिप्पणी में उद्धृत श्लोक में आचार्य सोमदेव ने कहा है कि - ***जिस प्रकार जिनबिम्ब पूजनीय है उसी प्रकार पूर्व मुनियों की स्थापना करके आधुनिक मुनि भी पूज्य है। इसलिये मुनि का द्रव्यलिंग बाहर में यथार्थ होना चाहिये।*** उन्हे व्यवहार से पूजनीय कहा है। किन्तु आत्मज्ञान न हो और व्यवहार का भी ठिकाना न हो और उन्हे मुनि माने तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। भले ही निश्चय मुनिपना प्रगट न हुआ हो, परन्तु व्यवहार तो बराबर होना चाहिये। तभी उनका व्यवहार से सत्कार किया जा सकता है। यदि व्यवहार भी बराबर न होवे तो उसे द्रव्यलिंगी भी नहीं मानना चाहिये। इसी ग्रन्थ के छठवें अधिकार में कहा है कि पद्मपुराण में एक कथा है कि किसी श्रेष्ठी धर्मात्मा ने भ्रम से चारण मुनियों को भ्रष्ट जानकर आहार नहीं दिया; तो फिर जो प्रत्यक्ष भ्रष्ट हैं उन्हें भक्ति से आहारादि देना कैसे संभव है? अर्थात् जो भ्रष्ट होवे उसे पूजनीक मानकर या मुनि मानकर दानादि देने वाला वह मिथ्यादृष्टि है। इसलिये पहले यथार्थ भान करना चाहिये। भूल करके भूल को भूल माने नहीं तो भूल नहीं मिटती। पहले भूल को भूलरूप जानना चाहिये, तब ही भूल छूटती है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा में देशचारित्र प्रगट न होने में अप्रत्याख्यानावरणीय कषाप निमित्त है। वस्तु में पर निमित्त में जो भाव होते हैं उनका नाम औपाधिकभाव

है, तथा पर निमित्त बिना जो भाव होते हैं उनका नाम स्वभावभाव है। आत्मा में शक्तिरूप जो स्वभाव है, उसके अवलम्बन में जो भाव हो वह स्वभावभाव है; और अपना आश्रय न करके परलक्ष्य से जो भाव होता है वह औपाधिकभाव है, इसमें निमित्त की अपेक्षा है। इसलिये जहाँ जैसा है वैसा समझना।

जैसे जल को अग्नि का निमित्त होने पर उष्णपना हुआ। अर्थात् पानी उष्णरूप हुआ है उसमें अग्नि निमित्त है। पानी की उष्णदशा के समय शीतलपने की अवस्था नहीं; परन्तु अग्नि का निमित्त मिटने पर पानी की अवस्था ठण्डी हो जाती है। इसलिये पानी का स्वभाव शीतल है- ऐसा सिद्ध होता है। वर्तमान में उष्ण होने पर भी स्वभाव तो शीतल ही है ; परन्तु उष्ण पर्याय के समय शीतलता प्रगट नहीं है, तो भी शक्तिरूप से तो त्रिकाल है। वह शक्ति जब व्यक्तरूप होती है तब स्वभाव व्यक्त हुआ कहने में आता है।

आत्मा जैसे स्वभाव से शुद्ध है वैसे ही पर्याय से भी वर्तमान दशा में शुद्ध है- ऐसा कोई माने तो वह भ्रान्ति है। यदि पर्याय में प्रगट शुद्धदशा हो तो कुछ करना रहता ही नहीं।

यहाँ पानी का दृष्टान्त दिया है कि पानी का स्वभाव तो शीतल है, परन्तु वर्तमान में अग्नि के निमित्त से उष्णदशा है, वह पानी का स्वभाव नहीं है। उसी प्रकार आत्मा में कर्म के निमित्त से वर्तमान पर्याय में विकार है, वहाँ तो केवलज्ञान का अभाव ही है; परन्तु जब कर्म के निमित्त तरफ का भाव नहीं रहता और वीतराणता प्रगट होती है तब केवलज्ञान प्रगट होता है। यहाँ 'कर्म का निमित्त मिटने पर केवलज्ञान होता है'- ऐसा कहा है उसका अर्थ ऐसा है कि आत्मा केवलज्ञान का पुरुषार्थ करे तब केवलज्ञान प्रगट होता है और उस समय कर्म का निमित्त नहीं रहता। इसलिये निमित्त का अभाव होने पर स्वभाव प्रगट होता है- ऐसा कहा है।

आत्मा केवलज्ञान प्रगट करता है, इसलिये आत्मा का सदाकाल केवलज्ञान स्वभाव है- ऐसा कहा जाता है। ऐसी शक्ति तो आत्मा में सदा होती है; परन्तु वह प्रगट हो तब व्यक्त प्रगट हुई कही जाती है। अब जैसे पानी वर्तमान में गरम होवे,

उसे वर्तमान में ठण्डा मानकर कोई पीवे तो जलेगा। उसी प्रकार केवलज्ञान स्वभाव से, अशुद्ध आत्मा को भी केवलज्ञानी मानकर अनुभव किया जाये तो दुःखी ही होता है। इस प्रकार जो आत्मा को केवलज्ञानादिरूप अनुभवते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

पानी शक्तिरूप से शीतल होने पर भी व्यक्तरूप तो उष्ण ही है; उसे वर्तमान में शीतल नहीं मानना चाहिये। उसी प्रकार आत्मा में वर्तमान में मति-श्रुतादि पर्याय होने पर भी केवलज्ञान मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। इसी प्रकार दर्शन, चरित्र, वीर्य आदि की न्यून तथा विकारी दशा होने पर भी पूर्ण और शुद्ध मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि है।

....तथा रागादिक भाव अपने को प्रत्यक्ष होनेपर भी भ्रम से आत्मा को रागादि रहित मानते हैं। सो पूछते हैं कि ये रागादिक तो होते दिखायी देते हैं, ये किस द्रव्य के अस्तित्व में हैं? यदि शरीर या कर्मरूप पुद्गल के अस्तित्व में हों तो ये भाव अचेतन या मूर्तिक होंगे; परन्तु ये रागादिक तो प्रत्यक्ष चेतनता सहित अमूर्तिक भाव भासित होते हैं। इसलिये ये भाव आत्मा ही के हैं।

यही समयसार कलश में कहा है :-

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः।।

इसका अर्थ यह है- रागादिरूप भावकर्म है सो किसी के द्वारा नहीं किया गया ऐसा नहीं है, क्योकि यह कार्यभूत है। तथा जीव और कर्मप्रकृति इन दोनों का भी कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि ऐसा हो तो अचेतन कर्मप्रकृति को भी उस भावकर्म का फल- सुख-दुःख का भोगना होगा; सो असम्भव है। तथा अकेली कर्मप्रकृति का भी यह कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि उसके अचेतनपना प्रगट है। इसलिये इस रागदिकका जीव ही कर्त्ता है और यह रागादिक जीव ही का कर्म है; क्योंकि भावकर्म तो चेतना का अनुसारी है, चेतना बिना नहीं होता, और पुद्गल ज्ञाता है नहीं।

इसप्रकार रागादिभाव जीव के अस्तित्व में हैं।...

तथा कोई अपने को रागादिभाव प्रत्यक्ष होने पर भी भ्रम में आत्मा को रागादि रहित मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

वर्तमान पर्याय में रागादि नहीं है- ऐसा जो मानता है वह और रागादि परिणाम कर्म को कारण से होते है-ऐसा जो मानता है वह- दोनों समान मिथ्यादृष्टि है। राग को कर्मजन्य मानता है, परन्तु कर्म तो जड़ है। जड़ में या जड़ के कारण से राणादि नहीं होते, परन्तु अपने अपराध से अपनी पर्याय में होते हैं। अतः जिसको ऐसी श्रद्धा नहीं है उसे आत्मा की तथा देवादिक की भी यथार्थ श्रद्धा नहीं है। इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा में शुभाशुभ भाव वर्तमान में होते हैं, तथापि जो आत्मा को रागादि रहित मानता है उससे हम पूछते हैं कि - ये रागादि होते देखने में आते हैं वे किसमें होते है? यदि वे शरीर या कर्म में होते हैं, तो ये भाव अचेतन और मूर्तिक होने चाहिये; परन्तु ये रागादिक तो प्रत्यक्ष अमूर्तिक ज्ञात होते हैं। इसलिये सिद्ध होता है कि ये आत्मा के ही भाव हैं। एक भाई ऐसा कहते थे कि - यह क्रोध हुआ है सो कर्म के उदय के कारण हुआ है, क्योंकि गोम्मटसार में लिखा है कि कर्म का प्रबल उदय आता है इसलिये क्रोधादि होते हैं। वस्तुतः वह गोम्मटसार के कथन को समझता ही नहीं, क्योंकि क्रोधादि होते हैं वे तो आत्मा में होते हैं। वह आत्मा की विकारी पर्याय है। कर्म में तो होते नहीं, क्योंकि कर्म तो अचेतन और मूर्त्त है और विकार तो चेतनाभूमि में (आत्मा की पर्याय में) होता है, इसलिये विकार तो चेतन और अमूर्तिक है। तथापि वह कर्म के कारण होता है- ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। वह वस्तु के स्वभाव को नहीं समझता।

जो क्रोधादिक भाव होते हैं वे औपाधिकभाव हैं। वे आत्मा की भूमिका में होते हैं, क्योंकि वह चेतन का आभास है, वे अचेतन मूर्तिक जड़ के नहीं है। वे विकारी भाव चारित्रमोहनीय कर्म के कारण नहीं है। संज्वलन के तीव्र उदय से छठवां गुणस्थान होता है और मंद उदय से सातवाँ गुणस्थान होता है- ऐसा नहीं है। कर्म के कारण आत्मा की शुद्धता अथवा अशुद्धता नहीं है। आत्मा की पर्याय जड़ के कारण तीनकाल

में नहीं होती। शास्त्र में जो विकार को पुद्गलजन्य कहा है वह तो, 1. विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है और 2. विकार निकल जाता है-नष्ट हो जाता है - यह बताने के लिये उसे पुद्गलजन्य कहा है। परन्तु पहले आत्मा में विकार अपने कारण होता है - ऐसा माने, फिर वह आत्मा का स्वभाव नहीं है - ऐसी स्वभावदृष्टि करने के लिये और विकार को निकाल देने के लिये, वह पुद्गल का विकार है - ऐसा कहा है।

चेतना दया, दानादि विकारीभावों में रुक जाती है तब वे होते हैं- ऐसा स्वीकार करने के पश्चात् वे रागादि परलक्ष्य से होते होने से और आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं होने से उन भावों को **"दृष्टि की अपेक्षा"** से पुद्गल का कहा है। आत्मा के अपने अपराध से पुण्य-पाप के भाव होते हैं - ऐसा न माने तो जीव स्वच्छन्दी होकर अशुभ परिणति होकर नरक-निगोद में जाता है। उसे धर्म तो होता नहीं, परन्तु अच्छी गति भी नहीं मिलती। ऐसा जीव निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

समयसार कलश में कहा है कि ये रागादि भावकर्म किसी ने नहीं किये- ऐसा नहीं है, क्योंकि ये कार्यभूत है।

रागादि आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में नहीं है; परन्तु पर्याय में नये-नये भाव जीव स्वयं करता है। 'तत्वार्थसूत्र' में औदयिकभाव को जीव का स्वतत्व कहा है। अर्थात् वह आत्मा का कार्य है। ये रागादिभाव आत्मा ने किये हैं, आत्मा की पर्याय है। वह उसका कार्य है। वह कार्य कर्त्ता के बिना नहीं होता। इसलिये आत्मा की पर्यायरूपी जो कार्य है उसका कर्त्ता आत्मा है। इसलिये रागादिभाव कार्य नहीं है - ऐसा नहीं है और उन्हें किसी ने किया नहीं है- ऐसा भी नहीं है।

तथा वे जीव और जड़ प्रकृति-इन दोनों का भी कर्त्तव्य नहीं है। जीव और जड़ दोनों इकट्ठे होकर रागादि भाव करते हैं-ऐसा भी नहीं है। आत्मा स्वयं अपने अपराध से क्रोधादि विकारीभाव करता है, उसमें कर्म निमित्त है; परन्तु वास्तव में दोनों इकट्ठे होकर रागादिभाव करें तो उस भावकर्म का फल जो सुख-दुःखादि है वह कर्म को भी भोगना पड़े, परन्तु ऐसा नहीं होता। जैसे हल्दी और फिटकरी - दोनों के मिश्रण

से लालरंग होता है ; वैसे ही कर्म और जीव मिलकर रागादि करते हैं - ऐसा कोई माने तो वह बात मिथ्या है। हल्दी और फिटकरी में भी दोनों के परमाणु अपनी-अपनी योग्यता से लालरूप परिणमते हैं। उसी प्रकार आत्मा स्वयं पर्याय में विकार करता है, कर्म विकार नहीं कराता।

अन्यमती मानते हैं कि ईश्वर कर्त्ता है और जैनी ऐसा माने कि कर्म के कारण विकार होता है, तो दोनों की मान्यता एक जाति की हुई - इस कारण दोनों मिथ्यादृष्टि है। अन्यमती तो अपने दोष में किसी ईश्वर को कर्त्तारूप में मानता है और यह जैनी तो अचेतन जड़ को अपने भाव का कर्त्ता मानता है; इसलिये यह तो अन्यमती की मान्यता से भी बहुत विपरीत मान्यता वाला हुआ। इसे जैन वीतरागमार्ग का पता नहीं है।

तथा रागादि अकेली कर्म प्रकृति का भी कार्य नहीं है। कारण कि कर्म तो अचेतन जड़ है और विकारीभाव तो चेतन है। इसलिये उन भावों का कर्त्ता जीव स्वयं ही है और वे रागादिभाव जीव का ही कर्म है, कारण कि भावकर्म तो चेतना का अनुसारी है, चेतन बिना नहीं होता। तथा पुद्गल ज्ञाता है नहीं। इस प्रकार रागादि भाव जीव में होते हैं।

कोई कहे कि रामचन्द्रजी छह माह तक नारायण की मृतक देह को लेकर घूमते रहे- यह सब चारित्रमोह कर्म के कारण था; परन्तु यह बात नितांत खोटी है। आत्मा की रागादि पर्याय के और कर्म की अचेतन पर्याय के अत्यन्तअभाव है। अत्यन्त अभाव रूपी वज्र का मोटा किला बीच में पड़ा है। इसलिये कर्म की पर्याय के कारण आत्मा के विकारीभाव नहीं होते- ऐसा समझना चाहिये। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव को भूलकर रागादि परिणाम करता है। यदि वह स्वभाव का भान करके उसमें लीन होवे तो रागादिभाव नहीं होते- ऐसा जानना।

जो रागादि में कर्म को कारण मानता है, उसने व्यवहार रत्नत्रप जो राग है उसे कर्म के कारण माना। अब जिसने ऐसा माना कि व्यवहार के कारण निश्चय प्रगट होता है तो उसने निश्चय कर्म से प्रगटता है- ऐसा ही स्वीकारा।

प्रथम तो विकार आत्मा में स्वतन्त्रपने स्वयं करता है - ऐसा मानना। कोई कहे कि दो हाथ से ताली बजकर आवाज होती है, तो यह बात भी खोटी है; क्योंकि एक हाथ दूसरे हाथ को छूता ही नहीं और जो आवाज होती है वह हाथ के कारण नहीं होती ; परन्तु उस स्थान पर भाषावर्गणा के परमाणु हैं, उनकी अवस्था उनके कारण उस समय होती है। इसी प्रकार आत्मा और पुद्गल कर्म एकत्रित होकर रागादि होते हैं- ऐसा नहीं है, परन्तु आत्मा स्वयं जैसे रागादिभाव करता है वैसे होते हैं। क्योंकि विकार तो चेतन-आत्मा का अनुसरण करके होता है। अर्थात् आत्मा स्वयं अनुसरे-करे तो होता है। कर्म रागादि में अनुसरण नहीं करते। रागादि कर्म की भूमिका में नहीं होते। तात्पर्य यह है कि- रागादिभाव तू स्वतन्त्र करे वैसे होते हैं, परन्तु कर्म के कारण नहीं होते। यदि विकार को स्वतन्त्र माने तो उसके नाश करने का उपाय स्वयं स्वतन्त्र कर सकता है- ऐसा निश्चित होता है।

....अब, जो रागादिकभावों का निमित्त कर्मही को मानकर अपने को रागादिक का अकर्त्ता मानते हैं वे कर्त्ता तो आप हैं; परन्तु आपको निरुद्यमी होकर प्रमादी रहना है, इसलिये कर्मही का दोष ठहराते हैं, सो यह दुःखदायक भ्रम है।

ऐसा ही समयसार के कलश में कहा है :-

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ।।221।।

इसका अर्थ :- जो जीव रागादिक की उत्पत्ति में परद्रव्य ही का निमित्तपना मानते हैं, वे जीव- शुद्धज्ञान से रहित अन्धबुद्धि है जिनकी- ऐसे होते हुए मोहनदी के पार नहीं उतरते हैं।

तथा समयसार के 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' में - जो आत्मा को अकर्त्ता मानता है और यह कहता है कि कर्म ही जगाते-सुलाते हैं, परघात कर्म से हिंसा है, वेदकर्म से अब्रह्म है, इसलिये कर्म ही कर्त्ता है- उस जैनीको सांख्यमती कहा है। जैसे सांख्यमती आत्मा को शुद्ध मानकर स्वच्छन्द होता है, उसीप्रकार यह हुआ।

तथा इस श्रद्धान से यह दोष हुआ कि रागादिक को अपना नहीं जाना, अपने को अकर्त्ता माना, तब रागादिक होने का भय नहीं रहा तथा रागादिक को मिटाने का उपाय करना नहीं रहा; तब स्वच्छन्द होकर खोटे कर्मो का बन्ध करके अनन्त संसार में रुलता है।....

संसार-पुण्य-पाप, आत्मा के बिना नहीं होते। जड़कर्म अथवा शरीर में वे भाव नहीं होते; इसलिये आत्मा में वे भाव होते हैं- ऐसा मानना। परन्तु जो उन रागादिभावों का निमित्त कर्मो को ही मानकर अपने को रागादि का अकर्त्ता मानता है, उसे स्वयं कर्त्ता होने पर भी अपने को अकर्त्ता मानकर निरूद्यमी बनकर प्रमादी रहना है- इसी कारण कर्मो का दोष ठहराता है; परन्तु यह उसका दुःखदायक भ्रम है।

आत्मा स्वयं विकार-करे और दोष कर्म के ऊपर डाले तो वह प्रमादी होकर मिथ्यादृष्टि रहता है। पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है कि- दो द्रव्य इकट्ठे होकर एक परिणाम नहीं करते और एक द्रव्य से दो परिणाम नहीं होते। इसलिये कर्म के कारण दोष होता है - ऐसा नहीं मानना। आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूप से विकार करता है। स्वभाव की रुचि करके अन्तर लीनता करे तो विकार का नाश होता है- ऐसा श्रद्धान करना। जो ऐसा मानता है कि कर्म के निमित्त के कारण विकार होता है, वह निश्चय और व्यवहार दोनों का आभासी है। कर्म प्रेरक होकर राग नहीं कराता, तथापि अज्ञानी मूढ़ ऐसा मानता है कि कर्म प्रेरक होकर जबरन राग कराता है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

श्री समयसार कलश में कहा है कि :-

जो जीव रागादि की उत्पत्ति में पर द्रव्य ही का निमित्तपना मानते हैं, वे जीव शुद्धज्ञान से रहित है अंधबुद्धि जिसकी- ऐसे मोहनदी को पार नहीं कर सकते।

राग-द्वेष आत्मा में होते हैं, उसमें कर्म निमित्त है इसलिये होते हैं - ऐसा जो मानता है, उसे सच्चा ज्ञान नहीं है। समयसार (गाथा-75) में ऐसा भी आता है कि "विकार और कर्म के व्याप्य- व्यापक भाव हैं", परन्तु यह कथन तो विकार को आत्मा

में से निकालने के लिये त्रिकाल स्वभाव की दृष्टि कराने के लिये किया है। वस्तुतः विकार कहीं कर्म में व्याप्त नहीं होता। यदि कर्म विकार कराता होवे तो फिर आत्मा कभी विकार को- राग को छोड़ ही नहीं सकता। मैं ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य हूँ - इसके भाव बिना जो उपवासआदि करे, तो भी वह जीव विकार अपने कारण अपनी पर्याय में होता है- ऐसा नहीं मानता, इसलिये वह अंधा है, उसका मोह नाश नहीं होता । जैसा जैसा कर्म का उदय होवे वैसा विकार हुए बिना रहे नहीं- ऐसा जो मानता है वह कभी भी मोह नदी से पार नहीं उतरता।

कोई ऐसा कहे कि- जितना कर्म का उदय होता है उतना राग होता है। जैसे कि जितना बुखार हो उतना ही डिग्री थर्मामीटर में आता है, चार डिग्री बुखार होवे तो माप में चार डिग्री आता है; किन्तु यह भ्रम है। तथा वह दृष्टान्त देता है कि स्फटिक में जैसा रंग आवे वैसी झांई दिखलाई देती है; उसी प्रकार जैसा कर्म का उदय हो तद्नुसार विकार होता है; परन्तु यह महान् भूल है। समयसार के कलश में कहा है कि जो ऐसा मानता है वह अंधा है; उसे सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं है, उसका मिथ्यात्वभाव कभी नष्ट नहीं होता।

एकसमय भी कर्म के प्रभाव के कारण से विकार करना पड़ता है- ऐसा जो मानता है उसके किसी समय भी आत्मा में पुरुषार्थ करके संसार के अभाव होने का अवसर नहीं रहता। इसलिये कर्म के कारण से आत्मा में विकार नहीं होता- ऐसा मानना।

तथा जो आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मानते हैं उनसे समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में कहते हैं कि - कर्म ही जगाते हैं, कर्म ही सुलाते हैं, परघात कर्म में हिंसा है, वेद कर्म से अब्रह्म है; इसलिये कर्म ही कर्त्ता है- ऐसा मानने वाले जैन को भी सांख्यमती कहा है। दर्शनावरणी कर्म का उदय होवे तब नींद आती है, और क्षयोपशम होवे तो जगता है। ज्ञानावरणी कर्म का उदय होवे तो हमारा ज्ञान हीन होता है और क्षयोपशम होवे तब ज्ञान का उधाड़ होता है- ऐसा जो मानता है वह सांख्यमती है। कर्म के दोष के कारण आत्मा की पर्याय में दोष तीन काल में भी नहीं होता।

तथा वे कहते हैं कि- हमारा हिंसा का भाव नहीं था, परन्तु परघात कर्म का उदय आता है, इसलिये हिंसा होती है; पुरुषवेद-स्त्रीवेद का उदय आता है तब हमको विषयभाव होते हैं; इसलिये कर्म ही कर्त्ता है। जैन होकर भी ऐसा मानने वाले को सांख्यमती कहा है।

किसी पदार्थ का प्रभाव किसी पदार्थ के ऊपर नहीं पड़ता। अग्नि के प्रभाव के कारण कपड़ा जलता है- ऐसा नहीं है। कपड़ा अपनी योग्यता के कारण जलता है। अतः कोई भी ऐसा माने कि कर्म के प्रभाव के कारण विकार होता है तो वह सांख्यमती जैसा हैं। जैसे सांख्यमती आत्मा को शुद्ध मानकर स्वच्छन्दी होता है ; उसी प्रकार यह भी हुआ। वैरागी-त्यागी होवे, परन्तु यदि कर्म के कारण विकार होता है- ऐसा माने तो वह जैनी होने पर भी सांख्यमती है, उसमें कुछ अन्तर नहीं है। कोई ईश्वर को जगत कर्त्ता मानते हैं और जैन कहे कि मैं पर जीव की दया पाल सकता हूँ, तो वे दोनों मिथ्यादृष्टि हैं, दोनों की कर्त्तापने की मान्यता एक समान है।

जो पाप परिणाम का कर्त्ता कर्म को मानता है वह आत्मा को पराधीन मानता है। जैनमत में आकर कर्म के कारण से आत्मा में विकार होता है - ऐसा माने तो स्वयं सांख्यमती की तरह अकर्त्ता होता है। इस कारण वह मिथ्यादृष्टि है। कर्म का कार्य तो कर्म में होता है, आत्मा में किंचित् भी कर्म का कार्य नहीं होता - ऐसी जिसको श्रद्धा नहीं है वह जैनमत में होने पर भी सांख्यमती है।

कर्म के उदय से विकार होता है- ऐसी श्रद्धा से यह दोष हुआ कि रागादिक को अपने अपराध से हुए नहीं जाना, इसलिये रागादिक होने का भय नहीं रहा और रागादि मिटाने का उपाय करना भी इसके नहीं रहा। इस कारण स्वच्छन्दी बनकर बुरे कर्मों को बांधकर अनन्त संसार में भटकता है।

देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा आत्मा करता है- ऐसा माने और फिर कहें कि रागादि कर्म के कारण होते हैं; तो वहाँ कोई मेल नहीं रहता; क्योंकि देवादिक की श्रद्धा भी राग है, उस श्रद्धा को भी कर्म के कारण माना, तो वह शुभभाव भी आत्मा नहीं कर सकता- ऐसी उसकी मान्यता है। इसलिये यदि राग को कर्म के कारण माने तो राग दूर करके स्वभावदृष्टि करने का अवसर नहीं रहता और स्वच्छन्दी होता है।

लोग समयसारादि ग्रन्थ पढ़ते हैं इसलिये ऐसा तो कह नहीं सकते कि- कर्म आत्मा को राग कराता है; परन्तु कर्म के निमित्त बिना किसी को कुछ राग नहीं होता; इसलिये कर्म का असर पड़ता है, निमित्त का प्रभाव पड़ता है, ऐसा तो होना चाहिये - ऐसा कितने ही मानते हैं। परन्तु जीव पर एक समय भी पर का प्रभाव माना गया तो उसे सदैव के लिये- किसी समय कर्म के उदय बिना नहीं रहता इसलिये- त्रिकाल कर्म का प्रभाव हुआ। अर्थात् उसके कभी भी पुरुषार्थ करने का अवसर नहीं रहता। इस कारण यह स्वच्छन्दी होकर चार गति संसार में भटकता है।

'समयसारनाटक' बंध अधिकार तथा 'इष्टोपदेश' में आता है कि कर्म का बलवानपना है। किसी समय आत्मा का बलवानपना है और किसी समय कर्म का बलवानपना है; परन्तु इसका अर्थ ऐसा है कि जब जीव स्वभाव को चूककर रागादिभाव करता है तब कर्म का बलवानपना कहा जाता है; परन्तु कर्म बलजोरी से रागादि नहीं कराता।

कर्म अजीब तत्त्व है और राग आस्रव तत्त्व है। जिसने कर्म के कारण राग होना माना उसने दोनों तत्त्वों को भिन्न नहीं माना। उस जीव के नवतत्त्वों की भी यथार्थ श्रद्धा नहीं रही। तथा पर के कारण पुण्य-पाप होते हैं- ऐसा माना इसलिये विकार का भय रहा नहीं। इस प्रकार :-

1. जिसने रागादिभाव को अपना नहीं माना उसने अपने को उनका अकर्त्ता माना।
2. रागादि का कर्त्ता अपने को नहीं माना इसलिये उनका भय भी नहीं रहा।
3. विकार का भय नहीं रहा इसलिये उसे मिटाने का उद्यम नहीं रहा।
4. अर्थात् स्वच्छन्दी बनकर खोटे कर्म बांधकर अनन्त संसार में परिभ्रमण करना रहा।

इस प्रकार स्वच्छन्दी होकर, अशुभ परिणाम करे, स्त्री आदि का संग करे ब्रह्मचर्य तोड़े और कहे कि आत्मा तो शुद्ध है; तो वह जीव मूढ़ है। मिथ्यात्व कर्म को बांधकर निगोद में जाता है और अनन्तकाल निगोद में ही रहता है।

....यहाँ प्रश्न है कि समयसार में ही ऐसा कहा है :-

"वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।"

इसका अर्थः- वर्णादिक अथवा रागादिक भाव हैं वे सभी इस आत्मा से भिन्न हैं।

तथा वहीं रागादिक को पुद्गलमय कहा है, तथा अन्य शास्त्रों में भी आत्मा को रागादिक से भिन्न कहा है; सो वह किस प्रकार है?

उत्तरः- रागादिकभाव परद्रव्य के निमित्त से औपाधिकभाव होते हैं, और यह जीव उन्हें स्वभाव जानता है। जिसे स्वभाव जाने उसे बुरा कैसे मानेगा और उसके नाश का उद्यम किसलिये करेगा? इसलिये यह श्रद्धान भी विपरीत है। उसे छुड़ाने के लिये स्वभाव की अपेक्षा रागादिक को भिन्न कहा है और निमित्त की मुख्यतासे पुद्गलमय कहा है। जैसे- वैद्य रोग मिटाना चाहता है; यदि शीत की अधिकता देखता है तब उष्ण औषधि बतलाता है, और यदि आतापकी अधिकता देखता है तब शीतल औषधि बतलाता है। उसी प्रकार श्रीगुरु रागादिक छुड़ाना चाहते हैं; जो रागादिक को पर का मानकर स्वच्छन्द होकर निरुद्यमी होता है, उसे उपादान कारण की मुख्यता से रागादिक आत्मा के हैं- ऐसा श्रद्धान कराया है; तथा जो रागादिक को अपना स्वभाव मानकर उनके नाश का उद्यम नहीं करता, उसे निमित्त कारण की मुख्यता से रागादिक परभाव हैं- ऐसा श्रद्धान कराया है।....

प्रश्न :- समयसार में ही ऐसा कहा है कि- वर्णादि और रागादिभाव हैं वे सब इस आत्मा से भिन्न है। तथा वहाँ ही रागादिक को भी पुद्गलमय कहा है?

देखो! यहाँ ग्रन्थकार प्रश्नकार की ओर में प्रश्न करते हैं कि- रागादि और शरीरादि, दया-दान का भाव, व्यवहार रत्नत्रप का भाव आत्मा से भिन्न है और पुद्गलमय है- ऐसा समयसार में कहा है। राग से आत्मा और आत्मा से राग परस्पर भिन्न है- ऐसा अन्य शास्त्रों में भी आता है, तो वह किस प्रकार है?

उत्तरः- परद्रव्य के निमित्त से ये रागादिभाव, औपाधिकभाव है। आत्मा में जितना उपाधिभाव है वह सब परद्रव्य के लक्ष्य से होता है। कर्म के निमित्त के समय आत्मा स्वयं नैमित्तिक भाव रागादि करता है, इससे वह उपाधिभाव है। अब, यदि यह जीव उन्हें स्वभाव जाने तो उन्हें बुरा कैसे माने? अथवा नाश का उपाय भी किस प्रकार करें? इसलिये यदि जीव रागादि उपाधिभाव को अपना स्वभाव जाने तो वह उनके नाश करने का उपाय नहीं करता। मुनि को छठवें गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प आता है वह उपाधिभाव है, विकारभाव है, अधर्मभाव है। सम्यग्दृष्टि के व्यवहार रत्नत्रय को उपचार से धर्म कहा जाता है परन्तु वास्तव में व्यवहार रत्नत्रय भाव है वह भी अधर्मभाव है। जीव उस राग को अपना स्वभाव माने तो उसके नाश का उपाय किस प्रकार करे? इसलिये निमित्त की मुख्यता से उसे पुद्गल का कहा है।

देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, आगमज्ञान और कषाय की मंदता व्यवहार है, उपाधि है, मलिन है; अज्ञानी उसको भला मानता है, इसलिये वह उसके अभाव का पुरुषार्थ नहीं करता। जिससे लाभ माने उसका किस प्रकार नाश करे? स्वभाव की रुचि करने से तो मिथ्यात्व का नाश होता है और स्वभाव में स्थिर हाने से अस्थिरता रूप राग का नाश होता है। इसलिये उन उपाधिभावों को छुड़ाने के लिये वे सब आत्मा से भिन्न हैं और पुद्गलमय है- ऐसा निमित्त की मुख्यता से कहा है। विकार को रखने के लिए भिन्न नहीं कहा है

गोम्मटसार में आता है कि- दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व होता है- इस कथन का आशय यह है कि आत्मा स्वयं मिथ्यात्व भाव करता है, उसमे दर्शनमोह निमित्त है- ऐसा कहना है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा से रागादि को भिन्न और पुद्गलमई क्यों कहा है? रागादि को छुड़ाने के लिये उन रागादि को निमित्त की मुख्यता से- अर्थात विकार में निमित्त कर्म है उसकी मुख्यता से कथन करके- रागादि उपाधि भावों को आत्मा से भिन्न और पुद्गलमय कहा है; परन्तु वह विकार कर्म का है और आत्मा में नहीं होता- ऐसा नहीं है, बल्कि आत्मा की पर्याय में आत्मा के अपराध के कारण से वह उपाधिभाव हुआ है।

पुण्य-पापादि विकारी भाव जड़कर्म के निमित्त से हुए हैं, इसलिये निमित्त की मुख्यता करके, शुद्ध उपादान की दृष्टि कराने के लिये पुद्गलमय कहा है। विकार स्वभाव के आश्रय में नहीं होता, परन्तु आत्मा स्वयं अपने अपराध से निमित्त का लक्ष्य करके रागादि भाव करता है- इस कारण उसे निमित्त का भाव कहा है। जैसे कोई बनिये का पुत्र कुसंगति में पड़ जाए तो उसे कुसंग के कारण खराब आदत पड़ गई है। ऐसा कहा जाता है; परन्तु वास्तव में कुसंग के कारण वह खराब आदत नहीं पड़ी है; क्योंकि आखिर कुसंग किया तो स्वयं ने है; इसलिये खराब आदत पड़ी है। यहाँ "निमित्त की मुख्यता से" कहा है, इसका अर्थ निमित्त की मुख्यता के राग हुआ है - ऐसा नहीं समझना; परन्तु राग को निमित्त की मुख्यता से पर का कहा है यह समझना।

अब कहते हैं कि- जैसे वैद्य का प्रयोजन रोग मिटाने का है; वह शीत की अधिकता देखे तो रोगी को उष्ण औषधि देता है और उष्णता की अधिकता देखे तो शीत औषधि बतलाता है। उसी प्रकार श्रीगुरु विकार छुड़ाना चाहते हैं, इसलिये जो रागादि को पर का मानकर स्वच्छन्दी बनकर निरूद्यमी होता है उसे तो उपादान कारण की मुख्यता से "रागादिक आत्मा के हैं" - ऐसा श्रद्धान कराया, तथा जो रागादि को अपना स्वभाव मानकर उनके नाश का उद्यम नहीं करता उसे निमित्त कारण की मुख्यता से "रागादिक परभाव हैं"- ऐसा श्रद्धान कराया।

यहाँ अज्ञानी घोटाला करता है कि रागादि आत्मा के हैं और पुद्गल के भी हैं; तो यह बात ठीक नहीं है। वस्तुतः रागादि उपाधिभाव तो आत्मा के ही हैं; किन्तु उन्हें छुड़ाने के लिये पुद्गल का कहा है-ऐसा समझना चाहिये। रागादिक आत्मा के भी हैं और पुद्गल के भी हैं- यह दोनों विपरीत श्रद्धान है।

....दोनों विपरीत श्रद्धानों से रहित होनेपर सत्य श्रद्धान होगा तब ऐसा मानेगा कि ये रागादिक भाव आत्मा का स्वभाव तो नहीं हैं, कर्म के निमित्त से आत्मा के अस्तित्व में विभाव पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, निमित्त मिटने पर इनका नाश होने से स्वभावभाव रह जाता है; इसलिये इनके नाश का उद्यम करना।...

जो इन दोनो विपरीत श्रद्धानों से रहित होता है वह आत्मा ऐसा मानता है कि- ये रागादिभाव आत्मा का स्वभाव तो नहीं है, परन्तु यह जीव कर्म के उदय के समय स्वयं आत्मा में अपने अपराध से रागादि करता है तब वह विभाव पर्याय होती है। यदि आत्मा स्वयं नैमित्तिक विकार न करे तो उस समय कर्म निमित्त नहीं कहलाता। इसलिये यहाँ कहा है कि निमित्त मिटने पर उसका नाश होने पर स्वभाव भाव रह जाता है। यहाँ विभावभाव है तब वहाँ सामने कर्म का निमित्त है और यहाँ विभाव नहीं होता तब वह निमित्त भी नहीं है। इसलिये विभावभाव के नाश का उद्यम करना योग्य है।

देखो! निश्चयाभासी चार प्रकार से भूल करता है- यह बात यहाँ कही गई है। इनमें पहले तो यह बात की थी कि आत्मा की संसार पर्याय में वर्तमान सिद्धपर्याय नहीं है, तथापि सिद्धदशा मानता है। और दूसरी बात यह कही कि- वह वर्तमान संसार अवस्था में केवलज्ञान मानता है। तीसरी बात- रागादि वर्तमान पर्याय में होते ही नहीं- ऐसा मानता है। और चौथी बात यह कही कि- विकार निमित्त के कारण से होता है- ऐसा मानता है- ये चारों अभिप्राय वाले मिथ्यादृष्टि हैं।

पहले बोल में, द्रव्यपर्याय अर्थात् सिद्धपर्याय वर्तमान में नहीं होने पर भी उसे वर्तमान मानता है। दूसरे में, ज्ञानगुण की पर्याय शुद्ध नहीं होने पर भी शुद्ध (केवल ज्ञानरूप) मानता है। तीसरी बात में- वर्तमान में रागादि विकारी पर्याय होती ही नहीं - ऐसा मानता है और चौथी बात- कर्मरूप निमित्त के कारण से राग होता है- ऐसा मानता है। ये सभी मिथ्यादृष्टि हैं।

यहाँ यह बात चलती है कि कर्म का निमित्त मिटने और रागादि का नाश होने पर वीतरागभाव होता है इसलिये राग के नाश का उद्यम करना योग्य है।

अब प्रश्न करता है कि- यदि कर्म के निमित्त से रागादिक भाव होते हैं तो जहाँ तक कर्म का उदय रहे वहाँ तक विकार किस प्रकार दूर होवे ? इसलिये उसका उद्यम करना तो निरर्थक है ?

....यहाँ प्रश्न है कि यदि यह कर्म के निमित्त होते हैं तो कर्म का उदय रहेगा तब तक यह विभाव दूर कैसे होंगे? इसलिये इसका उद्यम करना तो निरर्थक है?

उत्तरः- एक कार्य होने में अनेक कारण चाहिये। उनमें जो कारण बुद्धिपूर्वक हों उन्हें तो उद्यम करके मिलाये और अबुद्धिपूर्वक कारण स्वयमेव मिलें तब कार्यसिद्धि होती है। जैसे- पुत्र होने का कारण बुद्धिपूर्वक तो विवाहादि करना है, और अबुद्धिपर्वूक भवितव्य है; वहाँ पुत्र का अर्थी विवाहादि का तो उद्यम करे, और भवितव्य स्वयमेव हो तब पुत्र होगा। उसी प्रकार विभाव दूर करने के कारण बुद्धिपूर्वक तो तत्त्वविचारादि हैं, और अबुद्धिपूर्वक मोहकर्म के उपशमादिक हैं; सो उसका अर्थी तत्त्वविचारादिक का तो उद्यम करे, और मोहकर्म के उपशमादिक स्वयमेव हों तब रागादिक दूर होते हैं।....

देखो, यहाँ जो राग द्वेष आत्मा के कारण से नहीं मानते और निमित्त के कारण से होते हैं - ऐसा मानते है, उनकी भूल कैसी होती है?- इस बात का प्रश्न उठाकर निर्णय कराते हैं।

वह ऐसा मानता है कि- कर्म का उदय हो वहाँ तक राग के नाश का उद्यम नहीं होता, तो उद्यम किस प्रकार करना?

समाधान यह है कि एक कार्य होने में अनेक कारणों की आवश्यकता है। उनमें जो कारण बुद्धिपूर्वक हों उन्हे तो स्वयं उद्यम करके मिलावे और अबुद्धिपूर्वक के कारण तो स्वयं मिले तब कार्य सिद्धि होती है।

यहाँ दो बातें की है कि (1) बुद्धिपूर्वक कारण को स्वयं उद्यम करके मिलावे और (2) अबुद्धि पूर्वक कारण तो अपने आप स्वयं मिल जाता है। जैसे कि- पुत्र होने का बुद्धि पूर्वक कारण तो विवाहादि करना है तथा अबुद्धिपूर्वक कारण भवितव्य है। अब वहाँ पुत्र का अर्थी विवाहादि का तो उद्यम करे और भवितव्य स्वयं हो तो पुत्र हो। उसी प्रकार विभाव अर्थात् मिथ्यात्वादि दूर करने का कारण बुद्धिपूर्वक तत्त्व की रुचि,

ज्ञान और रमणता है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषायादि को दूर करने का कारण तो तत्त्व की रुचि, विचार और लीनता बुद्धिपूर्वक करना है। तत्त्व का विचार सम्यग्दर्शन का कारण है। तत्त्व विचार और तत्त्वरमणता स्वयं पुरुषार्थ करे तो होती है और ऐसा पुरुषार्थ करे तब मोह कर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षय स्वयं हो जाता है। मोहकर्म के उपशमादि अबुद्धिपूर्वक होते हैं। अबुद्धिपूर्वक का अर्थ ऐसा है कि- आत्मा का पुरुषार्थ जड़ कर्म का उपशमादि नहीं करता, क्योंकि मोहकर्म के उपशमादि स्वयं ही जड़ कर्म के अपने कारण से होते हैं- ऐसा यहाँ कहा है।

अब जिसको आत्मा की रुचि, ज्ञान और रमणता करना हो वह तत्त्वादि के विचारादि का उद्यम करे तथा मोहकर्म के उपशमादि का उद्यम करें तथा मोहकर्म के उपशमादि स्वयं हों तब रागादि भी दूर हों। अर्थात् जब जीव तत्त्वादि का विचार करता है तब मोहकर्म के उपशमादि अवश्य होते हैं; परन्तु आत्मा के पुरुषार्थ के कारण मोहकर्म के उपशमादि नहीं होते। इसलिये अबुद्धिपूर्वक स्वयं उनका अभाव होता है - ऐसा कहा है और उस समय रागादि भी नहीं होते। निमित्त मिटने पर रागादि भी नहीं होते - इसमें भी यही बात है कि- बुद्धिपूर्वक रागादि का नाश होता है तब कर्म का निमित्त स्वयं उसके कारण से उपशमादि हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा तत्त्वादि विचारपूर्वक सम्यग्दर्शन आदि का पुरुषार्थ करता है तब आत्मा के पुरुषार्थ के बिना कर्म के उपशमादि स्वयं उसके कारण से हो जाते हैं- ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; परन्तु निमित्त मिटने पर रागादि का नाश होता है और तत्त्वादि का विचार होने पर मोहकर्म के उपशमादि होते हैं, वे एक दूसरे के कारण होते हैं- ऐसा नहीं है।

कितने ही लोग इस कथन को पढ़कर गड़बड़ करते हैं कि कर्म के कारण विकार होता है और विकार के नाश के कारण कर्म का अभाव होता है; परन्तु यह भ्रम है। उस बात को स्पष्ट करते हैं कि आत्मा पुरुषार्थपूर्वक तत्त्व विचारादि करता है और कर्म तो अपने कारण से नष्ट होते हैं। कर्म के उपशमादि स्वयं होते हैं उस समय आत्मा पुरुषार्थपूर्वक रागादि का नाश करता है- ऐसा यहाँ कहना हैं। दोनों का समय एक

होता है, परन्तु दोनों एक दूसरे के कारण होते हैं - ऐसा नहीं समझना। आत्मा अपने सन्मुख हो और कर्म का अभाव नहीं हो- ऐसा नहीं होता। जब आत्मा पुरुषार्थ करता है तब कर्म का नाश स्वयं होता है। यहाँ तो कर्म और आत्मा के विकार के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है- यह बतलाने के लिये मोहकर्म के उपशमादि स्वयं होते हैं तब रागादि दूर होते हैं- ऐसा कहा है।

जो इस प्रकार का पुरुषार्थ और तत्त्वविचार करता है उसके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। कोई कहे कि हम ऐसा विचार करते हैं; परन्तु कार्य नहीं दिखता; तो कहते हैं कि- यथार्थ तत्त्वविचारादि करे और कार्य प्रगट नहीं हो- ऐसा नहीं होता। यदि कार्य नहीं दिखता तो समझना चाहिये कि कारण जो तत्त्वविचारादि हैं उन्हें वह जानता ही नहीं। बुद्धिपूर्वक यथार्थ तत्त्वविचारादि करने वाले के अबुद्धिपूर्वक मोहकर्म के उपशमादि होते हैं अर्थात् कर्म के उपशमादि स्वयं स्वतः होते हैं। आत्मा का पुरुषार्थ कर्म में काम नहीं करता।

कोई कहता है कि मैं दया-दान-भक्ति आदि का पुरुषार्थ करता हूँ; परन्तु फल कुछ दिखता नहीं। तो इसका अर्थ यही है कि वह पुरुषार्थ ही विपरीत है, इसलिये यथार्थ कार्य नहीं दिखता। जब आत्मा बुद्धि पूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब मोहकर्म के उपशमादि स्वयं होते हैं। और जब पुरुषार्थ पूर्वक स्वभाव में लीन होता है व आंशिक शुद्धता प्रगट करता है तब अप्रव्याख्यानावरण कर्म का अभाव स्वयं-उसके कारण से होता है। आत्मा के पुरुषार्थ के कारण कर्म का नाश होता है- ऐसा नहीं है। यदि आत्मा के कारण कर्म का नाश हो तब तो दो द्रव्यों की एकता हो जाती है और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न रहकर कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध हो जाता है।

इसलिये जीव का कार्य सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र का बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करना है और जब जीव ऐसा पुरुषार्थ करता है तब मोहकर्म का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय स्वयं होता है।

आगे (नौवें अधिकार में) आयेगा कि मोक्ष की प्राप्ति में एक पुरुषार्थ की ही मुख्यता है। वहाँ कहा है कि काललब्धि और भवितव्य तो कुछ वस्तु ही नहीं है। तथा

कर्म के उपशमादि तो स्वयं होते हैं। जीव को कर्म का नाश नहीं करना पड़ता। इसलिये सम्यग्दर्शन का अर्थी तो तत्त्वादिक का विचार करता है और मुनि स्वभाव की लीनता के अर्थी होने से उसका पुरुषार्थ करते हैं, तब उस-उस प्रकार के मोहकर्म के उपशमादि स्वयं होते हैं- ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

आत्मा और कर्म- दोनो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं; अतः आत्मा का पुरुषार्थ तो बुद्धि पूर्वक तत्त्वादिक का विचार करना है, परन्तु कर्म के नाश का पुरुषार्थ आत्मा नहीं कर सकता।

यहाँ तत्त्वादि के विचार को बुद्धिपूर्वक कारण कहा है और मोहकर्म का उपशम स्वयं होता है; (इसलिये उसे अबुद्धिपूर्वक कारण कहा है।)- यह दूसरा कारण हुआ। इस प्रकार दो कारण होने पर रागादिक का नाश होता है- ऐसा सिद्ध किया है; परन्तु मोहकर्म के उपशमादि के कारण रागादि का नाश होता है- ऐसा यहाँ नहीं कहना है। यहाँ तो एक कार्य होने में दो कारण सिद्ध किये हैं। इस प्रकार जब आत्मा बुद्धिपूर्वक तत्त्वादिक का विचार करता है तब अबुद्धिपूर्वक कर्म का उपशम स्वयं होता है- ऐसा समझना।

अज्ञानीजीव शास्त्र का आधार लेकर कर्म के कारण आत्मा में दोष होता है- ऐसा मानते हैं; परन्तु आत्मा स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करता है उसमें कर्म निमित्तमात्र हैं- ऐसा वे नहीं जानते। अतः वे जीव निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि हैं।

बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा तो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करे परन्तु कर्म नाश हो या न हो; परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा पुरुषार्थ करे और कर्म का नाश न हो- ऐसा होता ही नहीं और आत्मा ने पुरुषार्थ किया है इसलिये पुरुषार्थ से कर्म का नाश हुआ है- ऐसा भी नहीं है। आत्मा का सम्यग्दर्शन का काल है उस समय दर्शनमोह के नाश आदि का काल है। यहाँ ज्ञान के उघाड़ का काल है उस समय ज्ञानावरणी के क्षयोपशम का काल है, तथा आत्मा में रागादिक के अभाव का काल है उस समय चारित्रमोह के नाश का काल है, परन्तु कर्म के कारण वह नहीं और आत्मा के पुरुषार्थ के कारण कर्म का नाश नहीं- ऐसा समझना चाहिए।

....यहाँ ऐसा कहते हैं कि जैसे विवाहादिक भी भवितव्य आधीन हैं; उसी प्रकार तत्त्वविचारादिक भी कर्म के क्षयोपशमादिक के आधीन है; इसलिये उद्यम करना निरर्थक है?

उत्तर :- ज्ञानावरण का तो क्षयोपशम तत्त्वविचारादिक करने योग्य तेरे हुआ है; इसलिये उपयोग को वहाँ लगाने का उद्यम कराते हैं। असंज्ञी जीवों को क्षयोपशम नहीं है, तो उन्हे किसलिये उपदेश दें?....

अब शिष्य प्रश्न करता है कि- विवाहादि भी भवितव्य के आधीन है; उसी प्रकार तत्त्व विचार आदि भी कर्म के क्षयोपशम के आधीन हैं, इसलिये उद्यम करना व्यर्थ है?

उत्तरः- तत्त्वविचारादि करने योग्य ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षयोपशम तो तुझे हुआ है, इसीलिये उपयोग को वहाँ लगाने का उद्यम कराते हैं। असंज्ञी जीवों के क्षयोपशम वैसा नहीं है, अतः इन्हें किसलिये उपदेश दें? अर्थात् उनको उपदेश नहीं देते। आत्मा का उपयोग अज्ञान से पर में लग गया है, हम उसकी दिशा बदलवाना चाहते हैं। तत्त्वादि के विचार का और श्रद्धा का पुरुषार्थ कर सके इतना वर्तमान उघाड़ तुझे है। इसलिये हम तुझे उपदेश देते हैं। असंज्ञी जीवों को वर्तमान योग्यता उनके अपने कारण नहीं है, इसलिये उपदेश नहीं देते। वहाँ कर्मो का जोर है - ऐसा नहीं है, परन्तु उन जीवों की योग्यता ही ऐसी है।

....तब वह कहता है- होनहार हो तो वहाँ उपयोग लगे, बिना होनहार कैसे लगे?

उत्तरः- यदि ऐसा श्रद्धान है तो सर्वत्र किसी भी कार्य का उद्यम मत कर। तू खान-पान-व्यापारादिक का तो उद्यम करता है और यहाँ होनहार बतलाता है। इससे मालूम होता है कि तेरा अनुराग यहाँ नहीं है, मानादिक से ऐसी झूठी बातें बनाता है।

इस प्रकार जो रागदिक होते हुए आत्मा को उनसे रहित मानते हैं, उन्हे मिथ्यादृष्टि जानना।....

प्रश्नः- होनहार हो तो आत्मा में उपयोग लगे, होनहार के बिना कैसे लग सकता है? भला होना होगा तभी हमारा पुरुषार्थ कार्य करेगा, अन्यथा नहीं करेगा?

उत्तरः- यदि ऐसा श्रद्धान है तो तू सर्वदा किसी कार्य का उद्यम मत कर। तू खान-पान व्यापारादि का तो उद्यम करता है और यहाँ होनहार बताता है, इससे हम जानते हैं कि तेरा अनुराग ही यहाँ नहीं है, मात्र मानादि के लिये ऐसी बातें करता है।

'जो होना होगा वह होगा' - ऐसा तू मानता है तो सदैव ऐसा ही मान, परन्तु घर के काम में, व्यापार के काम में तो पुरुषार्थ मानता है और धर्म की बात आवे तब 'होना होगा वह होगा'-ऐसी बात करता है - इससे निश्चित होता है कि तेरा प्रेम ही धर्म में नहीं है; मात्र मानादिक से ही झूठी बातें करता है।

निमित्त के कारण से राग-द्वेष होते हैं- ऐसा मानने वाला, वर्तमान पुरुषार्थपूर्वक स्वयं राग-द्वेष करता है और अपने को रागादि से रहित हुआ मानता है। उसे विकार होने का डर नहीं रहता और विकार को मिटाने का उपाय भी नही होता। इस प्रकार निमित्त के कारण से राग-द्वेष मानने वाले को दोनों प्रकार के दोष आते हैं। इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

....तथा कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध होते हुए आत्मा को निर्बन्ध मानते हैं, सो इनका बन्धन प्रत्यक्ष देखा जाता है। ज्ञानावरणादिक से ज्ञानादिक का घात देखा जाता है, शरीर द्वारा उसके अनुसार अवस्थाएँ होती देखी जाती हैं, फिर बन्धन कैसे नहीं है? यदि बन्धन न हो तो मोक्षमार्गी इनके नाश का उद्यम किसलिये करे?....

तथा वह पर्याय में कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध होने पर भी आत्मा को निर्बन्ध मानता है। चौदहवें गुणस्थान तक कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। आत्मा द्रव्य अपेक्षा से तो निर्बन्ध है; परन्तु यहाँ तो पर्याय में संसार दशा में पर्यायदृष्टि से कर्म-नोकर्म के साथ सम्बन्ध है; किन्तु यह सर्वथा सम्बन्ध नहीं- ऐसा मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि कर्म नोकर्म का निमित्तरूप बंध तो प्रत्यक्ष देखते हैं।

ज्ञानावरणादि से ज्ञान का घात देखते हैं। अर्थात् उसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध यहाँ बताते हैं कि- आत्मा में ज्ञान की पूर्ण दशा नहीं है वहाँ निमित्तरूप ज्ञानावरणीय कर्म है। तथा आत्मा के और शरीर के भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, क्योंकि शरीर से उसके अनुसार होने वाली अवस्था देखते हैं। शरीर के हलन-चलन अनुसार आत्मा के प्रदेशों की अवस्था होती दिखाई देती है। आत्मा की अवस्था में शरीर निमित्त तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। शरीर के कारण आत्मा की अवस्था होती है- ऐसा नहीं है, किन्तु दोनों की अवस्था स्वतन्त्र अपनी-अपनी योग्यता से होती है- ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

शरीर की अवस्था के अनुसार आत्मा की अवस्था होती है - ऐसा यहाँ कहा है। हाथ ऊँचा होता है तो आत्मा के प्रदेश भी तदनुसार ऊपर उठते हैं। वहाँ आत्मा की अवस्था तो अपने कारण होती है; परन्तु संसार दशा में शरीर का सम्बन्ध है; इसलिये वहाँ तक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है- ऐसा भलीभांति जानना चाहिये। यदि सर्वथा सम्बन्ध न हो तो ऐसी जो अवस्था दिखाई देती है वह न हो। सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध रहित माने तो ज्ञान खोटा होता है, और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को कर्त्ता कर्म माने तो भी मिथ्यात्व होता है। इसलिये जैसा है वैसा मानना चाहिये।

ज्ञान तो स्व-पर प्रकाशक है। उसका विवेक ऐसा होता है कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ही नहीं; परन्तु पर्याय दृष्टि से कर्म-नोकर्म के साथ सर्वथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ही नहीं-ऐसा नहीं है। हाँ, सामान्य स्वभाव दृष्टि में सिद्धदशा, रागादि और कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध सब अभूतार्थ है। द्रव्यदृष्टि से यह सब नहीं है, परन्तु पर्यायदृष्टि से है - ऐसा न जाने तो एकान्त होता है। इसलिये जैसा है वैसा जानना चाहिये; तभी ज्ञान सम्यक् होता है। जो पर्याय दृष्टि से कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध नहीं माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। यदि सर्वथा सम्बन्ध न होवे तो वर्तमान सिद्धदशा होनी चाहिये; किन्तु वर्तमान सिद्धदशा नहीं है। अर्थात् शरीर के निमित्त से आत्मा में अवस्था होती है - ऐसा कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध है और पर्याय दृष्टि से वर्तमान में बंध है- ऐसा जानना चाहिये।

अब यदि वर्तमान पर्याय में बंध सर्वथा ही न हो तो मोक्षमार्गी उसके नाश का उद्यम किसलिये करता है? वर्तमान पर्याय में विकार ही न हो और उसका निमित्त ऐसा मोहकर्म यदि न हो तो पुरुषार्थ करके उसका नाश करना नहीं रहता, और स्वभाव सन्मुख होना भी नहीं रहता। ज्ञानी तो स्वभाव सन्मुख होकर रागादि का नाश करता है, इसलिये आत्मा को बंधन है- ऐसा मानना।

....यहाँ कोई कहे कि शास्त्रों में आत्मा को कर्म-नोकर्म से भिन्न अबद्धस्पृष्ट कैसे कहा है?

उत्तरः- सम्बन्ध अनेक प्रकार के हैं। वहाँ तादात्म्यसम्बन्ध की अपेक्षा आत्मा को अबद्धस्पृष्ट कहा है। तथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा बन्धन है ही, उनके निमित्त से आत्मा अनेक अवस्थाएँ धारण करता ही है; इसलिये अपने को सर्वथा निर्बन्ध मानना मिथ्यादृष्टि है।....

आत्मा में वर्तमान विभावभाव होता है और उसमें कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध है- उसे निश्चयाभासी जीव नहीं मानता। वह कहता है कि- शास्त्र में (समयसार गाथा-14 में) आत्मा को कर्म-नोकर्म से भिन्न अबद्धस्पृष्ट कहा है, वह किस प्रकार है?

उसका **उत्तर** इस प्रकार हैः- सम्बन्ध अनेक प्रकार के हैं। वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध के अपेक्षा से आत्मा को कर्म-नोकर्म से भिन्न कहा है, इसलिये आत्मा कर्म में और शरीर में एकमेक हो जाये- ऐसा नहीं होता; परन्तु आत्मा और शरीर के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है-ऐसा नहीं है। द्रव्य पलटकर एक-दूसरे से मिल जायें - ऐसा नहीं होता; अतः इस अपेक्षा से आत्मा को अबद्धस्पृष्ट कहा है। आत्मा पर के साथ एकमेक नहीं होता, इसलिये उसे अबद्धस्पृष्ट कहा है।

जब आत्मा पर्याय में स्वतन्त्रपने विकार करता है तब कर्म निमित्त होते हैं और आत्मा का क्षेत्रांतर होता है उसमें शरीर का निमित्तपना है। इसलिये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा से आत्मा को बंधन है और कर्म-नोकर्म के निमित्त से आत्मा अनेक प्रकार की अवस्थायें धारण करता है; अतः जो आत्मा को सर्वथा निर्बन्ध मानता है

वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सर्वथा छूट गया होवे तब तो सिद्धदशा होनी चाहिये। अरहन्त परमात्मा के भी कर्म-नोकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यहाँ, कर्म और शरीर के निमित्त से आत्मा विकार और क्षेत्रांतर की क्रिया करता है-ऐसा कहा है; उसमें कहना यह है कि आत्मा की योग्यता के समय ऐसा निमित्त होता है-यह ज्ञान कराया है। निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि, जो कि निमित्त को मानता ही नहीं है, उसकी अपेक्षा से यह कथन है; परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि निमित्त के कारण से आत्मा की अवस्था होती है। इसलिये आत्मा को सर्वथा निर्बन्ध मानना भ्रम है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की पर्याय में जो विकार है वह यथार्थ है और विकार है तो निमित्त भी है; यदि विकार न हो तो निमित्त किसका ? इसलिये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में कर्म का बंधन अवश्य है, परन्तु इससे यह नहीं मानना कि कर्म के कारण से राग है। आत्मा कर्म के निमित्त से अनेक अवस्थायें स्वयं के कारण धारण करता है। इसलिये अपने को सर्वथा निर्बन्ध मानना मिथ्यात्व है। आत्मा द्रव्यस्वभाव से निर्बन्ध है और पर्याय में बंध है- ऐसा यथार्थ समझना चाहिये।

....यहाँ कोई कहे कि हमें तो बन्ध-मुक्ति का विकल्प करना नहीं, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा है :-

"जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि सो बंधियहि णिभंतु'।"

अर्थः- जो जीव बँधा और मुक्त हुआ मानता है वह निःसन्देह बँधता है।....

तब वह **प्रश्न** करता है कि- हमें तो बंध-मोक्ष का विकल्प नहीं करना; क्योंकि शास्त्र में (योगसार, दोहा-87 में) कहा है कि जो जीव बंधा और मुक्त हुआ मानता है वह निःसंदेह बंधता है। तथा

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल-विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और।।

- ऐसा भी कहा है; इसलिये हमें बंध-मोक्ष का विचार करना ही नहीं चाहिये।

....उससे कहते हैं:- जो जीव केवल पर्यायदृष्टि होकर बन्ध-मुक्त अवस्था ही को मानते हैं, द्रव्यस्वभाव का ग्रहण नहीं करते; उन्हे ऐसा उपदेश दिया है कि द्रव्यस्वभाव को न जानता हुआ जो जीव बंधा-मुक्त हुआ मानता है वह बंधता है। तथा यदि सर्वथा ही बन्ध-मुक्ति न हो तो यह जीव बँधता है- ऐसा क्यों कहें? तथा बन्ध के नाश का- मुक्त होने का उद्यम किसलिये किया जाये? और किसलिये आत्मानुभव किया जाये? इसलिये द्रव्यदृष्टि से एक दशा है और पर्यायदृष्टि से अनेक अवस्थाएँ होती हैं- ऐसा मानना योग्य है।....

जो जीव केवल पर्यायदृष्टि होकर बंध मुक्त अवस्था को ही मानता है और द्रव्यस्वभाव का ग्रहण नहीं करता, किन्तु अकेली पर्याय को ही मानता है-उसके लिये यह कहा है; उसे उपदेश दिया है कि जो द्रव्यस्वभाव को न जानता हुआ अपने को बंधा या मुक्त हुआ मानता है वहीं बंध है, परन्तु यदि सर्वथा बंध ही नहीं तो 'यह जीव बंधा'- ऐसा किसलिये कहा जाय? जो सामान्य जीव स्वभाव को नहीं मानता वह अकेला पर्यायदृष्टि है। उसको बंध हुए बिना नहीं रहता। कारण कि बंध के नाश का कारण एकरूप त्रिकालीज्ञायक स्वभाव है। उससे कहते है कि त्रिकालीस्वभाव में बंध-मोक्ष-ऐसे दो प्रकार हैं ही नहीं; किन्तु इससे पर्याय में भी अनेकता नहीं हैं- ऐसा नहीं है। जो एकान्त द्रव्य स्वभाव को माने और पर्याय को नहीं माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। यदि वर्तमान पर्याय में सर्वथा ही बंध-मोक्ष न हो। अर्थात् बंध है और उसका अभाव करके मोक्ष होता है- ऐसा न माने तो यह जीव बंधा है- ऐसा किसलिये कहते हैं? और बंध के नाश का व मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न भी किसलिये किया जाता है। इसलिये पर्याय में बंध है- ऐसा मानना चाहिये। त्रिकाली स्वभाव को मुख्य करके बताने में पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर 'अभाव है'- ऐसा कहा है; परन्तु पर्याय में विकार है- ऐसा निर्णय करना चाहिये। क्योंकि यदि पर्याय में बंध न हो तो बंध के नाश और मोक्ष के उत्पाद करने का उपाय क्यों करना चाहिये? और आत्मा का अनुभव भी किसलिये करना चाहिये। इसलिये द्रव्यदृष्टि से तो एक दशा है और पर्यायदृष्टि से अनेक अवस्थायें होती हैं- ऐसा मानना योग्य है।

आत्मा में संसारदशा एक समय की है और मुक्तदशा भी एक समय की है, क्योंकि यह पर्याय है। अब जो जीव मात्र पर्याय को ही स्वीकारता, परन्तु आत्मा ज्ञायक चैतन्य है उसे नहीं जानता वह निःशंक मिथ्यादृष्टि है। सिद्धदशा प्रतिसमय ऐसी की ऐसी होती है – इस अपेक्षा में उसे सादि अनन्त कहते हैं। संसारदशा एक-एकसमय की है; परन्तु परम्परा की अपेक्षा अनादिकाल से है। कोई भी पर्याय कभी दो समय की इकट्ठी नहीं होती। जो द्रव्य को तो नहीं जानता, परन्तु अकेली पर्याय को ही मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और जो अकेले द्रव्य को मानता है, परन्तु पर्याय को नहीं मानता वह भी मिथ्यादृष्टि है।

पर्यायदृष्टि करने से बंध पर्याय का नाश और मुक्त पर्याय की उत्पत्ति नहीं होती; मुक्तदशा तो त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होती है। इसलिये त्रिकाली स्वभाव को मुख्य करके पर्याय को गौण करना यथार्थ मार्ग है।

कोई ऐसा कहे कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं तो एक आत्मा में दो बातें कैसे हो सकती है?

उसका समाधान यह है कि जैसे एक म्यान में तलवार तो एक ही होती है; परन्तु एक तलवार के दो पड़खे (पहलू/भाग) होते हैं – एक धारवाला और दूसरा धार रहित पड़खा। वे एक म्यान में साथ ही होते हैं; उसी प्रकार आत्मा में त्रिकाल स्वभाव और पर्याय-ऐसे दो पड़खे साथ ही हैं। उनमें एक पड़खे को मुख्य करके दूसरे को गौण करने की बात है।

आत्मवस्तु तो अनादि-अनन्त है और पर्याय एक समय की है। जैसे एक पुरुष पाँच सौ धनुष का हो, उसके पैर के एक भाग में लोहे के तार का बंधन हो और उसके हाथ में उस बंधन को काटने के लिये छूरी (औजार) हो; तो वह बंधन और बंधन को काटने की छूरी-दोनों एक भाग है; परन्तु उतना ही पुरुष नहीं है। उसी प्रकार बंध-मोक्ष तो एकसमय की पर्याय है। उतना ही आत्मा नहीं है। आत्मा तो त्रिकाल ध्रुव ज्ञायक चैतन्यमूर्ति है और पर्याय एक समय की है – ये दोनों होकर सम्पूर्ण आत्मा है। इसलिये आत्मा को सर्वथा निर्बन्ध नहीं मानना।

पर्याय में बंध है, परन्तु वह त्रिकाली स्वभाव में तन्मय नहीं है। बंध और आत्म स्वभाव का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है - ऐसा कहा है। तब अज्ञानी सर्वथा बंध ही नहीं है- ऐसा मान लेता है, इसलिये वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है, इसमें उसको निरन्तर बंध होता है और वह संसार में परिभ्रमण करता है।

जिसको द्रव्य-गुण-पर्याय का पता नहीं है और जो सातों तत्त्वों को भिन्न-भिन्न यथार्थ नहीं मानता वस्तुतः वह तो दिसम्बर जैन ही नहीं है। इसलिये त्रिकाली स्वभाव एकरूप है और पर्याय में अनेकता है- ऐसा मानना योग्य है।

पर्याय में राग नहीं और निमित्त भी नहीं- ऐसा मानने वाला तो अन्यमती मिथ्यादृष्टि है; परन्तु निमित्त है इसलिये मेरी विकार की पर्याय होती है - ऐसा मानने वाला भी अन्यमती की तरह ही मिथ्यादृष्टि है। जब आत्मा अपने पुरुषार्थ में विभावभाव का नाश करता है तब निमित्तरूप जो कर्म, उसका उसके कारण से स्वयं नाश होता है; परन्तु निमित्त है ही नहीं- ऐसा नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी, 'वह नहीं है'- ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

केवली (अरहन्त परमात्मा) के भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। केवलज्ञान पूर्णज्ञान हैं उसमें ज्ञेयरूप से लोकालोक ज्ञान में निमित्त है- ऐसा मानना चाहिये।

अतः यदि पर्याय में सर्वथा बंध-मोक्ष न हो और निमित्तरूप कर्म न हो तो आत्मा के अवलम्बन से स्वभाव प्रगट होकर अनुभव होता है- ऐसा कहना भी संभव नहीं है। इसलिये पर्याय दृष्टि से आत्मा की अवस्था में मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि अनेक प्रकार है-ऐसा जानना चाहिये। जो सामान्य को स्वीकार करता है और विशेष को स्वीकार नहीं करता वह निश्चयाभासी है तथा जो विशेष को स्वीकार करता है और सामान्य को स्वीकार नहीं करता वह व्यवहाराभासी है-ये दोनो मिथ्यादृष्टि हैं। अतः दोनो का-सामान्य-विशेष का यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

इन निश्चय-व्यवहार का यथार्थ ज्ञान करना प्रयोजनभूत है। इसी ग्रन्थ में आगे कहा है कि-जीवादि द्रव्यों अथवा तत्वों को पहिचानना और जो त्यागने योग्य

मिथ्यात्वादि हैं उन्हें जानना तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादि को भी भलीभांति जानना। तथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को भी यथार्थरूप से जानना चाहिये; क्योंकि इन्हें जानने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है। नय;प्रमाण, युक्ति द्वारा वस्तु को जानना। अतः अकेले निश्चय को नहीं मानकर दोनो नयों का ज्ञान करना चाहिये। किन्तु जो अकेले निश्चय को ही स्वीकार करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

....ऐसे ही अनेक प्रकार से केवल निश्चयनय के अभिप्राय से विरुद्ध श्रद्धानादि करता है।

जिनवाणी में तो नाना नयों की अपेक्षा से कहीं कैसा, कहीं कैसा निरूपण किया है; यह अपने अभिप्राय से निश्चयनय की मुख्यता से जो कथन किया हो- उसी को ग्रहण करके मिथ्यादृष्टि को धारण करता है।

तथा जिनवाणी में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होनेपर मोक्षमार्ग कहा है; सो इसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान में सात तत्त्वों का श्रद्धान और जानना होना चाहिये सो उनका विचार नहीं है, और चारित्र में रागादिक दूर करना चाहिये उसका उद्यम नहीं है; एक अपने आत्मा के शुद्ध अनुभवन को ही मोक्षमार्ग जानकर सन्तुष्ट हुआ है। उसका अभ्यास करने को अन्तरंग में ऐसा चिंतवन करता रहता है कि 'मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ, केवलज्ञानादि सहित हूँ, द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित हूँ, परमानंदमय हूँ, जन्ममरणादि दुःख मेरे नहीं हैं; इत्यादि चिंतवन करता है।....

इसी प्रकार अनेक प्रकार से केवल निश्चयनय के अभिप्राय से विरूद्ध श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र को मानता है। जिनवाणी में तो नानाप्रकार की नय अपेक्षा से किसी जगह कैसा और किसी जगह कैसा निरुपण किया है, उन्हें भलीभांति नहीं समझकर यह अज्ञानी अपने अभिप्राय से जहाँ निश्चयनय की मुख्यता से कथन किया हो उसे ही ग्रहण करके मिथ्यादृष्टिपने को धारण करता है। अर्थात् एकान्त से एक ही पक्ष को ग्रहण करता है। आत्मा की पर्याय में विकार है और उसमें निमित्त कर्म हैं-ऐसा जानना व्यवहार है; परन्तु उसे आदरणीय मानना वह व्यवहारनय का सच्चा ज्ञान नहीं

हैं। निश्चयनय का विषय त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है,जो उसका आश्रय करके विकार का नाश करता है उसको निश्चयनय का यथार्थ ज्ञान हुआ कहा जाता है। निश्चयनय आदरणीय है और व्यवहारनय जानने योग्य है-ऐसा समझना ही दोनो नयों का सत्यार्थ ज्ञान है।

कोई कहे कि दोनो नय समकक्ष है, अतः निश्चयनय की तरह व्यवहारनय भी आदरणीय है-तो यह बात भी सत्य नहीं है।

पण्डित बनारसीदासजी ने समयसार नाटक में कहा है कि-

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव।
तेई विवहारभाव केवली उकत है॥

(समयसार नाटक)

जो कोई व्यवहारनय से लाभ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। असंख्यात लोकप्रमाण जो मिथ्यात्व भाव है वह सब भाव व्यवहारभाव है। उसे आदरणीय मानने वाले को केवली भगवान मिथ्यादृष्टि कहते हैं। व्यवहार है अवश्य; परन्तु वह आदरणीय नहीं है। किन्तु यदि कोई यह माने कि व्यवहार है ही नहीं, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि व्यवहार को छोड़ने योग्य मानता है, तो व्यवहार है तभी तो छोड़ने योग्य मानता है, यदि व्यवहार हो ही नहीं तो वह छोड़ने योग्य है-ऐसा नहीं रहता। इसलिये व्यवहार है-ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है और उससें लाभ होता है-ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि स्वभाव का आश्रय लेकर व्यवहार को छोड़ो। जबकि अज्ञानी कहता है कि व्यवहार का आदर करो; इसलिये अज्ञानी की बात यथार्थ नहीं है।

जिनवाणी मे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग कहा है। अब सम्यग्दर्शन-ज्ञान में तो सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान होना चाहिये; परन्तु इसका तो इसके कुछ विचार नहीं है तथा सम्यग्क्चारित्र में रागादिक दूर करना चाहिये, उसका भी इसके उद्यम नहीं है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए सात तत्वों को बराबर जानना चाहिये; परन्तु उन्हें निश्चयाभासी नहीं जानता। जीव-अजीव तत्त्व हैं, पर्याय में आस्रवादि होते हैं- उनका स्वीकार नहीं करता और मात्र अकेले आत्मा की बात करता है। आत्मा के आश्रय से राग का नाश होना चाहिये उसका तो पुरुषार्थ नहीं करता। चारित्र का अर्थ तो ऐसा है कि- विकार को टालना; परन्तु यह विकार के नाश का उद्यम नहीं करता और मात्र एक अपने आत्मा को शुद्ध अनुभवने को मोक्षमार्ग मानकर सन्तुष्ट हुआ है; परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होना मोक्षमार्ग है उसे यह नहीं मानता। राग है तो उसका अभाव करके शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है; परन्तु यदि राग को ही नहीं माने तो शुद्ध आत्मा का अनुभव करना भी नहीं रहता। इसलिये सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। सातों तत्त्वों को वे जैसे हैं वैसे नहीं जाने तो समयग्ज्ञान नहीं होता।

आत्मा चैतन्यमूर्ति है और पुद्गलादि पर हैं। आत्मा में विकार होता है वह आस्रव है और ज्ञायक स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता वह संवर-निर्जस है तथा पूर्ण शुद्धि वह मोक्ष है। इस प्रकार सातों तत्त्वों की तो निश्चयाभासी को खबर नहीं हैं और वह उन्हें जानने का उद्यम भी नहीं करता; मात्र आत्मा को शुद्ध अनुभव करना-ऐसा मानकर सन्तुष्ट होता है। आत्मा के वर्तमान शुद्ध अनुभव नहीं होने पर भी भ्रम से ऐसा मानता है और शुद्ध अनुभव के अभ्यास के लिये ऐसा चिन्तवन करता है कि

1. मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ,
2. केवलज्ञानादि सहित हूँ,
3. द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित हूँ,
4. परमानन्दमयी हूँ,
5. जन्म-मरणादि दुःख मेरे नहीं हैं।

देखो! यहाँ प्रथम जिस क्रम से बात की थी उसी अनुसार क्रम से बात करते हैं कि-

मैं पर्याय में सिद्धसमान शुद्ध हूँ - ऐसा निश्चयाभासी मानता है। तथा वर्तमान में मतिज्ञानादि की पर्याय होने पर भी वह वर्तमान में केवल ज्ञान प्रगट है- ऐसा मानता है। द्रव्यकर्म-नोकर्म का सम्बन्ध होने पर भी वह अपने को द्रव्यकर्म आदि के

सम्बन्ध से रहित मानता है। वर्तमान में आकुलता और दुःखरूप पर्याय होने पर भी परमानन्दमयी हूँ- ऐसा वह मानता है और जन्म-मरण प्रत्यक्ष होने पर भी अपने को उनसे रहित मानता है - इस प्रकार निश्चयाभासी अन्तरंग में आत्मा के अनुभव के लिये अभ्यास करता है- चिन्तवन करता है।

....सो यहाँ पूछते हैं कि यह चिंतवन यदि द्रव्यदृष्टि से करते हो तो द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों का समुदाय है; तुम शुद्ध ही अनुभवन किसलिये करते हो? और पर्यायदृष्टि से करते हो तो तुम्हारे तो वर्त्तमान अशुद्ध पर्याय है; तुम अपने को शुद्ध कैसे मानते हो?

तथा यदि शक्तिअपेक्षा शुद्ध मानते हो तो 'मैं ऐसा होने योग्य हूँ' - ऐसा मानो; 'मैं ऐसा हूँ'- ऐसा क्यों मानते हो? इसलिये अपने को शुद्धरूप चिंतवन करना भ्रम है। कारण कि तुमने अपने को सिद्ध समान माना तो यह संसार अवस्था किसकी है? और तुम्हारे केवलज्ञानादि हैं तो यह मतिज्ञानादिक किसके हैं? और द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित हो तो ज्ञानादिक की व्यक्तता क्यों नहीं है? परमानन्दमय हो तो अब कर्त्तव्य क्या रहा? जन्म-मरणादि दुःख नहीं है तो दुःखी कैसे होते हो?- इसलिये अन्य अवस्था में अन्य अवस्था मानना भ्रम है।....

अब उससे पूछते हैं कि- तुम जो यह चिन्तवन करते हो सो द्रव्यदृष्टि से करते हो या पर्यायदृष्टि से करते हो?

यदि द्रव्यदृष्टि से आत्मा शुद्ध है - ऐसा चिन्तवन करते हो तो 'द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों का समुदाय हैं;' भूतकाल में जितनी अशुद्ध पर्याये हो गई वे कहाँ गई? यदि द्रव्य में नहीं और वर्तमान में भी भूतकाल की पर्यायें नहीं, तो वे कहाँ रही? तीनकाल की पर्यायों का समुदाय वह गुण है और अनन्तगुणों का पिण्ड वह आत्मा (द्रव्य) है।

दृष्टान्त के रूप में सुवर्ण को लो, तो उसके पीले गुण (वर्णगुण) की जितनी भूत, भविष्य और वर्तमान की पर्यायें हैं वे पीला गुण है और उन पीलापन, चिकनापन आदि गुणों का पिण्ड वह सोना है। उसी प्रकार आत्मा में चारित्रगुण की तीनों काल की

शुद्ध-अशुद्ध पर्यायें चारित्रगुण है, वह, तथा ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों का पिण्ड, वह आत्मा है। अर्थात् शुद्ध-अशुद्ध सर्वपर्यायों का पिण्ड, वह द्रव्य है। निश्चयाभासी द्रव्य को एकान्त शुद्ध ही मानता है; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ आशय यह है कि जो अशुद्ध संसार पर्याय बीत गई है उसे भी यहाँ द्रव्य में डाला है और ऐसा कहकर द्रव्य को शुद्धाशुद्ध पर्यायों का पिण्ड कहा है। क्योंकि निश्चयाभासी पर्याय को बिलकुल नहीं मानता; इसलिये उसे समझाने-पर्याय का स्वीकार कराने के लिये इस रीति से बात की है। उससे कहते हैं कि तेरी द्रव्यदृष्टि भी सच्ची नहीं है। **सामान्य में एकरूप ध्रुवता होने पर भी जिसे शुद्ध-अशुद्ध दोनों पर्यायें आत्मा की हैं - ऐसी खबर नहीं है और उसका स्वीकार भी नहीं करता, उससे कहते हैं कि द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड है।** अतः तू द्रव्यदृष्टि से जो यह चिन्तवन करता है कि आत्मा सिद्धसमान है, सो तेरी यह बात सत्य नहीं है। **वर्तमान एक समय की पर्याय को छोड़कर-गौण करके बाकी की अन्य शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों सहित द्रव्य है- ऐसा मानना चाहिये।** भूतकाल की अशुद्ध पर्याय बीत गई है वह कहाँ गई? वह कथंचित् द्रव्य में है ऐसा नहीं मानने वाले ने सामान्य द्रव्य को सही सही प्रकार नहीं माना। **यद्यपि द्रव्यदृष्टि के सामान्य विषय में अशुद्ध पर्याय का विषय नहीं हैं, परन्तु यहाँ तो वह दृष्टि जिसको हुई हो उसे प्रथम यह जानना चाहिये कि जो अशुद्धपर्याय बीत गई है वह आत्मा की है। - इस बात की मुख्यता से यहाँ शुद्ध-अशुद्ध पर्याय के पिण्ड को द्रव्य कहा है।**

जिसे आत्मा के ध्रुव सामान्य स्वभाव की दृष्टि हुई है वह तो पर्याय को सही प्रकार से जानता है; परन्तु यह निश्चयाभासी तो पर्याय को मानता ही नहीं; इसलिये वर्तमान पर्याय को गौण करके भूतकाल की जो पर्यायें हो गई है ***वे पर्यायें होने की शक्ति द्रव्य में थी और द्रव्य से सर्वथा भिन्न वे पर्यायें नहीं थी; इसलिये उन पर्यायों सहित द्रव्य को मानने को यहाँ द्रव्यदृष्टि कहा है।***

यदि अशुद्धपर्याय को गिनने में नहीं आवे और अकेला सामान्य ही द्रव्य है तो अब तक जो अशुद्धपर्यायें बीत गई वे कहाँ रही? उनका कोई तुच्छ अभाव नहीं है।

अनादि-अनन्त पर्यायों का पिण्ड वह द्रव्य है। जो पर्याय बीत गई है वह वर्तमान पर्याय में नहीं है और द्रव्य में भी वह पर्याय नहीं है- ऐसा यदि मानोगे तो द्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा। बीती हुई पर्यायों का सर्वथा तुच्छाभाव नहीं है। यहाँ कहा है कि द्रव्यदृष्टि करना हो तो ऐसा मानो कि पूर्व पर्यायें जितनी हुई हैं वे द्रव्य की हैं, तो द्रव्यदृष्टि यथार्थ कहलायेगी। कथन की अपेक्षा बराबर समझना चाहिये।

भाई! वस्तुस्वरूप को यथार्थ समझे बिना क्रियाकाण्ड, व्रत तपादि करने पर भी धर्म नहीं होता।

आत्मा एकान्त शुद्ध ही है - ऐसा जो मानता है, उससे कहते हैं कि भाई! आत्मा तो शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों का समुदाय है। जैसे एक ज्ञानगुण को ही लो, तो अनादि से कुमतिज्ञानादि की पर्याय हो गई और साधकदशा में सुमतिज्ञान आदि की पर्यायें होती हैं और भविष्यकाल में केवलज्ञान की पर्याय सादि - अनन्तकाल रहती है- इन समस्त पर्यायों का समुदाय वह ज्ञानगुण है और ऐसे अनन्त गुणों का पिण्ड- वह द्रव्य है। इससे भिन्न अन्य कोई द्रव्य नहीं है। इसलिये ऐसा सिद्ध हुआ कि शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड, वह द्रव्य है।

अनादि से आत्मा मर्यादित दृष्टि में फंस गया है, उसे अमर्यादित-अपरिमित दृष्टि कराते हैं। आत्मा में अनन्तगुण हैं वे अमर्यादित हैं - ऐसे द्रव्य का यथार्थ ज्ञान कराते हैं।

जैसे समुद्र में लहरें होती हैं वे नई-नई होती हैं, पहली लहर का व्यय होता है और नई लहर का उत्पाद होता है; इसमें जो पहली लहर का व्यय हुआ है वह समुद्र में ही समा गया है। उसी प्रकार आत्मा में भूतकाल में जितनी अशुद्ध पर्यायें हो गई हैं वे सब आत्मा में अन्तर्गत है। भूत-भविष्य और वर्तमान - तीनों काल की पर्यायों से भिन्न आत्मा नहीं है; परन्तु वही आत्मा है। यदि आत्मा को सर्वथा शुद्ध ही मानने में आवे तो भूतकाल की अशुद्ध पर्यायें कहाँ रही? इसलिये अशुद्ध पर्याय, भविष्य में होने वाली शुद्ध पर्याय और वर्तमान साधक पर्याय - इन तीनों कालों की पर्यायों का समुदाय ही द्रव्य है ऐसा मानना। सुख-दुःख की पर्यायों का समुदाय, वह आनन्द गुण है। मिथ्यात्व पर्यायें जितनी बीत गई हैं वे अनादि-सांत है और फिर सम्यग्दर्शन पर्याय

हुई वह सादि-अनन्त काल तक मोक्ष में रहती है; उन मिथ्यात्व और सम्यक्त्व पर्यायों का समुदाय, वह श्रद्धा गुण है। इसी प्रकार वीर्य गुण की पर्याय पूर्व में बाल वीर्यरूप थी, वह पण्डित वीर्यरूप हुई; उन बाल और पण्डित वीर्यरूप पर्यायों का पिण्ड, वह वीर्यगुण है। इसी प्रकार समस्त गुणों की अनादि-अनन्त पर्यायों का पिण्ड आत्मा है।

प्रश्नः- अभव्य को 'शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड वह द्रव्य है' - ऐसा कहना कैसे संभव है।

समाधानः- भले ही अभव्य को प्रगटता की अपेक्षा से अशुद्ध पर्याय का पिण्ड कहा जाये तो भी -

1. उसमें केवलज्ञान की शक्ति त्रिकाल है और उसके केवलज्ञानावरणी कर्म भी होता है- इस अपेक्षा से उसे शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य कहा जाता है।
2. अभव्य आत्मा के भी समस्तगुण अशुद्ध नहीं है अर्थात् अमुक गुणअस्तित्वादि तो त्रिकाल शुद्ध है, इससे भी उसे शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य कहा जाता है तथा
3. समस्त आत्माओं में अगुरुलघुत्व गुण के कारण षटगुण हानि-वृद्धिरूप परिणति अनादि-अनन्त शुद्ध होती है - इस अपेक्षा से भी शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड-वह द्रव्य है- ऐसा कहा जाता है।

आत्मा में अस्तित्वादि छह सामान्य गुण हैं, उनमें एक प्रदेशत्वगुण की पर्याय में ही अशुद्धता होती है; अन्य पाँच गुण तो सदा शुद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि यहाँ तो समस्त गुणों की पर्यायों के समुदाय को द्रव्य कहा है; इस कारण शुद्ध-अशुद्ध पर्याय का पिण्ड वह द्रव्यदृष्टि का विषय है - ऐसा यहाँ कहा है। निश्चयाभासी आत्मा को अकेला शुद्ध ही मानता है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है- ऐसा जानना।

पंचपरमेण्ठी का स्वरूप जैसा है वैसा नहीं जानने और उनकी श्रद्धा नहीं करने वाला तो यह बात सुनने के लायक भी नहीं है; परन्तु जो देव-शास्त्र-गुरु को मानते हुए भी आत्मा के स्वरूप को जैसा है वैसा नहीं जानता और आत्मा एकान्त शुद्ध है - ऐसा मानता है, उससे कहा है कि तेरी यह बात मिथ्या है; क्योंकि द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों का समुदाय है।

द्रव्य अखण्ड सामान्य एकरूप है अर्थात् उसमें भेद और अनेकता नहीं है। यहाँ (वर्तमान पर्याय सिवाय) शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों के समुदाय को सामान्य एकरूप कहा है। प्रमाण की बात यहाँ नहीं है। आगे कहेंगे कि निमित्त और पर से भिन्नपना और अपने भावों से अभिन्नपना वह द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है। वर्तमान एक समय की पर्याय को गौण करके शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का समुदाय एकरूप है उसे यहाँ अखण्ड एकरूप ज्ञायक पारिणामिक भाव कहा है, उसे यहाँ द्रव्यदृष्टि का विषय कहा है।

यदि अशुद्धपर्याय द्रव्य की न हो तो वर्तमान पर्याय में वह पर्याय नहीं और द्रव्य में भी वह पर्याय नहीं- ऐसा मानने में आवे तो वह पर्याय कहाँ रही? अर्थात् भूतकाल की जितनी पर्यायें बीत गई वे द्रव्य की है- ***ऐसा अपने भावों से अभिन्नपना और परद्रव्य-भावों से भिन्नपना मानना यह द्रव्य अपेक्षा से शुद्धपना है। यह द्रव्य प्रमाण का विषय नहीं है। प्रमाण का विषय तो वर्तमान विशेष और वर्तमान सामान्य दोनों है। उसमें द्रव्यार्थिकनय का विषय सामान्य अर्थात् भूत तथा भविष्य की पर्यायों का समुदाय है और दूसरा पर्यायार्थिकनय है वह विशेष-वर्तमान पर्याय को विषय करता है; इसलिये यहाँ प्रमाण की बात नहीं है।***

आत्मा वर्तमान में द्रव्य-पर्यायरूप है, ये दोनों प्रमाण का विषय है। अब यदि द्रव्य दृष्टि से विचार करने में आवे तो, यहाँ कहते हैं कि तू पर्याय को नहीं मानता, परन्तु द्रव्यदृष्टि से द्रव्य शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का समुदाय है, ***वह वर्तमान समुदाय सामान्य द्रव्यदृष्टि का विषय है और पर्यायदृष्टि से वर्तमान अशुद्ध पर्याय एक समय की है वह पर्यायदृष्टि का विषय है- ये दोनों मिलकर प्रमाण का विषय होते हैं; परन्तु द्रव्यदृष्टि का विषय जो शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड कहा है वह प्रमाण का विषय नहीं है।***

यहाँ द्रव्य सामान्य का अर्थ ऐसा है कि- अव्यक्त अनन्त अशुद्ध पर्याये जो बीत गई हैं वे और भविष्य की शुद्धपर्यायें उनका समुदाय वह सामान्य द्रव्य है; फिर भी तू ऐसा चिन्तवन करता है कि- आत्मा शुद्ध है, इसलिये भ्रम है। द्रव्य का स्वरूप तो शुद्ध-अशुद्ध दो प्रकार होने पर भी अकेले शुद्धरूप किसलिये चिन्तवन करते हो? वह चिन्तवन भ्रमरूप है; क्योंकि यह निश्चयाभासी पर्याय को मानता ही नहीं, इसलिये मिथ्यादृष्टि है।

तथा आत्मा की पर्याय में चौथे गुणस्थानादि में जो शुभभाव होते हैं उसे न माने, और कहे कि व्यवहार है ही नहीं, तो तीर्थ का उच्छेद होता है; इसलिये व्यवहार नहीं है- ऐसा जो मानता है वह व्यवहार रत्नत्रय का लोप करता है और आत्मा त्रिकाल शुद्ध है, उसे व्यवहार करते-करते लाभ होता है- ऐसा माने और शुद्धआत्मा है उसे न माने अर्थात् उसका आश्रय न ले तो वहाँ निश्चयनय का लोप होता है। इसलिये दोनों नयों का यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये।

यहाँ तो कहते हैं कि निश्चयाभासी आत्मा को शुद्धरूप चिन्तवन करता है वह भ्रमरूप है; क्योंकि यदि तुम द्रव्यदृष्टि से चिन्तवन करते हो तो द्रव्य तो अकेला शुद्ध नहीं, परन्तु शुद्ध-अशुद्ध दोनों रूप है; और पर्यायदृष्टि से चिन्तवन करते हो तो तुम्हारे वर्तमान पर्याय तो अशुद्ध है; इसलिये दोनों प्रकार शुद्ध का चिन्तवन करना भ्रम है। कारण कि वर्तमान पर्याय तो निचली दशा में अशुद्ध है और द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध-दोनों रूप है। इसलिये तेरे किसी प्रकार शुद्ध चिन्तवन नहीं बनता। पर्याय में शुद्ध है- ऐसा भी नहीं मानना चाहिये। वर्तमान अशुद्धपर्याय होते हुए भी उसे शुद्ध कैसे मानते हो? तथा यदि तुम शक्ति अपेक्षा से शुद्ध मानते हो तो 'मैं ऐसा होने योग्य हूँ'- ऐसा मानो, 'मैं सिद्ध होने योग्य हूँ'- ऐसा मानो; परन्तु 'मैं ऐसा हूँ'- यह मानना भ्रम है।

आत्मा शुद्ध होने लायक है- ऐसा मानना यथार्थ है। अर्थात् द्रव्य शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों का समुदाय होने पर भी मेरे में शक्ति तो सिद्ध होने की है, परमानन्दमय होने की है- ऐसा मानना चाहिये।

इसलिये द्रव्य अपेक्षा से अथवा पर्याय अपेक्षा से एकान्ततः शुद्ध नहीं मानना; परन्तु मैं शक्ति अपेक्षा से शुद्ध हूँ, सिद्ध होने योग्य हूँ- ऐसा मानना योग्य है। अतः आत्मा को एकान्त से शुद्धरूप चिन्तवन करना भ्रम है।

यदि तुम अपने को सिद्धसमान मानते हो तो यह संसार अवस्था-विकारी पर्याय किसकी है? एकसमय में शुद्ध और अशुद्ध दो पर्यायें नहीं होती।

अब यदि तुम वर्तमान केवलज्ञानादिरूप हो- ऐसा चिन्तवन करते हो तो यहाँ वर्तमान मतिज्ञानादि की पर्याय है वह किसकी है? अतः तू वर्तमान पर्याय में केवलज्ञान मानता है वह मिथ्यात्वभाव है।

तथा तू अपने को द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित मानता है- यह भी भ्रम हे। निमित्तरूप से वर्तमान में द्रव्यकर्म और नोकर्म प्रत्यक्ष होने पर भी निमित्त है ही नहीं- ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। निमित्त के कारण आत्मा की पर्याय होती है- ऐसा माने तो कर्म को माना कहलाये - ऐसा नहीं है; परन्तु वर्तमान में आत्मा की विकारी पर्याय स्वयं के कारण से होती है, उसमें कर्म निमित्त हैं- ऐसा मानना चाहिये। कर्म एक वस्तु है; परन्तु उसका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है - ऐसा नहीं है। अज्ञानी मानता है कि जीव कर्म के कारण ग्यारहवें गुणस्थान से गिर जाता है; परन्तु यह मान्यता भ्रम है। जीव अपनी पर्याय की योग्यता के कारण गिरता है- ऐसा मानने के बदले कर्म के कारण गिरना मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय में अपूर्णदशा है, पूर्ण दशा नहीं। तथा यदि विकार और अल्पज्ञता है तो उसके निमित्तरूप द्रव्यकर्म और नोकर्म हैं। यदि निमित्तरूप से शरीरादि न हों तो वर्तमान में सिद्धदशा-अशरीरीदशा होनी चाहिये। इसलिये कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध भी है- ऐसा मानना चाहिये। यद्यपि आत्मा की विकारी पर्याय अथवा अपूर्ण पर्याय के कारण द्रव्यकर्म-नोकर्म नहीं है तथापि विकारी अथवा अपूर्ण दशा के समय कर्म आदि उनके कारण से होते हैं- ऐसा जानना चाहिये। तथा जब आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा होती है तब जो कर्मादि निमित्तरूप थे वे उनके स्वयं के कारण छूट जाते हैं, उस समय निमित्तरूप कर्मादि नहीं होते- ऐसा समझना चाहिये।

यदि कर्म-नोकर्म निमित्तरूप न हो तो ज्ञानादि की व्यक्तता क्यों नहीं है ? ज्ञानादि की व्यक्तता नहीं हैं, इसलिये कर्म-नोकर्म निमित्तरूप है। आत्मद्रव्य में शक्तिरूप ज्ञानादि गुण हैं, उनमें से व्यक्तरूप पर्याय होती है। वह पर्याय वर्तमान में नहीं है, इसलिये उसमें निमित्तरूप कर्म को मानना चाहिये।

देखो! यहाँ सम्यग्ज्ञान किसको कहना यह बात चल रही है। सम्यग्ज्ञान बिना चारित्र नहीं होता। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है ? निश्चय-व्यवहार क्या है ? इसे भी नहीं जाने और त्यागी हो जाए तो इससे कोई सच्चा चारित्र नहीं हो जाता। अभी

तो जिसको व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है उसके तो द्रव्य चारित्र भी नहीं होता और द्रव्य चारित्र बिना भी भाव चारित्र नहीं होता। अतः पहले चारित्र का भी स्वरूप जानना चाहिये।

स्व-पर प्रकाशक ज्ञानशक्ति आत्मा की है; इसलिये ज्ञान पर से नहीं होता। प्रतिमा से ज्ञान नहीं होता। स्वज्ञेय-परज्ञेय-दोनों को जानने की शक्ति आत्मा की है; परन्तु परज्ञेय से स्वज्ञेय को जानने की शक्ति नहीं होती। आत्मा में स्वयं में स्व और पर को जानने की शक्ति है- ऐसी जिसे खबर नहीं और पर के कारण आत्मा में ज्ञानादि हो जाते हैं- ऐसा जो मानता है वह तो मिथ्यादृष्टि है। तथा आत्मा के भान बिना द्रव्यलिंग धारण करे, नग्न मुनि होवे और अधःकर्मी तथा उद्दिष्ट आहार ले तो वह द्रव्यलिंगी भी नहीं है। तथा यथार्थ द्रव्यलिंग बिना भावलिंग भी नहीं होता। जो वस्त्र पात्र रखते हुए भी अपने को मुनि कहलाता है वह तो स्थूल गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

अब यहाँ निश्चयाभासी मानता है कि मैं परमानन्दमय हूँ सो यदि वह परमानन्दमय होवे तो उसे कुछ करना नहीं रहता। अतः वस्तुतः वह वर्तमान में परमानन्दमय नहीं है। वर्तमान अवस्था में तो आनन्द प्रगट नहीं है, तो भी आनन्दमय मानना भ्रम है।

वह मानता है कि जन्म-मरणादि दुःख ही आत्मा को नहीं है, सो यह बात भी मिथ्या है; क्योंकि वर्तमान में दुःखी होता तो देखते हैं। तात्पर्य यह है कि दुःखी होने पर भी दुःख नहीं मानना भ्रम है। अतः इस प्रकार अन्य अवस्था में अन्य अवस्था मानना भ्रम है।

....यहाँ कोई कहे कि शास्त्र में शुद्ध चिंतवन करने का उपदेश कैसे दिया है?

उत्तरः- एक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है, एक पर्याय अपेक्षा शुद्धपना है। वहाँ द्रव्य अपेक्षा तो परद्रव्य से भिन्नपना और अपने भावों से अभिन्नपना- उसका नाम शुद्धपना है। और पर्याय अपेक्षा औपाधिकभावों का अभाव होने का नाम शुद्धपना है। सो शुद्ध चिंतवन में द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना ग्रहण किया है।

वही समयसार व्याख्या में कहा है:-

"एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते।"

(गाथा 6 की टीका)

इसका अर्थ यह है कि आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। सो यही समस्त परद्रव्यों के भावों से भिन्नपने द्वारा सेवन किया गया शुद्ध ऐसा कहा जाता है।

तथा वहीं ऐसा कहा है :-

"समस्तकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः ।"

(गाथा 73 की टीका)

अर्थः- समस्त ही कर्त्ता, कर्म आदि कारकों के समूह की प्रक्रिया से पारंगत ऐसी निर्मल अनुभूति, जो अभेदज्ञान तन्मात्र है, उससे शुद्ध है। इसलिये ऐसा शुद्ध शब्द का अर्थ जानना।....

यहाँ शिष्य का प्रश्न है किः- शास्त्र में शुद्ध चिन्तवन करने का उपदेश किसलिये दिया है? समयसार, प्रवचनसार आदि में शुद्ध चिन्तवन करने को कहा है, आस्रव-शुभाशुभ भाव का चिन्तवन छोड़ने को कहा है, और तुमने तो यहाँ दोनों प्रकार से शुद्ध चिन्तवन का निषेध किया है; तब तो भगवान ने जो शुद्ध चिन्तवन करने का उपदेश दिया वह निरर्थक ठहरता है। अतः इन दोनों में सत्य क्या है?

समाधानः- शुद्धपना किस प्रकार है वह कहते हैंः- 1. द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है, 2. पर्याय अपेक्षा शुद्धपना है।

वहाँ द्रव्य अपेक्षा से तो परद्रव्य से भिन्नपना और अपने भावों से अभिन्नपने का नाम शुद्धपना है। यह द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना पहले सामान्य द्रव्य कहा है वही है। *अब यहाँ द्रव्य अपेक्षा से भूत और भविष्यकाल की पर्यायों का समुदाय वर्तमान पर्याय को छोड़कर द्रव्य कहा है।* वह द्रव्य अपने भावों में अभिन्न है और पर द्रव्य-भावों से भिन्न है- ऐसा द्रव्य का शुद्धपना है। इसलिये अपेक्षा भलीभांति समझना चाहिये।

जो द्रव्य का शुद्धपना ऊपर कहा था उस अनुसार यहाँ सामान्य द्रव्य का शुद्धपना कहकर पर द्रव्य से भिन्न अपना स्वरूप है उसे शुद्धपना कहा है। इस अपेक्षा से शुद्धपना मानना यथार्थ है।

सम्यग्दृष्टि ऐसा चिन्तवन करता है कि मैं परद्रव्य से त्रिकाल भिन्न हूँ। शरीर, कर्म जड़ है-अजीब है। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय से मैं भिन्न हूँ। अर्थात् शरीर, कर्म, भाषा आदि की पर्याये मुझसे नहीं होती। मेरी प्रेरणा से शरीर नहीं चलता, क्योंकि वे पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे तीनों काल भिन्न हूँ। इसलिये आत्मा बोलने की, चलने की क्रिया का कर्त्ता नहीं है।

वर्तमान में लोगों में इतना अधिक भ्रम हो गया है कि शरीर की क्रिया आत्मा से होती है- ऐसा वे मानते हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरा आत्मद्रव्य सामान्य अपेक्षा से पर से भिन्न है और मेरी जितनी भूतकाल में पर्यायें हो गई हैं और भविष्यकाल में पर्यायें होगीं, उन सब पर्यायों से अभिन्न हैं। मैं मेरे भाव से एकमेक हूँ। ***वर्तमान पर्याय को छोड़कर भूत-भविष्य की सभी पर्यायों से मैं अभिन्न हूँ - ऐसी दृष्टि करना वह सामान्य दृष्टि है।*** लोगों को धर्म की खबर नहीं है। एक सैकेण्ड मात्र भी धर्म किया होता तो मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। धर्म का ऐसा स्वरूप है। अनन्तकाल में अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक में द्रव्यलिंगी मुनिपना पालन करके गया; परन्तु इसे एक सैकेण्ड मात्र भी धर्म नहीं हुआ। लोगों ने उस धर्म का स्वरूप सुना नहीं है। धर्म सम्यग्दर्शन है और **सम्यग्दर्शन का विषय तो अपना त्रिकाल ध्रुव चिदानन्द स्वरूप आत्मा है।** वर्तमान में विकार होता है वह स्वभाव नहीं है, बल्कि बंध का कारण है और कर्म, शरीरादि पर है - ऐसा जानना और आत्मा ज्ञायक है ऐसी दृष्टि होना सम्यग्दर्शन है। मेरा स्वभाव शुद्ध है अर्थात् मेरे में सिद्ध होने की शक्ति है। भले ही पूर्व में अशुद्ध पर्याय हुई हो, परन्तु मेरा स्वभाव शुद्ध पर्याय होने का है - ऐसा मानना चाहिये। ***आत्मा में अशुद्धपर्यायों की अपेक्षा अनन्तगुनी शुद्ध पर्यायें होने की योग्यता है।*** यहाँ तो अशुद्धता हो गई है उसे जानकर दृष्टि बदलने को कहा है।

आत्मा एकान्त शुद्ध ही है, पर्याय में अशुद्धता हुई ही नहीं- ऐसा जो मानता है, उससे यहाँ कहते हैं कि द्रव्य सामान्य तो शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का समुदाय है; परन्तु द्रव्यदृष्टि से शुद्धरूप ही होने के योग्य है, अशुद्धता होने के योग्य नहीं- ऐसा जाने तो अशुद्धता का नाश होकर शुद्धता प्रगट होती है और तभी शक्ति को कारणरूप कहा जाता है, तब ही विपरीत बुद्धि मिटकर सम्यग्ज्ञान होता है। अनन्तकाल में जीव ने अनन्तबार व्रत, तप किये, परन्तु वस्तु-आत्मा कैसा है-उसे यथार्थ नहीं जाना; इस कारण एक अंश भी धर्म नहीं हुआ।

भगवान् आत्मा शरीर, मन, वाणी से तो पार है ही, परन्तु वर्तमान में जो शुभाशुभभाव होते हैं उतना मात्र भी नहीं है। आत्मा तो शुद्ध पर्याय होने के योग्य है- ऐसी जिसकी दृष्टि हुई उसे धर्म होता है। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति आदि व्यवहार होता अवश्य है; परन्तु उससे लाभ होता है- ऐसा नहीं है।

भूतकाल में जो पर्याय में अशुद्धता हुई थी- ऐसी योग्यता पर्याय दृष्टि से आत्मा में थी ही नहीं- ऐसा नहीं है; परन्तु वर्तमान में दृष्टि बदली तो जाना कि भूतकाल की पर्याय हुई थी वह तो गई; परन्तु मेरा स्वभाव और शक्ति तो शुद्धरूप ही होने का है- ऐसा समझना चाहिये। जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा न समझे तो वह ज्ञान मिथ्या है अर्थात् असत्य है। सत्ज्ञान-सत्दर्शन-सत्चारित्र वह मोक्षमार्ग है। अतः पहले जैसा है वैसा सच्चा ज्ञान करना चाहिये। विकार होने की योग्यता तो एक समय की पर्याय में है; परन्तु मेरा स्वभाव तो अविकार शुद्ध ही पर्याय होने योग्य है- इसका नाम द्रव्यदृष्टि है।

आत्मा का यथार्थ ज्ञान होता है तो दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम होते ही नहीं- ऐसा नहीं है। जब तक पूर्णदशा न हो तब तक शुभभाव होते अवश्य हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि उनसे धर्म या लाभ नहीं मानता। वह तो उन्हें अपनी कमजोरी से हुए भाव जानता है।

आत्मा पर द्रव्यों में भिन्न है और अपने भावों से अभिन्न है- इसे यहाँ द्रव्य का शुद्धपना कहा है- इसी अपेक्षा से समझना चाहिये। 'मैं हूँ सो हूँ'- ऐसी यथार्थ श्रद्धा हुई कब कहलाये ? कि- भूतकाल में अशुद्ध पर्याय हो गई वह मेरे योग्यता थी। विकार

के समय भी 'मेरा स्वभाव तो शुद्धपर्याय होने की शक्ति वाला है'- ऐसी दृष्टि करे तो 'मैं हूँ सो हूँ'- ऐसा सच्चा निर्णय किया कहलाता है। ***मैं परद्रव्य से भिन्न हूँ- ऐसा निश्चित किया इसलिये पर द्रव्य और निमित्त का भाव मुझमें नहीं हैं; अतः निमित्त और पर की दृष्टि छूट गई। अपने भावों से अभिन्न है इसमें भूत भविष्य का यथावत् ज्ञान कराया है।*** आत्मा भूत-भविष्य में ऐसी योग्यता वाला था और होगा - ऐसे विकल्प भी दृष्टि में नहीं होते; परन्तु जो जीव पर्याय को मानता ही नहीं, उसे समझाने के लिये पहले भूत-भविष्य की पर्याय का यथावत् ज्ञान कराते हैं। ***उसे अर्थात् शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों के समुदाय को परद्रव्य भावों से भिन्न कहकर शुद्धद्रव्य कहा है। ऐसे द्रव्य को जानकर दृष्टि त्रिकाल पर से भिन्न शुद्ध द्रव्य का स्वीकार करती है।***

मेरा स्वभाव तो सदा सिद्ध समान है। अर्थात् वस्तुतः मेरी शक्ति तो सिद्ध ही होने की है। इसमें संसार पर्याय का आदर नहीं है; क्योंकि संसार पर्याय सिद्धपर्याय से अनन्तवें भाग है- अल्प है। मेरा स्वभाव शुद्ध पर्याय ही प्रगट करने का है- ऐसा सम्यग्दृष्टि जानता है। शुद्ध होने की योग्यता निमित्त में से अथवा राग में से नहीं आती - ऐसा वह जानता है। भूतकाल की अशुद्ध पर्याय बीत गई है; परन्तु वह द्रव्य में अन्तर्लीन है। इसलिये पर से भिन्न और आत्मा के भावों से अभिन्न द्रव्य को शुद्ध कहते हैं।

जीव व्यापार-धंधे के कार्य में तथा पर के कार्यों में तो गहरे विचार करता है; परन्तु यहाँ विचार नहीं करता, तो आत्मा का सच्चा ज्ञान किस प्रकार हो? इसलिये द्रव्यदृष्टि से पर से भिन्न और अपने भावों से अभिन्न को शुद्धत्व कहा है।

तथा पर्याय अपेक्षा से तो वर्तमान पर्याय में उपाधिभाव का अभाव होना वह शुद्धपना है।

पर्याय अपेक्षा तो केवलज्ञान हो वह शुद्धपना है। साधक दशा में उपाधिभाव होता है, क्योंकि सर्वथा उपाधिभाव रहित नहीं हुआ। दृष्टि अपेक्षा से पारिणामिक भाव सिवाय उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक- इन चारों भावों को विभाविक भाव

कहा है, वह अपेक्षा अलग है। यहाँ तो क्षायिक भाव सिवाय उदय, उपशम, क्षयोपशम - इन तीनों भावों को उपाधिभाव कहा है। वर्तमान पर्याय अपेक्षा शुद्धपना तो हुआ नहीं, अतः पर्याय अपेक्षा से शुद्धपना है- ऐसा मानना भ्रम है।

शुद्ध चिन्तवन में तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना ग्रहण किया है। ऊपर कहे अनुसार शरीर-कर्म से भिन्न और वर्तमान पर्याय को गौण किया है और भूत-भविष्य की पर्याय से अभिन्न को मुख्य करके यहाँ शुद्धद्रव्य कहा है- यह बात भली भांति समझनी चाहिये। इस प्रकार ज्ञानी त्रिकाली स्वभाव का चिन्तवन करना है।

समयसार में भी आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है, जैसा उन्होंने कहा है वही मैं कहता हूँ- ऐसा पण्डित टोडरमलजी कहते हैं। श्री समयसार गाथा-6 की टीका में अमृतचन्द्राचार्य देव कहते हैं कि- 'आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। वही सर्व परद्रव्यों के भावों से भिन्नपने द्वारा सेवन किया हुआ 'शुद्ध' कहा जाता है।' देखो! कुन्दकुन्दाचार्य भावलिंगी मुनि थे और छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते थे- इस कारण मैं प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं हूँ- ऐसा कहते हैं। व्रत-अव्रत और सयोग-अयोग से रहित हूँ- ऐसा नहीं कहते। वर्तमान पर्याय वर्तती है उसका निषेध करते हैं। अपनी वर्तमान जो दशा है उसका निषेध करके द्रव्य की दृष्टि कराई है।

परद्रव्य से भिन्न माने बिना अपनी विकारी पर्याय से स्वयं (त्रिकाली स्वभाव) भिन्न है- ऐसा नहीं मान सकता। इसलिये वहाँ भी पर द्रव्य से भिन्नत्व को शुद्धत्व ही कहा है। पर द्रव्य से भिन्न हुआ इतनी तो पर्याय शुद्ध हुई है और मुनिदशा में विशेष शुद्धता होती है। धर्म तो अभ्यंतर वस्तु है, बाहर की वस्तु नहीं; इसलिये ज्ञान को सूक्ष्म करना चाहिये और अन्तर में जाना चाहिये, तो ही यह बात समझ में आ सकती है। द्रव्य क्या, पर्याय क्या, पर क्या? - इत्यादि सब सही प्रकार से जानना चाहिये और समझने का प्रयत्न करना चाहिये। अनादिकाल से सत्य समझने का प्रयत्न नहीं किया, अन्य सब कुछ किया है, परन्तु धर्म नहीं हुआ इसलिये यथार्थ समझने का प्रयत्न करना।

शुद्ध द्रव्य जो 'अपने भावों से अभिन्न है और पर द्रव्य से भिन्न है' उसे द्रव्य कहते हैं। इसमें भी वर्तमान अशुद्ध पर्याय को गौण करके भूत-भविष्य की पर्यायों का पिण्ड वह अपने भावों से अभिन्न है- ऐसा समझना; क्योंकि वर्तमान पर्याय तो पर्यायदृष्टि का विषय है। समयसार गाथा-6 में प्रमत्त-अप्रमत्त आत्मा नहीं है- ऐसा कहा है, वहाँ आत्मा को पर द्रव्य से भिन्न बताने का प्रयोजन है। आत्मा चिदानन्द स्वभावों से अभिन्न और पर भावों से भिन्न है- ऐसी दृष्टि होकर आत्मा स्वसन्मुख हुआ और रागादि से भिन्न हुआ है वह सम्यग्दृष्टि है।

आत्मद्रव्य का सेवन करने से पर्याय में शुद्धता हुई है; परन्तु उस शुद्धता का विषय द्रव्य है; उसे सम्यग्दृष्टि बराबर जानता है। सामान्य द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध पर्याय का समुदाय होने पर भी शक्तिरूप से तो तीनों काल शुद्ध है। ज्ञानी को उसका ही अवलम्बन होता है। यही निश्चय का सच्चा ज्ञान हुआ कहलाता है। यह द्रव्य अपेक्षा शुद्ध की व्याख्या है।

पर्याय अपेक्षा शुद्धता की बात करते हुए यहाँ समयसार गाथा-73 की अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका का आधार दिया है कि- समस्त कर्त्ता-कर्म आदि कारकों के समूह की प्रक्रिया से पारंगत ऐसी जो निर्मल अनुभूति-अभेदज्ञान तन्मय है, इससे शुद्ध है। अर्थात् मैं रागादि का कर्त्ता हूँ और राग मेरा कार्य है, राग मेरा आधार है- ऐसी छह कारकों की बुद्धि जिसे छूट गई है उसे पर्याय की शुद्धता कहते हैं। जो ज्ञान का क्षयोपशम है उसे यहाँ शुद्धता नहीं कहा है, क्योंकि नित्य निगोद के जीव के भी ज्ञान का क्षयोपशम होता है; कारण कि इतना क्षयोपशम न हो तो जीव जड़ हो जाए। यह बात यहाँ नहीं है। इसी ग्रन्थ में (दूसर अधिकार के नवीन बंध विचार प्रकरण में) क्षयोपशम को केवलज्ञान का अंश कहा था, उसका अर्थ तो यह था कि- वहाँ ज्ञान का स्वभाव भाव बताना था; परन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो पर्याय की शुद्धता ऐसी कहते हैं कि- परद्रव्यों का कर्त्ता आदि तो मैं नहीं, परन्तु राग-विकार, पुण्य-पाप की क्रिया से छूटकर पार होकर आत्मा की निर्मल अनुभूति हुई, अकषाय भाव हुआ- वह पर्याय अपेक्षा शुद्धता है।

छह कारकों की तीन बात है- आत्मा कर्त्ता और शरीर-कर्म आदि मेरा कार्य है, इन छह संयोगी कारकों की तो यहाँ बात ही नहीं है। आत्मा आधार है तो शरीर का कार्य होता है- ऐसा नहीं है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि रागादि मेरी पर्याय है, उसका भी आत्मा कर्त्ता-कर्म आदि नहीं है। इसके सिवाय आत्मा के आश्रय से शुद्ध निर्मल पर्याय प्रगट होती है उसका मैं कर्त्ता आदि हूँ- ऐसा विकल्प भी यहाँ नहीं है। अभेद अखण्ड त्रिकाल शुद्ध स्वभाव के आश्रय से जो निर्विकल्प दशा प्रगट हुई है वह पर्याय अपेक्षा से शुद्धता है- ऐसा समझना चाहिये। मैं मेरी वीतराग पर्याय का कर्त्ता हूँ- ऐसा भेद जहाँ तक है वहाँ तक पर्याय की शुद्धता नहीं हुई।

अज्ञानी द्रव्य की शुद्धता को तो समझता ही नहीं, पर्याय की शुद्धता को भी नहीं समझता। छह कारकों में तीन प्रकार की अशुद्धता आती है-

1. पर-द्रव्य का कर्त्ता आदि मानना,
2. रागादि विकारी पर्याय का कर्त्ता आदि मानना, और
3. मैं अपनी निर्मल शुद्ध पर्याय का कर्त्ता आदि हूँ- ऐसा भेद करना- ये तीनों अशुद्धता है। इनसे रहित अभेद ज्ञानानन्द चैतन्य स्वभावी मेरा स्वरूप एकरूप है- ऐसी दृष्टि जिसको हुई है और पर्याय में शुद्ध अनुभव- आनन्ददशा होती है वह पर्याय की शुद्धता है।

शास्त्र में सम्यग्दृष्टि के शुभभाव को मोक्ष का व्यवहार साधन कहा है, परन्तु इसका आशय भलीभांति समझना चाहिये। पर की तो बात ही नहीं, परन्तु मैं शुभभाव का कर्त्ता, कर्म आदि हूँ, यह भी साधन नहीं है और अपनी वीतरागी निर्मल दशा का मैं कर्त्ता हूँ- ऐसा भेद भी साधन नहीं है। अभेद स्वभाव के आश्रय से पर्याय की शुद्धता प्रगट होती है- यह बात समझे बिना शुभभाव को व्यवहार साधन भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये सही बात समझना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि का ध्येय कैसा होता है उसका यहाँ वर्णन चलता है। इसमें ज्ञानी पर्याय की शुद्धता किसे मानते हैं? कि- छह कारकों की प्रक्रिया से पारंगत ऐसी जो निर्मल अनुभूति अभेद ज्ञानमय दशा होती है वह पर्याय अपेक्षा शुद्धता कहलाती है। पहले द्रव्य की शुद्धता बताते हुए जीव को अजीव से भिन्न बताया था और यहाँ पर्याय

अपेक्षा शुद्धता बताते हुए कर्त्ता-कर्म आदि छह कारकों के भेद के अभाव से बताया है। इस प्रकार दो प्रकार शुद्धता जानना। *द्रव्य की शुद्धता- पर से भिन्न सामान्य स्वभावरूप द्रव्य और पर्याय में अभेद निर्मल दशा प्रगट होना- वह पर्याय की शुद्धता मानना।*

....तथा इसी प्रकार केवल शब्दका अर्थ जानना- 'जो परभाव से भिन्न निःकेवल आप ही'- उसका नाम केवल है। इसी प्रकार अन्य यथार्थ अर्थका अवधारण करना।

पर्याय अपेक्षा शुद्धपना मानने से तथा अपने को केवली मानने से महाविपरीतता होती है, इसलिये अपने को द्रव्य-पर्यायरूप अवलोकन करना। द्रव्य से सामान्यस्वरूप अवलोकन करना, पर्याय में अवस्था विशेष अवधारण करना।

इसी प्रकार चिंतवन करने सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सच्चा अवलोकन किये बिना सम्यग्दृष्टि नाम कैसे प्राप्त करे?....

अब केवल का अर्थ करते हैं कि- केवल शब्द का अर्थ भी इसीप्रकार जानना कि "परभाव से भिन्न निःकेवल स्वयं ही" उसका नाम केवल है। इसी प्रकार अन्य भी अर्थ अवधारण करना। जहाँ जिस प्रकार अर्थ होता है वहाँ उस प्रकार जानना।

सामान्य एकरूप ज्ञान, जिसमें उपाधि नहीं उसे केवल ज्ञान मानना चाहिये। अकेला ज्ञानस्वरूपी आत्मा है ऐसा केवल का अर्थ मानना चाहिये; परन्तु पर्याय अपेक्षा केवल शब्द का अर्थ केवली हुआ मानना विपरीतता है। अभेद तन्मय हुए बिना पर्याय में केवलज्ञान माने तो वह भ्रम है। इसलिये अपने को द्रव्य पर्यायरूप अवलोकन करना द्रव्य से तो सामान्य स्वरूप अवलोकन करना और पर्याय से अवस्था विशेष अवधारना। इसीप्रकार चिन्तवन करने से सम्यग्दृष्टि होता है; क्योंकि सत्य जाने बिना सम्यग्दृष्टि नाम किस प्रकार पावे? पर्याय में तो जैसी-जैसी पर्याय हो वैसी ही मानना चाहिये। -ऐसा चिन्तवन करने से सम्यग्दृष्टि होता है। अवस्था को अवस्था जैसी है वैसी जाने और द्रव्य को द्रव्य सामान्य जाने। अर्थात् जैसा है वैसा जाने तो ज्ञान सच्चा कहलाये। यहाँ ज्ञान अपेक्षा से कथन है इसलिये उसे सम्यग्दृष्टि कहा है।

निश्चयाभासी की स्वच्छन्दता और उसका निषेध

....तथा मोक्षमार्ग में तो रागादिक मिटाने का श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करना है; वह तो विचार ही नहीं है, अपने शुद्ध अनुभवन में ही अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर अन्य सर्व साधनों का निषेध करता है।

शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है, द्रव्यादिक के तथा गुणस्थान-मार्गणा-त्रिलोकादिक के विचार को विकल्प ठहराता है, तपश्चरण करने को वृथा क्लेश करना मानता है, व्रतादिक धारण करने को बन्धन में पड़ना ठहराता है, पूजनादि कार्यो को शुभास्रव जानकर हेय प्ररूपित करता है;- इत्यादि सर्वसाधनों को उठाकर प्रमादी होकर परिणमित होता है।....

मोक्षमार्ग में तो रागादि घटाने का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करना होता है। उसका तो निश्चयाभासी के विचार ही नहीं है, मात्र अपने शुद्ध अनुभव से ही अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है और अन्य सर्व साधनों का निषेध करता है। यदि अपने को शुद्धता हुई हो तो अपने को शुद्ध माने तब तो कोई बाधा नहीं है; परन्तु शुद्धता तो हुई नही। किन्तु वह तो, मै पर्याय में भी शुद्ध हो गया हूँ, मुझे तो विकल्प उठता ही नहीं- ऐसा मानकर शुभभावों आदि का निषेध करता है। वह शास्त्राभ्यास को उपाधि मानता है; परन्तु जहाँतक पूर्णदशा न हुई हो वहाँ तक ज्ञानी को भी शास्त्राभ्यास का विकल्प आये बिना नहीं रहता। जबकि निश्चयाभासी मानता है कि हमें ऐसा विकल्प नहीं करना। परन्तु शुद्धदशा प्रगट हुई नहीं और शुभ विकल्प में न रहे तो अशुभ विकल्प हुए बिना रहेंगे नहीं- इस बात को वह नहीं समझता। भावलिंगी मुनि को भी छठवें गुणस्थान में शुभ विकल्प आये बिना नहीं रहता। जिसे धर्म की पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं हुई है उसे विकल्प नहीं आवे- ऐसा नहीं होता।

तथा वह द्रव्य-गुण-पर्याय के, गुणस्थान-मार्गणास्थान के और त्रिलोकादि के विचारों को विकल्प ठहराता है। यहाँ मार्गणा कही है वह भावमार्गणा है; क्योंकि जीव के स्वरूप की वह बात है, इसे नहीं समझता। यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान का लाभ तो आत्मा से होता है; जड़ से नहीं होता। गुरु के पास से ज्ञान नहीं आता,

किन्तु जिसे पूर्णज्ञान नहीं हुआ है उसे शास्त्राभ्यास का उत्साह और विकल्प आये बिना नहीं रहता। शास्त्र में ऐसा भी आता है कि- द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का विचार करना कर्त्तव्य नहीं है; वहाँ तो भेद डालकर विचार करने से रागी जीव को विकल्प उठता है- इस कारण उसका निषेध किया है; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि साधकदशा में ऐसा विकल्प आता ही नहीं; साधकदशा में ऐसा विकल्प आये बिना नहीं रहता। वह ऐसा मानता है कि हमें गुणस्थान-मार्गणा आदि का विकल्प नहीं करना; परन्तु साधकदशा में वह आये बिना नहीं रहता, ऐसा निश्चयाभासी नहीं समझता।

निश्चयाभासी तपश्चरण करने को वृथाक्लेश करना मानता है। धर्मात्मा को स्वभाव के लक्ष्य से जितने अंश में अकषाय- वीतरागी दशा प्रगट हुई है उतने अंश में आहारादि का विकल्प छूट जाता है,- इस बात को वह नहीं समझता। इस प्रकार तपश्चरण के स्वरूप को नहीं समझने के कारण उसे क्लेश कहता है।

तथा वह व्रतादि धारण करने को बंधन में पड़ना ठहराता है- यह मिथ्या है; क्योंकि भगवान की पूजा आदि छोड़ने योग्य है- ऐसा जानकर शुभ में वर्तता नहीं, अशुभ में वर्तता है। शुद्धता में आता हो तो उस शुभभाव का निषेध ठीक है; परन्तु यह तो स्वरूप की दृष्टिपूर्वक उसमें स्थिरता करता नहीं और प्रमादी होकर अशुभ में वर्तता है। अतः यह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

अब एक-एक का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं:-

1. शास्त्राभ्यास की निरर्थकता की मान्यता का स्पष्टीकरण :-

....यदि शास्त्राभ्यास निरर्थक हो तो मुनियों के भी तो ध्यान और अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं। ध्यान में उपयोग न लगे तब अध्ययन ही में उपयोग को लगाते हैं, बीच में अन्य स्थान उपयोग लगाने योग्य नहीं है। तथा शास्त्राभ्यास द्वारा तत्त्वों को विशेष जानने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-निर्मल होता है। तथा वहाँ जब तक उपयोग रहे तब तक कषाय मन्द रहे और आगामी वीतरागभावों वृद्धि हो; ऐसे कार्य को निरर्थक कैसे मानें?....

शास्त्राभ्यास तो मुनि के भी होता है। एक दिन में अनेक बार छठवाँ-सातवाँ गुण स्थान आवे-ऐसी दशा को मुनिदशा कहते हैं। क्षण में सातवाँ गुणस्थान आ जाता है और क्षण में विकल्प में आ जाते हैं। जब विकल्प में आते हैं तब शास्त्राभ्यास करते हैं- ऐसा मार्ग है। इस बात को अज्ञानी निश्चयाभासी नहीं समझता।

छठवें गुणस्थान की स्थिति अमुक अन्तर्मुहूर्त की भगवान ने देखी है। भगवान ने देखी उतनी छठवें गुणस्थान की पूरी स्थिति को कोई मुनि भोग ले तो वह मुनि मिथ्यादृष्टि हो जाता है। मुनिराज अमुक समय तक छठवें गुणस्थान में होते हैं, तत्पश्चात् सातवें गुणस्थान में आते हैं। ऐसे मुनिराज को विकल्प दशा के समय शास्त्राभ्यास का विकल्प होता है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में मुनि विराजते हैं वे ऐसे होते हैं। गणधरदेव भी जब नमस्कार मंत्र पढ़ते हैं तब ऐसे मुनियों को नमस्कार करते हैं। व्यक्तिगत नमस्कार नहीं करते, परन्तु नमस्कार मंत्र में ऐसे मुनियों का समावेश होता है।

बहुत से निश्चयाभासी ऐसे होते हैं कि प्रमादी होकर चौबीस-चौबीस घन्टे तक पड़े रहते हैं और मानते हैं कि हमारी दशा बहुत ऊँची हो गई है। वस्तुतः वे निश्चय के स्वरूप को नहीं समझे हैं, अकेले अशुभभाव में रहते हैं। यहाँ तो कहते है कि मुनि भी शास्त्राभ्यास करते हैं। शास्त्र में कहा है कि यदि मुनि ध्यान में रहे तो उत्तम है, परन्तु यदि ध्यान में नहीं रह सकें तो शास्त्राभ्यास में लगना कर्त्तव्य है; परन्तु अन्यत्र उपयोग लगाना योग्य नहीं है। शास्त्रों द्वारा तत्त्वों का विशेष जानने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होते हैं।

यहाँ निश्चयाभासी का प्रकरण चल रहा है। उसमें कहा है कि- मोक्षमार्ग में तो रागादि मिटाने का श्रद्धान-ज्ञान आचरण करना होता है। जिसके द्वारा विकार का नाश हो वह मोक्षमार्ग है। श्रद्धा में विकार का आदर नहीं, ज्ञान में विकार उपादेय नहीं और आचरण में भी राग करे नहीं - यही मोक्षमार्ग है। पुण्य-भावरूप व्यवहार किया से लाभ होगा- ऐसी श्रद्धा मोक्षमार्ग में नहीं होती।

ज्ञानी को पुण्य-पाप रखने की श्रद्धा नहीं होती अर्थात् उसे व्यवहार रत्नत्रय के नाश करने की श्रद्धा होती है। उसे सच्चे देवादिक की श्रद्धा का राग मिटाने की श्रद्धा होती है। मोक्षमार्ग में तो पंचमहाव्रत आदि के परिणाम को मिटाने का (अभाव करने का) आचरण होता है। राग-शुभभाव रखने की श्रद्धा तो मिथ्यात्व है। आत्मा के अवलम्बन से रागादि का नाश होता है- ऐसा ज्ञान होता है और बीच में (भूमिकानुसार) शुभभाव आते हैं उन्हें मिटाने का प्रयत्न वह चारित्र है। शुभभाव चारित्र नहीं है। पंच महाव्रत आदि का विकल्प चारित्र नहीं है। मोक्षमार्ग में तो रागादि मिटाने का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण है- इसका तो निश्चयाभासी को विचार ही नहीं है - यह बात आ गई है।

वह कहता है कि- शास्त्र से ज्ञान नहीं होता, अतः शास्त्र पढ़ना निरर्थक है। उससे कहते हैं कि- शास्त्र से ज्ञान नहीं होता- यह बात तो सत्य है, परन्तु सविकल्प दशा वाले को शास्त्र पठन का विकल्प आये बिना नहीं रहता। शास्त्र द्वारा तो तत्त्वों को विशेष जानने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होता है।

देखो! सम्यग्दर्शन निर्मल होता है- ऐसा कहा है; परन्तु वह वस्तुतः तो शास्त्र से निर्मल नहीं होता, परन्तु निश्चयाभासी पर्याय को मानता ही नहीं, उससे कहते हैं कि- आत्मा का अवलम्बन करके जो जीव सम्यग्दर्शन को निर्मल करता है उसको शास्त्र निमित्तरूप होते हैं; इसलिये शास्त्राभ्यास करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होता है- ऐसा कहा है।और जहाँ तक उसमें (शास्त्र में) उपयोग रहे वहाँ तक कषाय भी मंद रहती है और भावि वीतराग भाव की वृद्धि होती है। - इस कारण ऐसे कार्य को निरर्थक नहीं कहा जा सकता।

सम्यग्ज्ञानी को वीतरागभाव की वृद्धि होती है इसका अर्थ यह है कि- जिसे चिदानन्द स्वभाव की प्रतीति वर्तती है और कषायमंदता होती है उसके शास्त्राभ्यास से वीतरागभाव होता है- ऐसा निमित्त से कहा है। आत्मा त्रिकाल अकषाय भाव है - ऐसी प्रतीति वाले को कषाय की मंदता होती है और अशुभभाव नहीं होता; उसकी कषाय मंदता को उपचार से वीतरागता का कारण कहा जाता है। वस्तुतः कषाय की मंदता से शुद्धता तीन काल में भी नहीं होती।

जहाँ तक शास्त्र में उपयोग रहे वहाँ तक कषाय की मंदता रहती है और जिसको आत्म दृष्टि हुई है उसको वह कषाय की मंदता वीतरागता की वृद्धि में निमित्त कारण है- ऐसा कहा है। वस्तुतः तो भगवान आत्मा अकषाय वीतराग स्वरूपी है उसके अवलम्बन से अकषाय परिणति होती है, कषाय के अवलम्बन से शुद्धता नहीं होती; परन्तु यहाँ तो जो एकान्त निश्चय को ही मानता है और शास्त्राभ्यास के शुभभाव का निषेध करता है, उससे कहते हैं कि शास्त्राभ्यास को निरर्थक कैसे कहा जाए? अशुभ के अभाव में शुभभाव आये बिना नहीं रहते और वे वीतराग भाव में निमित्त हैं। इसलिये शास्त्राभ्यास निरर्थक नहीं हैं- ऐसा कहा है।

....तथा वह कहता है कि जिन शास्त्रों में अध्यात्म-उपदेश है उनका अभ्यास करना, अन्य शास्त्रों के अभ्यास से कोई सिद्धि नहीं है।

उससे कहते हैं- यदि तेरे सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैनशास्त्र कार्यकारी हैं। वहाँ भी मुख्यतः अध्यात्म-शास्त्रों में तो आत्म स्वरूप का मुख्य कथन है; सो सम्यग्दृष्टि होने पर आत्मस्वरूप का निर्णय तो हो चुका, तब तो ज्ञान की निर्मलता के अर्थ व उपयोग को मन्दकषायरूप रखने के अर्थ अन्य शास्त्रों का अभ्यास मुख्य चाहिये। तथा आत्मस्वरूप का निर्णय हुआ है, उसे स्पष्ट रखने के अर्थ अध्यात्म-शास्त्रों का भी अभ्यास चाहिये; परन्तु अन्य शास्त्रों में अरुचि तो नहीं होना चाहिये। जिसको अन्य शास्त्रों की अरुचि है उसे अध्यात्म की रुचि सच्ची नहीं है।

जैसे जिसके विषयासक्तपना हो- वह विषयासक्त पुरुषों की कथा भी रुचिपूर्वक सुने व विषय के विशेष को भी जाने व विषय के आचरण में जो साधन हों उन्हे भी हितरूप माने व विषय के स्वरूप को भी पहिचाने; उसी प्रकार जिसके आत्मरुचि हुई हो- वह आत्मरुचि के धारक तीर्थंकरादि के पुराणों भी जाने तथा आत्मा के विशेष जानने के लिये गुणस्थानादिक को भी जाने। तथा आत्मआचरण में जो व्रतादिक साधन हैं उनको भी हितरूप माने तथा आत्मा के स्वरूप को भी पहिचाने। इसलिये चारों ही अनुयोग कार्यकारी हैं।

तथा उनका अच्छा ज्ञान होने के अर्थ शब्द- न्यायशास्त्रादिक को भी जानना चाहिये। इसलिये अपनी शक्ति के अनुसार सभी का थोड़ा या बहुत अभ्यास करना योग्य है।....

वह **प्रश्न** करता है कि जैन शास्त्रों में अध्यात्म उपदेश है उसका अभ्यास करना; परन्तु अन्य शास्त्रों के अभ्यास से कुछ सिद्धि नहीं है।

उत्तर यह है कि- यदि तेरी दृष्टि सच्ची हुई है अर्थात् तुझे यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान है तो फिर सभी जैन शास्त्र तेरे लिये कार्यकारी है। कोई भी जैन शास्त्र पढ़े तो उसका निषेध करना योग्य नहीं है। मुख्यरूप से अध्यात्म शास्त्रों में तो आत्मस्वरूप का कथन मुख्य है। अब सम्यग्दृष्टि होने पर आत्मस्वरूप का निर्णय तो हो चुका, तत्पश्चात् ज्ञान की निर्मलता के लिये व उपयोग को मंद कषायरूप रखने के लिये अन्य शास्त्रों का अभ्यास भी मुख्य आवश्यक है।

अकेले अध्यात्म शास्त्रों का ही अभ्यास करना, अन्य शास्त्रों का अभ्यास नहीं करना, जो ऐसा एकान्त करता है; उससे कहते हैं कि अध्यात्म शास्त्रों में तो जो सम्यग्दर्शन का कारण है- ऐसे आत्मस्वरूप का कथन किया है, तो तुझे सम्यग्दर्शन तो हुआ है; अतः अब तो ज्ञान की निर्मलता के लिये और कषाय की मंदता के लिये भी अन्य शास्त्रों का वांचना (अभ्यास करना) कार्यकारी है।

जिसको सम्यग्दर्शन हुआ है उसे तो अध्यात्म शास्त्रों के सिवाय अन्य शास्त्रों के अभ्यास को भी यहाँ मुख्य कहा है। क्योंकि जो निर्णय हो चुका उसे स्पष्ट रखने के लिये भी अन्य शास्त्रों का अभ्यास आवश्यक है। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो केवली या श्रुतकेवली के समीप होता है। वहाँ कहीं केवली के कारण होता है- ऐसा नहीं हैं; परन्तु जब आत्मा अपने समीप होकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब निमित्तरूप कौन होता है ? - यह बताने के लिये व्यवहार से केवली अथवा श्रुतकेवली के समीप होता है - ऐसा कहा जाता है। अपने को क्षायिक सम्यक्त्व होने का काल ही वह है और उस समय वह जीव भगवान या श्रुतकेवली के समीप ही होता है। - इस प्रकार ज्ञान की निर्मलता होने में शास्त्र निमित्त हैं; इसलिये अध्यात्म शास्त्रों के सिवाय अन्य शास्त्रों की अरुचि नहीं करना चाहिये।

निमित्तरूप से अन्य शास्त्र होते हैं, उन्हें जो नहीं मानता और यह मानता है कि ज्ञानी को अन्य शास्त्र पढ़ने का विकल्प ही नहीं आता - उससे कहते हैं कि ज्ञानी को अध्यात्म शास्त्रों के सिवाय अन्य शास्त्रों का अभ्यास आवश्यक है। - ऐसा जो नहीं मानता उसे तो वस्तुतः अध्यात्म शास्त्रों की भी रुचि नहीं है। जैसे कि जिसमें विषयासक्तपना हो वहः-

1. विषयासक्त पुरुषों की कथा भी बहुत रुचि से सुनता है।
2. विषयों के विशेषों को भी जानता है।
3. विषयाचरण में जो साधन हों उन्हें भी हितरूप जानता है, तथा
4. विषय के स्वरूप को भी पहिचानता है।

उसी प्रकार जिसे आत्मा की रुचि हुई है, आत्मा का भान हुआ है वहः-

1. आदि पुराण आदि, कि जिसमें भगवान की कथा होती है उन्हें भी जानता है। ज्ञानी को ऐसा विकल्प आता है परन्तु विकल्प के कारण निर्मलता होती है - ऐसा नहीं है।

2. आत्मा के विशेष जानने के लिये गुणस्थान आदि को भी जानता हैं। यद्यपि समयसार में गुणस्थान आदि के विकल्प करने को भी बंधन कहा है; तथापि यहाँ तो दृष्टिपूर्वक करणानुयोग के शास्त्रों के अभ्यास का विकल्प आता है वह कहते हैं। ज्ञानी को चारों अनुयोगों के अभ्यास का विकल्प आता है। निश्चयाभासी ऐसा एकान्त खींचता है कि द्रव्यानुयोग का ही अभ्यास करना चाहिये, उससे कहते हैं कि जिन शास्त्रों में गुणस्थान आदि का वर्णन हो उनका अभ्यास करने से निर्मलता होती है। यह कथन व्यवहार से है; निश्चय से तो गुणस्थान आदि के विकल्प भी कार्यकारी नहीं हैं - ऐसा कहा है

3. आत्म आचरण में साधनरूप जो व्रतादिक हैं, उन्हें भी हितरूप माने-ऐसा कहा है; क्योंकि साधक दशा में ऐसा विकल्प आये बिना नहीं रहता। व्रतादि के परिणाम, जो कि शुभ हैं - विकार हैं उन्हें भी यहाँ उपचार से हितरूप कहा

है। सम्यग्दृष्टि को व्रतादि का शुभ विकल्प आता है, इसलिये यहाँ व्यवहार से हितरूप कहा है। वस्तुतः तो वह हितरूप नहीं है। व्रत तपादि का विकल्प तो मुनि को भी आता है। मुनि होने के पूर्व चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन तो हुआ है, वह व्रतादि को हितरूप नहीं मानता; परन्तु अभी पूर्णदशा नहीं हुई है - इस कारण व्रतादि के विकल्प आते हैं, इसलिये उपचार से उन्हें हितरूप कहा है।

पहले बात आई थी कि जिनवाणी में किसी जगह अमुक अपेक्षा से कथन आता है और किसी जगह दूसरी अपेक्षा से कथन आता है, वहाँ अपेक्षा को ठीक प्रकार समझना चाहिये। निश्चय की बात आवे तब 'ऐसा ही है'- ऐसा समझना और व्यवहार से कथन आवे वहाँ 'ऐसा ही राग होता है'- ऐसा जानना चाहिये। साधक दशा में शुभराग आता ही नहीं - ऐसा नहीं समझना चाहिये। साधक की भूमिका में व्रतादि का शुभभाव आता है - ऐसा कहकर अज्ञानी की तरह हठ से व्रतादि ले लेना भी भगवान का मार्ग नहीं है।

शास्त्रों में सोलहकारण भावना की बात आती है वह ठीक है। श्वेताम्बर में बीस कारण से तीर्थंकर नाम कर्मबंधता है - ऐसा कहा है और उसमें भी पहला बोल अरहन्त भक्ति का है, वह ठीक नहीं है। दिगम्बर में सोलहकारण भावना में प्रथम दर्शनविशुद्धि आती है वह यथार्थ है। भाई! सोलहकारण भावना तो आस्रव है; परन्तु ज्ञानी की सोलहकारण भावना को व्यवहार से संवर का कारण कहा है।

4. तथा ज्ञानी आत्मस्वरूप को भी पहिचानता है। इस प्रकार चारों अनुयोग कार्यकारी है।

तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान होने के बाद भी ज्ञानादि की विशेष निर्मलता के लिये चारों अनुयोगों का अभ्यास कार्यकारी है। द्रव्यानुयोग का ही अभ्यास करना और चरणानुयोग, करणानुयोग, प्रथमानुयोग का अभ्यास सर्वथा नहीं करना - ऐसा मानने वाला अज्ञानी है। चारों अनुयोगों का अभ्यास कार्यकारी है।

सम्यग्दृष्टि निरन्तर निर्विकल्प अनुभव में नहीं रह सकता - इस कारण उसे शास्त्राभ्यास आदि का भाव आता है। निर्विकल्प अनुभव की अपेक्षा से शुभभाव को

हेय कहा है। निर्विकल्प अनुभव में रहना तो उत्तम ही है, परन्तु छद्मस्थ की बुद्धि आत्मस्वरूप में लम्बे काल तक नहीं लगती, इसलिये ज्ञान की विशेष निर्मलता के लिये शास्त्राभ्यास में बुद्धि जोड़ना योग्य है। निश्चयाभासी तो उसका सर्वथा निषेध करता है। उसे यहाँ कहते हैं कि अरे भाई! तुझे अन्य राग तो आता है। अतः शास्त्राभ्यास आदि में भी उपयोग जोड़ना योग्य है। उसमें जो राग है वह दोष है; परन्तु तीव्र राग की अपेक्षा से शास्त्राभ्यास रूप मंदराग में जुड़ना योग्य है।

सम्यग्दर्शन होते ही एकदम वीतरागता नहीं हो जाती। सम्यग्दर्शन होने के बाद भी राग तो आता है। यदि निर्विकल्प आनन्द में ज्ञान पर्याय लीन हो जाए तब तो ठीक है; परन्तु जब निर्विकल्प आनन्द में न रहा जाए तब स्वाध्याय, पूजा, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति आदि प्रशस्त कार्य छोड़कर विकथा आदि निन्दनीय कार्य में जुड़े तो महाअनर्थ होता है।

देखो! निचलीदशा में शास्त्राभ्यास कार्यकारी है - यह यहाँ सिद्ध करना है। फिर ज्ञानी को अनुक्रम में कभी शुभभाव आते हैं, कभी अशुभभाव आते हैं। तथापि उस धर्मी की दृष्टि तो ज्ञायक स्वभाव पर पड़ी है। शुभ के काल में शुभ और अशुभ के काल में अशुभ भाव आ जाते हैं, उनका धर्मी ज्ञाता है। धर्मी की उपादेय बुद्धि ज्ञायक स्वभाव में ही हुई है। अज्ञानी तो ज्ञायक स्वभाव का निर्णय नहीं करता और स्वच्छन्दी होकर प्रवर्तता है।

जहाँ सर्वज्ञ का और क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय किया वहाँ तो सम्यग्दर्शन हो गया - स्वभाव की दृष्टि हो गई - ऐसे समकिती को पर्याय बदलने की बुद्धि नहीं है। चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में उस - उस प्रकार का राग भूमिकानुसार आ जाता है; उसमें शुभ को शुभ जानता है, अशुभ को अशुभ जानता है। उपदेश में तो ऐसा कहा जाता हे कि भाई! अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवर्तन करना योग्य है। वहाँ तो उस भूमिका में पूजा, तीर्थयात्रा आदि का शुभभाव आता है, उसकी बात है। यद्यपि उस शुभराग से धर्म तो नहीं होता, तथापि वह निचली भूमिका में आता है- इसका विवेक करना चाहिये।

धारणा करके यदि अनुभव में नहीं उतरे तो उस धारणा का अभिमान हुए बिना नहीं रहता। श्री नियमसार में कहा है कि जो मुनि गुण-गुणी के भेद में रुका है वह मुनि भी परवश है। निर्विकार ज्ञानानन्द स्वभाव का भान ही स्ववशपना है, उसमें स्ववशपना होने से वह आवश्यक क्रिया है; परन्तु शुभराग के काल में शुभराग आता है। जिसकी दृष्टि ज्ञायक स्वभाव पर है उसे पर्याय के क्रम में शुभ-अशुभ का विवेक होता ही है। अशुभ में तो तीव्ररूप से वर्ते और स्वाध्याय आदि में राग है- ऐसा कहकर उसका निषेध करे वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। अभी जिसको सम्यग्दर्शन का भी भान नहीं और स्वाध्यायादि का निषेध करता है तो उसके परिणाम तो अशुभ में ही जायेंगे।

....फिर वह कहता है- 'पद्मनन्दि पच्चीसी' में ऐसा कहा है कि आत्मस्वरूप से निकलकर बाह्य शास्त्रों में बुद्धि विचरती है, सो वह बुद्धि व्यभिचारिणी है?

उत्तरः- यह सत्य कहा है। बुद्धि तो आत्मा की है; उसे छोड़कर परद्रव्य-शास्त्रों में अनुरागिनी हुई; उसे व्याभिचारिणी ही कहा जाता है।

परन्तु जैसे स्त्री शीलवती रहे तो योग्य ही है, और न रहा जाय तब उत्तम पुरुष छोड़कर चांडालादिक का सेवन करने से तो अत्यन्त निन्दनीय होगी; उसी प्रकार बुद्धि आत्मस्वरूप में प्रवर्ते तो योग्य ही है, और न रहा जाय तो प्रशस्त शास्त्रादि परद्रव्यों को छोड़कर अप्रशस्त विषयादि में लगे तो महानिन्दनीय ही होगी। सो मुनियों की भी स्वरूप में बहुत काल बुद्धि नहीं रहती, तो तेरी कैसे रहा करे?

इसलिये शास्त्राभ्यास में उपयोग लगाना योग्य है।....

यहाँ निश्चयाभासी कहता है कि- 'पद्मनंदि पंचविंशति में ऐसा कहा है कि जो बुद्धि आत्मस्वरूप में से निकलकर बाहर शास्त्रों में विचरती है, वह बुद्धि व्यभिचारणी है। उसका उत्तर यह है कि -

पद्मनंदि भगवान ऐसा कहते हैं कि आत्मा को चूककर शास्त्र में जिसकी बुद्धि जाती है वह व्यभिचारिणी है, सो वह तो सत्य है; क्योंकि परद्रव्य का ज्ञान करना राग

का कारण नहीं है; परन्तु परद्रव्य में प्रेम हुआ है उसे व्यभिचारिणी ही कहते हैं। ज्ञानी को भी पर में बुद्धि जाने से जितना राग आता है उतना दुःखदायक है इसलिये उस बुद्धि को व्यभिचारिणी कहा है- इस अपेक्षा से यह बात की है। जिसे भगवान आत्मा का निर्णय हुआ है वह परद्रव्य के ज्ञान का प्रेम करे तो उसे व्यभिचार कहा है; क्योंकि वह पुण्य राग है। जैसे स्त्री ब्रह्मचारी रहे तो ठीक है; परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन न कर सके और अपने योग्य पुरुष से विवाह करना छोड़कर चाण्डाल आदि का सेवन करे तो वह महानिन्दनीय होती है। स्त्री शील का पालन करे तो वह पुण्य बंध है - यह तो यहाँ दृष्टान्त है। इसी प्रकार बुद्धि आत्मा में रहे तो ठीक है, परन्तु आत्मा में स्थिर न रह सके तो शास्त्राभ्यास का प्रशस्त राग छोड़कर अशुभ भाव करे तो वह महानिन्दनीय है। शास्त्राभ्यास छोड़कर संसार के कार्यो में भग जावे तो वह पाप है। भगवान आत्मा ज्ञान में रमें वह तो ठीक है; परन्तु आत्मा में रम नहीं सके तो शुभभाव में रहना ठीक है; परन्तु अशुभभाव तो करने जैसा है ही नहीं। यहाँ आत्मदृष्टि हुई है उसकी अपेक्षा से शुभभाव ठीक है- ऐसा व्यवहार से कहा है।

अशुभभाव करके संसारादि में लगा रहे और शास्त्र के अभ्यास को छोड़ दे तो वह महानिन्दनीय है। यहाँ अशुभभाव नहीं करना और शुभभाव करने योग्य है - ऐसा कहा है, वह भी व्यवहार से कहा है। वास्तव में निश्चय से तो अशुभ के काल में अशुभ और शुभ के काल में शुभ होता ही है- ऐसा ज्ञानी जानता है। तथापि साधकदशा में कैसा विकल्प होता है उसका यहाँ ज्ञान कराया है। इसमें कहा है कि जब शुभभाव आता है तब शास्त्राभ्यास में बुद्धि लगाना योग्य है; क्योंकि मुनियों के भी स्वरूप में बहुत काल स्थिरता नहीं रहती। गणधरदेव भी भगवान की दिव्यध्वनि को सुनते हैं। जो चार ज्ञान के धारी ग्यारह अंग चौदह पूर्व के ज्ञाता हैं, जिन्होंने द्वादशांग की रचना की है, उन्हें भी अन्तर स्थिरता नहीं होने के काल में भगवान की वाणी सुनने का विकल्प होता है।

इसलिये शास्त्राभ्यास में बुद्धि लगाना योग्य है।

(2) द्रव्यादि तथा गुणस्थानादि के विचार को विकल्प माननेरूप मान्यता का स्पष्टीकरण :-

....तथा यदि द्रव्यादिक के और गुणस्थानादिक के विचार को विकल्प ठहराता है, सो विकल्प तो है; परन्तु निर्विकल्प उपयोग न रहे तब इन विकल्पों को न करे तो अन्य विकल्प होंगे, वे बहुत रागादि गर्भित होते हैं। तथा निर्विकल्पदशा सदा रहती नहीं है; क्योंकि छद्मस्थका उपयोग एकरूप उत्कृष्ट रहे तो अन्तर्मुहूर्त रहता है।....

अज्ञानी (निश्चयाभासी) जीव द्रव्यादि के तथा गुणस्थान आदि के विचारों को विकल्प मानता है। अब यह विकल्प तो है; परन्तु जीव ज्ञानानन्द स्वभाव में स्थिर न रहे वहाँ तक शुभ विकल्प आता है। आत्मा देह, मन, वाणी और पुण्य-पाप से भिन्न है - ऐसी दृष्टि धर्मी को होती है। वह दृष्टि होने के बाद भी चौथे, पांचवें, छठवें गुणस्थान वाले धर्मी जीव स्वरूप में लम्बे काल तक लीन नहीं रह सकते, सो निर्विकल्प उपयोग न हो उस समय शास्त्र का शुभ विकल्प न हो तो अन्य अशुभ विकल्प आयेंगे और उसमें तीव्रराग होता है - इस कारण पाप बंध होता है। अशुभ की अपेक्षा शुभ को ठीक कहते हैं; परन्तु दृष्टि अपेक्षा तो शुभ-अशुभ दोनों हेय हैं। तथा शुभ-अशुभ का क्रम नहीं पलटता यह तो ठीक है; परन्तु धर्मी को भूमिकानुसार शुभराग आता है उसका ज्ञान कराते हैं। समकिती को आत्मा का ज्ञान होने के पश्चात् शुद्ध उपयोग सदा नहीं रहता। भावलिंगी मुनि को भी छठवें गुणस्थान में राग आता है। यद्यपि उनको ऐसा भान वर्तता है कि राग बंध का कारण है तथापि शुद्ध स्वरूप में नहीं ठहर सकें वहाँ तक शास्त्र विचार का विकल्प आता है। अज्ञानी कहता है कि ऐसा विकल्प उठाना व्यर्थ है; अतः वह मूढ़ है।

छद्मस्थ को निर्विकल्प दशा निरन्तर नहीं रहती। उसका उपयोग एकरूप रहे तो उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त रहता है,- इससे विशेष नहीं रहता। यदि इससे विशेष रहे तो वीतराग होकर केवलज्ञान प्राप्त कर ले।

यहाँ साधकजीव को शुभभाव आता है उसका ज्ञान कराते हैं। शुभराग आता है उसे जानना व्यवहार है। कितने ही लोग कहते हैं कि व्यवहार और निमित्त से लाभ

मानो तो व्यवहार और निमित्त को माना कहलाये; परन्तु यह बात ठीक नहीं हैं। पर से शुभभाव नहीं होता। मन्दिर निमित्त होने पर भी कितने ही लोग मन्दिर में चोरी करते हैं; इसलिये जो शुभभाव करते हैं उसको मन्दिर निमित्त कहलाता है। निमित्त से शुभभाव नहीं होता और शुभभाव से धर्म नहीं होता। धर्म तो आत्मा से (आत्मा के आश्रय से) होता है - ऐसा मानना निश्चय है और अपूर्णदशा में आने वाले शुभभाव को जानना व्यवहार है।

....तथा तू कहेगा कि मैं आत्मस्वरूपही का चिंतवन अनेक प्रकार किया करूँगा; सो सामान्य चिंतवन में तो अनेक प्रकार बनते नहीं हैं, और विशेष करेगा तो द्रव्य-गुण-पर्याय, गुणस्थान, मार्गणा, शुद्ध-अशुद्ध अवस्था इत्यादि विचार होगा।

और सुन, केवल आत्मज्ञानही से तो मोक्षमार्ग होता नहीं है। सात तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान होनेपर तथा रागादिक दूर करने कर मोक्षमार्ग होगा। सो सात तत्त्वों के विशेष जानने को जीव-अजीव के विशेष तथा कर्म के आस्रव- बन्धादिक के विशेष अवश्य जानने योग्य हैं, जिनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति हो।

और वहाँ पश्चात् रागादिक दूर करना। सो जो रागादिक बढ़ाने के कारण हैं उन्हे छोड़कर- जो रागादिक घटाने के कारण हों वहाँ उपयोग को लगाना। सो द्रव्यादिक और गुणस्थानादिक के विचार रागादिक घटाने के कारण हैं। इनमें कोई रागादिक का निमित्त नहीं है। इसलिये सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् भी यहाँ ही उपयोग लगाना।....

यहाँ निश्चयाभासी कहता है कि 'मैं आत्म स्वरूप का ही चिन्तवन अनेक प्रकार से किया करूँगा।' उससे कहतें हैं कि सामान्य में अनेक प्रकार का चिन्तवन बनता नहीं है। रागरहित स्वभाव एक ही प्रकार है। तथा विशेष विचार करे तो आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, वर्तमान पर्याय है, मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का विचार आयेगा। ऐसा शुभराग आवे उसे जानना व्यवहार है। वह आता ही नहीं

- ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि है और उस शुभराग से धर्म होना माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। राग रहित आत्मा की श्रद्धा और लीनता धर्म है। ज्ञायक स्वभाव के आश्रय से धर्म है। आत्मा शरीरादि की क्रिया और राग को जानने वाला है, उसकी रुचि करना धर्म है; जो शुभराग आता है उसे पुण्य समझना।

तथा केवल आत्मज्ञान से ही मोक्षमार्ग नहीं होता; परन्तु सात तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान होने पर तथा रागादि दूर होने पर मोक्षमार्ग होगा। जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा और मोक्ष-ये सातों तत्त्व प्रथक्-प्रथक् हैं - ऐसा जानना चाहिये। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ - यह जीव है। शरीर, कर्म आदि अजीव है, मुझसे भिन्न हैं। दया-दानादि तथा हिंसा, झूठ आदि आस्रव हैं। उनमें अटकना बंध है। आत्मा के भान द्वारा संवर होता है। आत्मा में विशेष स्थिरता द्वारा शुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा होती है और सम्पूर्ण शुद्धि वह मोक्ष है।

यदि कर्म के कारण आस्रव माने तो अजीव और आस्रव एक हो जायें। शरीर का हिलना-चलना आदि अजीव की पर्याय है, वह आत्मा की पर्याय नहीं है। जिसने आत्मा से शरीर का चलना माना उसने आत्मा और शरीर को भिन्न नहीं माना। पुण्य-पाप के भाव आस्रव हैं, उनमें अटक जाना बंध है; वह स्वतन्त्र है। आत्मा के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं वे संवर-निर्जरा हैं और पूर्ण शुद्धदशा का प्रगट होना मोक्ष है।

कर्म से विकार माना तो अजीव और आस्रव को एक माना। आत्मा से शरीर चलता है - ऐसा माने तो जीव और अजीव को एक माना - इस प्रकार मानने में सात तत्त्व नहीं रहते। तथा सात तत्त्वों को भिन्न-भिन्न नहीं माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। शरीर की क्रिया अजीव की है, इच्छा आस्रव है, जीव तत्त्व ज्ञाता-दृष्टा है - इस प्रकार सातों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं।

अज्ञानी कहता है कि हमें आत्मा का ज्ञान है। उससे कहते हैं कि सात तत्त्व के यथार्थ ज्ञान बिना अकेले आत्मा का ज्ञान वह सच्चा ज्ञान नहीं है। अतः जीवादि सात

तत्त्व जैसे हैं वैसे मानना चाहिये। व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय रत्नत्रय माने तो आस्रव और संवर एक हो जाता है, सात तत्त्व नहीं रहते। सात तत्त्वों का ठिकाना नहीं और आत्मज्ञान माने तो वह झूठा है। व्यवहार से धर्म माने वह भी झूठा है। सात तत्त्वों की श्रद्धा और ज्ञान बिना रागादि का त्याग होकर चारित्र नहीं होता।

यहाँ निश्चयाभासी से कहते हैं कि पहले सात तत्त्वों की स्वतन्त्र श्रद्धा और ज्ञान करना चाहिये। तत्पश्चात् स्वभाव के आश्रय से वीतरागता होती है। सात तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान है और रागादि का दूर होना चारित्रदशा है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है। मुनि को अट्ठाईस मूलगुणों का पालन होता है वह आस्रव तत्त्व है, वह चारित्र नहीं है। ज्ञायक स्वभाव में एकाग्रता होने पर आस्रव-बंध हीन हो जाते हैं और स्थिरता होती है वह चारित्र है।

अब सात तत्त्वों के विशेष जानने के लिये जीव और अजीव के विशेष जानना। पुण्य-पाप परिणाम (भाव) आस्रव है और जड़कर्म का स्वतन्त्र रूप से आना द्रव्य आस्रव है। जीव विकारी परिणामों में अटकता है वह भावबंध है और कर्म बंधते हैं वह द्रव्य बंध है। जहाँ भाव आस्रव होता है वहाँ द्रव्य आस्रव होता है, दोनों एक-दूसरे के कारण हैं - ऐसा कहना निमित्त का कथन है। कर्म का आना स्वतन्त्र है और परिणाम का होना स्वतन्त्र है, कोई किसी के कारण नहीं है। जीव की पर्याय में जो परिणाम होता है वह भाव आस्रव है, उतने प्रमाण में कर्म का आना होता है। इतना निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताने के लिये भाव आस्रव के कारण द्रव्य आस्रव होता है - ऐसा कहते हैं; परन्तु एक के कारण दूसरा नहीं होता। कर्म की पर्याय नैमित्तिक स्वतन्त्र होती है तो भाव आस्रव को निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार जीव स्वयं विकार करता है तो कर्म के उदय को निमित्त कहते हैं।

अशुभ निमित्तों से उपयोग हटाकर द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करना। मैं त्रिकाली द्रव्य हूँ, गुण भी त्रिकाल है; तथा गुणस्थानादिक का भी विचार करना राग घटाने का निमित्त है। क्योंकि इसमें कोई रागादि का निमित्त नहीं है।

यहाँ राग के क्रम को बदलना नहीं है। जिस समय जो राग आना है वह आयेगा। राग घटाने का उपाय आत्मा का अवलम्बन ही है; परन्तु उपदेश कथन में ऐसा आता है कि अशुभराग घटाकर शुभराग में रहना, गुणस्थानादि का विचार करना। अतः सम्यग्दृष्टि होने के बाद भी वहाँ ही उपयोग लगाना।

....फिर वह कहता है कि रागादि मिटाने के कारण हों उनमें तो उपयोग लगाना- परन्तु त्रिलोकवर्ती जीवों की गति आदि का विचार करना; कर्म के बंध, उदय, सत्तादि के बहुत विशेष जानना तथा त्रिलोक के आकार प्रमाणादिक जानना;- इत्यादि विचार क्या कार्यकारी है?

उत्तरः- इनके भी विचार करने से रागादिक बढ़ते नहीं हैं, क्योंकि वे ज्ञेय इसको इष्ट-अनिष्ट हैं नहीं, इसलिये वर्त्तमान रागादिक के कारण नहीं है। तथा इनको विशेष जानने से तत्त्वज्ञान निर्मल हो, इसलिये आगामी रागादिक घटाने को ही कारण हैं, इसलिये कार्यकारी हैं।....

प्रश्नः- जो रागादि घटाने के कारण है उनमें तो उपयोग लगाना ठीक है; परन्तु त्रिलोकवर्ती जीवों की गति आदि का विचार करना क्या कार्यकारी है?

उत्तरः- ऐसे विचार से भी राग बढ़ता नहीं है। आत्मा ज्ञायक है। लोक, कर्म आदि ज्ञान के ज्ञेय हैं। जगत के पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं, परन्तु वे ज्ञेय हैं और आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रमाण है। पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। त्रिलोक के विचार में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। इसलिये ज्ञेय का विचार वर्तमान रागादि का कारण नहीं है; बल्कि लोक आदि का अभ्यास और विचार करने से ज्ञान निर्मल होता है, वह वर्तमान रागादि घटाने का कारण है और आगामी राग घटाने का कारण है। वर्तमान में शुभराग उठा है वह राग घटाने का वास्तविक कारण नहीं है; वस्तुतः तो शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही राग घटता है परन्तु शुभराग आता है अशुभ घटता है; इसलिये शुभराग को राग घटाने का कारण कहा है। अतः वह कार्यकारी है।

....फिर वह कहता है- स्वर्ग-नरकादि को जाने वहाँ तो राग-द्वेष होता है?

समाधानः- ज्ञानी के तो ऐसी बुद्धि होती नहीं है, अज्ञानी के होती है। वहाँ पाप छोड़कर पुण्य-कार्य में लगे वहाँ किंचित् रागादिक घटते ही हैं।....

प्रश्नः- स्वर्ग नरगादिक को जानने से तो वहाँ राग-द्वेष होता है?

उत्तरः- ज्ञानी तो स्वर्ग को अनुकूल और नरक को प्रतिकूल नहीं मानता। पुण्य से स्वर्ग और पाप से नरक मिलता है - ऐसा ज्ञानी जानता है। जब ज्ञानी शुभ-अशुभ राग को हेय मानता है तो फिर उसका फल जो स्वर्ग-नरकादि उसे वह उपादेय माने-ऐसा कभी नहीं होता। अज्ञानी ही पुण्य और उसके फल को उपादेय मानता है। ज्ञानी पुण्य को पुण्य मानता है, धर्म को धर्म मानता है। पुण्य को बंध का कारण समझता है; इसलिये उसे स्वर्ग-नरकादि को जानते हुए राग-द्वेष की बुद्धि नहीं होती। अज्ञानी को होती है। जहाँ पाप छोड़कर पुण्य कार्य में लगे वहाँ कुछ रागादि घटते ही हैं।

....फिर वह कहता है- शास्त्र में ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोड़ा ही जानना कार्यकारी है, इसलिये बहुत विकल्प किसलिये करें?

उत्तरः- जो जीव अन्य बहुत जानते हैं और प्रयोजनभूत को नहीं जानते; अथवा जिनकी बहुत जानने की शक्ति नहीं, उन्हे यह उपदेश दिया है। तथा जिसकी बहुत जानने की शक्ति हो उससे तो यह नहीं कहा कि बहुत जानने से बुरा होगा? जितना बहुत जानेगा उतना प्रयोजनभूत जानना निर्मल होगा। क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा हैः-

"सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्"

इसका अर्थ यह है :- सामान्य शास्त्र से विशेष बलवान है। विशेष से ही अच्छी तरह निर्णय होता है, इसलिये विशेष जानना योग्य है।....

प्रश्नः- शास्त्र में ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोड़ा ही जानना कार्यकारी है; इसलिये विकल्प किसलिये करना?

उत्तरः- सातत्त्व अथवा नो पदार्थों को जानना आवश्यक है। जो जीव अन्य तो बहुत जानता है और प्रयोजनभूत को नहीं जानता उससे कहते हैं कि प्रयोजनभूत को जानो। अथवा जिसमें बहुत जानने की शक्ति नहीं है उसको यह उपदेश दिया है। जिसको बुद्धि थोड़ी है उससे कहा है कि थोड़ा किन्तु प्रयोजनभूत जानो। शिवभूति मुनि को विशेष बुद्धि नहीं थी; परन्तु उन्होंने प्रयोजनभूत तत्त्व जाना था। परन्तु जिसकी बुद्धि बहुत है उससे तो यह नहीं कि बहुत जानने से बुरा होगा, बल्कि बहुत जानने से तो ज्ञान निर्मल होगा। शास्त्र में भी ऐसा कहा है कि- 'सामान्य शास्त्र से विशेष बलवान है।' यहाँ सामान्य माने द्रव्य और विशेष माने पर्याय ऐसा अर्थ नहीं है। पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करना - यह बात भी यहाँ नहीं करना है। परन्तु सामान्य माने संक्षेप से जानने की अपेक्षा विशेष जानना निर्मलता का कारण है। जिसे आत्मा का भान हुआ हो - ऐसे जीव को विशेष जानना निर्मलता का कारण है। सामान्य माने द्रव्य और विशेष माने पर्याय-अतः द्रव्य अपेक्षा पर्याय बलवान है- ऐसा यहाँ नहीं कहना है। वहाँ बलवान तो द्रव्य है और द्रव्य सामान्य के आश्रय से ही निर्मलता होती है; परन्तु यह यहाँ कहना नहीं है। यहाँ तो विशेष ज्ञान होना निर्मलता का कारण है- यह कहना है। मैं आत्मा ज्ञायक हूँ- ऐसी सामान्य की दृष्टि तो कायम रखना। सामान्य आत्मा पर दृष्टि रखना और ज्ञान की विशेषता करना, वह निर्मलता का कारण है - ऐसा यहाँ कहना है। अज्ञानी ऐसा एकांत खेंचता है कि विशेष जानने से विकल्प होता है, उसे समझाया कि ज्ञान की विशेषता निर्मलता का कारण है।

तथा सामान्य शास्त्र से अर्थात् द्रव्यानुयोग के शास्त्र से विशेष शास्त्र अर्थात् करणानुयोग आदि के शास्त्र बलवान है- ऐसा भी नहीं है। सामान्य-द्रव्य के आश्रय से विशेष-पर्याय प्रगट हुई, उसके कारण आत्मा की पर्याय में विकास बढ़ा - उसे बलवान कहते हैं; परन्तु द्रव्य की अपेक्षा पर्याय बलवान है- ऐसा नहीं है और द्रव्यानुयोग से अन्य अनुयोग बलवान है - ऐसा भी नहीं है। सामान्य- संक्षेप शास्त्रज्ञान से चारों अनुयोगों का विशेष- विस्तारपूर्वक ज्ञान है वह बलवान है।

ज्ञानी को धारणा भले ही कम हो परन्तु प्रयोजनभूत ज्ञान सही होता है अर्थात् उसमें विरोध नहीं आता। भले ही वह विशेष स्पष्टीकरण नहीं कर सके; परन्तु स्वभाव की अपेक्षा और पर की उपेक्षा होने से उसके प्रतिसमय ज्ञान की निर्मलता होती जाती है। वह सामान्य अपेक्षा विशेष बलवान है - ऐसा समझना।

आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ उसके द्वारा निर्णय होता है। वास्तव में शास्त्र अभ्यास से ज्ञान निर्मल होता है - ऐसा नहीं है; परन्तु अज्ञानी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता और शास्त्राभ्यास का निषेध करता है, उसे यहाँ निमित्त से कथन करके शास्त्र का विशेष अभ्यास करने से ज्ञान निर्मल होता है- ऐसा कहा है। यदि शास्त्र से ज्ञान होता हो तो अधिक शास्त्र पढ़ने से आत्मा में निर्मलता हो; परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा के आश्रय से ज्ञान बढ़ता है उसमें शास्त्राभ्यास निमित्तमात्र है। जिसे आत्मा के आश्रय से निर्णय हुआ उसे शास्त्र के अभ्यास से निर्णय हुआ - ऐसा निमित्त से कहा है। यहाँ शास्त्र से निर्णय होता है - ऐसा नहीं कहना है; परन्तु सम्यग्दृष्टि को आत्मा का निर्णय है और आत्मा के आश्रय से विशेष निर्मलता हुई है; उसमें शास्त्राभ्यास निमित्त है - यह बात कहना है। इसकारण शास्त्र का विशेष अभ्यास करना योग्य है, यह निषेध करना योग्य नहीं है।

श्री तत्वार्थसूत्र के पहले सूत्र में कहा है कि "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः", उस सम्यग्दर्शन की बात चलती है। आत्मा त्रिकाल ध्रुव है उसका श्रद्धा गुण भी त्रिकाल ध्रुव एकरूप है। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की निर्मल और मिथ्यादर्शन श्रद्धागुण की विपरीत पर्याय है। सम्यग्दर्शन आत्मा के आश्रय से होता है, उसमें शास्त्र निमित्त है; उसे नहीं माने और यह निमित्त ही नहीं है - ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं जाने और कहे कि आत्मा के विकल्प के कारण पर वस्तु आती है तो वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं समझता और आत्मा के विकल्प में पर वस्तु निमित्त ही नहीं हैं - ऐसा मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि है।

ज्ञानी को शास्त्र पढ़ने का विकल्प आता है, परन्तु वह विकल्प आया इसलिये शास्त्र आया - ऐसा नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है। जैसे कोई ईश्वर को जगत कर्त्ता मानता है; उसी प्रकार कोई जैनी आत्मा को शरीरादि पर द्रव्यों का

कर्त्ता माने तो वह ईश्वर जगत कर्त्ता की मान्यता वाले की तरह ही मिथ्यादृष्टि है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कर्त्ता तो नहीं, पर दूसरे पदार्थ को सहायक होता है ऐसा भी नहीं है – ऐसा ज्ञानी जानता है। जब आत्मा में अपने कारण से ज्ञान होने की योग्यता होती है तब शास्त्र आदि निमित्त कहलाते हैं। मुनि को भी शास्त्राभ्यास का विकल्प आता है।

इसप्रकार निश्चयाभासी की शास्त्राभ्यास की निरर्थकता सम्बन्धी मान्यता का स्पष्टीकरण हुआ।

3. तपश्चरणादि को वृथा क्लेश माननेरूप मान्यता का स्पष्टीकरण :-

....तथा वह तपश्चरण को वृथा क्लेश ठहराता है; सो मोक्षमार्गी होनेपर तो संसारी जीवों से उल्टी परिणति चाहिये। संसारियों को इष्ट-अनिष्ट सामग्री से राग-द्वेष होता है, इसके राग-द्वेष नहीं होना चाहिये। वहाँ राग छोड़ने के अर्थ इष्ट सामग्री भोजनादिक का त्यागी होता है, और द्वेष छोड़ने के अर्थ अनिष्ट सामग्री अनशनादि को अगीकार करता है। स्वाधीनरूप से ऐसा साधन हो तो पराधीन इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी राग-द्वेष न हो, सो होना तो ऐसा ही चाहिये; परन्तु तुझे अनशनादि से द्वेष हुआ, इसलिये उसे क्लेश ठहराया। जब यह क्लेश हुआ तब भोजन करना सुख स्वयमेव ठहरा और वहाँ राग आया; सो ऐसी परिणति तो संसारियों के पाई ही जाती है, तूने मोक्षमार्गी होकर क्या किया?....

निश्चयाभासी तपश्चरण को व्यर्थ क्लेश ठहराता है; परन्तु मोक्षमार्ग होने पर तो संसारी जीवों से उल्टी परिणति होनी चाहिये।

देखो! यहाँ अज्ञानी ऐसा कहता है कि हमें तपश्चरण की आवश्यकता नहीं है, तो उससे कहते हैं कि जिसको मोक्षमार्ग प्रगट हुआ हो उसकी दशा तो संसारी जीवों से उल्टी होनी चाहिये। स्वभाव के अवलम्बन से राग घटाने का प्रयत्न करे नहीं और मान लेवें कि हम पूर्ण हो गये हैं, तो वह एकान्त निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। जो मोक्षमार्गी है उसका राग घटना चाहिये।

संसारी जीवों को इष्ट-अनिष्ट सामग्री से राग-द्वेष होता है, जबकि ज्ञानियों के ऐसे राग-द्वेष नहीं होते। संसारी को अनुकूल भोजनादि में प्रीति होती है और प्रतिकूल सामग्री में द्वेष होता है। वस्तुतः तो सामग्री अनुकूल-प्रतिकूल है ही नहीं; क्योंकि वह तो जड़ की पर्याय है। ज्ञानी तो उसे ज्ञान का ज्ञेय जानता है। अज्ञानी सामग्री को इष्ट-अनिष्ट मानता है। क्षुधा लगने को अनिष्ट मानता है; परन्तु वह अनिष्ट नहीं है और भोजन मिलने को इष्ट मानता है; परन्तु वह इष्ट नहीं है; इसलिये परवस्तु में इष्ट-अनिष्टपना मानना मिथ्यात्व है। ज्ञानी परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता - इसकारण उसको पर द्रव्य के कारण राग-द्वेष नहीं होते। स्वयं की निर्बलता से अल्प रागादि भाव होते हैं; इसलिये निमित्त अपेक्षा भोजनादि छोड़ने का उपदेश देते हैं।

तत्वदृष्टि कैसी है ?- यह बात लोगों ने सुनी नहीं है। मोक्षमार्ग की मूल रकम (बात) क्या है ?- इसका उन्हें पता नहीं है। सम्यग्दर्शन ही मूल रकम है, उसकी बात करते हैं कि सम्यग्दृष्टि को परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग द्वेष नहीं होता। पर वस्तु के कारण राग नहीं होता। यदि पर के कारण राग होता हो तो केवली के भी राग होना चाहिये। यहाँ पण्डितजी ने यथार्थ बात की है। सुकौशल मुनि के शरीर को बाघिन खाती है, वह उनकी पूर्व भव की माता थी - उसके ऊपर उन्हें द्वेष नहीं होता। यदि निमित्त के कारण द्वेष होता हो तो मुनि को द्वेष होना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। जिसे इष्ट-अनिष्ट सामग्री देखकर राग द्वेष होता है तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं, किन्तु मिथ्यादृष्टि है।

जहाँ तक वस्तुस्थिति जैसी है वैसी ख्याल में नहीं आती वहाँ तक यथार्थ प्रतीति कैसे आ सकती है ? नहीं आती। अतः सर्वप्रथम यथार्थ समझ करना चाहिये। अब आत्मा ने अनादि से कभी परवस्तु को ग्रहण नहीं किया तो उसे त्यागने की बात ही नहीं है; परन्तु अनादि से मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है कि मैंने पर पदार्थ का ग्रहण त्याग किया। ज्ञानी तो पर पदार्थ की ओर का राग छोड़ने के लिये भोजनादिक का त्यागी होता है - ऐसा कहा है। ज्ञानी को स्वभावदृष्टि पूर्वक राग का नाश होता है, तब राग में निमित्त पर पदार्थों को छोड़ने के लिये भोजनादिक का त्यागी होता है - ऐसा कहा है। ज्ञानी को स्वभावदृष्टि पूर्वक राग का नाश होता है, तब राग में निमित्त पर-पदार्थों को छोड़ा- ऐसा कहा जाता है।

आत्मा की पर्याय में विकार होता है वह भावबंध है और उस समय एकक्षेत्रावगाह रूप से कर्म का बंधन होता है वह द्रव्य बंध है। द्रव्य बंध हुआ वह जड़ है और भाव बंध आत्मा की पर्याय में है। द्रव्य बंध में भावबंध का अभाव है। दोनों वस्तुयें भिन्न हैं। वे निकट रहे, इसलिये एक-दूसरे में मिल जाती है - ऐसा नहीं हैं। कर्म अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहता है और आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहता है; इसलिये आत्मा में कर्म नहीं है और कर्म में आत्मा नहीं है। दोनों में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। अजीव तत्त्व और जीव तत्त्व दोनों भिन्न-भिन्न है - ऐसा नहीं माने तो सात तत्त्व की यथार्थ प्रतीति नहीं रहती। अतः जिसको जीवादिक तत्त्वों का पता नहीं है उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता।

आत्मा की पर्याय में राग होता है वह जड़ नहीं है। जब वह राग की पर्याय स्वभाव के अवलम्बन से छूट जाती है तब कर्म उनके कारण से छूट जाते हैं - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। धर्मी जीव स्वभाव में एकाग्र होता है तब अनिष्ट निमित्त की ओर का द्वेष छूट जाता है, उसे अनिष्ट सामग्री छोड़ी - ऐसा कहा जाता है। मुनि नाम धराकर भी परवस्तु में इष्ट-अनिष्टपना माने तो वह अज्ञानी है, मोक्षमार्गी नहीं और जो पर के कारण इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता वह मोक्षमार्गी है।

यदि स्वाधीनरूप से ऐसा साधन हो तो पराधीनपने इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी ज्ञानी को राग-द्वेष नहीं होता। धर्मी को इच्छा के अभाव का पुरुषार्थ होना चाहिये। यदि इच्छा का अभाव होवे तो उसके निमित्त का भी अभाव हुए बिना नहीं रहे। पर-वस्तु के कारण राग होता है - ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। स्वभाव के प्रयोजन (आश्रय) बिना राग नहीं छूटता। पर-वस्तु छूट जाने से राग छूट जाता है - ऐसा नहीं है। ज्ञान के पुरुषार्थ से राग सहज छूट जाता है, तब कर्म उनके कारण से छूट जाते हैं।

ज्ञानी को स्वाधीनरूप से पुरुषार्थ करके राग-द्वेष को छोड़ना चाहिये। ऐसे साधन में कैसी भी इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिले, तो भी ज्ञानी को राग नहीं होता। अब चाहिये तो इस अनुसार; परन्तु एकान्त निश्चयाभासी को अनशनादि से द्वेष हुआ है - इस कारण वह उन्हें क्लेश मानता है; सो अनशनादि को क्लेश का कारण माना

तो भोजनादि करने में इष्टपना हुआ। इस प्रकार पर-वस्तु में इष्ट-अनिष्टपना हुए बिना नहीं रहा, सो ऐसी दशा तो पर्यायदृष्टि संसारियों की भी होती है, तो तूने मोक्षमार्गी होकर क्या किया? तेरे में और मिथ्यादृष्टि में कुछ अन्तर नहीं रहा।

....यदि तू कहेगा- कितने ही सम्यग्दृष्टि भी तपश्चरण नहीं करते हैं?

उत्तरः- कारण विशेष से तप नहीं हो सकता, परन्तु श्रद्धान में तो तप को भला जानते हैं और उसके साधन का उद्यम रखते हैं। तुझे तो श्रद्धान यह है कि तप करना क्लेश है, तथा तप का तेरे उद्यम नहीं है, इसलिये तुझे सम्यग्दृष्टि कैसे हो?....

सम्यग्दृष्टि को कदाचित बाहर से त्याग न हो, परन्तु वह राग से लाभ नहीं मानता। स्वभाव में लीन होकर राग का अभाव करने की ही उसकी भावना होती है। मिथ्यादृष्टि निश्चयाभासी को राग घटाने की यथार्थ भावना भी नहीं होती। इस कारण वह कहता है कि कितने ही सम्यग्दृष्टि भी तपश्चरण नहीं करते; इसलिये हम भी तप नहीं करते।

उसका समाधान यह है कि - तप का अर्थ तो इच्छा का निरोध है। सम्यग्दृष्टि के ही वास्तव में इच्छा का निरोध होता है, मिथ्यादृष्टि के नहीं होता। चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि लाखों वर्ष तक संसार में रहता है। तिरासी लाख पूर्व वर्ष तक ऋषभदेव भगवान संसार में रहे थे, सम्यग्दृष्टि थे पर मुनिपना नहीं लिया। अन्तर में स्वभाव की दृष्टि तो थी, परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण चारित्रदशा अंगीकार नहीं कर सके। सम्यग्दृष्टि को तप नहीं हो सकने पर भी वह श्रद्धा में तो तप अर्थात् चारित्र को भला जानता है। श्रावक दशा में रहने पर भी धर्मी को मुनिपने की भावना वर्तती है। वह जानता है कि अपनी पर्याय में कमजोरी है- इस कारण चारित्र प्रगट नहीं होता। चक्रवर्ती के छियानवें करोड़ ग्राम होते हैं, छियानवै हजार रानियां होती हैं, छियानवैं करोड़ पायदल होते हैं, चौसठ हजार पुत्र होते हैं; तथापि उसे भावना तो चारित्रदशा की ही होती है। आत्मा की पर्याय में शुभाशुभ राग होता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि को उसकी भावना नहीं होती। सम्यग्दृष्टि की भावना तो, 'मैं ज्ञानानन्द

स्वभावी चैतन्य मूर्ति हूँ, उसमें कब लीन होऊँ' - ऐसी होती है। आत्मा के अवलम्बन से संवर और निर्जरा होती है, उसका तो निश्चयाभासी के उद्यम नहीं है; अतः वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि के तो ऐसा उद्यम होता है। मिथ्यादृष्टि का श्रद्धान ही ऐसा होता है कि वह तप को क्लेश मानता है - इस कारण उसे तप अर्थात् रागादि के नाश करके स्वभाव में रमणता करने की भावना भी नहीं होती।

धर्मी को बाहर में उपवासादि नहीं होने पर भी सम्यग्दर्शन में बिल्कुल दोष नहीं आता और मिथ्यादृष्टि हठ पूर्वक चारित्र ले तो वह कोई यथार्थ चारित्र नहीं कहलाता; क्योंकि सम्यग्दर्शन बिना चारित्र-तप नहीं होता।

अज्ञानी को चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर पद का बंध नहीं होता। जो ज्ञानी आत्मा में होने वाली रागादि की पर्याय को उपादेय नहीं मानते, ऐसे किसी ज्ञानी को विकल्प आता है उसमें चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर पद का बंधन होता है। जो जीव शुभभाव को भला जानता है वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसके चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर पद नहीं होता।

....फिर वह कहता है- शास्त्र में ऐसा कहा है कि तप आदि का क्लेश करता है तो करो, ज्ञान बिना सिद्धि नहीं है?

उत्तरः- जो जीव तत्त्वज्ञान से तो पराङ्मुख हैं, तपही से मोक्ष मानते हैं, उनको ऐसा उपदेश दिया है- तत्त्वज्ञान के बिना केवल तपही से मोक्षमार्ग नहीं होता। तथा तत्त्वज्ञान होनेपर रागादिक मिटाने के अर्थ तप करने का तो निषेध है नहीं। यदि निषेध हो तो गणधरादिक तप किसलिए करें? इसलिये अपनी शक्ति अनुसार तप करना योग्य है।....

तब यहाँ **प्रश्न** होता है कि - शास्त्र में ऐसा कहा है कि तपादि क्लेश करते है तो करो; परन्तु ज्ञान बिना सिद्धि नहीं है - इसका क्या कारण है?

उत्तरः- जो जीव तत्त्वज्ञान से पराङ्मुख है और तप से ही मोक्ष मानता है, उसको ऐसा उपदेश दिया गया है कि तत्त्वज्ञान बिना केवल तप से ही मोक्ष नहीं होता। तत्त्वज्ञान में आत्मा की दृष्टि हुई, आस्रव की भावना छूट गई, संयोग में अनुकूलता-प्रतिकूलता है- ऐसी दृष्टि छूट गई है; उसके आत्मा में लीन होने पर इच्छा का निरोध होता है वह तप है।

इसी ग्रन्थ में आगे तप की व्याख्या करते हुए कहा है कि इच्छा को रोकने का नाम तप है। 'इच्छा निरोधस्तपः' अर्थात् शुभ-अशुभ इच्छा मिटने पर उपयोग शुद्ध होता है वह निर्जरा है; इस कारण तप से निर्जरा कही है। चारित्रदशा हुए बिना इच्छा का निरोध नहीं होता और चारित्रदशा सम्यग्दर्शन बिना नहीं होती; इसलिये सच्चा तप ज्ञानी के ही होता है; अज्ञानी के तप नहीं होता। शुभाशुभ भाव रहित शुद्ध उपयोग ही तप है। पुण्य-पाप की वृत्ति को छोड़कर आत्मा के अनुभव में लीन होना वह तप है- ऐसा भगवान ने कहा है। बाहर से आहारादि न ले, वह तप नहीं है।

श्रीमद् ने कहा है कि -

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यों।
बनवास लियो मुख मोन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।।
मन-पौन निरोध स्वबोध कियो, हठजोग प्रयोग सु तार भयो।
जप भेद जपे तप त्योंहि तपे, उर से ही उदासी लही सब पे।।
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन-खंडन भेद लिये।
यह साधन बार अनन्त कियो, तदापि कछु हाथ हजु न पर्यो।।
अब क्यों न विचारत है मन से, कछु और रहा उस साधन से।
बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे, मुख आगल है कह बात कहे।।
करूना हम पावत हैं तुम की, यह बात कही सु गुरुगम की।
पल में प्रगटे मुख आगल से, जब सद्गुरुचर्न सुप्रेम बसें।।
तन से मन से धन से सब से, गुरुदेव की आन स्वआत्म बसें।
तब कारज सिद्ध बनें अपनों, रस अमृत पावहि प्रेम घनों।।

पाँच महाव्रत धारण किये, बारह-बारह महीने के उपवास किये, जंगल में रहा, मौन रहा, तप करके सूख गया, शास्त्र पढ़े, ग्यारह अंग का ज्ञान किया, मत का खण्डन मण्डन किया; परन्तु परलक्ष्य छोड़कर आत्मा का लक्ष्य नहीं किया। बाहर के साधन अनन्तबार किये; परन्तु आत्म कल्याण नहीं हुआ। सद्गुरु के बिना वस्तु का मर्म नहीं जाना। आत्मानन्द का अनुभव करे तो पर का लक्ष्य छूट जाए।

यहाँ ऐसा कहा है कि जो तत्त्वज्ञान से पराङ्मुख है वह मिथ्यादृष्टि है। सातों तत्त्व भिन्न-भिन्न है- ऐसा यथार्थ जिसने नहीं जाना वह आत्मा से भी पराङ्मुख है - ऐसा इसमें आ जाता है। जो तत्त्वज्ञान से पराङ्मुख है और अकेले बाह्य तप से मोक्ष मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

कोई कहे कि जिसे तत्त्वज्ञान न हो उसे क्या करना ? उससे कहते हैं कि - पहले तत्त्वज्ञान करना। शुभाशुभ भाव तो क्रमानुसार आते है। शुभाशुभ भाव में रुचि और दृष्टि है उसे बदलकर मैं आत्मा चिदानन्द हूँ- ऐसी दृष्टि और रुचि करना चाहिये।

पर-पदार्थ की पर्याय तो आत्मा कर नहीं सकता। स्त्री, परिवार, पैसा, शरीर, कर्म आदि की जो पर्याय जिस काल में होनी हैं वह होगी, उसे बदलना नहीं है और आत्मा की पर्याय में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं उन्हें भी नहीं बदलना है। आत्मा ज्ञानानन्द है - ऐसी रुचि करना सम्यग्दर्शन का यथार्थ उपाय है।

अज्ञानी तो तत्त्व किसे कहते हैं और अतत्त्व किसे कहते हैं- इसका ज्ञान भी नहीं करता और मात्र तपश्चर्या करके शरीर को सूखा देता है व इसी से धर्म होना मान लेता है। उससे कहा है कि आत्मा के भान बिना तीनकाल में भी धर्म नहीं होता। तत्वदृष्टि बिना उपवासादि करने से कुछ लाभ नहीं होता। जैसे ऊँट का पैर टूट जावे और वह जंगल में पड़ा हो तो घास-पानी के बिना सूख जाता है; उसी प्रकार जो अज्ञानी आत्मा को समझे बिना तप करते हैं वे दोनो समान हैं; क्योंकि ऐसी क्रिया तो अनन्तबार की है; तत्त्वज्ञान होने पर सम्यग्दृष्टि भी रागादि के अभाव के लिये तप की भावना करता है। ज्ञानी भी स्वभाव की लीनता पूर्वक इच्छा के अभाव की भावना करता है। यदि ऐसा न हो तो गणधर आदि चारित्र किसलियें ग्रहण करें ? वस्तुतः तो अन्तरलीनता होना वह चारित्र है। निमित्तरूप से बाहर में शुभभाव होता है।

ज्ञानी भी चारित्र ग्रहण करता है, इसलिये शक्ति अनुसार तप करना योग्य है। परन्तु अज्ञानी तो व्रतादि को बंधन मानता है। निश्चयव्रत बंध का कारण नहीं है। ज्ञानी के निश्चयव्रत बंध का कारण नहीं है। ज्ञानी के निश्चयव्रत होने पर साथ में

(भूमिकानुसार) व्यवहार भी होता है, किन्तु अज्ञानी तो स्वच्छन्द वृत्ति करता है। यथार्थ ज्ञान हो तब तो स्वच्छन्द वृत्ति नहीं रहती और ऐसा होने पर बाहर में निमित्तरूप तप व त्याग अवश्य होते हैं।

आत्मा में विकार होता है वह आस्रव है। जिसको शुद्धात्मा की दृष्टि से राग घट जाता है उसके बाह्य में उस प्रकार का त्याग होता है - उसका शास्त्र में निषेध नहीं किया है। यदि शास्त्र में राग के अभाव का उपदेश नहीं आया होता तब तो गणधरादि उसका उद्यम किसलिये करते? इसलिये शक्ति अनुसार तप-त्याग करना योग्य है। ज्ञानी शक्ति को लांघकर तप-त्याग नहीं करते। उनकी सहज दशा होती है, प्रमाद नहीं होता। क्लेश हो वह धर्म नहीं बल्कि आर्त्तध्यान है, विशुद्ध (शुभ परिणाम) होते हैं तो पुण्य होता है। अतः शक्ति अनुसार तप करना योग्य है। यह तप की बात हुई। अब व्रत की बात करते हैं :-

4. व्रतादि को बंधन माननेरूप मान्यता का स्पष्टीकरण :-

....तथा वह व्रतादिक को बन्धन मानता है; सो स्वच्छन्दवृत्ति तो अज्ञान अवस्था में ही थी, ज्ञान प्राप्त करने पर तो परिणति को रोकता ही है। तथा उस परिणति को रोकने के अर्थ बाह्य हिंसादिक कारणों का त्यागी अवश्य होना चाहिये।....

तथा तू व्रतादि को बंधन मानता है; परन्तु स्वच्छन्द वृत्ति तो अज्ञान अवस्था में भी थी ही, ज्ञान प्राप्त होने पर तो वह परिणति रुकती ही है। ज्ञान में (आत्मा में) एकाग्र होता है तब राग परिणति रुकती है। तथा परिणति को रोकने के लिये बाह्य हिंसादि के कारणों का भी त्यागी अवश्य होना चाहिये। यह निमित्त से बात की है। बाह्य क्रिया से परिणाम नहीं रुकते। ज्ञानी ऐसी क्रिया से युक्त होते हैं, उस प्रकार का राग नहीं होता; अतः बाह्य पदार्थ छूटे - ऐसा कहने में आता है। तात्पर्य यह है कि जितना-जितना ज्ञान आत्मा में स्थिर होता है उतना-उतना राग घटना चाहिये। जितना ज्ञान बढ़े उतना बाहर में त्याग होना चाहिये - ऐसा नहीं है; क्योंकि किसी मुनि के छठवें गुणस्थान में दो ज्ञान होते हैं और किसी चौथे गुणस्थानवर्ती के तीन

ज्ञान होते हैं। (अतः ज्ञान की हीनाधिकता के साथ बाह्य त्याग की व्याप्ति नहीं है) ज्ञानानन्द स्वभाव में अन्तर्लीनता होने पर राग का अभाव होने से निमित्त भी छूट जाते हैं।

....फिर वह कहता है- हमारे परिणाम तो शुद्ध हैं; बाह्य त्याग नहीं किया तो नहीं किया?

उत्तरः- यदि यह हिंसादि कार्य तेरे परिणाम बिना स्वयमेव होते हों तो हम ऐसा मानें। और यदि तू अपने परिणाम से कार्य करता है तो वहाँ तेरे परिणाम शुद्ध कैसे कहें? विषय-सेवनादि क्रिया अथवा प्रमादरूप गमनादि क्रिया परिणाम बिना कैसे हो? वह क्रिया तो स्वयं उद्यमी होकर तू करता है और वहाँ हिंसादिक होते हैं उन्हे गिनता नहीं है, परिणाम शुद्ध मानता है। सो ऐसी मान्यता से तेरे परिणाम अशुद्ध ही रहेंगे।....

अब उसका प्रश्न है कि हमारे परिणाम तो शुद्ध हैं, बाह्य त्याग नहीं किया तो नहीं किया। उसका समाधान यह है कि :-

जो ये हिंसादि कार्य तेरे परिणाम के निमित्त बिना स्वयं होता होवे तो हम भी ऐसा ही माने। हिंसादि की पर्याय तो जड़ है, वह तो जड़ के कारण स्वयं होती है; परन्तु उसका निमित्त तू होता है।- ऐसे परिणाम तो तू करता है, तथापि तेरे परिणाम शुद्ध है- ऐसा कैसे बने? तेरे परिणाम निमित्त है इसलिये हम परिणाम से कार्य होता है- ऐसा कहते हैं। यह प्रश्नकर्त्ता निश्चयाभासी होने से उसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है - यह समझाया जा रहा है। हरितकाय कटती है, उस समय हरितकाय कटने की क्रिया तो जड़ की है; परन्तु उस समय जीव के परिणाम शुद्ध हों - ऐसा नहीं हो सकता। मुनि के ऐसी क्रिया नहीं होती, क्योंकि उनके वैसे परिणाम नहीं है।

हिंसा करूँ, झूठ बोलूँ - इत्यादि परिणाम जीव करता है और उस समय बाहर की क्रिया तो उसके कारण से होती हे। शरीर से विषय सेवन क्रिया हो और कहे कि मेरे परिणाम ऐसे है ही नहीं, तो वह परिणाम को समझता नहीं है। प्रमाद से चलने

की क्रिया होती है वह उस प्रकार के परिणाम बिना कैसे हो? वैसे परिणाम न हो तो वैसी क्रिया भी नहीं होती - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। खाने के परिणाम जीव करता है और बाहर में खाने की क्रिया होती है; तो भी वहाँ परिणाम शुद्ध है - ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। शरीरादि की क्रिया तो जड़ की है; परन्तु उस समय परिणाम तो जीव के हैं। लक्ष्मी का संग्रह करना वह जड़ की क्रिया है; परन्तु उस समय परिग्रह और लोभ के परिणाम जीव के हैं- उसे शुद्ध भाव मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

युद्ध की क्रिया स्वयं जड़ के कारण होती है; परन्तु जो जीव उस समय उस क्रिया में खड़ा हो और वह कहे कि मेरे परिणाम शुद्ध हैं तो यह बात मिथ्या है। क्योंकि उस परिणाम और जड़ की क्रिया के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जो निमित्त से कार्य होना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है; परन्तु जड़ में कार्य होते समय अपने परिणाम अशुद्ध हैं- ऐसा नहीं मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि है। मकानादि की क्रिया होती है वह तो जड़ की क्रिया है; परन्तु उस समय जिस रागी जीव का निमित्त है वह ऐसा कहे कि मुझे वहाँ वीतराग भाव था, तो यह बात मिथ्या है। आत्मा जड़ की क्रिया तो तीनकाल में नहीं कर सकता, परन्तु धनादि के सम्बन्ध में जो अपना अशुभभाव होता है उसे शुद्ध परिणाम मानने वाला निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

खाने-पीने, पैसे इत्यादि की क्रिया को तो तू उद्यमी होकर करता है अर्थात् उस प्रकार का राग तो तू उद्यमी होकर करता है, उस राग का आरोप जड़ की क्रिया में किया हैं। कोई ऐसा कहे कि हम पच्चीस व्यक्तियों को भोजन का आमन्त्रण दें और जब वे भोजन करने आयें तब कह दें कि भोजन की क्रिया नहीं होना थी इसलिये नहीं हुई; परन्तु पच्चीस व्यक्तियों को आमन्त्रित करने का राग तो स्वयं ने किया था, सो उनकी व्यवस्था का राग भी स्वयं करता है, इसलिये ऐसा कहा है कि पर की क्रिया उद्यमी होकर स्वयं करता है।- ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसका ज्ञान कराते हैं। आहार लेता है और इच्छा नहीं है - ऐसा नहीं होता। केवली भगवान को इच्छा नहीं है तो आहार भी नहीं है। मुनि वस्त्र-पात्र रखे और कहे कि हमारी इच्छा नहीं

है- मूर्छा नहीं है, तो वह झूठा है। भावलिंगी मुनि को ऐसी मूर्छा के परिणाम नहीं होते तो उनके वस्त्रादि परिग्रह भी नहीं होता - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा हिंसादि के परिणाम तो पुरुषार्थ पूर्वक स्वयं करता है; परन्तु वे परिणाम होते हैं इसलिये हिंसादि की क्रिया होती है - ऐसा भी नहीं है, तो भी हिंसादि की क्रिया के समय अपने परिणाम अशुभ होते हैं, उन्हें शुद्ध परिणाम मानने वाला झूठा है, मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार परिणाम स्वयं करे और माने कि वे परिणाम मुझे होते ही नहीं तो उसके उन हिंसादि के परिणामों के अभाव का पुरुषार्थ नहीं होता। अपने में अशुभ भाव होते हैं उस समय बाहर में हिंसादि की क्रिया होती है, उसे तो तू गिनता नहीं और 'मेरे परिणाम शुद्ध है' - ऐसा मानता है; परन्तु ऐसा मानने से तेरे परिणाम कभी भी सुधरेंगे नहीं अर्थात् तेरे अशुद्ध परिणाम ही रहेंगे।

जिस समय आत्मज्ञानी सन्त-मुनि आहार की क्रिया में दिखते हैं उस समय भी उनके शुभभाव होता है, वहाँ शुद्धभाव नहीं है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है - यह जानना चाहिये।

....फिर वह कहता है- परिणामों को रोकें, बाह्य हिंसादिक भी कम करें; परन्तु प्रतिज्ञा करने में बन्धन होता है, इसलिये प्रतिज्ञारूप व्रत अंगीकार नहीं करना?

समाधानः- जिस कार्य को करने की आशा रहे उसकी प्रतिज्ञा नहीं लेते। और आशा रहे उससे राग रहता है। उस रागभाव से बिना कार्य किये भी अविरति से कर्मबन्ध होता रहता है; इसलिये प्रतिज्ञा अवश्य करने योग्य है। तथा कार्य करने का बन्धन हुए बिना परिणाम कैसे रुकेंगे? प्रयोजन पड़ने पर तद्रूप परिणम होंगे, तथा बिना प्रयोजन पड़े उसकी आशा रहती है; इसलिये प्रतिज्ञा करना योग्य है।....

अब वह **प्रश्न** करता है कि परिणामों को रोकने से बाह्य हिंसादि घटा सकते हैं- यह बात तो सत्य है; परन्तु प्रतिज्ञा करने से तो बंध होता है। इसलिये प्रतिज्ञारूप व्रत अंगीकार नहीं करना।

उत्तरः- जिस कार्य के करने की आशा रहती है उसकी प्रतिज्ञा नहीं की जाती। तथा उस राग भाव से कार्य किये बिना भी अविरतिजन्य बंध तो हुआ ही करता है; इसलिये प्रतिज्ञा करना अवश्य योग्य है। राग का जितना भाव है उतना बंधन है। प्रतिज्ञा करने की बात तो सम्यग्दर्शन होने के बाद की बात है। बिना सम्यग्दर्शन यथार्थ प्रतिज्ञा नहीं होती। ज्ञानी को भी प्रतिज्ञा लेने का विकल्प आये बिना नहीं रहता। ज्ञानी समझता है कि विकल्प राग है, तथापि उसे व्रतादि की प्रतिज्ञा का विकल्प आता है। सम्यग्दृष्टि को प्रतिज्ञा में परिणामों की दृढ़ता होती है। यहाँ पर की बात नहीं है। बाहर में ऐसे कार्य नहीं करना - यह कथन तो निमित्त से है; परन्तु ऐसे परिणाम नहीं करना - ऐसी स्वभाव दृष्टि पूर्वक (ज्ञानी) परिणाम दृढ़ करता है और कार्य करने का बंधन हुए बिना परिणाम कैसे रूकेंगे? प्रयोजन होने पर तद्रूप परिणाम अवश्य हो जायेंगे अथवा प्रयोजन हुए बिना भी उनकी आशा रहती है, इसलिये प्रतिज्ञा करना अवश्य योग्य है। और यदि आत्मा के भान बिना प्रतिज्ञा कर ले तो वह बालव्रत है।

....फिर वह कहता है- न जाने कैसा उदय आये और बाद में प्रतिज्ञा भंग हो, तो महापाप लगता है। इसलिये प्रारब्ध अनुसार कार्य बने सो बनो, प्रतिज्ञा का विकल्प नहीं करना?

समाधानः- प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए जिसका निर्वाह होता न जाने, वह प्रतिज्ञा तो न करे; प्रतिज्ञा लेते ही यह अभिप्राय रहे कि प्रयोजन पड़ने पर छोड़ दूँगा, तो वह प्रतिज्ञा क्या कार्यकारी हुई? प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए तो यह परिणाम है कि मरणान्त होनेपर भी नहीं छोड़ूँगा, तो ऐसी प्रतिज्ञा करना युक्त ही है। बिना प्रतिज्ञा किये अविरत सम्बन्धी बन्ध नहीं मिटता।

तथा आगामी उदय के भय से प्रतिज्ञा न ली जाये, तो उदय को विचारने से सर्व ही कर्त्तव्य का नाश होता है। जैसे- अपने को पचता जाने उतना भोजन करे। कदाचित् किसी को भोजन से अजीर्ण हुआ हो, और उस भय से भोजन करना छोड़ दे तो मरण ही होगा। उसी प्रकार अपने से निर्वाह होता जाने उतनी प्रतिज्ञा करे। कदाचित् किसी के प्रतिज्ञा से भ्रष्टपना हुआ हो और उस भय से प्रतिज्ञा करना छोड़ दे तो असंयम ही होगा; इसलिये जो बन सके वह प्रतिज्ञा लेना योग्य है।

तथा प्रारब्ध अनुसार तो कार्य बनता ही है, तू उद्यमी होकर भोजनादि किसलिये करता है? यदि वहाँ उद्यम करता है तो त्याग करने का भी उद्यम करना योग्य ही है। जब प्रतिमावत् तेरी दशा हो जायेगी तब हम प्रारब्ध ही मानेंगे, तेरा कर्त्तव्य नहीं मानेंगे। इसलिये स्वच्छन्द होने की युक्ति किसलिये बनाता है? बने वह प्रतिज्ञा करके व्रत धारण करना योग्य ही है।....

प्रश्नः- प्रतिज्ञा करने के पश्चात् न जाने कैसा उदय आ जाये और प्रतिज्ञा भंग हो जाये तो महापाप लगे, इसलिये प्रारब्ध अनुसार जो कार्य बने वह बनो; परन्तु प्रतिज्ञा का विकल्प नहीं करना?

समाधानः- प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए जिसका निर्वाह होता न जाने वैसी प्रतिज्ञा न करे। साधुपना-नग्नपना ले लिया हो और आत्मा का भान न हो तो फिर उद्दिष्ट आहार भी ले ले तो वह दोष है। समझे बिना हठ से मुनिपना ले लेते हैं और फिर प्रतिज्ञा भंग होता है। देखो! प्रतिज्ञा नहीं लेना वह पाप नहीं है; परन्तु प्रतिज्ञा लेकर उसे भंग करना महापाप है। जिसका निर्वाह न हो सके- ऐसी प्रतिज्ञा नहीं लेनी चाहिये। अपनी शक्ति अनुसार प्रतिज्ञा होनी चाहिये। प्रतिमा, व्रत भी सहज होते हैं। मुनि के लिये आहार-पानी बनावे और गृहस्थ कहे कि आहार शुद्ध, मन शुद्ध, वचन शुद्ध, काय शुद्ध - तो वह असत्य है। उसमें धर्म तो नहीं; परन्तु यथार्थ शुभभाव नहीं है। शास्त्र में (पद्मपुराण में) आता है कि - कोई चारणऋद्धि धारक मुनि चातुर्मास पूर्ण होने पर दूर क्षेत्र से आये और श्रावक को शंका हुई तो आहार-पानी नहीं दिया। तो फिर जिसे प्रत्यक्ष पता हो कि यह मुनि अपने लिये बनाया आहार लेते हैं - ऐसे मुनि को आहार कैसे देना? इसलिये इस प्रकार दोषयुक्त कार्य करना योग्य नहीं है।

आत्मा में जितना अव्रतभाव है उतना दोष है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने को व्रतादि के परिणाम सहज नहीं हों और हठपूर्वक व्रतादि की प्रतिज्ञा ले लेवे, क्योंकि तब तो प्रतिज्ञा भंग हुए बिना रहेगी नहीं। कारण कि प्रथम सें ही ऐसा अभिप्राय होता है कि 'समय आने पर छोड़ दूंगा' तो ऐसी प्रतिज्ञा कार्यकारी नहीं है। प्रतिज्ञा तो उसे कहते हैं कि मरण तक का कष्ट आने पर भी प्रतिज्ञा भंग न करे - ऐसी प्रतिज्ञा करनी योग्य है।

तथा प्रतिज्ञा बिना अविरत सम्बन्धी बंध नहीं मिटता; इसलिये प्रतिज्ञा लेना योग्य है।

कोई कहे कि समन्तभद्राचार्य ने मुनिपना लेने के पश्चात् प्रतिज्ञा भंग की थी। इस कथन में स्वच्छन्दता की बात नहीं है। वहाँ तो ऐसा रोग हुआ और उतना पुरुषार्थ नहीं था, इस कारण वैसा बनाव बना था। तथा समयानुसार वापस उन्होंने मुनिपना ले लिया था। हठ से मुनिपना नहीं लिया था। वर्तमान में निर्वाह होना असंभव लगा, इसलिये छोड़ दिया था; परन्तु पहले से ही 'समय आने पर छोड़ दूँगा' – ऐसी भावना नहीं थी। इसलिये यथाशक्ति प्रतिज्ञा लेना योग्य है।

यहाँ प्रतिज्ञा सम्बन्धी बात चल रही है। तत्वज्ञान पूर्वक प्रतिज्ञा होना चाहिये। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् धर्मी को व्रतादि का शुभ विकल्प आता है। मैं अपने आनन्द स्वभाव में लीन होऊँ – ऐसी भावना धर्मी को होती है। प्रतिज्ञा लिये बिना आसक्ति का नाश नहीं होता। सर्वप्रथम स्वभाव का भान होना चाहिये। सम्यग्दर्शन के बिना सच्चे व्रत, नियम, तप आदि नहीं होते। मैं ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा हूँ- ऐसी दृष्टि होने के पश्चात (धर्मी को) प्रतिज्ञा का विकल्प आता है, उसकी बात यहाँ करते हैं। अज्ञानी कहता है कि हमें वैसा विकल्प नहीं आता, उसकी यह बात मिथ्या है।

आत्मा का अवलम्बन करके राग का त्याग करना चाहिये। स्वभाव में लीनता होने पर राग का त्याग सहज हो जाता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी शुभभाव आता है, ज्ञानी उसे जानता है; परन्तु उसे उपादेय नहीं मानता।

अज्ञानी कहता है कि कर्म का तीव्र उदय आवे और गिर जायें तो ? तो यह बात सत्य नहीं है। यदि उदय का विचार करे तब तो कुछ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता। कर्म कर्म के कारण आता है। उस पर दृष्टि देने की आवश्यकता नहीं है। कर्म का उदय आत्मा को नहीं रोकता। यदि आत्मा स्वयं स्वभाव का पुरुषार्थ करे तो कर्म स्वयं अभावरूप हो जाता है। जैसे अपने को जितना पचता जाने उतना भोजन करे; परन्तु यदि कदाचित किसी को (अधिक भोजन करने से) अजीर्ण हुआ हो, उस भय से स्वयं भोजन करना छोड़ दे तो मरण होता है। उसी प्रकार आत्मा के भानपूर्वक सामर्थ्यानुसार

प्रतिज्ञा ले; परन्तु यदि कदाचित किसी को प्रतिज्ञा से भ्रष्टपना हुआ हो, उस भय से स्वयं प्रतिज्ञा नहीं ले तो असंयम ही होता है। इसलिए संभव हो उतनी प्रतिज्ञा लेना चाहिये। आत्मज्ञान होने के पश्चात् स्वरूप की लीनता के लिये प्रतिज्ञा लेना योग्य है। सम्यग्दर्शन के बिना समस्त व्रत, तप बालव्रत और बालतप है। ज्ञानी को सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् प्रतिज्ञा का विकल्प आता है। किसी ज्ञानी के थोड़े समय में प्रतिज्ञा आती है तो किसी ज्ञानी के बहुत समय में प्रतिज्ञा आती है। जैसे भरत चक्रवर्ती के बहुत समय बाद चारित्र आया, तथापि ज्ञानी के चारित्र की भावना छूटती नहीं है।

संसार में पैसे आदि का आना-जाना आदि कार्य तो कर्म के अनुसार बनता ही है; परन्तु तू वहाँ कमाने आदि का अशुभ राग पुरुषार्थ पूर्वक करता है। कर्म के कारण अशुभभाव नहीं होता; परन्तु विपरीत पुरुषार्थ के कारण अशुभभाव होता है अतः सच्चे पुरुषार्थ द्वारा आत्मा के भान द्वारा राग के अभाव का प्रयत्न करना चाहिये। यहाँ निश्चयाभासी से कहते हैं कि यदि वहाँ (पाप कार्यों में) उद्यम करता है तो त्याग करने का उद्यम भी करना योग्य हीं है।

जब तेरी दशा प्रतिमावत हो जायेगी तब हम भी प्रारब्ध मानेंगे, तेरा कर्त्तव्य नहीं मानेंगे। परन्तु तेरी दशा प्रतिमावत निर्विकल्प हुई नहीं है, तो फिर स्वच्छन्दी होने की युक्ति किसलिये बनाता है? यथाशक्ति प्रतिज्ञा करके व्रत धारण करना योग्य है।

ज्ञानी को आत्मा का भान होता है, तथापि शुभभाव आये बिना नहीं रहता। ज्ञानी पर पर्याय को पलटाना नहीं चाहता और अपनी पर्याय को भी बदलना नहीं चाहता। उसकी दृष्टि स्वभाव पर होने से वह ज्ञाता ही रहता है। ज्ञानी को आत्मा की सन्मुखता नहीं छूटती। शुभाशुभ भाव होने पर भी ज्ञानी को उसकी रुचि नहीं होती। अज्ञानी को स्वभाव की रुचि नहीं हुई है। वह जीव त्याग, तप को क्लेश ठहराता है, उसकी बात यहाँ चल रही है।

ज्ञानी तप का निषेध नहीं करते, बल्कि तप की भावना पाते हैं। भले ही ज्ञानी को वर्तमान में तप-त्याग न हो, तथापि वे उनका निषेध नहीं करते। अज्ञानी को

आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं है, इस कारण उसे तप-त्याग क्लेशरूप लगते हैं। ज्ञानी को कमजोरी के कारण खेद और राग आता अवश्य है; परन्तु वे उसके ज्ञाता रहते हैं। अज्ञानी उसमें एकत्ववृद्धि करता है। कदाचित कोई जीव प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हो गया हो तो उसका उदाहरण लेकर किसी को प्रतिज्ञा नहीं करना- ऐसा नहीं है। मुनि विष्णुकुमार को अपने कारण से विकल्प आया और वे मुनिपने से च्युत हो गये; इसलिये दूसरों को उनका उदाहरण लेकर आत्मा से स्थिरतारूप प्रतिज्ञा बिल्कुल नहीं करना- ऐसा नहीं है। ज्ञानी को स्वभाव में विशेष स्थिरता करने की भावना होती है। वे शक्ति अनुसार तपश्चर्या करते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर प्रतिज्ञा करते हैं। मरण पर्यन्त कष्ट आने पर भी प्रतिज्ञा नहीं छोडते। वे प्रतिज्ञा में अनादर भाव नहीं करते, क्योंकि ज्ञानी तत्वज्ञान पूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं। निमित्त के विवेक पूर्वक क्रमबद्ध के भान पूर्वक ज्ञानी प्रतिज्ञा करते हैं। मिथ्यादृष्टि भी कदाचित प्राण जाये तो भी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ता, तथापि उसको धर्म नहीं होता। तथा सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा लेता है सो वह यथार्थ आत्मभान पूर्वक लेता है, अर्थात् वह प्रतिज्ञा का अनादर नहीं करता। ज्ञानी हठ से प्रतिज्ञा नहीं करता, अज्ञानी हठ से प्रतिज्ञा करता है। तो भी प्रतिज्ञा ऐसी होनी चाहिये कि उसे लेने के पश्चात् भी न तोड़े तो शुभभावरूप सच्ची प्रतिज्ञा कहलाती है; परन्तु प्रतिज्ञा लेते ही, 'भविष्य में निभेगी नहीं'- ऐसा विचारकर प्रतिज्ञा ले तो उसका शुभभाव भी सच्चा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि कोई प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हुआ, उसे जानकर ज्ञानी को प्रतिज्ञा का निषेध करना योग्य नहीं है; परन्तु आत्मा की स्थिरतारूप भावना भाना योग्य है।

5. पूजनादि शुभास्रवों की हेयता का स्पष्टीकरण :-

....तथा वह पूजनादि कार्य को शुभास्रव जानकर हेय मानता है, सो यह सत्य ही है; परन्तु यदि इन कार्यो को छोड़कर शुद्धोपयोगरूप हो तो भला ही है, और विषय-कषायरूप-अशुभरूप प्रवर्ते तो अपना बुरा ही किया।

शुभोपयोग से स्वर्गादि हों, अथवा भली वासना से या भले निमित्त से कर्म के स्थिति- अनुभाग घट जायें तो सम्यक्त्वादि की भी प्राप्ति हो जाये। और

अशुभोपयोग से नरक-निगोदादि हों, अथवा बुरी वासना से या बुरे निमित्त से कर्म के स्थिति-अनुभाव बढ़ जायें तो सम्यक्त्वादिक महा दुर्लभ हो जायें।

तथा शुभोपयोग होने से कषाय मन्द होती है और अशुभोपयोग होने से तीव्र होती है; सो मन्दकषाय का कार्य छोड़कर तीव्रकषाय का कार्य करना तो ऐसा है जैसे कड़वी वस्तु न खाना और विष खाना। सो यह अज्ञानता है।....

भगवान की पूजा आदि पुण्यास्रव है, धर्म नहीं; परन्तु उस शुभ को छोड़कर अशुभ करना ठीक नहीं है। अज्ञानी कहता है कि यात्रा आदि में कषाय की मंदता का भाव पुण्य है, धर्म नहीं - इस कारण वह हेय है। सो यह बात तो सत्य है; परन्तु उस शुभभाव को छोड़कर वीतराग हो तब तो ठीक है; परन्तु यदि तू अशुभ में वर्तता है तो तूने अपना बुरा ही किया है। ज्ञानी को आत्मा का भान होने पर भी स्वभाव में लीन न हों सके तो शुभभाव आते हैं; परन्तु शुभ को छोड़कर अशुभ करना ठीक नहीं है। अज्ञानी स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं मानता और राग को टालना भी नहीं मानता, उससे कहते हैं कि शुभ परिणामों से स्वर्गादिक मिलते हैं, भली वासना भले निमित्तों से कर्म के स्थिति-अनुभाग घट जायें तो सम्यक्त्वादि की प्राप्ति भी हो जाती है। शुभपरिणाम से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु स्वभाव का पुरुषार्थ करने से समकित प्राप्त होता है। मैं त्रिकाल शुद्ध चिदानन्द हूँ- ऐसी दृष्टि सम्यग्दर्शन का कारण है, परन्तु सम्यग्दर्शन में शुभ निमित्त है, इस कारण व्यवहार से 'उससे हुआ' - ऐसा कहा जाता है।

शुभभाव के निमित्त से कर्म का स्थिति-रस घट जाता है। वहाँ जड़कर्म का स्थिति-रस घटने का वह क्रम था, उस समय की (पर्यायगत) योग्यता थी। वह पर्याय शुभभाव के आधीन नहीं; परन्तु यहाँ तो शुभभाव के साथ कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है - यह बताया है। तथापि कोई पदार्थ किसी पदार्थ के आधीन नहीं है। प्रत्येक द्रव्य असहाय है। अशुभ उपयोग से नरक-निगोदादि हों व बुरी वासना और बुरे निमित्तों से कर्म के स्थिति-अनुभाग बढ़ जाये तो सम्यक्त्वादि भी महादुर्लभ हो जाते हैं। शुभोपयोग से कषाप की मंदता और अशुभोपयोग से कषाय की तीव्रता होती है।

इसलिये शुभभाव छोड़कर अशुभभाव करना अज्ञान है। यहाँ उपदेशात्मक वाक्य है। अज्ञानी शुभ और अशुभ के विवेक को नहीं समझता, उसे समझाते हैं कि जैसे कड़वी वस्तु नहीं खाना और विष-जहर खाना यह अज्ञान है, उसी प्रकार शुभ के कारणों को छोड़कर अशुभ के कारणों का सेवन करना अज्ञान है।

देखो! निश्चयाभासी पूजनादि कार्यों को शुभास्रव जानकर हेय मानता है। यद्यपि यह बात तो सत्य है; परन्तु शुभभाव को छोड़कर शुद्ध उपयोग में रहे तो ठीक है; किन्तु विषय-कषायरूप अशुभ उपयोग में प्रवर्ते और शुभभाव का निषेध करे वह तो मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को तो सब विवेक होता है। अभी पर में से रुचि हटी न हो और ऐसा माने कि हम वीतरागी हो गये हैं, तो ऐसा मानने वाला निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ हठ से त्यागी हो जाने की बात नहीं है और न अकेले शुभभाव करने की बात है; परन्तु तत्वज्ञानपूर्वक ज्ञानी को भी अशुभभाव छोड़कर पूर्ण दशा न हो वहाँ तक शुभभाव होता है- ऐसा यहाँ बतलाना है। परन्तु शुभभाव न करे और अकेले अशुभभाव में रहे उसकी तो ऊँची गति भी नहीं होती और अकेला बुरा ही होता है। शुभभाव से स्वर्गादि होते हैं और भली वासना करे तो भले निमित्त होने पर कर्म का स्थिति-अनुभाग भी घट जाता है। वहाँ कदाचित पुरुषार्थ करे तो सम्यक्त्वादि भी प्राप्त होते हैं। तथा अकेले अशुभभाव करे तो नरक-निगोद में ही जाता है जिससे इसे सम्यग्दर्शनादि का प्रगट होना बहुत दुर्लभ हो जाता है। शुभोपयोग में मंद कषाय है, अशुभपयोग में तीव्र कषाय है। अब मंद कषाय के कारणों को छोड़कर तीव्र कषाय के कारणों का सेवन तो ऐसा है कि कड़वी वस्तु तो नहीं खाना और जहर खाना, सो यह तो अज्ञान है।

....फिर वह कहता है- शास्त्र में शुभ-अशुभ को समान कहा है, इसलिये हमें तो विशेष जानना योग्य नहीं है?

समाधानः- जो जीव शुभोपयोग को मोक्ष का कारण मानकर उपादेय मानते हैं और शुद्धोपयोगको नहीं पहिचानते, उन्हें शुभ-अशुभ दोनों को अशुद्धता की अपेक्षा व बन्धकारण की अपेक्षा समान बतलाया है।

तथा शुभ-अशुभ का परस्पर विचार करें तो शुभभावों के कषाय मन्द होती है, इसलिये बन्ध हीन होता है; अशुभभावों में कषाय तीव्र होती है, इसलिये बन्ध बहुत होता है। इस प्रकार विचार करने पर अशुभ की अपेक्षा सिद्धान्त में शुभ को भला भी कहा जाता है। जैसे- रोग तो थोड़ा या बहुत बुरा ही है, परन्तु बहुत रोग की अपेक्षा थोड़े रोग को भला भी कहते हैं।

इसलिये शुद्धोपयोग न हो, तब अशुभ से छूटकर शुभ में प्रवर्तना योग्य है; शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवर्तना योग्य नहीं है।....

प्रश्नः- शास्त्र में शुभ-अशुभ परिणामों को आस्रव कहा है, दोनों बंध के कारण है; इसलिये हमको तो विशेष जानना योग्य नहीं है?

उत्तरः- जो जीव शुभ परिणामों को- दया, दान, व्रत पूजादि को मोक्ष का कारण मानकर उपादेय मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। जो यह मानता है कि शुभभाव से क्रम-क्रम से शुद्धता होगी, तथा जो पुण्य-पाप से रहित शुद्धस्वभाव को नहीं पहिचानता। (वह अज्ञानी है)। साधक दशा में शुभभाव आता है; परन्तु वह धर्म का कारण नहीं है। शुभभाव मंद मलिन परिणाम है वह मोक्ष का कारण नहीं है। जो दया, दानादि को मोक्ष का कारण मानता है वह वीतरागी देव को तथा उनके शास्त्रों को नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप से रहित शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से शुद्ध उपयोग प्रगट होता है उसकी उसे खबर नहीं है। आत्मा में शुभ परिणाम हो चाहे अशुभ परिणाम हों - दोनों अशुद्ध है और आत्मा के आश्रय से जो परिणाम होते हैं वे शुद्ध हैं। शुभ-अशुभ दोनों आस्रव हैं - बंध हैं, मोक्ष के कारण नहीं हैं; इस कारण दोनों को समान बताया है।

तात्पर्य यह है कि जो जीव शुभभाव को ही मोक्ष का कारण मानता है और शुद्धोपयोग को पहिचानता भी नहीं है उसे 'शुभाशुभ भाव समान हैं'- ऐसा कहा है। अज्ञानी तो शुभभाव करते-करते कल्याण हो जायेगा- ऐसा मानता है। उससे कहते हैं कि जिसको शुद्ध उपयोग नहीं होता उसके शुभभाव को तो परम्परा से भी मोक्ष का कारण नहीं कहा जाता। एक तो पुण्य-पाप दोनों अशुद्ध भाव है, दूसरे-पुण्य-पाप दोनों बंध के कारण हैं- इस अपेक्षा से दोनों समान हैं।

परन्तु शुभ परिणाम में कषाय मंद है और अशुभ परिणाम में कषाय तीव्र है। इस कारण जिसको आत्मा की दृष्टि हुई है उसको व्यवहार की अपेक्षा से शुभ को ठीक कहते हैं। चौथे, पाँचवे, छठवें गुणस्थान में ज्ञानी को शुभ परिणाम होते हैं; परन्तु ज्ञानी उनको बंध का कारण मानता है। मुनिराज को अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का विकल्प आता है वह पुण्यास्रव है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। स्वभाव ही मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी मोक्ष का कारण व्यवहार से कहलाता है। वीतरागी पर्याय मोक्ष का कारण है।

अशुभ परिणाम से तीव्र बंध होता है और शुभ परिणाम से मंद बंध होता है। इसलिये जिस जीव को आत्मा का मान हुआ है उसके लिये व्यवहार से शुभ परिणाम को ठीक कहा है। यद्यपि ज्ञानी जीव शुभ परिणाम को हेय समझता है तथापि जब तक स्वरूप में लीन न हो सके वहाँ तक उसको शुभ परिणाम आते हैं- इस कारण व्यवहार से उन्हें भला कहा है; परन्तु निश्चय से शुभ परिणाम को भला माने वह तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। अशुभ भावों में कषाय तीव्र होती है और बंध भी तीव्र होता है और शुभभावों में कषाय मंद होती है और इससे बंध भी हीन होता है। इस प्रकार अशुभ की अपेक्षा शुभ को भला कहा है।

रोग तो थोड़ा अथवा बहुत बुरा ही है। जैसे बुखार थोड़ा आवे तो भी खराब ही है। निन्यानवै डिग्री बुखार छह माह तक रहे तो क्षयरोग हो जाता है; परन्तु बहुत रोग की अपेक्षा से थोड़े रोग को भला कहते हैं। उसी प्रकार कषाय मंदता के परिणामों की रुचि रखे तो आत्मा की पर्याय में (मिथ्यास्वरूप) क्षयरोग लागू पड़ता है। शुभाशुभरूप दोनों प्रकार के रागभाव को हेय समझने पर भी स्वरूप में लीनता नहीं हो तब अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवर्तना योग्य है; परन्तु शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवर्तना योग्य नहीं है।

अपनी पर्याय में शुभराग आता ही नहीं - ऐसा माने तो उसने व्यवहार को छोड़ा कहलाता है। आत्मा का भान होने के बाद भी (पूर्णता न हो वहाँ तक) शुभभाव आता है - ऐसा जानना, वह व्यवहार है; परन्तु शुभ परिणाम करने योग्य हैं- ऐसा इसका

अर्थ नहीं है। शुभ का आदर करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ - ऐसा भान होने के बाद (भी) शुभभाव आता है, तो भी वह आता ही नहीं- ऐसा माने तो भी मिथ्यादृष्टि हो जाता है, उसने व्यवहार को छोड़ा है। तथा जो शुभभाव आता है उससे धर्म माने उसने निश्चय को छोड़ा है। सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धआत्मा को उपादेय मानता है वह निश्चय है और जो शुभभाव आता है उसको जानता है वह व्यवहार है।

श्री समयसार गाथा-12 में कहा है कि चौथे, पाँचवें, छटवें गुणस्थान में जो शुभभाव आता है उसका ज्ञान करना; परन्तु शुभराग आता है इससे निश्चय टिकता है - ऐसा मानना यथार्थ नहीं है। शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से निश्चय प्रगट होता है; परन्तु अपूर्णदशा में शुभभाव आता है। शुभभाव (अपूर्णदशा में) आता ही नहीं- ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा ज्ञानानन्द है। राग अपराध है, आत्मा निरपराध है - ऐसा भान होने के पश्चात् शुभ परिणाम आते हैं उनका ज्ञान करना चाहिये। आत्मा का भान होने के पश्चात् शुभ छोड़कर अशुभ करना योग्य नहीं है; परन्तु ज्ञानी शुभ-अशुभ दोनों को हेय समझता है। धर्मी जीव को चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प आनन्दकन्द आत्मा का अनुभव होता है और जो शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं उन्हें वह दुःखरूप मानता है। वह शुभराग से धर्म नहीं मानता। अज्ञानी जीव पर से तथा शुभराग से धर्म मानता है। यह जीव अनन्तबार (शुभभाव करके) नौवें ग्रैवेयक गया; परन्तु आत्मज्ञान बिना सुख प्राप्त नहीं हुआ। अपनी पर्याय में पुण्य-पाप (शुभाशुभ भाव) होता है वह बंध है। जो जीव बंध रहित आत्मा का भान नहीं करता उसको धर्म नहीं होता। जब तक शुद्ध चिदानन्द आत्मा का भान करके उसमें लीनता नहीं कर सके वहाँ तक शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवर्तना योग्य नहीं है।

इस बात के मर्म को नहीं समझे तो जीव या तो अकेले शुभभाव में लग जाता है अथवा तो शुभ को छोड़कर अशुभ में लग जाता है, परन्तु शुद्धोपयोग करने का प्रयत्न नहीं करता - इस कारण वह मिथ्यादृष्टि है। भाई! वीतराग का मार्ग तो अलौकिक मार्ग है। उसको समझने के लिये बहुत पुरुषार्थ चाहिये।

अनादि से आत्मा की दृष्टि और रुचि पर सन्मुख है उसकी दिशा बदलकर स्व में रुचिपूर्वक अन्तर स्थिरता करने में अनन्त पुरुषार्थ है। अभी तो जैन के नाम से अनेक प्रकार से आत्मा की बातें करते हैं- ऐसी विपरीत रुचि वालों का संग बढ़ गया है; इस कारण यह बात समझना कठिन पड़ती है। शुभभाव से धर्म नहीं होता और शुभभाव आये बिना भी नहीं रहता- इस प्रकार दोनों को यथार्थ रूप से समझना चाहिये।

....फिर वह कहता है- कामादिक या क्षुधादिक मिटाने की अशुभरूप प्रवृत्ति तो हुए बिना रहती नहीं है, और शुभ प्रवृत्ति इच्छा करके करनी पड़ती है; ज्ञानी को इच्छा चाहिये नहीं, इसलिये शुभ का उद्यम नहीं करना?

उत्तरः- शुभ प्रवृत्ति में उपयोग लगने से तथा उसके निमित्त से विरागता बढ़ने से कामादिक हीन होते हैं और क्षुधादिक में भी संक्लेश थोड़ा होता है। इसलिये शुभोपयोग का अभ्यास करना। उद्यम करने पर भी यदि कामादिक व क्षुधादिक पीड़ित करते हैं तो उनके अर्थ जिससे थोड़ा पाप लगे वह करना। परन्तु शुभोपयोग को छोड़कर निःशंक पापरूप प्रवर्तन करना तो योग्य नहीं है।

और तू कहता है- ज्ञानी के इच्छा नहीं है और शुभोपयोग इच्छा करने से होता है; सो जिस प्रकार कोई पुरुष किंचित्मात्र भी अपना धन देना नहीं चाहता, परन्तु जहाँ बहुत धन जाता जाने वहाँ अपनी इच्छा से थोड़ा धन देने का उपाय करता है; उसी प्रकार ज्ञानी किंचित्मात्र भी कषायरूप कार्य नहीं करना चाहता, परन्तु जहाँ बहुत कषायरूप अशुभ कार्य होता जाने वहाँ इच्छा करके अल्पकषायरूप शुभ कार्य करने का उद्यम करता है।

इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि जहाँ शुद्धोपयोग होता जाने वहाँ तो शुभ कार्य का निषेध ही है और जहाँ अशुभोपयोग होता जाने वहाँ शुभ का उपाय करके अंगीकार करना योग्य है।

इस प्रकार अनेक व्यवहारकार्यो का उत्थापन करके जो स्वच्छन्दपने को स्थापित करता है, उसका निषेध किया।....

प्रश्नः- कामादिक और क्षुधादिक मिटाने के लिये अशुभ परिणाम करने पड़ते हैं, किये बिना नहीं रहा जाता; परन्तु शुभप्रवृत्ति तो इच्छा करके करनी पड़ती है। अब ज्ञानी के इच्छा करना नहीं है; इसलिये शुभ का उद्यम नहीं करना?

उत्तरः- सम्यग्ज्ञानी को अपने शुद्ध आत्मा की दृष्टि हुई है। ज्ञानानन्द स्वभाव के आश्रय से राग यथार्थतः घटता है। मिथ्यादृष्टि जीव को भी किसी समय शुक्ल लेश्या के परिणाम आते हैं, वे परिणाम होना अपूर्व नहीं है; परन्तु आत्मा के भानपूर्वक शुद्ध परिणाम होना अपूर्व है। तो भी शुद्धता में (स्वरूप में) लीन न हो वहाँ तक शुभ परिणाम आते हैं। उनमें उपयोग लगाने से अथवा उनके निमित्त से विरागता बढने से कामादिक हीन होते हैं।

अशुभ परिणामों में संक्लेशता अधिक है और शुभ परिणामों से क्षुधादिक में संक्लेशता कम है। जो अज्ञानी जीव एकान्त मानता है उसको उपदेश दिया है कि शुभ परिणाम में राग की मंदता होती है और स्वभाव की दृष्टि होवे तो धर्म होता है; इसलिये शुभोपयोग का अभ्यास करना योग्य है। तथा उद्यम करने पर भी कामादिक बढ़े व क्षुधादिक बढ़े तो थोड़ा पाप लगे वैसा करना; परन्तु शुभ उपयोग छोड़कर पापरूप प्रवर्त्तना योग्य नहीं है।

तथा तू कहता है कि- ज्ञानी के इच्छा नहीं है और शुभ उपयोग इच्छा करने से होता है; सो जैसे कोई पुरुष जरा भी धन देना नहीं चाहता; परन्तु जहाँ बहुत द्रव्य (धन) जाता जाने वहाँ इच्छापूर्वक अल्प द्रव्य देने का उपाय करता है। यह तो दृष्टान्त है; उसी प्रकार धर्मी जीव को कषायमंदता की भावना नहीं है, आस्रव की भावना करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है; परन्तु धर्मी जीव अशुभ को टालकर शुभ में उपयोग लगाता है। वस्तुतः कर्म के कारण विकार नहीं होता। जो कर्म के कारण विकार मानता है उसको स्वतन्त्र परिणमन की खबर नहीं है। कर्म जड़ है और विकारी परिणाम औदयिकभाव है। तत्त्वार्थसूत्र में औदयिकभाव को जीव का स्वतत्त्व कहा है। जो कर्म से पुण्य-पाप होना मानता है उसको सात तत्त्वों की श्रद्धा नहीं है। अजीव से आस्रव माने तो सात तत्त्व नहीं रहते। अज्ञानी जीव परद्रव्य के सम्बन्ध से विकार मानता है। कर्म अथवा पर द्रव्य विकार नहीं कराते। जीव स्वयं विकार करे तो कर्म को निमित्त कहते हैं।

धर्मी जीव को आत्मा का भान तो है; परन्तु जहाँ तक आत्मा में पूर्ण लीनता नहीं हुई है वहाँ तक उसे शुभभाव आता है। जिससमय जो अशुभ अथवा शुभभाव आता है वह आता ही है, उसमें फेरफार नहीं; परन्तु अज्ञानी की दृष्टि सच्ची नहीं है, उसको समझाते हैं। धर्मी जीव तो शुभाशुभ परिणामों का ज्ञाता है। व्यक्त (ज्ञानगोचर) रागादि उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है और अव्यक्त (ज्ञानगम्य न हो वे) रागादि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार का विषय है। ज्ञानी उन्हे जानता है। अज्ञानी कहता है कि जब द्रव्य, गुण शुद्ध है तो फिर पर्याय में अशुद्धता कहाँ से आई? कर्म में से आई- ऐसा वह मानता है। उसको अपनी पर्याय की स्वतन्त्रता का पता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि अशुभ परिणाम में तीव्र उल्टा पुरुषार्थ है और शुभ परिणाम में मंद उल्टा पुरुषार्थ है और शुद्ध परिणाम में सच्चा (सुल्टा) पुरुषार्थ है। अज्ञानी शुभ परिणाम को धर्म मानता है अथवा कर्म से विकार हुआ मानता है अथवा शुभपरिणाम आते ही नहीं- ऐसा मानता है- यह बड़ी भूल है।

ज्ञानी समझता है कि पर्याय में जो विकार होता है वह मेरे अपराध से है, कर्म से वह नहीं होता और जो विकार होता है वह मूलस्वरूप में नहीं हैं। मूलस्वरूप तो ज्ञानानन्द है- ऐसी श्रद्धा- ज्ञान करना निश्चय है और जो शुभाशुभ राग आता है उसको जानना व्यवहार है। इस प्रकार दोनो का ज्ञान करना प्रमाण है। ज्ञानी शुभाशुभराग को हेय मानता है; परन्तु स्वरूप में स्थिर न रह सके तब बहुत कषायरूप अशुभ कार्य होता जाने वहाँ इच्छा करके भी अल्प कषायरूप शुभकार्य करने का उद्यम करता है।

इस प्रकार अनेक व्यवहार कार्यो का उत्थापन करके जो स्वच्छन्दपने को स्थापित करता है, उसका निषेध किया।

केवल निश्चयाभास के अवलम्बी जीव की प्रवृत्ति-

....अब, उसी केवल निश्चयावलम्बी जीवकी प्रवृत्ति बतलाते हैं :-

एक शुद्धात्मा को जानने से ज्ञानी हो जाते हैं- अन्य कुछ भी नहीं चाहिये; ऐसा जानकर कभी एकान्त में बैठकर ध्यानमुद्रा धारण करके 'मैं सर्व कर्मोपाधिरहित सिद्ध-समान आत्मा हूँ'- इत्यादि विचार से संतुष्ट होता है; परन्तु यह विशेषण किस प्रकार सम्भव है- ऐसा विचार नहीं है। अथवा अचल, अखण्ड, अनुपमादि विशेषण द्वारा आत्मा को ध्याता है; सो यह विशेषण अन्य द्रव्यों में भी संभवित है। तथा यह विशेषण किस अपेक्षा से हैं सो विचार नहीं है। तथा कदाचित् सोते-बैठते जिस-तिस अवस्था में ऐसा विचार रखकर अपने को ज्ञानी मानता है।....

जिसको आत्मा की यथार्थ प्रतीति और ज्ञान नहीं है; परन्तु अपने को ज्ञानी मानकर स्वच्छन्दतारूप प्रवर्तता हैं- ऐसे जीव की प्रवृत्ति का यह वर्णन है।

वह जीव एक शुद्धात्मा को जानने से ज्ञानीपना होना मानता है, अन्य किसी की भी आवश्यकता नहीं है- ऐसा जानकर किसी समय एकान्त में बैठकर ध्यानमुद्रा धारण कर 'मैं सर्व कर्म उपाधि से रहित सिद्ध समान शुद्ध आत्मा हूँ' -इत्यादि विचार से सन्तुष्ट होता है; परन्तु यह विशेषण किसप्रकार संभवित- असंभवित है- इसका विचार नहीं करता। अथवा अचल, अनुपम, अखण्ड आदि विशेषणों द्वारा आत्मा को ध्याता है; परन्तु ये विशेषण तो अन्य द्रव्यों में भी संभव है। तथा ये विशेषण किस अपेक्षा से है- इसका भी विचार नहीं करता। किसी भी समय सोते-बैठते किसी भी अवस्था में ऐसा विचार रखकर अपने को ज्ञानी मानता है।

एक शुद्धात्मा को जानने से वह ज्ञानीपना मानता है; परन्तु उसे सात तत्त्वों का पता नहीं है। अकेले आत्मा की श्रद्धा सम्यग्दर्शन नहीं है। अज्ञानी को छह द्रव्यों का पता नहीं है। किसी समय ध्यान में बैठ जाता है और विचारता है कि मैं सर्वकर्म से रहित हूँ, सिद्ध समान हूँ- इत्यादि विचार से सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु सर्वकर्म उपाधि रहित विशेषण किस अपेक्षा से लागू पड़ता है; इसका उसे पता नहीं है और मात्र शब्द रट लेता है। वस्तुतः वह मिथ्यात्व का घोटन करता है।

तथा भगवान आत्मा अचल है, अखण्डित है- ऐसा कहता है। सो ऐसे तो छहों द्रव्य अचल और अखण्डित है; परन्तु आत्मा में अचलपना किसप्रकार है, इसका उसे पता नहीं है। तथा वह कहता है कि आत्मा अनुपम है; परमाणु आदि पाँच द्रव्य भी अनुपम है, किसी को किसी की उपमा नहीं है। तथा सभी द्रव्य अचिन्त्य और अतीन्द्रिय है। आत्मा को अचिन्त्य और अतीन्द्रिय किसलिये कहा, इसका उसको पता नहीं है। -ऐसे विशेषण तो अन्य द्रव्यों में भी है; इसलिये ये लक्षण सच्चे नहीं है। मैं परमानन्द हूँ, अभेद हूँ- इत्यादि शब्द बोल जाए; परन्तु उसे वस्तु क्या है? कैसी है? इसका पता नहीं है और सोते-बैठते जिस- तिस अवस्था में ऐसे विचार रखकर अपने को ज्ञानी मान लेता है।

....तथा ज्ञानी के आस्रव-बन्ध नहीं है- ऐसा आगम में कहा है; इसलिये कदाचित् विषय-कषायरूप होता है, वहाँ बन्ध होने का भय नहीं है, स्वच्छन्द हुआ रागादिकरूप प्रवर्तता है।

सो स्व-पर को जानने का तो चिह्न वैराग्यभाव है। सो समयसार में कहा है:-

"सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः।"

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि के निश्चयसे ज्ञान-वैराग्यशक्ति होती है।

फिर कहा है :-

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वशून्याः ।।137।।

अर्थः- स्वयमेव यह मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरे कदाचित् बन्ध नहीं है- इस प्रकार ऊँचा फुलाया है मुँह जिन्होंने- ऐसे रागी वैराग्यशक्ति रहित आचरण करते हैं तो करो, तथा पाँच समिति की सावधानी का अवलम्बन लेते हैं तो लो; परन्तु वे ज्ञानशक्ति बिना आज भी पापी ही हैं। यह दोनों आत्मा-अनात्मा के ज्ञानरहितपने से सम्यक्त्वरहित ही हैं।....

ज्ञानी के आस्रव-बंध नहीं है- ऐसा आगम में कहा है; इसलिये किसी समय विषय -कषायरूप होता है वहाँ बंध होने का भय नहीं रहा, मात्र स्वच्छन्दी बनकर रागादिरूप प्रवर्तता है, पर्याय का विवेक नहीं करता। सात तत्त्वों को नहीं जानता और 'मै ज्ञानी हूँ' ऐसा मानकर स्वच्छन्दरूप प्रवर्तता है वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। उसको निश्चय का भान तो है नहीं, मात्र निश्चय का नाम लेकर अपने स्वच्छन्द का पोषण करता है।

शास्त्र में समकिती को आस्रव-बंध नहीं है- ऐसा कहा है वह तो दृष्टि की मुख्यता से कहा है; परन्तु पर्याय में आस्रव-बंध होते ही नहीं- ऐसा नहीं है। यदि पर्याय में विकार हो ही नहीं तो उसका अभाव करके वीतरागता प्रगट करना भी नहीं रहता।

वह, पर्याय में सिद्धदशा प्रगट न होने पर भी 'मैं कर्म रहित सिद्ध समान हूँ' -ऐसा मानकर सन्तुष्ट होता है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा को सिद्धमान कहा है; परन्तु उसे ऐसी दृष्टि तो प्रगटी नहीं है और पर्याय मे अपने को सिद्ध मानता है। पर्याय में रागादि विकार होता है उसे वह नहीं गिनता। तथा अचल, अनुपम, अखण्ड आदि विशेषणों से आत्मा का ध्यान करता है, परन्तु ऐसा अचलपना, अखण्डपना आदि तो जड़ में भी संभव है। उसको जीव के स्वभाव की तो खबर नहीं है और पर्याय का विवेक भी नहीं करता और कहता है कि ज्ञानी के आस्रव-बंध नहीं है- ऐसा 'आगम' में कहा है। नाम तो आगम का लेता है; परन्तु स्वयं को तो वैसी दृष्टि प्रगटी नहीं है और मैं भी ज्ञानी हूँ- ऐसे अभिमान से स्वच्छन्दतारूप प्रवर्तता है। सो सम्यग्दृष्टि के तो नियम से ज्ञान-वैराग्य होता हैं वहाँ उसे दृष्टि अपेक्षा से अबंध कहा है; परन्तु पर्याय में जितना राग है उतना तो बंधन है।

अविरत सम्यग्दृष्टि अपने को द्रव्य दृष्टि से अबंध जानता है; पर्याय से अपने को तृणतुल्य मानता है कि अहो! मेरी पर्याय में अभी पामरता है। स्वभाव में प्रभुता होने पर भी पर्याय में अभी बहुत अल्पता- पामरता है। अहो! कहाँ केवली की दशा, कहाँ संत-मुनियों का पुरुषार्थ! और कहाँ मेरी पामरता! इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को पर्याय का विवेक होता है। अभी (इस निश्चयाभासी ने) स्वभाव की दृष्टि करके पर्याय में मिथ्यात्व और अनन्तनुबंधी का अभाव तो किया नहीं, ज्ञान-वैराग्य का परिणमन तो हुआ नहीं और अभिमान से क्रोध-मान-मायादिरूप से स्वच्छन्दतारूप प्रवर्तता है। समयसार में कहा है कि-

अपने आप ही 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी बंध नहीं है' -इस प्रकार ऊँचा फुलाया है मुँह जिसने, ऐसे रागी वैराग्य शक्ति रहित आचरण करते हैं तो करो; तथा कोई पंचसमिति की सावधानी का अवलम्बन करते हैं तो करें; परन्तु ज्ञान शक्ति के बिना अभी भी वे पापी ही हैं। वे दोनो आत्मा- अनात्मा के ज्ञान रहितपने से सम्यक्त्व रहित ही है।

जिसको चैतन्य की रुचि नहीं है, विषयादिक की भिन्नता का भान भी नहीं है, विषय-कषाय में जो मिठास पूर्वक वर्तता है और वैराग्य शक्ति से रहित है; तथा आत्मा को पर्याय से भी शुद्ध मानकर अभिमान से स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वह पापी ही है। ऐसे जीव व्रत-समिति आदि करें तो भी वे निश्चय से पापी ही है। जिसको चैतन्य की दृष्टि नहीं है, अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होकर वैराग्य का परिणमन नहीं हुआ है और अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर प्रवर्तता है तो वह पापी ही है।

कहा है कि-

ज्ञानकला जिसके घट जागी। सो जगमाहिं सहज वैरागी।।
ज्ञानी मगन विषय-सुख मांही।यह विपरीत संभवै नाहीं।।

जिसके अन्तर में भेदज्ञानरूपी कला जागृत हुई है, चैतन्य के आनन्द का वेदन हुआ है- ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं। वह ज्ञानी विषय- कषायों में मग्न हो ऐसा विपरीतपना संभव नहीं है। जिसको विषयों में सुखबुद्धि है वह जीव तो ज्ञानी ही नहीं है। अन्तर के चैतन्यसुख के अलावा सभी विषय सुखों के प्रति ज्ञानी को उदासीनता होती है। अभी अन्तर में आत्मा का भान न हो, तत्त्व का कुछ विवेक न हो, वैराग्य न हो और ध्यान में बैठकर अपने को जो ज्ञानी मानता है वह तो स्वच्छन्दता का सेवन करता है। वह ज्ञान-वैराग्य शक्ति के बिना पापी ही है, उसको आत्मा और अनात्मा का भेदज्ञान ही नहीं है। यदि स्व-पर का भेदज्ञान होवे तो पर द्रव्य के प्रति वैराग्य हुए बिना नहीं रहे।

अज्ञानी जीव स्वच्छन्दी बनकर अशुभ परिणामरूप प्रवर्तता है; परन्तु स्व-पर को जानने का चिह्न तो वैराग्य भाव है। समयसार में भी कहा है कि सम्यग्दृष्टि के निश्चय से ज्ञान-वैराग्य शक्ति होती है। ज्ञानी के शक्तिप्रमाण राग का अभाव वर्तता है। चौथे गुणस्थानवर्ती समकिती के अनन्तानुबन्धी के राग का अभाव वर्तता है। वैराग्य का सही अर्थ समझना चाहिये। स्त्री-पुत्रादि का छोड़ना मात्र ही वैराग्य नहीं है। अन्तर में अनन्तानुबंधी राग का अभाव होना वैराग्य है। चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र होता है। वह ज्ञानी पूर्णस्वभाव की तरफ ढलते हुए अनन्तानुबन्धी के राग से हट जाता है।

ज्ञानी को ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति और राग का अभाव होकर आंशिक चारित्र प्रगट होता है। श्रद्धागुण अखण्ड स्वभाव को पकड़ता है, उसका विषय 'एक स्व' है और ज्ञान का विषय स्व-पर-दोनो है। ज्ञान अखण्ड स्वभाव और राग-दोनो को जानता है। चारित्र क्रम-क्रम से बढ़ता है, उसका स्वभाव क्रम-क्रम से बढ़ना ही है।

सम्यक् श्रद्धा के साथ अनन्तानुबंधी के अभावरूप वैराग्य होता ही है। राग में अथवा पर में सुख माननेरूप दृष्टि ज्ञानी के नहीं होती। ज्ञान रहित अकेला मंदकषायरूप वैराग्य तो हेय ही है। भरत चक्रवती सम्पूर्ण दिन राजपाट में रहते थे तो भी वे समकिती हैं और इसी भव से मोक्ष जाने वाले हैं- ऐसा दिव्यध्वनि में आया। छह खण्ड का राज्य करने पर भी यह क्या? ऐसी किसी महाजन को शंका हुई, भरतजी को इस बात का परिज्ञान होने पर उन्होने उसे बुलाया और कहा- तुम अपने हाथ में यह तेल से भरा कटोरा लो और पूरा नगर ऐसा सजाया गया है यह देखो; परन्तु ध्यान रहे कि यदि इस कटोरे में से तेल की एक भी बूंद नीचे गिर गई तो साथ में रहने वाला सिपाही तुम्हें मार देगा। महाजन ने मरण के भय से नगर की किसी भी सजावट की वस्तु को नहीं देखा। (क्योकि उसका ध्यान तो मात्र कटोरे पर था।)

जैसे महाजन मरण के भय से बाहर की शोभा का ख्याल नहीं परन्तु मात्र कटोरे का ही ख्याल रखता है; उसी प्रकार धर्मी जीव को चैतन्य स्वभाव का ख्याल रहा करता है। वह बाहर में कहीं सुख नहीं मानता। अज्ञानी जीव को दृष्टि के स्वरूप का पता नहीं है और वह आस्रव-बंध के परिणामों को भी नहीं गिनता। उससे कहते हैं कि धर्मी जीव को निश्चय से ज्ञान-वैराग्य शक्ति होती है।

अज्ञानी को आत्मा का भान नहीं है और वह रागी होकर वैराग्य रहित आचरण करता है। अन्तर में विरागता चाहिये वह उसके नहीं है। उसके अनन्तानुबन्धी के अभाव की विरागता नहीं है और पुण्य-पाप के भावों में मूर्छा है। उसे आत्मवस्तु का भान नहीं है। जो पुण्य-पाप और निमित्त का प्रेमी है वह मिथ्यादृष्टि है, वह वैराग्य शक्ति रहित है। परवस्तु मेरे से निराली (भिन्न) है, शरीर, कर्म मेरे नहीं हैं, जो कमजोरीवश पुण्य-पाप के भाव होते हैं वह मूलस्वरूप में नहीं है- ऐसा जिसको भान नहीं है वह समकित और वैराग्य रहित है।

ईर्यासमिति अर्थात् देखकर चलना, छियालीस दोष रहित निर्दोष आहार लेना- इस प्रकार आत्मा के भान बिना अज्ञानी पाँच समितियों का पालन करे तो करो; इससे कुछ हित नहीं है; क्योंकि वह राग का प्रेमी है। ज्ञानी को शुभ-अशुभ राग का खेद वर्तता है और अज्ञानी को उत्साह वर्तता है। अज्ञानी पर से उदास नहीं हुआ है। वह पंच महाव्रतों को अपना आधार मानता है। जो देव-शास्त्र-गुरु का एकान्त प्रेमी हुआ है वह ज्ञानानन्द स्वभाव की रुचि रहित मिथ्यादृष्टि है। अपने लिये बनाये हुए दोषरूप आहार को प्राण जाने पर भी न ले, तथापि द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि का शुभभाव पर अवलम्बन है, उसकी पर में सावधानी है, स्वरूप में सावधानी नहीं। मेरा ज्ञानस्वरूप व्यवहार से निमित्त और राग को जानने वाला है- ऐसा भान उसे नहीं है। ज्ञान शक्ति बिना अर्थात् ज्ञान की प्रगट पर्याय किये बिना अभी भी वह पापी है। ज्ञान शक्ति तो ध्रुव है, उसका अवलम्बन लेकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना चाहिये, वे प्रगट नहीं किये; इसलिये वह अभी पापी ही है। पाँच महाव्रतों को पालन करे, पुण्य करे तो भी पापी ही कहा है। निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से पुण्य परिणाम भी पाप ही है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है और पाँच महाव्रत व अट्ठाईस मूलगुणों का पालन वह अनात्मा है, आत्मा नहीं। राग आस्रव है, वह स्वरूप में नहीं है; तथापि जिसको उसका प्रेम है उसको आत्मा का प्रेम नहीं है। उसको आत्मा और अनात्मा का भेदज्ञान नहीं है। वह पुण्य में धर्म नहीं होने पर भी उसको धर्म मानता है- इस कारण उसको पापी कहा है।

एक जीव सामान्य रीति से पापभाव छोड़े- अनीति न करे, तो वर्तमान परिणाम की अपेक्षा ठीक है- ऐसा प्रथमानुयोग में कहा जाता है; परन्तु यहाँ तो महाव्रत से धर्म मानने वाले को भी दृष्टि अपेक्षा से पापी कहा है। इसी ग्रन्थ में आगे कहा है कि "जैन धर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया जाता है; इस कारण इस मिथ्यात्व को सात व्यसनों से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है।" लोगो को मिथ्यात्व की खबर नहीं है। सात व्यसन आदि के महापाप से भी मिथ्यात्व का पाप महान है। जगत में निन्दा-प्रशंसा के विकल्प से शिथिल होना योग्य नहीं है। दुनिया में हमारी प्रतिष्ठा नहीं रहेगी- इस विचार से शिथिल होना योग्य नहीं है। इसलिये सर्वप्रथम मिथ्यात्व को छोड़ा जाना चाहिये। सर्वज्ञ परमात्मा के न्याय से विरूद्ध प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है।

....फिर पूछते हैं- पर को पर जाना तो परद्रव्यों में रागादि करने का क्या प्रयोजन रहा? वहाँ वह कहता है- मोह के उदय से रागादिक होते हैं। पूर्वकाल में भरतादिक ज्ञानी हुए, उनके भी विषय-कषायरूप कार्य हुआ सुनते हैं।

उत्तरः- ज्ञानी के भी मोह के उदय से रागादिक होते हैं यह सत्य है; परन्तु बुद्धिपूर्वक रागादिक नहीं होते। उसका विशेष वर्णन आगे करेंगे।

तथा जिसके रागादिक होने का कुछ विषाद नहीं है, उसके नाश का उपाय भी नहीं है, उसको रागादिक बुरे हैं- ऐसा श्रद्धान भी नहीं सम्भवित होता। और ऐसे श्रद्धान बिना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? जीवाजीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने का प्रयोजन तो इतना ही श्रद्धान है।

तथा भरतादिक सम्यग्दृष्टियों के विषय-कषायों की प्रवृत्ति जैसे होती है वह भी विशेष रूप से आगे कहेंगे। तू उनके उदाहरण से स्वच्छन्द होगा तो तुझे तीव्र आस्रव-बन्ध होगा।

वही कहा है :-

"मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।"

अर्थः- ज्ञाननयका अवलोकन करने वाले भी जो स्वच्छन्द मन्दउद्यमी होते हैं, वे संसार में डूबते हैं।

और भी वहाँ "ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं" इत्यादि कलश में तथा "तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यत ज्ञानिनः" इत्यादि कलश में स्वच्छन्दी होने का निषेध किया है। बिना इच्छा के जो कार्य हो वह कर्मबन्ध का कारण नहीं है। अभिप्राय से कर्त्ता होकर करे और ज्ञाता रहे यह तो बनता नहीं है- इत्यादि निरूपण किया है।

इसलिये रागादिक को बुरे- अहितकारी जानकर उनके नाश के अर्थ उद्यम रखना।

वहाँ अनुक्रम से पहले तीव्र रागादि छोड़ने के अर्थ अशुभ कार्य छोड़कर शुभ में लगना, और पश्चात् मन्दरागादि भी छोड़ने के अर्थ शुभ को भी छोड़कर शुद्धोपयोगरूप होना।....

हम पूछते हैं कि पर को पर जाना तो पर द्रव्य में राग करने का क्या प्रयोजन है? देव-गुरु-शास्त्र, कर्म तथा पर की क्रिया भिन्न है- ऐसा जाना हो तो पर में राग-द्वेष करने का क्या प्रयोजन है? सम्यग्ज्ञान में समस्त ज्ञेय समान है, कोई इष्ट-अनिष्ट नहीं है। अनुकूल शरीर होवे और आहर-पानी अच्छा मिले तो लाभ हो और बुखार आवे तो नुकसान हो- ऐसा राग-द्वेष करने का क्या प्रयोजन है?

शरीरादि पर है, उसकी कैसी भी अवस्था हो; परन्तु उससे लाभ-हानि मानना मिथ्यात्व है।

प्रश्नः- मोह के उदय से रागादि होते हैं, पूर्व में भरतादि ज्ञानी हुए उनके भी विषय कषाय का राग तो था?

उत्तरः- ज्ञानी को अभी चारित्रमोहजन्य अस्थिरता है; इसलिये रागादिक होते हैं- यह तो सत्य है; परन्तु उनके राग करने का अभिप्राय नहीं है, रुचि नहीं है; बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता।

बुद्धिपूर्वक अर्थात् रुचिपूर्वक- अभिप्राय पूर्वक रागादिक धर्मी के नहीं होते। परन्तु जिसको अभी रागादिक होने का कुछ खेद नहीं हैं, भय नहीं हैं; स्वच्छन्दपने रागादिक में प्रवर्तता है, उसके तो श्रद्धा ही सच्ची नहीं है। राग होता है वह बुरा है- दोष है।

अरे! पर्याय में अभी पामरता है; इसलिये यह दोष हो जाता है- इस प्रकार पाप का भय हो- पापभीरूता हो- ऐसे विवेक बिना तो सम्यग्दृष्टिपना होता ही नहीं। जिसको परभाव का कुछ भय नहीं है वह तो मिथ्यादृष्टि पापी ही है। धर्मीजीव को रागादिक भाव करने का अभिप्राय तो नहीं है और वे अस्थिरता के राग का भी अभाव करने के लिये बारम्बार चैतन्यस्वरूप में लीनता का उद्यम किया करते हैं। भरत चक्रवती आदि को अन्तर में राग रहित दृष्टि थी और अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव था। उनका उदाहरण लेकर मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दपने प्रवर्ते तो उसको तीव्र आस्रव-बंध होगा। मैं ज्ञानी हूँ, मुझे कोई दोष नहीं लगता- ऐसा मानकर जो स्वच्छन्दी और मन्द उद्यमी होकर प्रवर्तता है वह तो संसार में डूबता है। तथा परद्रव्य से जीव को दोष नहीं लगता- ऐसा कहा है; परन्तु जो ऐसा समझता है वह ज्ञानी निरर्गल स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं करता। परद्रव्य से दोष नहीं लगता- ऐसा समझने वाले को परद्रव्य के प्रति वैराग्य होता है। पर की रुचि करे, पर के कार्यो का अभिमान करे, स्वच्छन्दपने प्रवर्ते, तो वहाँ अपने अपराध से बंधन होता है। परद्रव्य के कर्त्तापने का अभिप्राय तो करे और "मैं ज्ञाता हूँ" -ऐसा कहे; परन्तु ऐसा कभी बन नहीं सकता। क्योंकि :-

करै करम सोई करतारा। जो जानै सो जाननहारा।।
जो करता नहिं जानै सोई। जानै सो करता नहिं होई।।

जो कर्त्तापना मानता है वह ज्ञाता नहीं रहता और जो ज्ञाता है वह कर्त्तापना नहीं मानता; इसलिये पर्याय में जो राग द्वेषादि विकारभाव होता है उसे बुरा जानना चाहिये और उस विकार को छोड़ने का उद्यम करना चाहिये। पहले अशुभ-पापभाव छूट जाते हैं और फिर शुभ हों तत्पश्चात् शुद्धोपयोग होने पर व्रतादि को शुभराग भी छूट जाता है। इसलिये पर्याय का विवेक रखकर शुद्धोपयोग का उद्यम रखना।

आशय यह है कि ज्ञानी को अपने पुरुषार्थ की कमजोरी है उसमें मोहकर्म निमित्त है। शत्रु को देखकर ज्ञानी को द्वेष नहीं होता तथा स्त्री के लिये प्रेम नहीं होता; परन्तु (द्वेष या प्रेम) अपनी कमजोरी से होता है। ज्ञानी को रुचिपूर्वक राग-द्वेष नहीं होते। उनको, 'राग हितकर है' -ऐसी बुद्धि नहीं होती। अतः दुश्मन को मारना चाहिये और

भक्तों का पालन करना चाहिये- ऐसी रुचि नहीं होती। भले ही भाषा में कथन आता है कि मैं रक्षण करूँगा; परन्तु भाव में अन्तर है। चक्रवती के 64000 पुत्र हों और उन्हें कहे कि मेरी प्रजा है; परन्तु अन्तर में भाव का भासन अलग है। ज्ञानी पर के प्रेम के लिये कुछ नहीं करता, पर द्रव्य को अपना नहीं मानता। भाषा में भले ही ऐसा आता है; परन्तु परद्रव्य और राग मेरा स्वरूप नहीं है- ऐसा अन्तर में मानता है। यथार्थ दृष्टि होने के पश्चात् परद्रव्य से प्रेम होता ही नहीं। अनेक प्रकार का भोजन खाता दिखने पर भी भान है कि राग-द्वेष दुःखदायक है। आत्मा आनन्दस्वरूप है और विकार मेरा स्वरूप नहीं है- ऐसा भान होने पर पर्याय में आनन्द का अंश प्रगट हुआ तब राग रहित दशा हुई- यह अनेकान्त है।

परद्रव्य को अपना मानकर उनसे लाभ मानना एकान्त दृष्टि है। परद्रव्य है वह परद्रव्य है और स्वद्रव्य में उसका अभाव है। तथा विकार, विकार है और स्वभाव में उसका अभाव है- ऐसा निर्णय ज्ञानी को है। द्रव्य में ज्ञान और आनन्द तो है; परन्तु स्वभाव के आश्रय से स्वसंवेदन ज्ञान और आनन्द पर्याय में प्रगट होने पर अनेकान्त स्वभाव प्रगटा। अनेकान्त पूर्वक प्रगट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। ऐसे समकिती को रुचिपूर्वक राग-द्वेष के भाव नहीं होते।

समकिती को पुरुषार्थ की कमजोरी है; इसलिये रागादि होते हैं, उसमें कर्म निमित्त है। यदि पुरुषार्थ की कमजोरी न हो तो केवलज्ञान होना चाहिये; परन्तु अभी राग वर्तता है। तथापि परवस्तु राग कराती है- ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। विकार में परद्रव्य नहीं हैं और परद्रव्य में विकार नहीं है। विकार में स्वभाव नहीं है और स्वभाव में विकार नहीं है- ऐसे अनेकान्त का भान ज्ञानियों को वर्तता है, इसलिये उनको बुद्धिपूर्वक (अभिप्राय पूर्वक) राग नहीं होता एक समय में सम्पूर्ण वस्तु पूर्ण है- ऐसा उनको भान है। स्वभाव के कारण विकार नहीं है और विकार के कारण स्वभाव नहीं है- ऐसे अनेकान्त का भान होने से ज्ञानियों को रुचिपूर्वक रागादि नहीं होते, इसका विशेष वर्णन आगे करूँगा। (ऐसा पण्डितजी ने लिखा है पर आगे वह वर्णन नहीं हो सका है; क्योंकि पण्डितजी की आयु पूर्ण हो जाने से उनका देह परिवर्तन हो गया था)

जिस जीव को सात तत्त्वों की श्रद्धा में आस्रव, बंध का खेद नहीं वर्तता अर्थात् उन्हे हेय नहीं मानता वह स्वच्छन्दी है। समकिती जीव आस्रव-बंध को हेय मानता है। मिथ्यादृष्टि आस्रव-बंध को हेय नहीं मानता और स्वभाव सन्मुख होकर उनके नाश का उपाय नहीं करता। स्वभाव उपादेय है और आस्रव-बंध हेय है- ऐसा अज्ञानी को भान नहीं है। ज्ञानस्वभाव के सन्मुख ढलकर, स्वभाव को उपादेय मानकर राग की रुचि छूटना- यह राग का हेयपना है। स्वभाव उपादेय है और राग-द्वेष हेय है, मात्र ऐसा विकल्प उठाना कार्यकारी नहीं है। अज्ञानी के विकल्प के अभाव करने का उद्यम नहीं है। वह विकार से विमुखता और स्वभाव की सन्मुखता नहीं करता। रागादि विकार हेय है- ऐसा श्रद्धान अज्ञानी के संभव नहीं है। आत्मा उपादेय है, संवर-निर्जरा कथंचित उपादेय है और पुण्य-पाप,आस्रव-बंध हेय है- ऐसे भान बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। जीव-अजीवादि सातों तत्त्वों के श्रद्धान का प्रयोजन यह है कि पुण्य-पापादि को हेय जानना और स्वभाव सन्मुख होने का प्रयत्न करना। इसमें सातों तत्त्व आ जाते हैं।

जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष की अपेक्षा करनी चाहिये तथा अजीव, आस्रव और बंध की उपेक्षा करनी चाहिये। स्वभाव की सन्मुखता और रागादिक की विमुखता में सातों तत्त्व आ जाते हैं। अज्ञानी जीव पुण्य-पाप को बुरे नहीं मानकर भले मानता है- इस कारण उसकी श्रद्धा मिथ्या है। भरतादि धर्मात्माओं के विषय-कषायादि के परिणाम होते हैं और जड़ आदि की प्रवृत्ति जड़ के कारण होती है; परन्तु धर्मी मानता है कि जड़ की पर्याय जड़ के कारण होती है तथा रागादि परिणाम बुरे हैं और स्वभाव उपादेय है। यदि अज्ञानी जीव धर्मात्मा के उदाहरण से स्वच्छन्दी होवे तो तीव्र आस्रव-बंध को प्राप्त करेगा।

श्री समयसार कलश में कहा है कि "इस ज्ञाननय का अवलोकन करने वाले भी जो स्वच्छन्दी और मंद उद्यमी होते हैं वे संसार में डूबते हैं।" रागादि मेरा कर्तव्य नहीं हैं, देहादि मेरे नहीं हैं, मैं ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति हूँ; पर की क्रिया का कर्त्ता व्यवहार से भी नहीं हूँ- ऐसी अन्तर दृष्टि खिली नहीं और स्वच्छन्दता में जुड़ जाते है और मैं शुद्ध हूँ- ऐसा स्वरूप का पुरुषार्थ नहीं करते वे स्वच्छन्दी हैं। मात्र ज्ञाननय की बातें

करते हैं और मानते हैं कि हम समकिती हैं; परन्तु समकिती को पाप का भाव होता है तो उसका खेद और भय वर्तता है। जिसको पाप का भय और खेद नहीं है तथा स्वरूप का अनुभव नहीं है वह संसार में डूबता है।

तथा वहीं अन्य कलश (151 व 166) में स्वच्छन्दी होने का निषेध किया है। आत्मा जड़ और राग का जानने वाला है। वे कार्य अपना मानकर करना उचित नहीं है। अज्ञानी जीव मंद उद्यम करता है, इसलिये थोड़ा पुरुषार्थ करता है- ऐसा नहीं है। वह, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ- ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता और पर की कर्तत्वबुद्धि का पुरुषार्थ करता है, इसलिये मंद उद्यमी कहा है। ज्ञानी को पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं; परन्तु उसे उनका खेद वर्तता है।

पर के कार्य स्वतन्त्ररूप से होते हैं और मैं जाननहार हूँ- ऐसे अभिप्राय वाले को बंध नहीं होता। मैं पर को समझा सकता हूँ, मैंने पर को समझाया है- इसप्रकार जिसको ऐसे पर की पर्याय का अभिमान वर्तता है वह ज्ञाता रह सके- ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानी रागादि को खराब जानता है और अज्ञानी भले मानता है।

सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् प्रथम अव्रतभाव छोड़ना और शुभ परिणाम में लगना। प्रथम शुभ परिणाम नहीं छूटते; परन्तु अव्रत के अशुभ परिणाम छूटते हैं। मिथ्यादृष्टि को व्रत नहीं होते; इसलिये उसकी यहाँ बात नहीं है। समकिती को अशुभ परिणाम छोड़ना, इसका यह अर्थ नहीं है कि अशुभ परिणाम आये थे उन्हें छोड़ना। यहाँ तात्पर्य यह है कि उसको स्वभाव की रुचि हुई है; अतः तीव्र राग छूटकर मन्द राग रहता है। तत्पश्चात् जो पाँचवें, छठवें गुणस्थान में व्रतादि का मंदराग होता है उसे छोड़कर सातवें गुणस्थान की स्वरूप रमणता करना।

अज्ञानी मानता है कि मैं हूँ तो भाषा बोली जाती है-इस प्रकार जिसको पर के कर्त्तत्वपने सहित इच्छा है वह स्वच्छन्दी है; इस कारण उसको बंध होता है। ज्ञानी को अभिप्राय पूर्वक अर्थात् पर के कर्त्तत्व सहित तथा राग के कर्त्तत्व सहित इच्छा नहीं होती-इस कारण वह स्वच्छन्दी नहीं है। जिसको सच्ची दृष्टि हुई है उसको अशुभ छोड़ने के पश्चात् शुभ छोड़कर स्वरूप में रमणता करना चाहिये।

यहाँ मिथ्यादृष्टि की बात नहीं है। मिथ्यादृष्टि ने तो अशुभभाव बहुत बार छोड़े हैं और शुक्ललेश्या के परिणाम किये हैं। अभव्य मिथ्यादृष्टि भी शुक्ललेश्या के परिणाम करके नौवें ग्रैवेयक जाता है। मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ-ऐसे भान बिना व्रत,तप नहीं होते; अतः यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो स्वच्छन्दी को उपदेश देते है कि जो ज्ञानी हो वह अशुभ अव्रत के परिणाम छोड़कर, पश्चात् शुभ परिणाम छोड़कर स्वरूप में लीन होता है। पुण्य-पाप की क्रिया रुक जाये और अन्तर शुद्धि हो वह चारित्र है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग कभी-कभी होता है और थोड़े काल रहता है। वह जीव अव्रत के परिणाम को बुरा मानता है; अतः उन्हें छोड़कर व्रत, तप के परिणामों में रहता है।

आठ कर्मो के स्थिति और अनुभागबंध में कषाय निमित्त कारण है और प्रकृत्ति तथा प्रदेशबंध में योग निमित्त है। उस कषाय में मिथ्यात्व नहीं होता तो मिथ्यात्व कहाँ गया ? तो कहते हैं कि मिथ्यात्व बड़ी कषाय है, वह आठों कर्मो में तीव्र रस पकने में निमित्त है। मिथ्यात्व महाअशुभ है; इसलिये उस अशुभ को सर्वप्रथम छोड़ना और पश्चात् अव्रत के अशुभभाव छोड़ना, तत्पश्चात् व्रत के शुभ परिणाम छोड़कर शुद्ध में रहना।

कोई कहे कि चौथे, पाँचवे गुणस्थान में भूमिकानुसार शुभ परिणाम नहीं आते, तो वह मूढ़ है और वे परिणाम आते हैं, इसलिये धर्म होता है- ऐसा मानने वाला भी मूढ़ है। इसलिये जैसा है वैसा समझकर अशुभ छोड़कर शुभ कार्य में लगना और शुभ को छोड़कर शुद्धोपयोगरूप होना।

....तथा कितने ही जीव अशुभ में क्लेश मानकर व्यापारादि कार्य व स्त्री-सेवनादि कार्योको घटाते हैं, तथा शुभ को हेय जानकर शास्त्राभ्यासादि कार्यो में नहीं प्रवर्तते हैं, वीतरागभावरूप शुद्धोपयोग को प्राप्त हुए नहीं हैं; इसलिये वे जीव अर्थ, काम, धर्म, मोक्षरूप पुरुषार्थ से रहित होते हुए आलसी-निरूद्यमी होते हैं।

उनकी निन्दा पंचास्तिकाय की व्याख्या में की है। उनके लिये दृष्टान्त दिया है कि जैसे बहुत खीर-शक्कर खाकर पुरुष आलसी होता है व जैसे वृक्ष निरुद्यमी हैं; वैसे वे जीव आलसी-निरुद्यमी हुए हैं।....

कितने हो जीव व्यापारादि व स्त्री सेवनादि कार्यों को तो घटाते हैं; परन्तु शुभ को हेय जानकर शास्त्राभ्यासादि में नहीं प्रवर्तते और वीतरागभावरूप शुद्धोपयोग को भी प्राप्त नहीं हुए, वे जीव धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ से रहित होकर आलसी निरुद्यमी होते हैं। पंचास्तिकाय शास्त्र की व्याख्या में उनकी निन्दा की है। वहाँ दृष्टान्त दिया है कि जैसे बहुत घी, खॉड खाकर पुरुष आलसी होता है व जैसे वृक्ष निरुद्यमी है, वैसे ही ये जीव आलसी-निरुद्यमी हुए हैं।

शास्त्राभ्यास और दया, दानादि व्यवहार धर्म है। पुण्य-पाप से रहित मोक्ष पुरुषार्थ है। स्त्री, पुत्र, परिवार, व्यापार आदि छोड़ा, इसलिये अर्थ और काम का पुरुषार्थ छोड़ा और दया-दानादि के शुभभाव नहीं करता इस प्रकार चारों प्रकार के पुरुषार्थ से रहित हुआ है।

आत्मा चैतन्यमूर्ति है जो उसकी जागृति नहीं करता और शुभभाव नहीं करता वह आलसी है। यहाँ अभिप्राय शुभ की स्थापना का नहीं है; परन्तु अज्ञानी की विपरीतता बतानी है। राग मन्द करे तो पर द्रव्य को जानने का क्षयोपशम होता है और पुण्य-पाप रहित आत्मा की रुचि करे तो आत्मा को जानने का उघाड़ होता है। यहाँ कहते हैं कि जो शुद्धस्वभाव को नहीं जानता और शुभ परिणाम नहीं करता वह आलसी बनकर रहता है, उसकी यहाँ निन्दा की है।

....अब इनसे पूछते हैं कि तुमने बाह्य तो शुभ-अशुभ कार्यों को घटाया, परन्तु उपयोग तो बिना आलम्बन के रहता नहीं है; तो तुम्हारा उपयोग कहाँ रहता है? सो कहो।

यदि वह कहे कि आत्मा का चिंतवन करता है, तो शास्त्रादि द्वारा अनेक प्रकार से आत्मा के विचार को तो तुमने विकल्प ठहराया, और आत्मा का कोई विशेषण जानने में बहुत काल लगता नहीं है, बारम्बार एकरूप चिंतवन में

छद्मस्थ का उपयोग लगता नहीं है, गणधरादिक का भी उपयोग इस प्रकार नहीं रह सकता, इसलिये वे भी शास्त्रादि कार्यों में प्रवर्तते हैं, तेरा उपयोग गणधरादिक से भी कैसे शुद्ध हुआ मानें? इसलिये तेरा कहना प्रमाण नहीं है।

जैसे कोई व्यापारादि में निरुद्यमी होकर निठल्ला जैसे-तैसे काल गंवाता है; उसी प्रकार तू धर्म में निरुद्यमी होकर प्रमाद सहित यों ही काल गंवाता है। कभी कुछ चिंतवनसा करता है, कभी बातें बनाता है, कभी भोजनादि करता है; परन्तु अपना उपयोग निर्मल करने के लिए शास्त्राभ्यास, तपश्चरण, भक्ति आदि कर्मों में नहीं प्रवर्तता। सूना-सा होकर प्रमादी होने का नाम शुद्धोपयोग ठहराता है। वहाँ क्लेश थोड़ा होने से जैसे कोई आलसी बनकर पड़े रहने में सुख माने वैसे आनन्द मानता है।

अथवा जैसे कोई स्वप्न में अपने को राजा मानकर सुखी हो; उसी प्रकार अपने को भ्रम से सिद्ध समान शुद्ध मानकर स्वयं ही आनन्दित होता है। अथवा जैसे कहीं रति मानकर सुखी होता है; उसी प्रकार कुछ विचार करने में रति मानकर सुखी होता है, उसे अनुभवजनित आनन्द कहता है। तथा जैसे कहीं अरति मानकर उदास होता है; उसी प्रकार व्यापारादिक, पुत्रादिक को खेद का कारण जानकर उनसे उदास रहता और उसे वैराग्य मानता है- सो ऐसा ज्ञान-वैराग्य तो कषायगर्भित है। वीतरागरूप उदासीन दशा में जो निराकुलता होती है वह सच्चा आनन्द, ज्ञान, वैराग्य ज्ञानी जीवों के चारित्रमोह की हीनता होने पर प्रगट होता है।

तथा वह व्यापारादिक क्लेश छोड़कर भोजनादि द्वारा सुखी हुआ प्रवर्तता है और वहाँ अपने को कषायरहित मानता है; परन्तु इस प्रकार आनन्दरूप होने से तो रौद्रध्यान होता है। जहाँ सुखसामग्री को छोड़कर दुःखसामग्री का संयोग होने पर संक्लेश न हो, राग-द्वेष उत्पन्न न हों; तब निःकषायभाव होता है।

ऐसी भ्रमरूप उनकी प्रवृत्ति पायी जाती है।....

अब उनसे पूछते हैं कि तुमने बाह्य तो शुभ-अशुभ कार्यो को घटाया; परन्तु उपयोग तो अवलम्बन बिना रहता नहीं, तो तुम्हारा उपयोग कहाँ रहता है? यदि वह कहे कि आत्मा का चिन्तवन करता है; तो शास्त्रादि द्वारा अनेक प्रकार के आत्मा के विचारों को तो तूने विकल्प ठहराया है और आत्मा का कोई विशेषण जानने में लम्बा काल नहीं लगता, बारम्बार एकरूप चिन्तवन में छद्मस्थ का उपयोग लगता नहीं हैं। श्री गणधरादि का भी उपयोग इस प्रकार नहीं रह सकता- इस कारण वे भी शास्त्रादि कार्यो में प्रवर्तते है; तो तेरा उपयोग श्री गणधरादि से भी शुद्ध हुआ कैसे माने? इस कारण तेरा कहना प्रमाण नहीं है।

यहाँ अज्ञानी कहता है कि हमको शुभराग नहीं आता और आत्मा के चिन्तवन में रहते हैं, तो यह बात मिथ्या है। गणधर भगवान ने अन्तरर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना की- ऐसे महान धर्मात्मा को भी शुभराग आता है और वे भगवान की वाणी सुनते हैं, परन्तु समझते हैं कि शुभराग के कारण ज्ञान नहीं बढ़ता। गणधर को शुभराग आता है तब अवलम्बन लिये बिना नहीं रहा जाता। शुभ राग आता है तब आत्मा का अवलम्बन नहीं होता; परन्तु पर के ऊपर लक्ष्य जाता है। भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय के परिणाम राग हैं, वे अवलम्बन के बिना नहीं होते; इसलिये तेरा कहना प्रमाण नहीं हैं। वस्तुतः राग और राग का निमित्त क्या होना चाहिये- इसका अज्ञानी को पता नहीं है।

जैसे कोई व्यापारादिक में निरुद्यमी होकर जैसे-तैसे काल गँवाता है; उसी प्रकार तू भी धर्म में निरुद्यमी होकर व्यर्थ काल गंवाता है।

जो चैतन्य का उधम करता है उसके विषय-कषाय सहज ही मन्द होते हैं। जो चैतन्य का उद्यम नहीं करता, स्वाध्याय आदि नहीं करता और प्रमादी होकर वृक्ष की तरह पड़ा रहता है; परन्तु उपयोग तो शुभ अथवा अशुभ में प्रवर्तता है। गणधर देव जैसों को भी लम्बे काल तक शुद्धोपयोग नहीं रहता, उनको भी शास्त्र-स्वाध्याय आदि का शुभराग आता है, तो तू शुद्धोपयोग में कैसे रह सकता है? शुभराग आये बिना नहीं रहता। राग के काल में शुभ में स्वाध्यायादि में उद्यम न करे तो अशुभ पापभाव

होगा। इसलिये परिणाम का विवेक रखना चाहिये। निश्यचाभासी अज्ञानी जीव परिणाम का विवेक रखे बिना निरुद्यमी होता है और जैसे-तैसे प्रमाद में ही काल गॅवाता है। अन्तर में बहुत आनन्द की वृद्धि हो- बहुत शान्ति बढ़ जाये - इसका नाम शुद्धोपयोग है; परन्तु निरुद्यमी होकर जैसे-तैसे बैठे रहने का नाम शुद्धोपयोग नहीं है। कभी कुछ चिन्तवनसा करता है, और कभी विषयों में प्रवर्तता है, कभी भोजनादि में प्रवर्तता है; परन्तु शास्त्र का अभ्यास, पूजादि कार्यो को राग कहकर छोड़ता है। शुभ में नहीं वर्तता और अशुभ में वर्तता है, तथा शुद्धोपयोग का तो पता ही नहीं है।

जैसे कोई स्वप्न में अपने को राजा माने; उसी प्रकार यह निश्चयाभासी जीव भी स्वच्छन्दता से अपनी कल्पना रूप भ्रम से अपने को शुद्धोपयोगी-ज्ञानी मानकर प्रर्वतता है। मात्र शून्य जैसा प्रमादी होने का नाम शुद्धोपयोग ठहराकर, वहाँ क्लेश थोड़ा होने से जैसे कोई आलसी बनकर पड़े रहने में सुख मानता है, उसी प्रकार तू आनन्द मानता है। अथवा जैसे कोई स्वप्न में अपने को राजा मानकर सुखी होता है; उसी प्रकार तू अपने को भ्रम से सिद्धसमान शुद्ध मानकर अपने आप ही आनन्दित होता है अथवा जैसे कहीं रति मानकर कोई सुखी होता है, उसी प्रकार कुछ विचार करने में रति मानकर सुखी होता है। उसको तू अनुभव जनित आनन्द कहता हैं। तथा जैसे कोई कही अरति मानकर उदास होता है; उसी प्रकार व्यापारादि व पुत्रादि को खेद का कारण जानकर उनसे उदास रहता है, उसको तू वैराग्य मानता है; ऐसा ज्ञान-वैराग्य तो कषाय गर्भित है।

पर का दोष मानकर उससे उदासीनता करना तो द्वेष है। ज्ञानी को तो अन्तर में चैतन्य आनन्द का अनुभव हुआ है, वहाँ निराकुलता हुई है; इस कारण उनको पर द्रव्यों के प्रति सहज वैराग्य हो गया है। अज्ञानी को सच्चा वैराग्य नहीं है। ज्ञानी को तो अन्तर के सच्चे आनन्द का अनुभव हुआ है; इस कारण अन्तर में वीतरागतारूप उदासीनता है, पर में कभी स्वप्न में भी सुखबुद्धि नहीं रही है। ज्ञानी के अन्तर की शान्ति के अनुभव पूर्वक यथार्थ ज्ञान-वैराग्य होता है। उनके प्रतिक्षण राग घटता जाता है। अज्ञानी व्यापार-धंधा आदि छोड़कर मनोनुकूल भोजन आदि में प्रवर्तता है और

उसमें अपने को सुखी मानना है तथा वहाँ अपने को कषाय रहित मानता है; परन्तु इस प्रकार विषय-भोग में आनन्द मानता तो रौद्रध्यान है- पाप है। चैतन्य के अनुभवपूर्वक ऐसा वीतराग भाव प्रगटे कि अनुकूल सामग्री में राग न हो और प्रतिकूल सामग्री में द्वेष न हो तभी कषाय रहितपना हुआ कहलाता है।

सुख-दुःख की बाह्य सामग्री में राग-द्वेष न होने का नाम वीतरागता है; परन्तु अन्तर में द्वेषभाव से त्याग करे वह कोई वीतरागता नहीं है। प्रतिकूलता का संयोग होने पर अन्तर में क्लेश के परिणाम ही नहीं होना और सुख सामग्री मिलने पर अन्दर में आनन्द नहीं मानना- ऐसी चैतन्य में अन्तर लीनता होने का नाम वीतरागभाव है। मैं तो ज्ञानानन्द हूँ- ऐसी दृष्टि हुई, पश्चात् उसमें एकाग्रता होने पर ऐसा वीतरागीभाव परिणम गया है कि अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री में राग-द्वेष नही उपजता। उसके बदले पर्याय में राग-द्वेष, अल्पज्ञता है उसे न माने और शुद्धता ही मानकर भ्रम से वर्ते वह तो मिथ्यादृष्टि है।

अज्ञानी जीव स्त्री-पुत्रादिक में अरति-द्वेषभाव से उदासीन होता है। वह परद्रव्यों को दुःख का कारण मानकर उनके प्रति द्वेष करता है; अतः उस अज्ञानी के त्याग में वीतरागभाव न होकर द्वेषभाव है। उसे अन्तर स्वभाव के आनन्द का तो पता नहीं है, ज्ञानानन्द स्वरूप का तो भान नहीं है; अतः उसका त्याग कषाय गर्भित होता है; अज्ञानी उसको वैराग्य मानता है; परन्तु जहाँ परद्रव्य को दुःख का कारण माना वहाँ तो मिथ्यात्वरूप कषाय पड़ी है, वहाँ सच्चा वैराग्य नहीं होता। वीतरागरूप उदासीनता तो सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होती है और उस दशा में तो अन्तर ज्ञानानन्द स्वरूप के अवलम्बन से निराकुलता होती है। उसमें किसी के प्रति राग अथवा द्वेष नहीं होता। धर्मी जीव को सम्यग्दर्शन पूर्वक ऐसा ज्ञान, आनन्द और वैराग्य होता है; परन्तु जो परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानता है उसके तो राग-द्वेष का ही अभिप्राय हुआ।

सम्यग्दर्शन क्या है? -इसका भी अभी जिसको भान नहीं है उसको चारित्रमोह की हीनता नहीं होती। अर्थात् उसको वैराग्यभाव नहीं होता। इच्छानुसार भोजन आदि प्रवृत्ति मे वर्ते और उसमें अपने को अनाकुलता मानकर आनन्द मानता है; परन्तु

विषय-कषाय में आनंन्द मानना तो आर्त्त-रौद्रध्यान का परभाव है। धर्मी जीव को तो बाह्य विषय सामग्री का लक्ष्य छोड़कर अन्तर के चिदानन्द स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागी शान्ति होती है, उसके ही सच्चा वीतराग अकषायभाव होता है। उसको बाह्य सुख सामग्री की इच्छारूप राग नहीं होता। बाह्य प्रतिकूल सामग्री के प्रति द्वेष भी नहीं होता। परद्रव्य मुझे सुख-दुःख का कारण नहीं है- ऐसा भान तो समकिती को पहले से ही होता है और तदुपरान्त विशेष वैराग्य होने पर वह बाहर में सुख-दुःख की कल्पना भी नहीं करता, इसका नाम सच्ची उदासीनता है। देखो! समकिती को चौथे, पाँचवे गुणस्थान में किसी समय आर्त्तध्यान हो जाता है; परन्तु वह उसे पर के कारण से नहीं मानता। अज्ञानी परद्रव्य के कारण से सुख-दुःख मानता है। उसको मिथ्यात्व पूर्वक आर्त्तध्यान होता है। धर्मी को आर्त्तध्यान होता है; परन्तु वह मिथ्यात्व पूर्वक नहीं होता। उस समय भी उसको अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावरूप वैराग्य वर्त रहा है। बुद्ध आदि ने जो वैराग्य किया है वह तो पर द्रव्य को क्लेशरूप मानकर हुआ है। अर्थात् उनमें सच्चा वैराग्य नहीं है। अरेरे! देह दुःखदायक है, रोग जरा, मरण आदि तो दुःख है, सब क्षणिक है- इस प्रकार परद्रव्य को क्लेशरूप जानकर वैराग्य किया वह सच्चा वैराग्य नहीं है। अकेली अनित्यता के लक्ष्य से वैराग्य नहीं होता। अन्तर में ध्रुव ज्ञानानन्द वस्तु पड़ी है, उसके अवलम्बन से अनाकुल आनन्द होने पर बाह्य पदार्थो के प्रति वैराग्यभाव सहज हो जाता है। यहाँ बुद्ध आदि की तो बात ही नहीं है; क्योंकि वे तो गृहीत मिथ्यात्व में जाते हैं। यहाँ तो जो जैनमत को मानता है, जो सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कुदेव-कुगुरु आदि को नहीं मानता और सर्वज्ञ द्वारा कथित शास्त्रों को ही सत्य मानता है, अर्थात् जिसको व्यवहार श्रद्धा तो हुई है- ऐसे जीव की भूल कहाँ रहती है- उसकी बात है।

वह ऐसा मानता है कि मैं एकान्त शुद्ध सिद्धस्वरूप हूँ, मेरे मे अशुद्धता किसी भी प्रकार होती ही नहीं- इस प्रकार मानकर निरूधमी होकर विषय कषाय में स्वच्छन्दरूप से प्रवर्तता है वह मिथ्यादृष्टि है।

भाई! शक्ति से तू सिद्ध जैसा शुद्ध है; परन्तु पर्याय तो मलिन है। वह मलिनता तेरे में होती है, उसे जानकर उसके अभाव के लिये प्रयत्न कर। यदि जो अशुद्धता होती है उसे जाने ही नहीं तो वेदान्त जैसा एकान्त मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्नः- कोई कहे कि हमें पता नहीं था; इसलिये हम निर्दोष हैं?

उत्तरः- अज्ञानपना (अज्ञानता) बचाव नहीं है। जैसे कोई कालकूट जहर को मिश्री मानकर खाये और कहे कि हमें पता नहीं था कि यह जहर है, तो क्या उसके जहर खाने का फल-मरण नहीं आयेगा? जैसे कुएं के ऊपर कपड़ा ढ़ँका हो- इस बात के परिज्ञान बिना उस पर पैर दे, तो क्या होगा? कुएं में गिरेगा। वहाँ अज्ञानपना बताने से कोई बचाव नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा क्या है, सर्वज्ञ क्या है, द्रव्य क्या और पर्याय क्या है? धर्म किस प्रकार होता है? इसका कुछ पता न हो और रागादि से धर्म मान ले तो उसे उस अज्ञानभाव से चौरासी की जेल में जाना पड़ेगा। अपनी पर्याय में अशुद्धता है और त्रिकाली शक्ति शुद्ध है- इस प्रकार जिसको दोनो का ज्ञान नहीं है, अशुद्धता अपने अपराध से हुई है- उसका जिसको भान नहीं है और अपने को सिद्ध जैसा मानकर प्रवर्तता है वह तो स्वच्छन्दी अज्ञानी है।

....इस प्रकार जो जीव केवल निश्चयाभास के अवलम्बी हैं उन्हे मिथ्यादृष्टि जानना। जैसे- वेदान्ती व सांख्यमती जीव केवल शुद्धात्मा के श्रद्धानी हैं; उसी प्रकार इन्हें भी जानना। क्योंकि श्रद्धान की समानता के कारण उनका उपदेश इन्हें इष्ट लगता है, इनका उपदेश उन्हें इष्ट लगता है।

तथा उन जीवों को ऐसा श्रद्धान है कि केवल शुद्धात्मा के चिंतवन से तो संवर-निर्जरा होते हैं व मुक्तात्मा के सुख का अंश वहाँ प्रगट होता है; तथा जीव के गुणस्थानादि अशुद्ध भावों का और अपने अतिरिक्त अन्य जीव-पुद्गलादि का चिंतवन करने से आस्रव-बन्ध होता है; इसलिये अन्य विचार से पराङ्मुख रहते हैं।

सो यह भी सत्यश्रद्धान नहीं है, क्योंकि शुद्ध स्वद्रव्य का चिंतवन करो या अन्य चिंतवन करो; यदि वीतरागतासहित भाव हों तो वहाँ संवर-निर्जरा ही है,

और जहाँ रागादिरूप भाव हों वहाँ आस्रव-बन्ध ही है। यदि परद्रव्य को जानने से ही आस्रव-बन्ध होते हों, तो केवली तो समस्त परद्रव्यों को जानते हैं, इसलिये उनके भी आस्रव-बन्ध होंगे।....

जिस प्रकार वेदान्ती और सांख्यमती जीव को एकान्त शुद्ध मानते हैं, उसी प्रकार निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि भी अपनी पर्याय को नहीं जानता और अपने को एकान्त शुद्ध मानता है। अर्थात् उसकी श्रद्धा भी वेदान्त जैसी हुई। वेदान्ती तो अशुद्धता मानते ही नहीं तथा सांख्यमत वाले अशुद्धता मानते हैं; परन्तु उसे कर्म से ही हुई मानते हैं। इसी प्रकार निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि भी अपने को एकान्त शुद्ध मानकर अशुद्धता को मानता ही नहीं है अथवा अशुद्धता कर्म की ही है- ऐसा मानता है। इस कारण उसको वेदांत और सांख्यमत का उपदेश इष्ट लगता है।

देखो! निश्चय का यथार्थ भान हो और उसका (उसके विषयभूत शुद्धात्मा का) आश्रय करे वह तो मोक्षमार्ग है; परन्तु यह तो निश्चय को जानता ही नहीं, निश्चय का आश्रय भी करता नहीं और मात्र निश्चय का नाम लेकर भ्रम से वर्तता है- ऐसे जीव की यह बात है।

अनन्त आत्मायें भिन्न-भिन्न हैं, एक-एक आत्मा में अनन्तगुण हैं और प्रत्येक गुण की समय-समय की स्वतन्त्र पर्याय है और उसमें शुद्धता व विकार भी स्वयं के कारण से है। चौदहवें गुणस्थान तक जीव की पर्याय में अशुद्धता है, वह अपने कारण से है; उसे नहीं मानकर पर्याय को शुद्ध ही मान ले वह तो निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। धर्मी तो द्रव्य का आश्रय करके पर्याय का भी विवेक करता है।

देखों जो व्यवहार में सर्वज्ञ को मानता है तो भी अन्तर में ऐसी मिथ्याश्रद्धा है उसे वास्तव में सर्वज्ञ के अभिप्राय का पता नहीं है।

* वेदान्ती कहता है कि आत्मा में अशुद्धता है ही नहीं।

* अन्य कोई ऐसा कहे कि जब आत्म के द्रव्य-गुण में अशुद्धता नहीं है तो पर्याय में (अशुद्धता) कहाँ से आई? कि कर्म ने कराई।

* तीसरा कहता है कि आत्मा में अशुद्धता है वह बाहर की क्रिया से दूर होगी।

इन तीनों का अभिप्राय मिथ्या है। पर्याय में अशुद्धता है वह भी अपने अपराध से है और वह अपने ही उद्यम से मिटती है।

अरे भाई! तू एक बार यथार्थ वस्तुस्थिति तो समझ! ये शरीरादि अजीव हैं और तेरी पर्याय में एक समयमात्र की अशुद्धता है, त्रिकाली शक्ति शुद्ध है, उसके अवलम्बन से यह अशुद्धता मिटती है।

उन जीवों को ऐसा श्रद्धान है कि केवल शुद्धात्मा के चिन्तन से तो संवर-निर्जरा है और वहाँ मुक्तात्मा के सुख का अंश प्रगट होता है। तथा जीव के गुणस्थानादि का और अपने अतिरिक्त अन्य जीव-पुद्गलादि का चिन्तवन करने से आस्रव-बंध होता है; इसलिये वह अन्य विचार से पराङ्मुख रहता है।

सो यह भी सत्य श्रद्धान नहीं है, कारण कि शुद्ध स्व द्रव्य का चिन्तन करो या न करो अथवा अन्य चिन्तवन करो; परन्तु यदि वीतरागता सहित भाव हो तो वहाँ संवर-निर्जरा ही है और जहाँ रागादिरूप भाव हों वहाँ आस्रव-बंध ही है। यदि पर द्रव्य को जानने से ही आस्रव-बंध होते हों तब तो केवली भगवान समस्त पर द्रव्यों को जानते हैं, उनके भी आस्रव-बंध होंगे।

स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव है। वह पर को जाने, वह कोई आस्रव-बंध का कारण नहीं हैं तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि पर का विचार करूँगा तो आस्रव-बंध होगा- इस प्रकार मानकर पर के विचार से दूर रहना चाहता है। सो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। हाँ, चैतन्य के ध्यान में एकाग्र हो गया हो तब तो परद्रव्य का चिन्तवन छूट जाता है; परन्तु अज्ञानी तो, ज्ञान का उपयोग ही बंध का कारण है,-ऐसा मानता है। जितना अकषाय-वीतरागभाव हुआ उतनी संवर-निर्जरा है और जहाँ रागादिकभाव है वहाँ आस्रव-बंध है। यदि पर का ज्ञान (जानपना) बंध का कारण हो तो केवली भगवान तो समस्त पदार्थों को जानते हैं, तो भी उनको जरा भी बंध नहीं है। उनको राग-द्वेष नहीं है, इसलिये बंध नहीं है। इसी प्रकार सभी जीवों का ज्ञान बंध का कारण नहीं है।

वास्तव में बंध का कारण तो मोहभाव है। परद्रव्य ज्ञान में ज्ञात हो वह बंध का कारण नहीं है जिसने पर द्रव्य को जानने के कारण राग-द्वेष होना माना उसे अपने ज्ञानस्वभाव का पता नहीं है।

....फिर वह कहता है कि छद्मस्थ के तो परद्रव्य चिंतवन से आस्रव-बन्ध होता है? सो भी नहीं है; क्योंकि शुक्लध्यान में भी मुनियों को छहों द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्यायों का चिंतवन होने का निरूपण किया है, और अवधि-मनःपर्यय आदि में परद्रव्य को जानने ही की विशेषता होती है; तथा चौथे गुणस्थान में कोई अपने स्वरूप का चिंतवन करता है उसके भी आस्रव-बन्ध अधिक हैं तथा गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है; पांचवे-छट्ठे गुणस्थान में आहार-विहारादि क्रिया होनेपर परद्रव्य चिंतवन से भी आस्रव-बन्ध थोड़ा है और गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है। इसलिये स्वद्रव्य-परद्रव्य के चिंतवन से निर्जरा-बन्ध नहीं होते, रागादि घटने से निर्जरा है और रागादि होने से बन्ध है। उसे रागादि के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसलिये अन्यथा मानता है।....

प्रश्नः- छद्मस्थ को तो परद्रव्य का चिन्तवन होने पर राग-द्वेष होता है?

उत्तरः- ऐसा भी नहीं है, क्योंकि शुक्लध्यान में मुनियों को भी छह द्रव्यों का, द्रव्य-गुण-पर्याय का चिन्तवन होना निरूपित किया है। अवधि, मनःपर्याय ज्ञान में भी परद्रव्य को जानने की विशेषता होती है। तथा चौथे गुणस्थान में कोई अपने स्वरूप का चिन्तवन करता है, उसको आस्रव-बंध अधिक है तथा गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है। पाँचवें गुणस्थान में आहार-विहारादि क्रिया होने पर परद्रव्य चिन्तवन से आस्रव-बंध थोड़ा होता है व गुणश्रेणी निर्जरा हुआ ही करती है। इसलिये स्वद्रव्य-परद्रव्य के चिन्तवन से निर्जरा-बंध नहीं है; परन्तु रागादिक घटने से निर्जरा है और रागादिक होने से बंध है। इसे रागादि के स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से अन्यथा मानता है।

शुक्लध्यान में ध्येयरूप तो एक आत्मद्रव्य ही है; परन्तु वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय में उपयोग का संक्रमण कहा; तथापि उसे जानने के कारण राग-द्वेष अथवा बंध नहीं है। अवधिज्ञान में तो असंख्य चौबीसी जानने में आती है। जातिस्मरण ज्ञान होता है उसमें

अनेक भव दिखते हैं। अहो! पूर्वभव में भगवान के पास थे और भगवान ने ऐसा कहा था- यह सब ज्ञात हों; परन्तु यह जानपना कोई बंध का कारण नहीं है। स्वरूप की रुचि और वीतरागभाव ही संवर-निर्जरा का कारण है और मिथ्यात्व व राग-द्वेष भाव ही बंध के कारण है।

देखो! चौथे गुणस्थान वाला निर्विकल्प उपयोग में हो और पाँवचें-छठवें गुणस्थान वाला आहारादि शुभ उपयोग में वर्तता हो, तथापि वहाँ उसे चौथे गुणस्थान वाले की अपेक्षा आस्रव-बंध थोड़ा है, और संवर-निर्जरा अधिक है; क्योंकि उसको अकषाय परिणति विशेष है। यद्यपि चौथे गुणस्थान में अमुक अंश तो गुणश्रेणी निर्जरा है तथापि पाँचवें-छठवें गुणस्थान वालों की अपेक्षा उसको विशेष गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है। पाँचवें गुणस्थान वाला जीव तिर्यन्च हो और हरितकाय का भक्षण करता हो और तीर्थंकर का जीव चौथे गुणस्थान में हो, वहाँ पाँचवे गुणस्थान वाले तिर्यन्च के विशेष अकषायभाव है और संवर-निर्जरा भी विशेष है; इसलिये अन्दर में चैतन्य स्वभाव का अवलम्बन बढ़ने पर जितनी वीतराग-अकषाय परिणति हुई उतना आस्रव-बंध नहीं है, जितना राग-द्वेष है उतना आस्रव-बंध है। छठवें गुणस्थान वाले को निद्रा हो और चौथे गुणस्थान वाला निर्विकल्प ध्यान में हो, तो भी छठवें गुणस्थान में तीन कषाय-चौकड़ी का अभाव है और संवर-निर्जरा विशेष है। छठवें गुणस्थान में मुनिराज किसी समय शिष्य को प्रायश्चित देते हों अथवा उलाहना देते हों कि अरे! यह क्या किया? तथापि उनके उस समय भी तीन कषाय चोकड़ी का अभाव है और चौथे गुणस्थान वाले को निर्विकल्प ध्यान के काल में भी तीन कषाय चौकड़ी विद्यमान है- इस कारण उसको संवर-निर्जरा कम है और आस्रव-बंध अधिक है।

यहाँ शान्ति और करुणा से उपदेश देते हैं कि अरे भाई! तुझे ऐसा भव मिला, ऐसा अवसर मिला है तो अब इन दोषों को छोड़! अपना सुधार कर! इस प्रकार उपदेश देते समय भी मुनिराज को तीन कषाय चौकड़ी का तो अभाव ही है और उतने अंश में बंधन होता ही नहीं है। इसलिये परद्रव्य का ज्ञान बंध का कारण नहीं है, बंध का कारण तो मोह है। मोह का जितना अभाव हुआ उतना बंधन नहीं है, जितना मोह उतना बंधन है।

....अब वह पूछता है कि ऐसा है तो निर्विकल्प अनुभवदशा में नय-प्रमाण-निक्षेपादिक के तथा दर्शन-ज्ञानादिक के भी विकल्पों का निषेध किया है- सो किस प्रकार है?

उत्तरः- जो जीव इन्हीं विकल्पों में लगे रहते हैं और अभेदरूप एक आत्मा का अनुभव नहीं करते उन्हें उपदेश दिया है कि यह सर्व विकल्प वस्तु का निश्चय करने में कारण हैं, वस्तु का निश्चय होनेपर इनका प्रयोजन कुछ नहीं रहता; इसलिये इन विकल्पों को भी छोड़कर अभेदरूप एक आत्मा का अनुभव करना, इनके विचाररूप विकल्पों में ही फँसा रहना योग्य नहीं है।

तथा वस्तु निश्चय होने के पश्चात् ऐसा नहीं है कि सामान्यरूप स्वद्रव्य ही का चिंतवन रहा करे। स्वद्रव्य का तथा परद्रव्य का सामान्यरूप और विशेषरूप जानना होता है, परन्तु वीतरागता सहित होता है; उसीका नाम निर्विकल्पदशा है।....

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो निर्विकल्प अनुभवदशा में नय-प्रमाण-निक्षेप आदि का व दर्शन-ज्ञानादि का भी विकल्प करने का निषेध किया है- उसका कारण क्या है?

तुम कहते हो कि जितना कषाय का नाश किया उतनी शुद्ध परिणति कायम रहती है; परन्तु शास्त्र में कहा है कि अनुभव के समय- यह निश्चयनय, यह व्यवहारनय, यह द्रव्य निक्षेप और यह भाव निक्षेप है- ऐसे नय-निक्षेप-प्रमाण के विचार छोड़ दे। आत्मा ज्ञानमय है, दर्शनमय है, आनन्दमय है- ऐसे गुणभेद भी अनुभव के समय नहीं होते। समयसार, गाथा-7 वीं में कहा है कि 'समकिती (ज्ञानी) के ज्ञान नहीं, दर्शन नहीं, चारित्र नहीं; गुण-गुणी का भेद दृष्टि का विषय नहीं है निर्विकल्प ध्यान के समय ऐसे विचार नहीं होते उसका क्या कारण है?

उत्तरः- जो जीव इन्हीं विकल्पों में लगे रहते हैं और अभेदरूप एक अपने आत्मा का अनुभव नहीं करते उनको ऐसा उपदेश दिया है कि ये सर्व विकल्प वस्तु का निश्चय (निर्णय) कराने में कारण हैं, परन्तु वस्तु का निश्चय होने पर इनका कुछ प्रयोजन नहीं रहता; इसलिये इन विकल्पों को भी छोड़कर अभेदरूप एक आत्मा का अनुभव करना; परन्तु इनके विचारों में ही फँसे रहना योग्य नहीं है।

देखो! ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। पर का ज्ञान बंध का कारण नहीं है- ऐसा यहाँ बताना है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। समयसार में कहा है कि नय उदय को नहीं पाते, प्रमाण अस्त हो गया है- वह दृष्टि प्रधान कथन हैं। जो अकेले विकल्प में पड़ा रहे उसको यह उपदेश दिया है। पहले वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय करने के लिये प्रमाण-नय-निक्षेप के विकल्प होते हैं। जैसी वस्तुस्थिति है वैसी सब जानना चाहिये। वस्तु का निश्चय होने के बाद विकल्पों की आवश्यकता नहीं है। यह विकल्प पुण्यबंध के कारण हैं।

तथा वस्तु का निश्चय होने के बाद भी ऐसा नहीं है कि सामान्यरूप स्वद्रव्य का ही चिन्तवन रहा करे। वहाँ तो स्वद्रव्य-परद्रव्य का सामान्यरूप अथवा विशेषरूप जानना होता है; परन्तु वह वीतरागता सहित होता है और उसी का नाम निर्विकल्प दशा है।

विकल्प आवे; परन्तु जो विकल्प में ही धर्म मानकर अटका रहे वह मिथ्यादृष्टि है। भेद के आश्रय से निर्विकल्प अनुभव नहीं होता- इसलिये प्रमाण-नय-निक्षेप के विकल्प छुड़ाये हैं; परन्तु उनका ज्ञान नहीं छुड़ाया। यह उपदेश तो विकल्प छोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव करने के लिये है। यहाँ तो यह बताया है कि पर का ज्ञान बंध का कारण नहीं है; परन्तु मोह ही बंध का कारण है। सम्यग्दृष्टि धर्मी को वस्तु स्वभाव का अनुभव हुआ है, तो भी उसको निर्विकल्पदशा कायम नहीं रहती, उसको भी विकल्प तो आते हैं; परन्तु उससे कोई मिथ्यात्व नहीं हो जाता। निर्विकल्प प्रतीति होने के पश्चात् सामान्य द्रव्य में ही उपयोग रहा करे- ऐसा नहीं है, अपितु वह स्वद्रव्य -परद्रव्य-सब को जानता है, परन्तु वहाँ जितना वीतरागभाव है उतनी तो निर्विकल्प दशा ही है। उपयोग भले ही निर्विकल्प न हो; परन्तु जितनी कषाय मिटकर वीतराग भाव हुआ उतनी निर्विकल्पदशा कायम है।

....वहाँ वह पूछता है- यहाँ तो बहुत विकल्प हुए, निर्विकल्प संज्ञा कैसे सम्भव है?

उत्तरः- निर्विचार होने का नाम निर्विकल्प नहीं है; क्योकि छद्मस्थ के जानना विचारसहित है, उसका अभाव मानने से ज्ञान का अभाव होगा और तब जड़पना हुआ; सो आत्मा के होता नहीं है। इसलिये विचार तो रहता है।

तथा यह कहे कि एक सामान्य का ही विचार रहता है, विशेष का नहीं। तो सामान्य का विचार तो बहुतकाल रहता नहीं है व विशेष की अपेक्षा बिना सामान्य का स्वरूप भासित नहीं होता।

तथा यह कहे कि अपना ही विचार रहता है, पर का नहीं; तो पर में परबुद्धि हुए बिना अपने में निजबुद्धि कैसे आये?....

प्रश्नः- द्रव्य-गुण-पर्याय, स्व-पर आदि पदार्थों को जानने में तो बहुत विकल्प हुए, तब वहाँ निर्विकल्पदशा किस प्रकार संभव है?

उत्तरः- निर्विचार होने का नाम निर्विकल्पता नहीं है। छद्मस्थ को जानना विचार सहित होता है। उसका अभाव मानने से ज्ञान का भी अभाव होगा, तब यह तो जड़पना हुआ; परन्तु आत्मा के यह होता नहीं है; इसलिये विचार तो रहते हैं।

विचार तो मतिज्ञान का भेद है। ईहा आदि न रहे तो प्रगट ज्ञानपर्याय का अभाव हो और आत्मा के जड़पना आ जाये; परन्तु ऐसा नहीं होता।

यदि ऐसा कहे कि एक सामान्य का ही विचार रहता है विशेष का नहीं, तो सामान्य का विचार तो लम्बे काल रहता नहीं है और विशेष की अपेक्षा बिना सामान्य का स्वरूप भासित नहीं होता।

यहाँ निश्चयाभासी जीव के सामने यह कथन समझाया है। अनुभव में निर्विकल्प उपयोग हो उस समय तो परद्रव्य का या भेद का चिन्तन नहीं होता; परन्तु यहाँ जितनी वीतराग परिणति हुई है उसको निर्विकल्पदशा कहा है। परन्तु जो जीव विशेष को मानता ही नहीं अथवा विशेष के जानने को बंध का कारण मानता है और अकेले सामान्य को ही मानता है, उसको यहाँ कहा है कि विशेष के बिना सामान्य का निर्णय ही नहीं होता। विशेष को जानना वह कोई दोष नहीं है। स्व और पर -दोनो को तथा सामान्य और विशेष- दोनो को यथार्थ जाने बिना सम्यग्ज्ञान ही नहीं होता।

....वहाँ वह कहता है- समयसार में ऐसा कहा है:-

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते।।

अर्थः- भेदज्ञान को तब तक निरन्तर भाना, जब तक पर से छूटकर ज्ञान ज्ञान में स्थित हो। इसलिये भेदज्ञान छूटनेपर पर का जानना मिट जाता है, केवल आपही को आप जानता रहता है।

यहाँ तो यह कहा है कि पूर्वकाल में स्व-पर को एक जानता था; फिर भिन्न जानने के लिये भेदज्ञान को तब तक भाना ही योग्य है जब तक ज्ञान पररूप को भिन्न जानकर अपने ज्ञानस्वरूप ही में निश्चित हो जाये। पश्चात् भेदविज्ञान करने का प्रयोजन नहीं रहता; स्वयमेव पर को पररूप और आपको आपरूप जानता रहता है। ऐसा नहीं है कि परद्रव्य का जानना ही मिट जाता है। इसलिये परद्रव्य को जानने या स्वद्रव्य के विशेषों को जानने का नाम विकल्प नहीं है।

तो किस प्रकार है? सो कहते हैं। राग-द्वेषवश किसी ज्ञेय को जानने में उपयोग लगाना और किसी ज्ञेय के जानने से छुड़ाना- इस प्रकार बारम्बार उपयोग को भ्रमाना- उसका नाम विकल्प है। तथा जहाँ वीतरागरूप होकर जिसे जानते हैं उसे यथार्थ जानते हैं, अन्य-अन्य ज्ञेय को जानने के अर्थ उपयोग को भ्रमाते नहीं है; वहाँ निर्विकल्पदशा जानना।....

वह निश्चयाभासी जीव समयसार का आधार लेकर ऐसा कहता है कि समयसार में ऐसा कहा है कि-

अरे भव्यजन! भव्यभावना भेदज्ञान की।
सच्चेमन से बिन विराम के तबतक भाना।।
जब तक पर से हो विरक्त यह ज्ञान ज्ञान में।
ही थिर न हो जाय अधिक क्या कहें जिनेश्वर।। 130 ।।

(पद्यानुवाद - डॉ हुकमचन्द भारिल्ल)

अर्थात् इस भेदविज्ञान को वहाँ तक निरन्तर भाना कि जहाँ तक ज्ञान पर से हटकर ज्ञान में स्थित हो; इसलिये भेदविज्ञान छूटने पर पर का जानना मिट जाता है, केवल स्वयं अपने को ही जाना करता है।

यद्यपि वहाँ तो यह कहा है कि पूर्व में स्व-पर को एक जानता था, पश्चात् इन दोनो को भिन्न जानने के लिये भेदविज्ञान को वहाँ तक ही भाना योग्य है कि जहाँ तक ज्ञान पररूप को भिन्न जानकर अपने स्वरूप में ही निश्चित (स्थिर) हो जाये; परन्तु ऐसा होने के बाद भेदविज्ञान का प्रयोजन नहीं रहता। (पश्चात् तो) स्वयं पर को पररूप और स्वयं को निजरूप जाना ही करता है। परन्तु वहाँ यह आशय नहीं है कि परद्रव्य का जानना ही मिट जाता है। कारण कि परद्रव्य को जानने अथवा स्वद्रव्य के विशेषों को जानने का नाम विकार नहीं है।

तो किस प्रकार है? वही कहते हैं-

राग-द्वेष के वश होकर किसी ज्ञेय को जानने में उपयोग लगाना व किसी ज्ञेय को जानने से उपयोग को छुड़ाना- इस प्रकार बारम्बार उपयोग को भ्रमाने का नाम विकल्प है। तथा जहाँ वीतरागरूप होकर जिसको जानता है उसको यथार्थ जानता है, अन्य-अन्य ज्ञेय को जानने में उपयोग को नहीं भ्रमाता वहाँ निर्विकल्प अवस्था जानना।

पर का जानना छूट जाये और अकेले आत्मा को ही जाना करे- इसका नाम भेदज्ञान नहीं है; परन्तु स्व-पर दोनों को जानने पर भी, स्व को स्व-रूप ही तथा पर को पररूप ही जानने का नाम भेदज्ञान है। स्व-पर का एकरूप मानना मिथ्यात्व है, परन्तु पर को पर-रूप जानना, तो यथार्थज्ञान है, वह कोई दोष नहीं है। जो स्व-पर को जानने का ज्ञान का विकास हुआ वह कोई बंध का कारण नहीं है। पर का जानना ही मिट जाये- ऐसा नहीं है। स्व का स्व-रूप से और पर को पर-रूप से जानना, वह कोई विकल्प अथवा राग-द्वेष नहीं है; परन्तु जहाँ राग-द्वेष पूर्वक जानना हो वहाँ विकल्प है। छद्मस्थ के पर को जानते समय विकल्प होते हैं वह तो राग-द्वेष के कारण से है; परन्तु ज्ञान के कारण विकल्प नहीं हैं। इसलिये जितने राग-द्वेष मिटे और वीतरागता हुई उतनी तो निर्विकल्प दशा है- ऐसा जानना। यहाँ उपयोग की अपेक्षा से निर्विकल्पता की बात नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव पर्याय का तो विचार नहीं करता, पर्याय में कितने राग-द्वेष हैं वह नहीं विचारता और उपयोग को स्व में निर्विकल्प

रखना मानता है; परन्तु छद्मस्थ का उपयोग अकेले स्वद्रव्य में स्थिर नहीं रहता तथा उपयोग का तो स्व-पर को जानने का स्वभाव हैं वह उपयोग बंधन का कारण नहीं; परन्तु राग-द्वेष ही बंधन का कारण है, ऐसा जानना।

परवस्तु प्रमेय है अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है; परन्तु परवस्तु विकार कराने योग्य नहीं है। ज्ञानस्वभाव पर को जानने पर विकार करे- ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। स्वयं ज्ञानस्वरूप- जाननहार है और ज्ञात होने योग्य भी है तथा अपने अतिरिक्त अन्य जीव और जड़पदार्थ ज्ञात होने योग्य हैं। वे पदार्थ ज्ञात होते हैं, इसलिये राग होता है- ऐसा नहीं है।

भाई! यह तो धर्म की मूल बात है। अज्ञानी ने सच्ची बात को जाना नहीं है। धर्मात्मा जीव युद्ध में हो अथवा भगवान की पूजा में हो, ध्यान में हो अथवा विषय में हो; तथापि वे स्व को स्व-रूप और पर को पर-रूप जानते हैं, स्व-पर का एकमेक नहीं जानते। अज्ञानी जीव स्व-पर को एकमेक जानता है। सम्यग्ज्ञानी होने के पश्चात् परद्रव्य का जानना मिट जाता है- ऐसा नहीं है। चक्रवर्ती के छियानवैं हजार स्त्रियाँ आदि परिवार होता है; परन्तु उसे आत्मा का भान है, इसलिये वह जानता है कि ज्ञान के अतिरिक्त अन्य (मेरा) स्वभाव नहीं है और रागादिक पर है। वह राग तथा ज्ञान को एकमेक नहीं मानता।

ज्ञानी की वाणी में ऐसा आता है कि यह हमारा ग्राम है, यह हमारे मित्र हैं, यह शत्रु है; तथापि उसको भान है कि ये सब पर हैं; इसलिये मुझे उनके साथ कुछ लेना-देना नहीं है। सम्यग्ज्ञान होने से पर का जानपना कैसे मिटे जायेगा? अज्ञानी को वस्तु का भान नहीं है और कहता है कि पर को जानने का क्या काम है?

उससे कहते हैं कि- वे वस्तुयें उनके काल में आती है, आत्मा उन्हें नहीं लाता न छोड़ता है और न उनके कारण राग-द्वेष होते हैं। परवस्तु पर के कारण है। ज्ञान ज्ञान के कारण है। राग-द्वेष के वश होकर उपयोग को पर में लगाना अथवा परज्ञेय को जानने पर वहाँ से उपयोग छुड़ा देना इस प्रकार बारम्बार उपयोग को भ्रमाना

विकल्प है। राग-द्वेष के आधीन होकर उपयोग लगाना कषाय है; परन्तु ज्ञानस्वभाव को जानकर पर को जाने वह कषाय नहीं है। एक ज्ञेय को छोड़कर अन्य ज्ञेय की तरफ दौड़े तो उपयोग भ्रमता है। जो राग-द्वेष के आधीन होकर उपयोग को नहीं भ्रमाता और स्व-पर को- ज्ञेय को जैसा है वैसा जानता है तो उसमें कोई दोष नहीं है।

कोई कहे कि वस्तुयें बहुत है इसलिये राग-द्वेष बहुत होते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। बाहर के संयोग के कारण राग का माप नहीं है। जैसे किसी के शरीर में बहुत परमाणु हो तों वह बहुत कषाय वाला और थोड़े परमाणु हो तो वह थोड़ी कषाय वाला है- ऐसा नहीं है। न तो संयोग की संख्या के आधार से विकार है और न विकार के प्रमाण में संख्या है। चक्रवर्ती के छियानवें हजार स्त्रियाँ होने पर भी अनन्तानुबंधी का राग नहीं है, उनके अनन्त संसार का कारणभूत राग मिट गया है और निगोदिया जीव के एक भी स्त्री नहीं है, तो भी अनन्तानुबन्धी का राग वर्तता है। इसलिये बाहर के संयोग के साथ राग का सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी कहता है कि पर को जानने से राग होता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। अधिक धन है- इस कारण अधिक ममता है- ऐसा नहीं है। द्रव्यलिंगी मुनि के एक लंगोटी भी नहीं है; तथापि 'राग मेरा है' -ऐसा वह मानता है; इस कारण उनके अनन्त परिग्रह है और सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के बाहर में संयोगो के ढ़ेर होने पर भी राग अनन्तवे भाग वर्तता है।

मुनि जमीन को छूते हैं, जगत के पदार्थों को देखते हैं, रस्ते चलते समय सब देखते हैं, जानने में सब आता है; परन्तु उनको पर तथा राग के साथ एकत्वबुद्धि मिट गयी है। पुण्य-पाप तथा पर पदार्थ की एकता बुद्धि छूटना व अस्थिरता का भाव छूटना त्याग है। यदि पर पदार्थ को देखने-जानने से विकार हो तो विकार कभी नहीं मिट सकता।

अज्ञानी कहता है कि परवस्तु के संयोग में आने से विकार होता है; परन्तु यह भूल है। परवस्तु तो राग का कारण है ही नहीं; परन्तु पर सम्बन्धी ज्ञान भी राग का कारण नहीं है- ऐसा यहाँ समझाते हैं।

समवसरण और भगवान ज्ञात हुए, इसलिये शुभराग आया ऐसा नहीं है। अज्ञानी दोनों (ज्ञान और प्रमेय) स्वभाव को नहीं जानता और समवसरण के क्षेत्र के कारण लाभ मानता है ज्ञान मानता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। स्व-पर सबको जानना ज्ञान का काम है। पर के कारण विकार हो- ऐसा नहीं है। स्व में रहूँ तो विकार नहीं होता और पर को जानू तो विकार होगा- ऐसा नहीं है।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो राग आया कहाँ से?

उत्तरः- ज्ञेयों के कारण राग नहीं है और ज्ञान के कारण भी राग नहीं है। राग अपनी चारित्रगुण की वर्तमान योग्यता के कारण आया है। इस रहस्य को नहीं जानने वाले को धर्म नहीं होता।

(1) ज्ञान ज्ञान को जाने तथा ज्ञान, राग को जाने- ऐसा ज्ञान का स्वकाल है। स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव खिला है इस कारण वह इसी प्रकार जानता है।

(2) सामने ज्ञेय आते हैं वे ज्ञेयों के स्वकाल के कारण आते हैं।

(3) ज्ञानी को कमजोरी वश राग होता है वह चारित्र गुण की स्वतन्त्र योग्यता के कारण होता है, वह अपने स्वकाल में होता है।

इस प्रकार तीनों- ज्ञान, राग और ज्ञेय स्वकाल में एक समय है, तथापि एक-दूसरे के आधीन नहीं है। यहाँ कहते हैं कि जीव ज्ञान में एकाग्रता नहीं करके और ज्ञेय को ज्ञेयरूप जानने की शक्ति को नहीं संभालने से राग के आधीन होता है वह विकल्प है। ज्ञानी अन्य-अन्य ज्ञेय को जानने में जितने काल उपयोग को नहीं भ्रमाते उतने काल निर्विकल्पदशा जानना।

....यहाँ कोई कहे कि छद्मस्थका उपयोग तो नाना ज्ञेयों में भ्रमता ही भ्रमता है; वहाँ निर्विकल्पता कैसे सम्भव है?

उत्तरः- जितने काल एक जाननेरूप रहे तब तक निर्विकल्प नाम पाता है। सिद्धान्त में ध्यान लक्षण ऐसा ही किया है-

"एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।" (तत्त्वार्थसूत्र 9-27)

एक का मुख्य चिंतवन हो और अन्य चिन्ता रुक जाये- उसका नाम ध्यान है। सर्वार्थसिद्धि सूत्र की टीका में यह विशेष कहा है- यदि सर्व चिन्ता रुकने का नाम ध्यान हो तो अचेतनपना आ जाये। तथा ऐसी भी विवक्षा है कि सन्तान अपेक्षा नाना ज्ञेयों का भी जानना होता है; परन्तु जब तक वीतरागता रहे, रागादि से आप उपयोग को न भ्रमाये तब तक निर्विकल्पदशा कहते हैं।....

प्रश्नः- छद्मस्थ का उपयोग तो नाना ज्ञेयों में अवश्य भ्रमता है तो वहाँ निर्विकल्पता किस प्रकार संभव है?

उत्तरः- जितने काल एक जाननेरूप रहे उतने काल निर्विकल्पता नाम पाता है। सिद्धान्त में ध्यान का लक्षण भी ऐसा ही कहा है, **'एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्'** (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-8 सूत्र 26) अर्थात एक का मुख्य चिन्तवन हो तथा अन्य चिन्तवन रुके- उसका नाम ध्यान है। इसी सूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में यह विशेष कहा है कि 'यदि सर्व चिन्ता रुकने का नाम ध्यान होवे तो अचेतनपना हो जाये।' तथा ऐसी भी विवक्षा है कि सन्तान अपेक्षा नाना ज्ञेयों का जानना भी होता है; परन्तु जहाँ तक वीतरागता रहे अर्थात् रागादिक द्वारा स्वयं उपयोग को न भ्रमावे वहाँ तक निर्विकल्पदशा कहते हैं।

....फिर वह कहता है- ऐसा है तो परद्रव्य से छुड़ाकर स्वरूप में उपयोग लगाने का उपदेश किसलिये दिया है?

समाधानः- जो शुभ-अशुभभावों के कारण परद्रव्य हैं; उनमें उपयोग लगाने से जिनको राग-द्वेष हो आते हैं, और स्वरूप चिंतवन करें तो जिनके राग-द्वेष घटते हैं- ऐसे निचली अवस्थावाले जीवों को पूर्वोक्त उपदेश है। जैसे- कोई स्त्री विकारभाव से पराये घर जाती थी; उसे मना किया कि पराये घर मत जा, घर में बैठी रह। तथा जो स्त्री निर्विकार भाव से किसी के घर जाकर यथायोग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं। उसी प्रकार उपयोगरूप परिणति राग-द्वेषभाव से परद्रव्यों में प्रवर्तती थी; उसे मना किया कि परद्रव्यों में प्रवर्तन मत कर, स्वरूप में मग्न रह। तथा जो उपयोगरूप परिणति वीतरागभाव से परद्रव्य को जानकर यथायोग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं।....

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो पर द्रव्यों से छुड़ाकर उपयोग को स्वद्रव्य में लगाने का उपदेश किसलिये दिया है?

उत्तरः- जो शुभ-अशुभ भावों के कारणरूप परद्रव्य हैं, उनमें उपयोग लगने से जिसको राग-द्वेष हो जाते हैं तथा स्वरूप चिन्तवन करे तो राग-द्वेष घट जाते हैं- ऐसे निचली अवस्था वाले जीवों को यह उपदेश दिया है। जैसे कोई स्त्री विकारभाव से किसी के घर जाती थी, उसे मना किया कि दूसरे के घर मत जा, घर में बैठी रह; परन्तु जो स्त्री निर्विकारभाव से किसी के घर जाये और यथायोग्य प्रवर्ते तो कोई दोष नहीं है। उसी प्रकार उपयोगरूप परिणति राग-द्वेषभाव से परद्रव्यों में प्रवर्तती थी, उसे मना करके कहा कि 'परद्रव्यों में मत प्रवर्त्त, स्वरूप में मग्न रह'; परन्तु जो उपयोगरूप परिणति वीतरागभाव से परद्रव्यों को जानकर यथायोग्य प्रवर्ते तो उसे कोई दोष नहीं है।

गणधरादिक ऋद्धिधारी मुनि अन्तर्मुहूर्त में वचन से बोलकर बारह अंग की स्वाध्याय करते हैं; तथापि वहाँ आकुलता नहीं है- राग-द्वेष नहीं है और चौथे गुणस्थान वाला मौनरूप से विचार में बैठा होने पर भी वहाँ राग-द्वेष विशेष है तथा आकुलता है। इसलिये परद्रव्य किसी को राग-द्वेष का कारण नहीं है। पर के ज्ञान का निषेध नहीं किया; परन्तु पर के प्रति राग-द्वेष का निषेध किया है।

अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का पता नहीं होने पर भी जो अपने को ज्ञानी मानता है तथा परद्रव्य के ज्ञान को राग-द्वेष का कारण मानकर वहाँ से उपयोग को छुड़ाना चाहता है वह अज्ञानी है। वस्तुतः ज्ञान कोई राग-द्वेष का कारण नहीं है। जिस जीव को राग-द्वेष होते हैं वे स्वयं के अपराध से होते हैं। गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि का जानपना तो ज्ञान की निर्मलता का कारण है, वह कोई राग-द्वेष का कारण नहीं है। वास्तव में परद्रव्य राग-द्वेष का कारण नहीं होने पर भी जिसको राग-द्वेष हो जाते हैं वह पर द्रव्य को राग-द्वेष का निमित्त बनाता है।

....फिर वह कहता है- ऐसा है तो महामुनि परिग्रहादिक चिंतवन का त्याग किसलिये करते हैं?

समाधानः- जैसे विकाररहित स्त्री कुशील के कारण पराये घरों का त्याग करती है; उसी प्रकार वीतराग परिणति राग-द्वेष के कारण परद्रव्यों का त्याग करती है। तथा जो व्यभिचार के कारण नहीं हैं ऐसे पराये घरों में जाने का त्याग है नहीं; उसी प्रकार जो राग-द्वेष के कारण नहीं हैं ऐसे परद्रव्यों को जानने का त्याग है नहीं।

फिर वह कहता है- जैसे जो स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक के घर जाती है तो जाये, बिना प्रयोजन जिस-तिस के घर जाना तो योग्य नहीं है। उसी प्रकार परिणति को प्रयोजन जानकर सात तत्त्वों का विचार करना, बिना प्रयोजन गुणस्थानादिक का विचार करना योग्य नहीं है?

समाधानः- जैसे स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक या मित्रादिक के भी घर जाये; उसी प्रकार परिणति तत्त्वों के विशेष जानने के कारण गुणस्थानादिक व कर्मादिक को भी जाने। तथा यहाँ ऐसा जानना कि जैसे शीलवती स्त्री उद्यमपूर्वक तो विट पुरुषों के स्थानपर न जाये; यदि परवश वहाँ जाना बन जाये और वहाँ कुशील सेवन न करे तो स्त्री शीलवती ही है। उसी प्रकार वीतराग परिणति उपायपूर्वक तो रागादिक के कारण परद्रव्यों में न लगे; यदि स्वयमेव उनका जानना हो जाये और वहाँ रागादिक न करे तो परिणति शुद्ध ही हैं इसलिये मुनियों को स्त्री आदि के परीषह होने पर उनको जानते ही नहीं, अपने स्वरूपका ही जानना रहता है- ऐसा मानना मिथ्या है। उनको जानते तो हैं परन्तु रागादिक नहीं करते।

इस प्रकार- परद्रव्य को जानते हुए भी वीतरागभाव होता है।- ऐसा श्रद्धान करना।....

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो महामुनि परिग्रहादि के चिन्तवन का त्याग किसलिये करते हैं ?

उत्तरः- जैसे विकार रहित स्त्री कुशील के कारणरूप पर घरों का त्याग करती है; उसी प्रकार वीतराग परिणति राग-द्वेष के कारणरूप पर द्रव्यों का त्याग करती है; परन्तु जो व्यभिचार के कारण नहीं हैं- ऐसे पर घर जाने का त्याग नहीं है; उसी प्रकार जो राग-द्वेष के कारण नहीं है- ऐसे पर द्रव्यों के जानने का त्याग नहीं है।

तब वह कहता है कि जैसे स्त्री प्रयोजन जानकर पितादि के घर जाये तो भले जाये, परन्तु प्रयोजन बिना जिस-तिस के घर जाना तो योग्य नहीं है; उसी प्रकार परिणति को प्रयोजन जानकर सात तत्त्वों का विचार करना तो योग्य है, परन्तु बिना प्रयोजन गुणस्थान का विचार करना योग्य नहीं है।

उसका समाधानः- जैसे स्त्री प्रयोजन जानकर पितादि व मित्रादिक के घर भी जाती है; उसी प्रकार परिणति तत्त्वों का विशेष जानने के कारणरूप गुणस्थानादि व कर्मादि को भी जानती है।

'मोक्षपाहुड़' में कहा है कि मुनियों को तो स्वभाव का ही विशेष चिन्तवन होता है। वे संघ, शिष्य आदि पर द्रव्य के चिन्तवन में विशेष नहीं रुकते। पर द्रव्यों का विचार छोड़कर ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा का ध्यान करना- ऐसा शास्त्र में कहा है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पर द्रव्यों का ज्ञान राग-द्वेष का कारण है। यहाँ निश्चयाभासी जीव के सामने यह कथन है। धर्मी जीव को भी गुणस्थान, मार्गणास्थान, कर्म की प्रकृति आदि का विचार आता है। जबकि निश्चयाभासी जीव कहता है कि अपने को तो शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करना, अन्य विकल्प नहीं आने देना; परन्तु उसे अपनी पर्याय के व्यवहार का विवेक नहीं है। निर्विकल्पध्यान अधिक समय तक नहीं रह सकता। गणधरदेव को भी शुभ विकल्प तो आता है और वे दिव्यध्वनि सुनते हैं। देव-गुरु की भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय का भाव आवे और ज्ञान का उपयोग उस तरफ जाये, उससे कोई राग-द्वेष बढ़ नहीं जाते। तीर्थंकर आदि को जातिस्मरण ज्ञान होता है और पूर्वभव ज्ञात होते हैं, वहाँ भव को जानना राग-द्वेष का कारण नहीं है। ज्ञान का स्वभाव तो जानने का ही है, इसलिये ज्ञान सबको जानता है। ज्ञान किसको नहीं जाने? ज्ञान करना वह कोई दोष नहीं है। गुणस्थान आदि को जानते समय शुभराग होता है; परन्तु वह तो अपनी परिणति अभी वीतरागी नहीं हुई इस कारण से है। शास्त्र में कहा है कि भावश्रुतज्ञान के अवलम्बन पूर्वक शास्त्र का अभ्यास करना। मुनिवर आगमचक्षु वाले हैं, अर्थात् आगमज्ञान द्वारा समस्त तत्त्वों को देखते हैं। इसलिये ज्ञान कर्म आदि को जानता है वह कोई दोष नहीं है।

यहाँ ऐसा जानना कि- जैस शीलवती स्त्री उद्यम करके तो विट पुरूषों के स्थान में नहीं जाती; परन्तु परवशता से जाना बन जाये और वहाँ कुशील सेवन न करे तो वह स्त्री शीलवती ही है; उसी प्रकार वीतराग परिणति उद्यम करके तो रागादिक के कारणरूप पर द्रव्यों में नहीं लगती; परन्तु स्वयं उनका जानना हो जाये और वहाँ रागादिक न करे तो वह परिणति शुद्ध ही है। इसलिये मुनियों को स्त्री आदि का परीषह होने पर वे उसे जानते ही है, मात्र अपने स्वरूप का जानना ही रहता है- ऐसा मानना मिथ्या है। वे उन्हे जानते तो हैं; परन्तु रागादिक नहीं करते। इस प्रकार पर द्रव्यों को जानने पर भी वीतरागभाव होता है- ऐसा श्रद्धान करना।

जो एकान्त से ऐसा मानता है कि पर द्रव्यों को जानना राग-द्वेष का कारण है, तो उसके समक्ष यह स्पष्टीकरण किया है कि छद्मस्थ के ज्ञान का उपयोग (निरन्तर) स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता। कोई मुनि हो और सामने देवांगना आकर खड़ी हो, अनेक प्रकार की चेष्टा द्वारा मुनि पर उपसर्ग करती हो, उसे देखने पर भी मुनि को राग-द्वेष नहीं होते तो कोई अपराध नहीं है और अन्य जीव स्त्री को जानकर रागी-द्वेषी हो जाता है। देखो! स्त्री को तो दोनों जानते हैं; परन्तु एक को राग-द्वेष नहीं होते और दूसरे को राग-द्वेष हो जाते हैं; इसलिये परद्रव्य को जानना, राग-द्वेष का कारण नहीं हैं।

पृथ्वी घूमती है- ऐसा लौकिक में कहते हैं; परन्तु यह बात मिथ्या है। धर्मी जीव सर्वज्ञ के आगम से जानता है कि पृथ्वी तो स्थिर है और सूर्य गतिशील है। धर्मी जीव असंख्यात द्वीप-समुद्र-इत्यादि को आगम से जानता है। वह कोई राग-द्वेष का कारण नहीं हैं।

मुनिराज ध्यान में बैठे हों और शेरनी आकर उन्हें खा जाती हो, वहाँ मुनि को विकल्पात्मक भूमिका में यह बात ज्ञान में आ जाती है; परन्तु द्वेष नहीं होता। शरीर में रोग हो और मुनि के ज्ञान में आ जाये; परन्तु इससे मुनि को शरीर के प्रति राग नहीं होता। यहाँ यह सिद्ध करना है कि पर द्रव्य को जानने पर भी मुनिराजों को

राग-द्वेष अल्प ही होते हैं और समकिती को चौथे गुणस्थान में स्वद्रव्य में उपयोग होने के समय भी मुनि की अपेक्षा विशेष राग-द्वेष होते हैं। इसलिये स्वद्रव्य में उपयोग हो अथवा पर द्रव्य में उपयोग हो- उसके आधार से राग-द्वेष का माप नहीं है।

तथा वह कहता है- ऐसा है तो शास्त्र में ऐसा कैसे कहा है कि आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है?

समाधानः- अनादि से परद्रव्य में आपरूप श्रद्धान-ज्ञान-आचरण था; उसे छुड़ाने के लिये वह उपदेश है। अपने ही में आपरूप श्रद्धान-ज्ञान-आचरण होने से परद्रव्य में राग-द्वेषादि परिणति करने का श्रद्धान व ज्ञान का आचरण मिट जाये तब सम्यग्दर्शनादि होते हैं। यदि परद्रव्य का परद्रव्य रूप श्रद्धानादि करने से सम्यग्दर्शनादि न होते हों तो केवली के भी उनका अभाव हो। जहाँ परद्रव्य को बुरा जानना, निजद्रव्य को भला जानना हो; वहाँ तो राग-द्वेष सहज ही हुए। जहाँ आपको आपरूप और परको पररूप यथार्थ जानता रहे, वैसे ही श्रद्धानादिरूप प्रवर्तन करे; तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं- ऐसा जानना।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो शास्त्र में, आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है- ऐसा क्यों कहा है?

उत्तरः- अनादिकाल से पर द्रव्यों में अपना श्रद्धान-ज्ञान-आचरण था, उसे छुड़ाने के लिये यह उपदेश है। अपने में अपना श्रद्धान-ज्ञान व आचरण होने पर और पर द्रव्यों में राग-द्वेषादि परिणति करने का श्रद्धान-ज्ञान व आचरण मिट जाने पर सम्यग्दर्शनादिक होते हैं; परन्तु यदि पर द्रव्य का परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करने से सम्यग्दर्शनादिक न होते हों तो केवली भगवान के भी उनका अभाव होगा। जहाँ पर द्रव्य को बुरा जानना और निज द्रव्य को भला जानना हो; वहाँ तो राग-द्वेष सहज ही हुए। परन्तु जहाँ अपने को आपरूप तथा पर को पररूप यथार्थ जाना करे वहाँ राग-द्वेष नहीं है। वैसे ही श्रद्धानादिरूप प्रवर्तन करे तभी सम्यग्दर्शनादिक होते हैं- ऐसा जानना।

अनादि से अज्ञानी जीव को आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण नहीं है- इस कारण उसको आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करने का उपदेश किया जाता है। तू पर द्रव्य की एकाग्रता छोड़कर अपने आत्मा की श्रद्धा कर, अपने आत्मा को जान और अपने आत्मा में एकाग्र-स्थिर-हो! -इस प्रकार उपदेश किया है; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि पर द्रव्य दोष कराता है। पर द्रव्य बुरा है- ऐसा मानना तो मिथ्यात्वभाव है।

अहिंसा वीरों का धर्म है; इसलिये जिसका शरीर बलवान-पुष्ट हो वहीं अहिंसा धर्म का पालन कर सकता है- ऐसा अज्ञानी मानता है। परन्तु, अरे भाई! अहिंसाधर्म शरीर में रहता है या आत्मा में? वीरता तो आत्मा में है या शरीर में? शरीर पुष्ट न हो और दुबला (कमजोर) शरीर हो तो क्या अहिंसा का भाव नहीं होगा? अहिंसा का शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है? अज्ञानी पर द्रव्य से ही धर्म मानकर वहाँ रुक जाता है, परन्तु स्व द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता नहीं करता। इसलिये उसको कहते है कि तू अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता कर! और पर द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता छोड़!! इसका अर्थ, पर द्रव्य बुरे हैं- ऐसा नहीं है।

पर द्रव्यों को बुरा मानना तो द्वेष का अभिप्राय हुआ। स्व का स्वपने और पर को परपने जैसा है वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। पर को पर और स्व को स्व जानने में राग-द्वेष कहाँ आया? पर के कारण मुझे लाभ होता है अथवा पर के कारण मुझे नुकसान होता है- ऐसा माने तो वह राग-द्वेष है। अज्ञानी मानता है कि 'अन्न जैसा मन'; परन्तु ऐसा नहीं है। अन्न के परमाणु तो पुद्गल है और मन (ज्ञान) तो जीव की पर्याय है। पर द्रव्य से आत्मा के भाव अच्छे रहते हैं- ऐसा है ही नहीं। इस प्रकार भेदविज्ञान पूर्वक अपने श्रद्धान-ज्ञान-आचरण और पर द्रव्यों में राग-द्वेष करने का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण मिटने पर ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं। पर द्रव्य, निमित्त मेरे में अकिंचित्कर है- ऐसा बताने के लिये आत्मा के श्रद्धानादि ही सम्यग्दर्शन आदि है; परन्तु पर द्रव्य को जानने से रागादि हो जाते हैं ऐसा नहीं है। पर द्रव्य के ज्ञान का निषेध नहीं है। पर में लाभ-हानि की बुद्धि करके रागादि करना मिथ्याश्रद्धानादि है। प्रवचनसार, गाथा 242 में ज्ञेय और ज्ञाता के यथावत् स्वरूप की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है। यदि पर द्रव्य का परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करने से सम्यग्दर्शनादि न होते हो तब तो केवलज्ञानी के सम्यग्दर्शनादि का अभाव हो जायेगा।

पर द्रव्य को बुरा जानना और निज द्रव्य को भला जानना- यह तो मिथ्यात्व सहित के राग-द्वेष सहज ही हुए। जगत में कोई परद्रव्य-देव-शास्त्र-गुरु आदि वास्तव में लाभदायक-इष्ट है और स्त्री-पुत्रादि अनिष्ट है-ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। अपने को अपनेरूप और पर को पररूप यथार्थरूप से-इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि से रहितपने जाना करे, वहाँ राग-द्वेष नहीं है। इसी अनुसार श्रद्धानादिरूप प्रवर्ते तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं- ऐसा जानना।

....इसलिये बहुत क्या कहें- जिसप्रकार रागादि मिटाने का श्रद्धान हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, जिसप्रकार से रागादि मिटाने का जानना हो वही जानना सम्यग्ज्ञान है, तथा जिसप्रकार से रागादि मिटें वही आचरण सम्यक्चारित्र है; ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।

इस प्रकार निश्चयनय के आभाससहित एकान्तपक्ष के धारी जैनाभासों के मिथ्यात्व का निरूपण किया।....

इसलिये विशेष क्या कहना। राग से लाभ होता है- ऐसा जैन दर्शन- में वस्तुस्वभाव में है ही नहीं। जिस प्रकार से रागादि मिटाने का श्रद्धान हो वही सम्यग्दर्शन है, जिसप्रकार से रागादि मिटाने का जानना हो वही सम्यग्ज्ञान है, और जिसप्रकार से रागादि मिटाने का आचरण हो वही सम्यग्चारित्र है और यही मोक्षमार्ग है।

किसी भी शास्त्र में अथवा उपदेश में शुभराग से धर्म होता है, निमित्त हो तो उपादान का कार्य हो अथवा विभाव और निमित्त से धर्म होना कहा हो तो वह मिथ्यात्वपोषक अज्ञानी द्वारा रचित शास्त्र हैं- ऐसा जानना।

यदि जैनधर्म के मानने वाले भी व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभराग से धर्म मानते हों, निमित्त से उपादान में कुछ कार्य होता मानते हों, आत्मा को पर्याय में भी शुद्ध मानते हों, पर से लाभ-हानि मानते हों इत्यादि अनेक प्रकार की भूलें करते हों- उनका स्वरूप यहाँ बताया है। ज्ञानी धर्मी जीव अन्य की मिथ्यात्वपोषक बात सुनकर उसे सहन नहीं करता।

इसप्रकार निश्चयनय के आभास सहित एकान्त पक्षधारी मिथ्यादृष्टियों के मिथ्यात्व का निरूपण किया।

निश्चय-व्यवहार के स्वरूप पर विशेष प्रवचन

जो निश्चय एकान्त को मानता है अथवा व्यवहार एकान्त को मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। भगवान तीर्थंकरदेव ने जैसा वस्तुस्वरूप कहा है वैसा मानना जानना चाहिये। स्वभाव की दृष्टि करना करना वह निश्चय धर्म है। मैं शरीर कर्म और संयोग से भिन्न हूँ, वर्तमान में पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे उपाधि हैं; उनसे भी मैं रहित हूँ- ऐसा भान होना सम्यग्दर्शन है। समयसार की 14 व 15 गाथा में जो बात की है उसमे जिनशासन भरा हुआ है। निश्चय का भान होने के बाद राग का ज्ञान करना वह व्यवहार है।

व्यवहार अभूतार्थ है। आत्मा की पर्याय में शुभाशुभभाव होते हैं वे अभूतार्थ हैं। निमित्त, शरीर और कर्म का तो आत्मा में अत्यन्त अभाव है ही; परन्तु अपनी पर्याय में दया-दानादि के परिणाम होते हैं वह व्यवहारनय का विषय है। जो उन्हे व्यवहाररूप से नहीं मानता वह व्यवहार को उड़ाता है और जो यह मानता है कि व्यवहार से निश्चय प्रगट होगा, वह निश्चय को उड़ाता है। आत्मा ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्रादि अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। आत्मा एक समय में परिपूर्ण आनन्दकन्द सत् है। उसकी दृष्टि करके राग रहित होना और पर्याय को सामान्य (द्रव्यस्वभाव के) सन्मुख करना, वह भूतार्थ है। पुण्य-पाप अभूतार्थ है और गुण-गुणी का भेद करना भी अभूतार्थ है। वर्तमान पर्याय को गौण करके उसे अभूतार्थ कहा है। आत्मा पर से बंधा या स्पर्शा नहीं है। अनेक व्यंजन पर्यायें होती हैं वे अभूतार्थ है। ज्ञान- दर्शनादिक की अर्थ पर्याय गुण-गुणी का भेद, कषाय से होने वाला दुःख यह सब अभूतार्थ है। एकरूप सामान्य स्वभाव भूतार्थ है। शुद्धनय का विषय सामान्य स्वभाव है। निमित्त अथवा दया, दानादि व्यवहार में से अथवा क्षयोपशम पर्याय में से सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट नहीं होती। नित्यस्वभाव एकरूप है उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

श्वेताम्बर उपाध्याय यशोविजयजी ने दिग्पट के चोरासी बोल कहे हैं, वे कहते हैं कि दिगम्बर लोग पहले निश्चय कहते है- यह दिगम्बरों की भूल है। परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। राग-व्यवहार को अभूतार्थ करके स्वभाव को भूतार्थ करना

चाहिये। मैं ज्ञायक सच्चिदानन्द हूँ- ऐसा निर्णय करने पर रागबुद्धि और पर्यायबुद्धि मिट जाती है। वे कहते हैं कि 'दिगम्बर निश्चय पहले कहते हैं; जबकि पहले तो व्यवहार होना चाहिये;' परन्तु यह उनकी भूल है। सामान्य स्वभाव परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करना निश्चय है; अपूर्णदशा में शुभराग आता है उसको जानना व्यवहार है।

मिथ्यादृष्टि शुभराग से लाभ मानता है, उसके शुभराग को व्यवहार नहीं कहते। शुद्ध आत्मा के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और शुक्लध्यान आदि की पर्याय प्रगट होती है। छहों द्रव्य स्वतन्त्र है- ऐसा समझना चाहिये। तथा जीव में होने वाली पर्याय क्षणिक है, वह उत्पाद-व्ययरूप है। धर्म पर्याय में होता है; परन्तु पर्याय के आश्रय से नहीं होता। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का शुभराग आता है उसके आधार से धर्म नहीं होता। उसका भी लक्ष्य छोड़कर शुद्धस्वभाव के आश्रय से धर्म प्रगटावे, वह निश्चय है; इसलिये निश्चय प्रथम होता है। जिसको ऐसे निश्चय का भान हो उस धर्मीजीव के शुभभाव को व्यवहार कहते हैं। अतः यशोविजयजी जो कहते हैं वह यथार्थ नहीं है।

सर्वज्ञ की वाणी में ऐसा स्वरूप आया है। यद्यपि भगवान वाणी के कर्त्ता नहीं है; बल्कि वाणी सहज निकलती है। प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है। यहाँ पर तो निश्चय-व्यवहार की बात बतलाना है।

यशोविजयजी कहते हैं कि-

निश्चयनय पहले कहै, पीछे ले व्यवहार।
भाषाक्रम जाने नहीं, जैनमार्ग को सार।।

इस प्रकार कहकर वे दिगम्बर की भूल बताते हैं। पहले व्यवहार हो तो धर्म होता है- यह बात मिथ्या है आत्मा शुद्ध चिदानन्द है- ऐसी दृष्टि होने के बाद जो राग होता है अथवा पर्याय की हीनता है उसका भलीभांति ज्ञान करना, वह व्यवहारनय का विषय है। मुनिदशा प्रगट होती है वहाँ बाह्य में शरीर की नग्नदशा सहज होती है। आत्मा जड़ की पर्याय का कर्त्ता नहीं है। विकल्प आया इसलिये शरीर की नग्नदशा हुई- ऐसा भी नहीं है; परन्तु सहज ही ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

"शिष्य को सुनने का राग आता है, इसलिये पहले व्यवहार आता है और व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है"- ऐसा यशोविजयजी कहते हैं; परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है, उसको विषय करना निश्चय है और जो शुभराग आता है उसको जानना व्यवहार है।

जब विकल्प का आश्रय छोड़कर आत्मा के सामान्य स्वभाव का आश्रय ले तब धर्म होता है। जिसने सामान्य स्वभाव का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया उसने सब जान लिया। जो शुभभाव आता है वह व्यवहार है और आत्मा के अवलम्बन से जो शुद्धता प्रगट होती है वह निश्चय है- इस प्रकार दोनो होकर प्रमाण होता है। जब शिष्य शुभराग का अवलम्बन छोड़कर शुद्ध आत्मा का आश्रय लेता है और अन्तर में प्रमाण ज्ञान होता है तब नय लागू पड़ते हैं। निश्चय का ज्ञान होने के पश्चात् राग को व्यवहार लागू पड़ता है। नय श्रुतज्ञान के अंश हैं। श्रुतज्ञान प्रमाण होने के पूर्व व्यवहार लागू नहीं पड़ता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि आत्मा राग से भिन्न और स्व से एकत्वरूप है- ऐसी बात जीवों ने सुनी नहीं है। कर्म से राग होता है-यह मान्यता भूल युक्त है। कर्म तो आत्मा से भिन्न वस्तु है, उनसे राग नहीं होता। यदि पर से अथवा कर्म से विकार होता हो तो अपनी पर्याय में पुरुषार्थ करने का अथवा व्यवहार का निषेध करने का अवसर नहीं रहता। राग को छोड़कर स्वभाव बुद्धि करे तो पूर्व राग को भूत नैगमनय से व्यवहार कहते है।

तथा यशोविजयजी कहते हैं-

तातैं सौ मिथ्यामती, जैन क्रिया परिहार।
व्यवहारी सो समकिती, कहै भाग्य व्यवहार॥

तू निश्चय को प्रथम कहता है, इस कारण मिथ्यामती है। दया,दानादि परिणाम की क्रिया जैन की है, उस क्रिया का तुमने परिहार किया है। - इस प्रकार का आक्षेप वे दिगम्बरों के ऊपर करते हैं, परन्तु उनकी यह बात सत्य नहीं है।

'हम व्यवहारी को समकिती कहते हैं और व्यवहार के बाद निश्चय आता है।'-ऐसा यशोविजयजी कहते है; परन्तु यह भूल है। वस्तुस्थिति यह है कि निश्चय के बिना व्यवहार का आरोप भी नहीं आता।

तथा यशोविजयजी कहते हैं-

जो नय पहले परिणमें सोई कहै हित होई।
निश्चय क्यों धुरि परिणमे, सूक्ष्म मति करि जोई॥

वे कहते हैं कि शिष्य भगवान अथवा गुरु की वाणी पहले सुनता है, इसलिये व्यवहार पहले आता है। अतः वह हितकारी है। इसलिये हे दिगम्बरों! पहले व्यवहार आता है, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो। परन्तु यह बात भूल युक्त है। जो दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्मकर भी व्यवहार से निश्चय प्रगट होना मानते हैं वे भी श्वेताम्बर हैं। पहले निश्चय प्रगट हो तो राग पर व्यवहार का आरोप आता है। वस्तु स्वरूप अन्यथा नहीं होता।

एक समय में उत्पाद-व्यय होता है, उसको गौण करके जो दृष्टि सामान्य ध्रुव स्वभाव पर गई वह निश्चय है और फिर जो राग आता है वह व्यवहार है- ऐसा जानना जैनदर्शन है।

प्रथम व्यवहार चाहिये- ऐसा कहने वाले भूल में हैं। व्यवहार अंधा है। निश्चय के बिना व्यवहार होता नहीं है। सामान्य एकरूप स्वरूप का अवलम्बन करना धर्म है- यही जैनशासन का सार है।

जड़ और चेतन की पर्यायें आडी-तिरछी नही होती- ऐसा निर्णय करने पर पर का कर्तत्व उड़ जाता है। मैं पर में फेरफार नही कर सकता तथा मेरे मे भी आड़ी तिरछी पर्याय नहीं होती; इसलिये उसकी दृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करना धर्म है। सामान्य की दृष्टि होने पर अनन्त निमित्तों की दृष्टि उड़ जाती है। मैं ज्ञानस्वभावी हूँ- ऐसा निर्णय होते ही पर की कर्त्ताबुद्धि छूट गई और ज्ञाता-दृष्टा रह गया।

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो या द्रव्यदृष्टि का विषय कहो-दोनो एक ही है।

समस्त पदार्थों के परिणाम क्रमबद्ध है। जो पर्याय जिस काल में होने वाली है वही होगी। पर्याय सत् है। प्रवचनसार की ९९वीं गाथा में यह बात स्पष्टरूप से आई है। जिससमय जो पर्याय होने वाली है वह आगे-पीछे नहीं होगी। आत्मा तथा अन्य समस्त पदार्थो की पर्याय व्यवस्थित है। सर्वज्ञ सब जानते हैं। सर्वज्ञ का निर्णय किस प्रकार होता है? अपनी पर्याय अल्पज्ञ है, अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता का निर्णय नहीं होगा। अपना स्वभाव सर्वज्ञ है-ऐसे ज्ञानगुण (स्वभाव) में एकाग्र होने से सर्वज्ञ स्वभाव के आश्रय से (सर्वज्ञता) का निर्णय होता है। सर्वज्ञ भगवान आत्मा में से हुए हैं। क्या सर्वज्ञता का उत्पाद व्यय में से होता है? नहीं। राग में से होता है? नहीं सर्वज्ञ स्वभाव के आश्रय से धर्मदशा प्रगटती है। इस प्रकार स्वभाव का आश्रय लेने वाले ने ही क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया है।

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने वाला पर का अकर्त्ता होता है। तथा अपने में पर्याय क्रमसर होती है- ऐसा निर्णय करते ही अक्रमस्वभाव का निर्णय होता है और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

चारों अनुयोंगो का तात्पर्य यह है कि निमित्त दृष्टि हटाना, राग दृष्टि हटाना और स्वभाव दृष्टि करना ही सम्यग्दर्शन और धर्म है, इसी को वीतराग शासन कहते है। यह न्याय हैं। वस्तु की जैसी मर्यादा है उस तरफ ज्ञान के ले जाने को न्याय कहते हैं।

इस प्रकार स्वभाव दृष्टि करना, निश्चय है और उस समय जो राग और निमित्त हो उसको जानना, व्यवहार है; परन्तु जो व्यवहार और निमित्त को प्रथम मानता है और उनसे धर्म मानता है वह श्वेताम्बर है, दिगम्बर नहीं है।

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि

....अब, व्यवहाराभासपक्ष के धारक जैनाभासों के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं :-

जिनागम में जहाँ व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है, उसे मानकर बाह्यसाधनादिकही का श्रद्धानादिक करते हैं, उनके सर्वधर्म के अंग अन्यथारूप होकर मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं- सो विशेष कहते हैं।....

अब व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि की बात करते हैं। जिनागम में व्यवहार की मुख्यता से व्याख्यान है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है- ऐसी दृष्टि जिसको हुई है उसके शुभराग को व्यवहार कहते हैं। अज्ञानी जीव दया, दानादि को धर्म का साधन मानता हैं। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, पंच महाव्रत का राग और शास्त्र का ज्ञान तो अज्ञानी जीव ने अनन्त बार किया है; परन्तु अन्दर में द्रव्य साधन है उसकी दृष्टि नहीं की है। कषाय की मंदता को तथा देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को निमित्त अपेक्षा से साधन कहते हैं, परन्तु वह यथार्थ साधन नहीं है। जो कषाय की मंदता से धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। धर्म का साधन तो कारणपरमात्मा है- कारण शुद्ध जीव है। त्रिकाली ध्रुव शक्ति को कारण शुद्ध जीव कहते हैं। उसमें से केवलज्ञानादिरूप कार्य होता है। केवलज्ञान केवलआनन्द प्रगट होने की शक्ति द्रव्य में है। वर्तमान पर्याय में अथवा व्यवहार रत्नत्रय में केवलज्ञान प्रगट करने की ताकत नहीं है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ,- इसमें से सम्यग्दर्शन ज्ञानरूपी कार्य प्रगट होता है।

शुद्ध जीव कारणपरमात्मा है। उसमें से मोक्षमार्ग और मोक्षरूप कार्य प्रगट होता है। केवलज्ञान-केवलदर्शन-आनन्द और वीर्य कार्य परमात्मा है और शुद्धजीव शक्तिरूप कारणपरमात्मा है। जिसकी दृष्टि निजकारणपरमात्मा पर नहीं है; किन्तु व्यवहार पर दृष्टि है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। दया, दानादि के परिणाम धर्म के साधन नहीं है। जिसको अपेक्षा नहीं लगती- ऐसा परमपारिणामिकभाव साधन है।

औदयिकभाव जीव का स्वतत्त्व है। कर्म के कारण दया,दानादि अथवा काम, क्रोधादि के परिणाम नही होते हैं। औदयिक, ओपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक-ऐसे पाँचों भाव जीव का स्वतत्व है। कर्म अजीव तत्व है। कर्म की अस्ति है, इसलिये औदायिकभाव है- ऐसा नहीं है। औदायिकभाव पर्याय में अपने कारण से होता है। दया, दान, व्रत, पूजा आदि औदायिकभाव है। अज्ञानी उन्हें धर्म का साधन मानता है। आत्मा में 'करण' नामक शक्ति है, उसका अवलम्बन ले तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। उस मोक्षमार्ग का व्यय होकर मोक्ष प्रगट होता है। कारणपरमात्मा एकरूप सदृश भगवान है। उसके अवलम्बन से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय प्रगट होती है। उसमें सम्यग्दर्शन उपशम, क्षयोपशम या क्षायिक होता है। ज्ञान और चारित्र क्षयोपशम भावरूप है।

सात तत्वों की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। तो सात तत्व कब रहे? कर्म अजीव तत्त्व है, अपनी पर्याय में होने वाले राग-द्वेष आस्रव तत्व है। अजीव से आस्रव का होना माने तो सात तत्व नहीं रहते। अजीव से आस्रव माने, कर्म के उदय से विकार माने-उसने अजीव और आस्रव को एक माना। यहाँ भाव आस्रव की बात है। द्रव्य आस्रव, पुण्य-पाप, द्रव्य बंध, द्रव्य निर्जरा, द्रव्य मोक्ष आदि अजीव तत्व में आ जाते हैं। एक समय की पर्याय में होने वाले राग-द्वेष आस्रव तत्व है। जो कर्म से विकार मानता है उसने विकार को- आस्रव को स्वयं (स्वतन्त्र) नहीं माना; इस कारण सात तत्व नहीं रहते। अजीव से आस्रव मानने वाला व्यवहाराभास मे जाता है।

इसी प्रकार आस्रव से धर्म मानना भी भूल है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र संवर-निर्जरा में आते हैं। यदि आस्रव से संवर माने तो आस्रव और संवर प्रथक् नहीं रहते ।

सामान्य से विशेष होता है-ऐसा भी यहाँ नही कहना है। प्रथम सामान्य और विशेष को निरपेक्ष स्वीकार न करे तो एक -दूसरे की हानि होती है। स्वयं सिद्ध न होतो दोनो का नाश होता है। यह बात आचार्य समन्तभद्र कृत आप्त मीमांसा में आती हैं। जीव है, संवर है, निर्जरा है- सब है। इनमें जीव सामान्य में आता है और आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष-ये पाँच पर्यायें हैं अथवा विशेष हैं। इस प्रकार सामान्य और विशेष को भी स्वतन्त्र और निरपेक्ष मानना चाहिये।

पहले सात तत्वों को निरपेक्ष जानना चाहिये। अजीव की पर्याय अजीव से है, आस्रव अजीव से नहीं है। तत्व वस्तु है, अवस्तु नहीं। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय (भी) वस्तु है। एक पर्याय में अनन्त धर्म आते हैं। एक आस्रव पर्याय में संवर की नास्ति, अजीव की नास्ति तथा पूर्व- उत्तर पर्याय की नास्ति है।

नौ तत्वों को प्रथक् नहीं मानने वाला व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। आस्रव विकारी तत्व है। आस्रव से संवर-निर्जरा मानने पर संवर-निर्जरा तत्त्व निरपेक्ष नहीं रहते। आस्रव औदयिकभाव है, संवर-निर्जरा क्षयोपशमिकभाव है। औदयिकभाव से क्षयोपशमिक भाव नहीं होता। तथा कर्म अजीव है। अजीव से औदयिकभाव नहीं होता।

भावबंध औदयिकभाव है। संवर-निर्जरा अपूर्ण शुद्ध पर्याय है। मोक्ष पूर्ण शुद्ध पर्याय है। जीव तत्व परमपारिणामिक भाव में आता है। पुद्गल में पारिणामिक तथा औदायिक ये दो भाव कहे हैं। कारणशुद्धजीव कारणपरमात्मा है वह जीव तत्व है। इस प्रकार सातों तत्वों की निरेपक्षता सिद्ध करने के पश्चात् सापेक्षता लागू पड़ती है। संवर-निर्जरा कहाँ से आते हैं? पहले नहीं थे तो कहाँ से आये ? द्रव्यस्वभाव में से आते हैं- यह सापेक्ष कथन है। तथा विकार कहाँ से आता है ? स्वभाव का लक्ष्य छोड़कर निमित का लक्ष्य करने वाले को विकार होता है-यह कथन भी सापेक्ष है। दया, दानादि के परिणाम आस्रव तत्व में आते हैं। निश्चय मोक्षमार्ग संवर-निर्जरा तत्व में आता है। इसप्रकार जिसको नव तत्वों की भिन्नता का पता नहीं है तो वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। अपने आत्मा का भान होना निश्चय है-ऐसे धर्मी जीव के शुभराग को व्यवहार कहते हैं।

अज्ञानी जीव बाह्य (शुभरागादि) को ही साधन मानता है, उसने अन्तर साधन छोड़ दिया है। मैं शुद्ध कारणपरमात्मा हूँ-ऐसी निर्विकल्प दृष्टि होने के बाद अपूर्ण दशा में जो शुभराग आता है उसको व्यवहार कहते हैं। जो राग आना है वह आयेगा। जितने तीनकाल के समय है उतनी चारित्रगुण की पर्यायें हैं। धर्मी जीव को शुभराग लाने की भी भावना नहीं है।

ज्ञान की, मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्याय और केवल ऐसी पाँच पर्यायें हैं। केवलज्ञान भी एकसमय की पर्याय है। ज्ञान गुण की स्थिति त्रिकाल है। केवलज्ञान पर्याय भी दूसरे समय नहीं रहती; ऐसी की ऐसी सदृश रहे वह अलग बात है; परन्तु पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय के समय नहीं रहती।

इसी प्रकार श्रद्धा गुण त्रिकाल है। मिथ्यादर्शन उसकी पर्याय है वह कर्म के कारण नहीं है। वह पर्याय भी स्वयं सत् है। पूर्व की मिथ्याश्रद्धा का व्यय, नई मिथ्या श्रद्धा का उत्पाद और श्रद्धा गुण ध्रुव है। इस प्रकार तीनो सत् है। इस प्रकार जो स्वतन्त्र सत् को नहीं मानता और कर्म से परिणाम (पर्याय) व राग से धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा का भान होने पर मिथ्यादर्शन का व्यय होकर सम्यग्दर्शन का उत्पाद होता है और श्रद्धा गुण कायम रहता है। नव तत्वों को स्वतन्त्र नहीं मानने वाले के मिथ्यादर्शन की पर्याय होती है और नव तत्वों को स्वतन्त्र मानकर स्वसन्मुख झुकने वाले के सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट होती है।

अब चारित्र की बात करते हैं। आत्मा में कर्म के उदय के कारण कुछ नहीं होता। कर्म के कारण आत्मा में कुछ असर अथवा विलक्षणता नहीं होती । चारित्र की विकारी अथवा अविकारी पर्याय स्वतन्त्र होती है। नव तत्त्वों (पदार्थो) को स्वतन्त्र मानना चाहिये। शुद्ध जीव की प्रतीति होने के पश्चात् साधक को शुभराग आता है। कर्म की पर्याय कर्म में है, कर्म के उदय के कारण जीव में राग नही होता। अज्ञानी जीव की दृष्टि कर्म और संयोग के उपर है- इस कारण आत्मा आस्रव से प्रथक है- ऐसी भावना वह नहीं कर सकता। जब जीव पर का लक्ष्य छोड़कर ज्ञायक स्वभाव का लक्ष्य करता है तब मिथ्यादर्शन का व्यय होकर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। जिसको ऐसा भान नही है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। विकल्प से निर्विकारी धर्म प्रगट होना मानने वाला व्यवहाराभासी है।

धर्मी जीव समझता है कि श्रद्धागुण निर्मल हुआ है; परन्तु चारित्र गुण पूर्ण निर्मल नहीं हुआ। यदि श्रद्धा के साथ ही चारित्रादि समस्त गुण निर्मल हो जाते हों तब तो साधक और सिद्ध में कुछ अन्तर ही नहीं रहता। आत्मा का भान होने पर भी ज्ञानी साधक को राग आता है, उसे वह जानता है, उसके शुभराग को व्यवहार कहते हैं। जो आत्मा का भान होकर लीनता हुई है उसमें ध्रुव उपादान कारण परमात्मा है और क्षणिक उपादान उस-उस समय की संवर-निर्जरा की पर्याय है। केवलज्ञान निमित में से नहीं आता, आस्रव और बंध में से नहीं आता; संवर-निर्जरा में से भी नहीं आता। संवर-निर्जरा अपूर्ण निर्मल पर्याय है उसमें से पूर्ण निर्मल पर्याय नहीं आती; परन्तु कारण परमात्मा में से केवलज्ञान प्रगट होता है।

मोक्षमार्ग दो नहीं है। मोक्षमार्ग तो निश्चय एक ही है। निमित्त और पर से उदासीन होकर, विकार बुद्धि छूटकर स्वभाव बुद्धि हुई है; परन्तु साधक दशा में शुभभाव आता है उस शुभराग को व्यवहार कहते है; परन्तु वह व्यवहार है इसलिये संवर-निर्जरा टिकती है- ऐसा नहीं है। मुनि को अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प है इसलिये मुनिपना टिकता है- ऐसा नहीं है। तथा चौथे गुणस्थान वाले को अष्ट मूलगुणों का पालन है इसलिये सम्यग्दर्शन टिकता है- ऐसा नहीं है; परन्तु आत्मा को साधन मानकर आत्मा का अवलम्बन लेते हैं तो आत्मा के आधार से सम्यग्दर्शन अथवा मुनिपना टिकता है।

आस्रव से संवर-निर्जरा नहीं होती। तथा संवर-निर्जरा को भी स्वतन्त्र सिद्ध करके वह द्रव्य के आश्रय से प्रगट होती है- ऐसा सापेक्ष निर्णय करे; परन्तु निमित्त आये तो पर्याय प्रगट होगी- ऐसा माने तो क्या निमित्त अव्यवस्थित है ? अथवा पर्याय अनिश्चित है ? अमुक निमित्त आवे तो अमुक पर्याय प्रगटे- ऐसी मान्यता में तो पर्याय की अनिश्चितता हो जाती है; अतः सभी पर्यायें अनिश्चित हो जाती है।

मोक्ष पूर्ण शुद्ध पर्याय है। पहले "है" ऐसा निश्चित करो। वह किसकी है- यह बाद में निश्चित होता है। स्वतन्त्र सिद्ध किये बिना सापेक्षता लागू नहीं पड़ती। 'मोक्ष है'-ऐसा निश्चित करने के बाद वह जीव की पूर्ण शुद्ध पर्याय है- ऐसी सापेक्षता लागू

पड़ती है। संवर-निर्जरा है- ऐसा निरपेक्ष निर्णय करने के पश्चात् वे जीव की अपूर्ण निर्मल पर्यायें हैं- ऐसी सापेक्षता लागू पड़ती है।

श्री प्रवचनसार में कहा है कि व्यय-व्यय से है, उत्पाद-उत्पाद से है, ध्रुव-ध्रूव से है-ऐसे तीन अंश निरपेक्ष हैं। व्यय उत्पाद से नहीं है, उत्पाद व्यय से नहीं है। तीनो अंश सत् है। तीनो एक ही समय में है। व्यय में उत्पाद- ध्रुव का अभाव, उत्पाद में व्यय- ध्रुव का अभाव और ध्रुव में उत्पाद-व्यय का अभाव है। इस प्रकार तीनों अंशो को सत् सिद्ध किया है।

वस्तु में वस्तुपने को निपजाने वाली परस्पर विरूद्ध दो शक्तियों का एक साथ प्रकाशित होना अनेकान्त है। उत्पाद,उत्पाद से है; परन्तु व्यय से नहीं। आस्रव, आस्रव से है; परन्तु अजीव से नहीं। आस्रव विशेष है वह विशेष से है और जीव सामान्य से नहीं। संवर संवर से है, जीव से नहीं। संवर से निर्जरा नहीं। मोक्ष मोक्ष से है, निर्जरा से नहीं- इस प्रकार नौं तत्त्व प्रथक् सिद्ध होने के पश्चात् सापेक्षता लागू पडती है।

सामान्य से विशेष मानने पर दोनो की हानि (अभाव) हो जाता है। सामान्य भी है और विशेष भी है-इसमें किसकी अपेक्षा है? दोनो निरपेक्ष हैं। इसमें किसी की अपेक्षा नहीं है। तथा उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीन अंश किसी की अपेक्षा रखे तो वे तीन नहीं रहते। नौ पदार्थो में किसी को किसी की अपेक्षा हो तो वे नौ नहीं रहते। छह द्रव्यों में कोई किसी की अपेक्षा रखे तो वे छह नहीं रहते।

उत्पाद से व्यय माने तो व्यय सिद्ध नहीं होता, व्यय नहीं हो तो उत्पाद नहीं होता-ऐसा सापेक्षता वाला कथन बाद में आता है। विकारी पर्याय हो या अविकारी पर्याय हो-प्रत्येक पर्याय निरपेक्ष है।

अज्ञानी जीव को आगम के व्यवहार ज्ञान का भी पता नही है।

जो व्यवहार से, पुण्य से, निमित्त से धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा की पर्याय में अशुद्धता है जो उसे नहीं मानता और एकान्त शुद्ध ही मानता है वह निश्चयाभासी है। अवस्था में विकार है और द्रव्यस्वभाव शुद्ध है। शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करके अशुद्धता का नाश करना मोक्षमार्ग है। कोई ऐसा माने कि पर्याय में अशुद्धता अथवा संसार नहीं है, तो वह मिथ्यादृष्टि है। तथा कोई पुण्य से धर्म माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। आत्मा शुद्ध ज्ञायक है, त्रिकाली शुद्ध चिदानन्द हैं पर्याय के विकार को गौण करके शुद्ध चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि करना धर्म है। उस दृष्टि को छोड़कर पर्याय में होने वाले व्रत, तप के भाव को धर्म मानना व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टिपना है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने 'पंचास्तिकाय' में निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी का वर्णन किया है। वही वर्णन यहाँ पण्डित टोडरमलजी ने किया है।

मैं अक्रिय शुद्ध चिदानन्द हूँ- ऐसी दृष्टि जिसे नहीं हुई और पर्याय में होने वाले दया, दान को धर्म मानता है। वह व्यवहाराभासी है। निश्चय के बिना व्यवहार को व्यवहाराभास कहते हैं। द्रव्यदृष्टि से-सदृशदृष्टि से मैं ध्रुव नित्य शुद्ध हूँ- ऐसी दृष्टि जिसको नहीं हुई है और दया, दान को धर्म मानकर सन्तोष मानता है वह व्यवहाराभासी है। जिसको निश्चय की (भगवानआत्मा की) दृष्टि नहीं है उसको व्यवहाराभासी अथवा जैनाभासी कहते हैं।

श्वेताम्बर के यशोविजयजी ने चोरासी दिगपट में दिगम्बरों की भूल बताई है वे कहते हैं "तुम ज्ञाता- दृष्टा स्वभाव की श्रद्धारूप निश्चय होने के पश्चात् रागादि को व्यवहार कहते हो; जबकि हम व्यवहार को पहले कहते हैं;" परन्तु वस्तुतः इस बात में श्वेताम्बर मत की भूल है। जो पहले व्यवहार मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। उन्होंने दिगम्बरमत की भूल निकाली है; परन्तु दिगम्बर की भूल नहीं है। दिगम्बर अर्थात् वस्तु दर्शन। मैं ज्ञायक शुद्ध चिदानन्द हूँ। मेरा आत्मा ज्ञान स्वभावी है-ऐसी दृष्टि जिसको हुई है उसके शुभराग को व्यवहार कहते हैं। यह जैन धर्म है।

व्यवहार को प्रथम मानने वाला व्यवहाराभासी है। जिसको निश्चय की दृष्टि हुई है और व्यवहार को हेय मानता है उसके शुभराग को व्यवहार कहते हैं। वर्तमान में

तो कितने ही विद्वान व्यवहार को पहले कहते हैं, वे कहते हैं कि निश्चय बाद में प्रगट होता है। वे सब यशोविजय की मान्यता को आधार देने वाले व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि हैं।

सम्यग्दृष्टि को श्रुतज्ञान प्रमाण होता है। उस प्रमाण ज्ञान में निश्चय और व्यवहार-ये दो भाग पड़ते हैं। इस बात का भान नहीं है और जो राग में धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

यशोविजयजी कहते हैं कि-''प्रथम व्यवहार होना चाहिये''-ऐसी दृष्टि पूर्वक ही श्वेताम्बर मत निकला है। इसी प्रकार वर्तमान के दिगम्बर पण्डित भी यदि ऐसा ही कहते हैं तो वे भी श्वेताम्बरों की तरह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इन सभी बातों का स्पष्टीकरण किया है। प्रथम निश्चय हो तो शुभराग को व्यवहार कहते हैं। जीव खोटा मुनिव्रत अर्थात् व्यवहाराभास धारण करके अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक तक गया है; परन्तु आत्मज्ञान अर्थात् निश्चय बिना किंचित्मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हुआ। अतः प्रथम आत्मा का ज्ञान होना चाहिये।

पूर्व के कितने ही पण्डित यथार्थ दृष्टिवंत थे। श्रावक पण्डित टोडरमलजी, दोलतरामजी, दीपचन्दजी आदि यथार्थ थे, जो उनकी सच्ची दृष्टि का विरोध करता है वह व्यवहाराभासी है।

शुद्ध आत्मा सम्यग्दर्शन की पर्याय का उत्पादक है। सम्यग्दर्शन निमित्त, राग अथवा पर्याय में से नहीं आता। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय है। नई पर्याय उत्पन्न होती है वह गुण नहीं है। गुण का उत्पाद नहीं होता। श्रद्धा की विपरीत पर्याय का नाश होकर अविपरीत पर्याय का उत्पाद होता है-वह कहाँ से होता है? सम्यग्दर्शन पर्याय शुद्ध है-वह कहाँ से आती है? वह पर्याय निमित्त, राग अथवा पर्याय में से नहीं आती, द्रव्यस्वभाव में से वह पर्याय आती है।

अज्ञानी जीव के धर्म के सर्व अंग अन्यथारूप होकर मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं।

....यहाँ ऐसा जान लेना कि व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति से पुण्यबन्ध होता है, इसलिये पापप्रवृत्ति की अपेक्षा तो इसका निषेध है नहीं; परन्तु यहाँ जो जीव व्यवहारप्रवृत्ति ही से सन्तुष्ट होकर सच्चे मोक्षमार्ग में उद्यमी नहीं होते हैं, उन्हें मोक्षमार्ग में सन्मुख करने के लिये उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का भी निषेधरूप निरूपण करते हैं।

यह जो कथन करते हैं उसे सुनकर यदि शुभप्रवृत्ति छोड़ अशुभ में प्रवृत्ति करोगे तब तो तुम्हारा बुरा होगा; और यदि यथार्थ श्रद्धान करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा। जैसे- कोई रोगी निर्गुण औषधि का निषेध सुनकर औषधि साधन को छोड़कर कुपथ्य करे तो वह मरेगा, उसमें वैद्य का कुछ दोष नहीं है; उसी प्रकार कोई संसारी पुण्यरूप धर्म का निषेध सुनकर धर्मसाधन छोड़ विषय-कषायरूप प्रवर्तन करेगा तो वही नरकादि मं दुःख पायेगा। उपदेशदाता का तो दोष है नहीं। उपदेश देनेवाले का अभिप्राय तो असत्य श्रद्धानादि छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगाने का जानना।

सो ऐसे अभिप्राय से यहाँ निरूपण करते हैं।....

यहाँ ऐसा जानना कि दया, दान, यात्रादि के भाव से पुण्य बंध होता है। पुण्य को छोड़कर पाप प्रवृत्ति करना योग्य नही है- इस अपेक्षा तो शुभ का निषेध नहीं है; परन्तु जो जीव आत्मा की दृष्टि नहीं करता और दया, दानादि से धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। उसके जन्म-मरण का अभाव नहीं होता। जीव अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक तक गया है, हजारों रानियों का त्याग करके मुनि हुआ है, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन किया है, जैन दर्शन की व्यवहार प्रतीति की है- ऐसा मुनिपना अनन्तबार लिया है, परन्तु शुद्ध आत्मा के भान बिना यह सब अफल है, संसार के लिये (सफल) है। जीव व्यवहार से सन्तुष्ट होता है। उपवास और व्रतादि से धर्म मानता है। कषाय की मंदता में धर्म नहीं; परन्तु पुण्य है। जगत में नौ पदार्थ हैं। नौ पदार्थ किसप्रकार रहें ? पुण्य को धर्म माने तो आस्रव और संवर एक हो जाते हैं और नौ पदार्थ नहीं रहते। पुण्यास्रव से संवर-निर्जरा नहीं होती; परन्तु अज्ञानी मानता है कि व्यवहार अर्थात् पुण्यास्रव करते-करते धर्म होगा; परन्तु व्यवहार का आदर करके निश्चय का अनादर करने से धर्म नहीं होता।

जीव ने मुनिपना धारण करके अट्ठाईस मूलगुणों का (निरतिचार) पालन (अनन्तबार) किया है। अभी तो व्यवहार अट्ठाईस मूलगुणों का भी ठिकाना नहीं हैं। मुनि के लिये पानी गर्म करना, कैला, मौसम्मी आदि लाना-यह सब उद्देशिक (उद्दिष्ट) आहार है। उसमे निश्चय तो नहीं, परन्तु व्यवहार भी खोटा है। उद्देशिक आहार लेने वाले और देने वाले-दोनो को पाप लगता है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव का भान होने पर आत्मा के आश्रय से धर्म होता है वह निश्चय है और (भूमिकानुसार) आने वाला शुभभाव व्यवहार है; परन्तु जिसके व्यवहार के भी ठिकाने नहीं है उसकी बात यहाँ नहीं है। मुनि को पता लग जाये कि हमारे लिये आहार बनाया है, फिर भी ले तो उसका व्यवहार खोटा है और निश्चय तो उसके है ही नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि जो व्यवहार का यथार्थ पालन करता है, परन्तु उसमें धर्म मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। जैसे थैली में चिरायता डालकर उस पर मिश्री का नाम लिखने से चिरायता मिश्री नहीं हो जाता। उसी प्रकार अन्तर में जैन धर्म नहीं होने पर भी बाह्य में जैन नाम धराने से जैन नहीं हो जाता। श्री कुन्दकुन्दआचार्य आदि समर्थ मुनिराजों ने धर्म का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित किया है। कहा है कि जो व्यवहार से सन्तुष्ट होता है और कषाय मंदता से धर्म मानता है व मैं ज्ञायक हूँ, पुण्य रहित हूँ- ऐसी निश्चय दृष्टि नहीं करता और न उसका उद्यमी होता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

नौ तत्वों में चारित्र संवर-निर्जरा तत्व में आता है। अज्ञानी भक्ति, पूजा में सन्तोष मानता है। मन्दिर में लाखों रूपये देने से धर्म नहीं होता। रूपयों का आना-जाना तो जड़ की क्रिया है और कषाय की मंदता करे तो पुण्य है। पुण्य से रहित आत्मा की श्रद्धा करे तो धर्म है। अज्ञानी जीव ने सत्य मार्ग के लिये प्रयत्न नहीं किया है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है, पुण्य अपराध है, ध्रुवस्वभाव निर्दोष है उसकी रुचि अज्ञानी नहीं करता- इस कारण वह व्यवहाराभासी है।

अपनी पर्याय में होने वाली व्यवहार परिणति सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है। जीव अपनी आत्मा की श्रद्धा करे तो व्यवहार को उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं। निश्चय हो तो शुभराग को व्यवहार कहते हैं।

अज्ञानी कहता है कि पहले व्यवहार तो चाहिये न! परन्तु यह जैनधर्म की रीति नहीं है। जो सच्चे मोक्षमार्ग का प्रयत्न करता है उसको जबतक पूर्ण वीतरागता प्राप्त न हो वहाँ तक उसके शुभराग को व्यवहार कहते हैं। निश्चय दशा अविकारी है और शुभभाव विकार है। विकार से अविकारी कार्य होना कभी संभव नही है। जीव स्वयं निश्चय प्रगट करे तो व्यवहार को कारण कहा जाता है। जीव ने व्यवहार तो बहुत बार किया परन्तु उसको हेतु नहीं कहते; क्योंकि उसने स्वभाव की दृष्टि और पुरुषार्थ नहीं किया।

मोक्षमार्ग दो प्रकार के नहीं हैं, मोक्षमार्ग एक ही है। दया,दानादि को व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह बंधमार्ग है। मुनि को बारम्बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान आता है, वे मन से प्रथक् आत्मा का अनुभव करते हैं- ऐसे अनुभव बिना मुनि द्रव्यलिंगी है। तथा उसमें भी अट्ठाईस मूलगुणों का यथार्थ पालन करे तो द्रव्यलिंगी है और अट्ठाईस मूलगुणों का यथार्थ पालन न करे तो द्रव्यलिंगी भी नही है।

वर्तमान में भगवान श्री सीमन्धर स्वामी यही बात दिव्यध्वनि द्वारा कह रहे हैं।

अज्ञानी जीव सच्चे मोक्षमार्ग में उद्यमी नहीं है। आत्मा शुद्ध निर्विकल्प है- ऐसी दृष्टि-ज्ञान-स्थिरता जिसने नहीं की और व्यवहार में धर्म मान लिया है- ऐसे जीव को मोक्षमार्ग के सन्मुख करने के लिये उसकी शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का निषेध करते हैं। उस जीव को आत्मा का भान नहीं है और शुभ से धर्म मानकर सन्तुष्ट होता है। इस कारण उसकी प्रवृति मिथ्या है। निश्चय के भान बिना व्यवहार व्यवहार भी नहीं रहता।

हमारा यह आशय नहीं है कि शुभ छोड़कर अशुभ करो। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारा बुरा होगा; परन्तु यदि यथार्थ श्रद्धा करोगे तो कल्याण होगा। पुण्य आस्रव है, आस्रव धर्म नहीं है। बारह व्रत, पाँच महाव्रत पुण्यास्रव है। जो आस्रव को संवर

मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आस्रव की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करने से धर्म होगा। जड़ की क्रिया जड़ से होती है। कषाय की मंदता पुण्य है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है-ऐसी यथार्थ श्रद्धा करोगे तो तुम्हारा भला होगा। पुण्य छोड़कर पाप में लगोगे तो भला नहीं होगा और पुण्य को धर्म मानोगे तो भी भला नहीं होगा। स्वभाव की दृष्टि में धर्म है। कहा भी है कि:-

आत्मभ्रान्ति समरोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार-ध्यान।।

आत्मसिद्धि,-श्रीमद्राजचन्द

पुण्य से और पर से कल्याण होगा-यह महा भ्रान्ति है। पुण्य से शरीर का रोग मिट जाता है; परन्तु वह वास्तविक रोग नहीं है। चिदानन्द आत्मा में विकार होता है, उस विकार से कल्याण होगा-ऐसी मान्यता ही वास्तव मे महारोग है, वह क्षय रोग है; इसलिए यथार्थ श्रद्धान करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा।

यहाँ दृष्टान्त देते है कि जैसे कोई रोगी निर्गुण औषधि का निषेध सुनकर औषधिसाधन छोड़ दे और कुपथ्य सेवन करे तो वह मरता है। सच्चे वैद्य द्वारा प्रदत्त औषधि को छोड़कर कुपथ्य का सेवन करेगा तो मरेगा, इसमें वैद्य का दोष नहीं है। इसी प्रकार कोई संसारी जीव पुण्यरूप धर्म का निषेध सुनकर धर्म साधन छोड़ेगा और पुण्य को छोड़कर पाप करेगा तो नरकादि गति के दुःख को प्राप्त करेगा। आत्मा में होने वाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा आत्मा को लाभकर्त्ता है। पुण्य परिणाम निर्गुण है, लाभ कर्त्ता नहीं। वह बंध का कारण है, उससे जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। शुद्ध चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि हुए बिना धर्म नहीं होता। देखो! पुण्य को निर्गुण औषधि कहा है। पर्याय में पुण्य होता है वह विपरीत परिणाम है, उससे आत्मा को लाभ नहीं होता। वह निर्गुण औषधि है; कारण कि पुण्य से धर्मरूपी गुण नहीं होता।

पुण्य से स्वर्ग में जाकर सीमन्धर परमात्मा के पास जाऊँगा- ऐसा मानने वाले की दृष्टि संयोग पर है। वहाँ जाकर भी वह यही बुद्धि रखने वाला है। जीव ने शुद्ध

चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि नहीं की है; अतः समवसरण में जाने पर भी भगवान की वाणी का रहस्य नहीं समझा। (भगवान की वाणी का आशय) पुण्य छुड़ाकर पाप कराने का नहीं है। अज्ञानी पुण्य से धर्म मानता है; इस कारण पुण्य का धर्म के कारण के रूप में निषेध करते हैं। इस पर भी यदि कोई विपरीत समझे तो उपदेशदाता का कोई दोष नहीं है।

उपदेशदाता का अभिप्राय तो सच्ची श्रद्धा कराकर असत् श्रद्धा-असत् ज्ञान और असत् आचरण छुडाने का है। सम्यग्दर्शन बिना बाह्य चारित्र अरण्य में रुदन के समान है, उसको जन्म-मरण का नाश नहीं होगा। आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है, पर्याय में पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं वे व्यर्थ हैं। इनसे रहित आत्म की दृष्टि न करे तो धर्म नहीं होता। उपदेशदाता का अभिप्राय तो असत्य श्रद्धा छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगाने का है, यात्रा और दया, दानादि के परिणाम छुड़ाकर दुकानादि के पापभाव कराने का अभिप्राय नहीं है। परन्तु अज्ञानी जीव दया, दान करते- करते धर्म होगा-ऐसा मानता है उसकी असत्य श्रद्धा का निषेध कराते हैं।

आत्मा के भान बिना व्यवहार सच्चा नहीं है। निश्चय स्वभाव आदरणीय है और व्यवहार जानने योग्य है, व्यवहार आदरणीय नहीं है। इस प्रकार कहकर हमारा अभिप्राय तो मोक्षमार्ग में लगाने का है और इसी अभिप्राय से यहाँ निरूपण करते हैं।

अज्ञानी ऐसा विरोध करता है कि तुम निमित्त को तथा व्यवहार को मानते ही नहीं। यदि इनसे लाभ मानो तो इन्हें माना कहा जाए; तो ज्ञानी उसकी मिथ्या मान्यता का निषेध करते हैं। सबसे बड़ा पाप तो मिथ्या अभिप्राय है उसका अज्ञानी को पता नहीं है।

कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी

....वहाँ कोई जीव तो कुलक्रम से ही जैनी हैं, जैनधर्म का स्वरूप जानते नहीं, परन्तु कुल में जैसी प्रवृत्ति चली आयी है वैसे प्रवर्तते हैं। वहाँ जिस प्रकार अन्यमती अपने कुलधर्म में प्रवर्तते हैं उसी प्रकार यह प्रवर्तते हैं। यदि

कुलक्रम ही से धर्म हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा हो जायें। जैन धर्म की विशेषता क्या रही?

वही कहा है :-

लोयम्मि रायणीई णायं ण कुकम्मि कइयावि।
किं पुण तिलोय पहुणो जिणंदधम्माहिगारम्मि।।7।।

(उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला)

अर्थः- लोकमें यह राजनीति है कि कदाचित् कुलक्रम से न्याय नहीं होता। जिसका कुल चोर हो, उसे चोरी करते पकड़ लें तो उसका कुलक्रम जानकर छोड़ते नहीं हैं, दण्ड ही देते हैं। तो त्रिलोकप्रभु जिनेन्द्रदेव के धर्म के अधिकार में क्या कुलक्रमानुसार न्याय संभव है?

तथा यदि पिता दरिद्री हो और आप धनवान हो, तब वहाँ तो कुलक्रम का विचार करके आप दरिद्री रहता ही नहीं, तो धर्म में कुलका क्या प्रयोजन है? तथा पिता नरक में जाये और पुत्र मोक्ष जाता है, वहाँ कुलक्रम कैसे रहा? यदि कुलपर दृष्टि हो तो पुत्र भी नरकगामी होना चाहिये। इसलिये धर्म में कुलक्रम का कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

शास्त्रों का अर्थ विचारकर यदि कालदोष से जिनधर्म में भी पापी पुरुषों द्वारा कुदेव-कुगुरु-कुधर्म सेवनादिरूप तथा विषय-कषाय पोषणादिरूप विपरीत प्रवृत्ति चलाई गई हो, तो उसका त्याग करके जिन आज्ञानुसार प्रवर्तन करना योग्य है।....

कोई जीव तो कुलक्रम से ही जैनी है। जैसे चिरायता की थैली पर शक्कर नाम लिख देने से वह शक्कर नहीं बन जाती। उसी प्रकार अन्तर जैन का पता न हो और बाह्य में जैन नाम धरावे, तो इससे वह जैन नहीं हो जाता। जैन कुल में जन्मने मात्र से ही जैन नहीं हो जाता। जीव को जैनदर्शन का पता नहीं; परन्तु कुलक्रम से जैन हो गया है। ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा की दृष्टि से पर्याय में होने वाले विकार को नाश करे वह जैन है; परन्तु बाह्य में अपने को जैन मानने वाला जैन नहीं है। हमारे बाप-दादा जैन थे, इसलिये हम जैन हैं-ऐसा कोई कहे तो वह यथार्थ जैनी नहीं है। अन्तर दृष्टि से ही यथार्थ जैनी हुआ जाता है।

जैसे अन्यमती अपने कुलक्रम में प्रवर्ततें हैं; उसी प्रकार तू भी प्रवर्तता है; इसलिये तू जैन नहीं है। जैसे अन्यमती वेदान्ती, मुसलमान आदि कुलक्रम में प्रवर्तते हैं; उसी प्रकार यह भी ऐसे वर्तता है। यदि कुलपरम्परा से ही धर्म होता हो तो मुसलमानादि सर्व धर्मात्मा ठहरें, तो फिर जैनधर्म की विशेषता क्या रही ?

लोक में भी ऐसी राजनीति है कि कुलक्रम से कभी भी न्याय नहीं होता। जैसे जिसका कुल चोर है उसे चारी करते हुए पकड़े तो कुलक्रम जानकर छोड़ नहीं देते; परन्तु दण्ड ही देते हैं। तो सर्वज्ञ भगवान के धर्म के अधिकार में कुलक्रमानुसार न्याय कैसे संभव है? जो जैनकुल में जन्म लेकर जैनधर्म की परीक्षा नहीं करता वह व्यवहाराभासी है। जैन धर्म में परीक्षा करनी चाहिये। पुण्य-पाप स्वतन्त्र होते हैं और स्वभाव पुण्य-पाप रहित है- ऐसा निर्णय करना चाहिये। पिता गरीब हो और स्वयं पैसे वाला हो गया हो तो पिता गरीब था इसलिये पैसे छोड़ नहीं देता। जब व्यवहार में कुल का प्रयोजन नहीं है तो फिर धर्म में कुल का क्या प्रयोजन है? मैं दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्मा हूँ- इतने मात्र से धर्म नही हो जाता। आत्मा क्या है, निमित-नैमितिक सम्बन्ध क्या है- यह सब जानना चाहिये। परम्परा अनुसार मान ले, परन्तु यथार्थ पहिचान नहीं करे तो धर्म में नहीं चलता। धर्म में कुल का प्रयोजन नहीं है। पिता नरक मे जाए और पुत्र मोक्ष में जाए- इसमें कुल की परम्परा कहाँ रही ? कुलक्रम परम्परा हो तब तो पिता के पीछे पुत्र को भी नरक मे जाना पड़े; परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः धर्म में कुलक्रम की आवश्यकता नहीं हैं।

'अष्टसहस्त्री' में कहा है कि जीव को परीक्षा प्रधानी होना चाहिये। धर्म में अकेले आज्ञा प्रधानता नहीं चलती। बहुत लोग कहते है कि निमित्त से धर्म होता है, व्यवहार से धर्म होता है; इसलिये हम मानते हैं; परन्तु ऐसा नहीं चलता। स्वयं को परीक्षा करना चाहिये।

तथा जो शास्त्रों के अर्थ अन्यथा लिखता है वह पापी है। दिगम्बर शास्त्र के नाम से देवी की पूजा करना, क्षेत्रपाल की पूजा करना- यह विपरीत प्रवृत्ति है। पापी पुरुषों ने कुदेव की प्ररूपणा की है। जिसको आत्मा का भान नहीं है और उद्देशिक आहार

लेता है (वह मिथ्यादृष्टि है।) इसमें आहार देने वाले और लेने वाले दोनो की भूल है। जो ऐसा उद्देशिक आहार लेने पर भी मुनिपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। पापी पुरुषों ने ऐसी प्रवृत्ति चलाई है। निर्ग्रन्थ मुनि की दशा सहज नग्न होती है। वे निर्दोष आहार लेते हैं, प्राण जाने पर भी सदोष आहार नही लेते-यह मुनि की रीति है। तो भी मुनि का स्वरूप न समझे और उद्देशिक आहार ले वह सच्चा गुरु नही है। इस प्रकार विषय-कषाय पोषक विपरीत प्रवृत्ति चलाई हो वह दृष्टि छोड़ देना चाहिये। दिगम्बर जैन धर्म में जन्म धारण करके भी कुदेव-कुगुरु की मान्यता चलाई हो तो उस मान्यता को छोड़ देना चाहिये। यदि व्यवहार से धर्म मनाया हो तो वह कुधर्म है, उस मान्यता को छोड़कर जिन आज्ञानुसार प्रवर्तना योग्य है।

....यहाँ कोई कहे कि परम्परा छोड़कर नवीन मार्गमें प्रवर्तन करना योग्य नहीं है?....

प्रश्नः- हमारी दिगम्बर की परम्परा चली आती है तो हमें क्या करना? पाँचवे अधिकार में श्वेताम्बर और स्थानकवासी की बात आ गई है। यहाँ तो दिगम्बर सम्प्रदाय की बात करते हैं। हमें तो कुल परम्परा छोड़कर नवीन मार्ग में प्रवर्तन करना योग्य नहीं है?

....उससे कहते हैं- यदि अपनी बुद्धि से नवीन मार्ग पकड़े तो योग्य नहीं है। जो परम्परा अनादिनिधन जैनधर्म का स्वरूप शास्त्रों में लिखा है, उसकी प्रवृत्ति मिटाकर पापी पुरुषों ने बीच में अन्यथा प्रवृत्ति चलाई हो, उसे परम्परा मार्ग कैसे कहा जा सकता है? तथा उसे छोड़कर पुरातन जैनशास्त्रों में जैसा धर्म लिखा था, वैसे प्रवर्तन करे तो उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जा सकता है?

तथा यदि कुल में जैसी जिनदेव की आज्ञा है, उसी प्रकार धर्म की प्रवृत्ति है तो अपने को भी वैसे ही प्रवर्तन करना योग्य है; परन्तु उसे कुलाचार न जान धर्म जानकर, उसके स्वरूप, फलादिक का निश्चय करके अंगीकार करना। जो सच्चे भी धर्म को कुलाचार जानकर प्रवर्तता है तो उसे धर्मात्मा नहीं कहते; क्योंकि सर्व कुल के उस आचरण को छोड़ दे तो आप भी छोड़

देगा। तथा वह जो आचरण करता है सो कुल के भय से करता है, कुछ धर्मबुद्धि से नहीं करता, इसलिये वह धर्मात्मा नहीं है।

इसलिये विवाहादि कुलसम्बन्धी कार्यों में तो कुलक्रम का विचार करना, परन्तु धर्म सम्बन्धी कार्य में कुल का विचार नहीं करना। जैसा धर्ममार्ग सच्चा है, उसी प्रकार प्रवर्तन करना योग्य है।

समाधानः- अपनी बुद्धि से नवीन मार्ग में प्रवर्ते तो वह योग्य नहीं है; परन्तु जो यथार्थ वस्तु स्वरूप का निरूपण करे वह नवीन नहीं है। स्वभाव से धर्म है और राग से धर्म नहीं है- ऐसा समझना चाहिये।

'रघुकुल रीत ऐसी चली आई, प्राण जाय पर धर्म न जाइ- ऐसा अन्यमत में कहते हैं। इसी प्रकार जैन धर्म की रीत ऐसी चली आई प्राण जाई पर धर्म न जाइ-ऐसा समझना चाहिये। श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यो ने जैन धर्म का जैसा स्वरूप कहा है वह यथार्थ है।

वस्त्र सहित मुनिपना अथवा स्त्री को केवलज्ञान मानना यथार्थ नहीं है। जैसा शास्त्र में लिखा है उसे छोड़कर कोई पापी पुरुष अन्यथा कहे तो वह यथार्थ नहीं है। सर्वज्ञ की वाणी अनुसार पुष्पदंत-भूतबली आदि आचार्यो ने षटखण्डागम की रचना की है, उसमें फेरफार करना योग्य नहीं है।

व्याकरणादि की रचना में फेरफार हो तो सुधारना। अप्रयोजनभूत बात सुधारे वह अलग बात है; परन्तु प्रयोजनभूत बात में किसी आचार्य की भूल नहीं है। स्त्री को कभी छठवाँ गुणस्थान नहीं आता-जो इसे स्वीकार न करके इससे विपरीत कहे और फेरफार करे वह पापी है।

श्री द्रव्यसंग्रह में भाव मार्गणा की बात आती है। वह जीव की भाव मार्गणा है, वहाँ द्रव्य मार्गणा की बात नहीं है। जीव की गति कहाँ है-यह शोधने की बात है। तथापि इससे विरूद्ध कहना, वह पाप की प्रवृत्ति है।

पुरातन जैनशास्त्र-धवल, महाधवल, समयसार आदि के अनुसार प्रवर्तना योग्य है, वह नवीन मार्ग नहीं है। परम्परा सत्य का यथार्थ निर्णय करना चाहिये।

कुल परम्परा की बात चली आती है, इसलिये नहीं, परतु सर्वज्ञ कहते हैं इसलिये अंगीकार करना। आत्मा चिदानन्द है उसकी दृष्टि करने को वे कहते हैं। वे कहते हैं कि धर्म की परीक्षा करके मानो। वहाँ कुल का आग्रह नहीं करना। यदि जिन आज्ञा से कुल परम्परा विरूद्ध होवे तो कुल परम्परा छोड़ देनी चाहिये। जो कुल के भय से करता है उसको धर्म बुद्धि नहीं है। विवाहादि में कुलक्रम का विचार करना; परन्तु धर्म में कुलपरम्परानुसार चलना योग्य नहीं है। धर्म की परीक्षा करनी चाहिये, घर के बड़े-बूढ़े कहते हैं इसलिये धर्म का पालन करना चाहिये- यह ठीक नहीं है। जैसे मिट्टी का बरतन लेने जाता है तो उसे भी ठोक-बजाकर लेता है, उसी प्रकार धर्म की परीक्षा करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि जिस कुल में सच्चा जैन धर्म हो और स्वयं उस कुल मे जन्मा हो, वहाँ भी समझे बिना रूढ़ि से नहीं प्रवर्तना चाहिये; परन्तु परीक्षा पूर्वक जैसी जिनदेव की आज्ञा है वैसी ही धर्म प्रवृत्ति करना चाहिये; कुलाचार जानकर नहीं प्रवर्तना चाहिये। धर्म का स्वरूप और उसका फलादि क्या है- इसका यथार्थ निर्णय करके धर्म अंगीकार करना चहिये; परन्तु समझे बिना कुलाचार जानकर प्रवर्तन करना धर्म नहीं हैं। विवाह इत्यादि में तो कुलक्रम का विचार करना, वहाँ कुल मर्यादा को छोड़कर स्वच्छन्दी नहीं होना। धर्म में भी अनुभवी ज्ञानी के समागम में रहकर पात्रतापूर्वक यथार्थ मार्ग पहिचानकर मिथ्यामार्ग का अन्यथापना जानकर असली जैनधर्म को ही मानना चाहिये। यदि निर्णय किये बिना ही 'जो शास्त्र में लिखा वह सत्य'-ऐसा मानले तो हठ से, पक्ष से माना है। अतः उसको हितकर-अहितकर मार्ग का निर्णय नहीं है, उसे तो अन्यमतीवत् जानना।

इस प्रकार जो कुलक्रम अनुसार चलता है वह व्यवहाराभासी है-यह बात हुई। अब जो आज्ञानुसारी जैन हैं-उनकी बात करते हैं।

परीक्षा रहित आज्ञानुसारी धर्म धारक व्यवहाराभासी

....तथा कितने ही आज्ञानुसारी जैनी होते हैं। जैसी शास्त्र में आज्ञा है उस प्रकार मानते है, परन्तु आज्ञा की परीक्षा करते नहीं। यदि आज्ञा ही मानना धर्म हो तो सर्व मतवाले अपने-अपने शास्त्र की आज्ञा मानकर धर्मात्मा हो जायें; इसलिये परीक्षा करके जिनवचन की सत्यता पहिचानकर जिनआज्ञा मानना योग्य है।

बिना परीक्षा किये सत्य-असत्य का निर्णय कैसे हो? और बिना निर्णय किये जिस प्रकार अन्यमती अपने शास्त्रों की आज्ञा मानते हैं उसी प्रकार इसने जैनशास्त्रों की आज्ञा मानी। यह तो पक्ष से आज्ञा मानता है।....

कोई आज्ञानुसार जैन हैं। वे जैसी शास्त्र में आज्ञा है वैसे मानते हैं; परन्तु स्वयं आज्ञा की परीक्षा नहीं करते। सो ऐसे तो सभी मत वाले अपने-अपने धर्म की आज्ञा मानते हैं, तो सबको धर्मी मानना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं है। निर्णय करके धर्म को मानना चाहिये। भगवान के कहने मात्र से नहीं मानना; परन्तु वीतराग-विज्ञान की परीक्षा करके मानना चाहिये।

आचार्य समन्तभद्र भगवान से कहते हैं कि "आपकी पुण्य प्रकृति से, समवसरण आदि से हम आपको महान नहीं मानते। हम तो आपकी वीतराग-विज्ञानता की परीक्षा करके आपको महान मानते हैं।" अतः परीक्षा करके सत्यपना विचारना और तत्पश्चात जिनआज्ञा मानना योग्य है। परीक्षा बिना सत्य-असत्य का निर्णय किस प्रकार हो ? निर्णय के बिना शास्त्र को माने तो अन्यमती की तरह आज्ञा मानी। धर्म क्या है ?-यह सब निर्णय पूर्वक मानना चाहिये, मात्र दिगम्बर का पक्ष करके नहीं मानना चाहिये। रागादिभाव विकार है और स्वभाव विकार रहित है-ऐसा निर्णय करना चाहिये। जैसे निर्णय किये बिना अन्यमती अपने शास्त्र की आज्ञा मानते हैं; उसी प्रकार यह भी जैन शास्त्र की आज्ञा मानता है- सो यह तो पक्ष से ही आज्ञा मानने जैसा है।

सत्य-असत्य का निर्णय करके आज्ञा नहीं मानने वाले के मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता। हमारे मत में भगवान के आहार होना नहीं कहा है-ऐसा मानता है; परन्तु

अपने ज्ञान में भगवान का स्वरूप नहीं जाना, परीक्षा से पहिचान नहीं की, मात्र देखा देखी मानता है, तो वह भी धर्मात्मा नहीं है। जैसे निर्णय किये बिना तो अन्यमती अपने-अपने देव को मानते हैं; उसी प्रकार यह भी सर्वज्ञ परमात्मा को मानता है; परन्तु परीक्षा करके निर्णय किये बिना अपने ज्ञान में लाभ नहीं होता। भले ही भगवान सच्चे हैं; परन्तु भगवान का सच्चापना किस प्रकार है, यह जिसके ज्ञान में भासित नहीं हुआ वह ज्ञान भी मिथ्या है। अतः परीक्षा किये बिना सत्य-असत्य का निर्णय नहीं होता और सत्य-असत्य के निर्णय बिना मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता।

....कोई कहे कि शास्त्र में दस प्रकार के सम्यक्त्व में आज्ञासम्यक्त्व कहा है व आज्ञा-विचय धर्मध्यान का भेद कहा है व निःशंकित अंग में जिनवचन में संशय का निषेध किया है; वह किस प्रकार है?

समाधानः- शास्त्रों में कितने ही कथन तो ऐसे हैं जिनकी प्रत्यक्ष-अनुमानादि द्वारा परीक्षा कर सकते हैं, तथा कई ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर नहीं हैं; इसलिये आज्ञा ही से प्रमाण होते हैं। वहाँ नाना शास्त्रों में जो कथन समान हों उनकी तो परीक्षा करने का प्रयोजन ही नहीं है; परन्तु जो कथन परस्पर विरुद्ध हों उनमें से जो कथन प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर हों उनकी तो परीक्षा करना। वहाँ जिन शास्त्रों के कथन की प्रमाणता ठहरे, उन शास्त्रों में जो प्रत्यक्ष-अनुमानगोचर नहीं हैं- ऐसे कथन किये हों, उनकी भी प्रमाणता करना। तथा जिन शास्त्रों के कथन ही प्रमाणता न ठहरे उनके सर्व ही कथन की अप्रमाणता मानना।....

प्रश्नः- शास्त्र में सम्यक्त्व के दस प्रकार में आज्ञा सम्यक्त्व कहा है। भगवान ने जो स्वरूप कहा उसमें शंका नहीं करना। तथा 'आज्ञा विचय' धर्मध्यान का भेद कहा है। तथा निःशंकित अंग में जिनवचन में संशय करने का निषेध किया है-वह किस प्रकार ?

उत्तरः- शास्त्र में किसी कथन की तो प्रत्यक्ष अनुमानादि से परीक्षा की जा सकती है और कोई बात ऐसी है कि जो प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर नहीं है।

अज्ञानी कहता है कि पानी अग्नि से प्रत्यक्ष गर्म होता है; परन्तु यह भूल है। पानी के स्पर्श गुण की गर्मरूप अवस्था होती है- यह प्रत्यक्ष है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। पानी के परमाणु हैं। उनमें प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव हुआ करता है। शीत अवस्था का व्यय होकर, गर्म अवस्था का उत्पाद होता है और स्पर्श गुण ध्रुव रहता है। अग्नि और पानी में अन्योन्याभाव है। अतः अग्नि के कारण से पानी गर्म नहीं होता-यह प्रत्यक्ष है-ऐसा निर्णय करना चाहिये। परन्तु पर्याय में अविभाग प्रतिच्छेद आदि का पता नहीं चलता तो उन्हें आज्ञा से मानना चाहिये; और जो पदार्थ ख्याल में आता है उसकी तो परीक्षा करना चाहिये।

अलग-अलग शास्त्रों में समान कथन की परीक्षा करने का प्रयोजन नहीं है; परन्तु जो कथन परस्पर अनुमानादि गोचर हो उनकी तो परीक्षा करना चाहिये। जिस शास्त्र में प्रयोजनभूत बात सत्य हो उसकी अप्रयोजनभूत बात भी सत्य समझना चाहिये। परन्तु जिस शास्त्र में प्रयोजनभूत बात में भूल हो उसकी समस्त बातें अप्रमाणिक मानना चाहिये।

....यहाँ कोई कहे कि परीक्षा करने पर कोई कथन किसी शास्त्र में प्रमाण भासित हो, तथा कोई कथन किसी शास्त्र में प्रमाण भासित हो; तब क्या करें?

समाधानः- जो आप्त-भासित शास्त्र हैं उनमें कोई भी कथन प्रमाण-विरुद्ध नहीं होते। क्योंकि या तो जानपना ही न हो अथवा राग-द्वेष हो तब असत्य कहें, सो आप्त ऐसे होते नहीं। तूने परीक्षा भलेप्रकार नहीं की, इसलिये भ्रम है।....

प्रश्नः- परीक्षा करते हुए कोई कथन किसी शास्त्र में प्रमाण भासित हो तथा कोई कथन किसी शास्त्र में प्रमाण भासित हो तो क्या करना ?

उत्तरः- सर्वज्ञ की वाणी अनुसार रचित शास्त्रों में कोई विरूद्धता नहीं है। जिनमें पूर्ण जानपना ही न होवे अथवा राग-द्वेष होवे वे ही असत्य कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञ देव में ऐसे दोष नहीं होते। तूने ही भले प्रकार परीक्षा नही की, इसलिये ही तुझे भ्रम है।

....फिर वह कहता है- छद्मस्थ से अन्यथा परीक्षा हो जाये तो वह क्या करे?

समाधानः- सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं को कसने और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करने से तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपात के कारण भलेप्रकार परीक्षा न करे, वही अन्यथा परीक्षा होती है।....

प्रश्नः- छद्मस्थ से अन्यथा परीक्षा हो जाए तो क्या करना ?

उत्तरः- सत्य-असत्य दोनो वस्तुओं को मिलाकर परीक्षा करना चाहिये। जैसे सुवर्ण, वस्त्रादि खरीदते समय परीक्षा करता है; उसी प्रकार शास्त्र की आज्ञा का मिलान करना चाहिये; सत्य-असत्य को कसकर प्रमाद छोड़कर परीक्षा करना चाहिये। ऐसा नहीं है कि जिस सम्प्रदाय में जन्म लिया है उसी की बात सच्ची हो। जहाँ पक्षपात के कारण अच्छी तरह परीक्षा नहीं की जाती वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।

व्यवहार अथवा राग आता है वह पुण्य है, धर्म नहीं; उसको धर्म मानना जैनधर्म नहीं है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है- उसकी दृष्टि करना ही धर्म है।

पुण्य से धर्म मानने की परम्परा चलती हो उसे छोड़ देना। ज्ञानी को भी शुद्धोपयोग में स्थिर न हो सके वहाँ तक शुभभाव तो आता है; परन्तु उसको धर्म मानना छोड़ देना चाहिये। पहले दृष्टि में पुण्य को छोड़ना चाहिये। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ, पर्याय में विकार है वह धर्म नहीं है; उससे रहित शुद्ध आत्मा की दृष्टि करना और पुण्य-पाप को हेय समझना ही उन्हें दृष्टि में छोड़ा कहा जाता है और स्वरूप में लीनता होने पर पुण्य की अस्थिरता (अस्थिरतारूप राग-पुण्यभाव) छूटती है। इस प्रकार यथार्थ समझना चाहिये। यदि कुल में पुण्य से धर्म मानते हों तो उस मान्यता को छोड़ देना चाहिये।

....तथा वह कहता है कि शास्त्रों में परस्पर-विरुद्ध कथन तो बहुत हैं, किन-किन की परीक्षा की जाये?

समाधानः- मोक्षमार्ग में देव-गुरु-धर्म, जीवादि तत्त्व व बन्ध-मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं, सो इनकी परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रों में यह सच्चे कहे हों

उनकी सर्व आज्ञा मानना, जिनमें यह अन्यथा प्ररूपित किये हों उनकी आज्ञा नहीं मानना।

जैसे- लोक में जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्यों में झूठ न बोले, वह प्रयोजनरहित कार्यों में कैसे झूठ बोलेगा? उसी प्रकार जिस शास्त्र में प्रयोजनभूत देवादिक का स्वरूप अन्यथा नहीं कहा, उसमें प्रयोजन रहित द्वीप-समुद्रादिक का कथन अन्यथा कैसे होगा? क्योंकि देवादिक का कथन अन्यथा करने से वक्ता के विषय-कषाय का पोषण होता है।....

प्रश्नः- शास्त्रों में परस्पर विरूद्ध कथन तो बहुत हैं, तब किस-किसकी परीक्षा करें?

उत्तरः- मोक्षमार्ग में देव की परीक्षा करना चाहिये। सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान-दर्शनरूप दोनो उपयोगों का पूर्ण परिणमन एकसमय में (एक साथ) है; परन्तु कोई क्रम से उपयोग माने और केवली के आहार माने वह सर्वज्ञ को नहीं समझता। जो आत्मा के भानपूर्वक अन्तर स्वरूप मे लीनता करते हैं वे मुनि हैं और जो बाह्य में 28 मूलगुणों का पालन करते हैं तथा जिनके शरीर की दशा नग्न होती है वे मुनि हैं-इस प्रकार मुनि का स्वरूप समझना चाहिये। तथा धर्म की परीक्षा करना चाहिये। भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से धर्म होता है, व्यवहार से धर्म नहीं होता-ऐसा समझना चाहिये। पुण्य-पाप दोनो विकार है-आस्रव है; संवर-निर्जरा भिन्न तत्व है; इसप्रकार परीक्षा नहीं करने वाले की श्रद्धा मिथ्या है। मोक्षमार्ग में देव-गुरु-धर्म की परीक्षा करना चाहिये। यह मूल रकम है।

जैसे कोई जीव ब्याज दे; परन्तु मूलधन न दे तो वह मूल को उड़ाता है; उसी प्रकार यहाँ यह मूल रकम है। दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्मने मात्र से काम नही होता, परीक्षा करना चाहिये। जो व्यवहार से और बाह्य लक्षणों से देव-शास्त्र-गुरु की परीक्षा नहीं करता उसका गृहीत मिथ्यात्व नहीं मिटता- ऐसा श्री भागचन्द जी छाजेड़ ने सत्ता स्वरूप में कहा है। अतः देव-गुरु और धर्म का स्वरूप जानना चाहिये। तथा जीव त्रिकाली है। संवर-निर्जरा अपूर्ण शुद्धदशा है। मोक्ष पूर्ण शुद्ध दशा है। शुभाशुभभाव आस्रव और बंध है। शरीर, कर्म आदि अजीव है- इस प्रकार सातों तत्वों को यथार्थ मानना चाहिये। यदि कर्म से विकार और पुण्य से धर्म माने तो सात तत्व नहीं रहते। इसलिये प्रयोजनभूत बात में भलीभांति परीक्षा करना चाहिये।

यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का वर्णन चल रहा है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ- ऐसी जिसको दृष्टि नहीं है और शुभ परिणाम को धर्म मानता है उसकी बात चल रही है। आत्मा शरीर की क्रिया और पुण्य से रहित है तथा वह ज्ञानानन्द स्वरूप है- ऐसी दृष्टि जिसको नहीं हुई है और शुभभाव से धर्म मानता है उसको व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहते हैं। शुभभाव से पुण्य बंधता है, धर्म नहीं होता। ज्ञानी को आत्मा की दृष्टि होने के उपरांत जो शुभभाव आता है उसको व्यवहार कहते हैं। जो अकेले शुभ से धर्म मानता हैं और जिसे आत्मा का भान नहीं है उसे व्यवहाराभासी कहते हैं। वह दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्मा होने पर भी मिथ्यादृष्टि है।

दिगम्बर कुल में जन्मने मात्र से ही धर्म नहीं हो जाता। मोक्षमार्ग में सर्वज्ञदेव-गुरु-धर्म की परीक्षा करना चाहिये। शुद्ध चिदानन्द आत्मा में लीनता करने वाले मुनि हैं वे गुरु हैं, उनकी परीक्षा करना चाहिये। पंचास्तिकाय की 172 वीं गाथा में व्यवहाराभासी का स्वरूप कहा है।

तथा धर्म की परीक्षा करना चाहिये। व्यवहार करते-करते धर्म हो जाता है-ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। श्वेताम्बर कहते हैं कि व्यवहार पहले होना चाहिये और जो जीव दिगम्बर होने पर भी कहे कि 'व्यवहार प्रथम होना चाहिये' तो वह भी श्वेताम्बर की तरह मिथ्यादृष्टि ही है।

अतः तत्व की परीक्षा करना चाहिये। जीव आत्मा के भान बिना अनन्तबार द्रव्यलिंग धारण करके श्रावक और मुनि हुआ है; परन्तु उसने आत्मज्ञान के बिना रंचमात्र भी सुख प्राप्त नहीं किया।

प्रश्नः- कुन्दकुन्दाचार्य तो ज्ञानी थे, तो भी विदेह में क्यों गये ?

उत्तरः- कुन्दकुन्दाचार्य ने तत्त्व की परीक्षा की थी और उनको सम्यग्दर्शन था, फिर विशेष निर्णय अथवा दृढ़ता के लिये ऐसा विकल्प आया था। अप्रयोजनभूत बात की निर्मलता के लिये गये थे। उनको सम्यग्दर्शन तो था ही, प्रयोजनभूत बात की परीक्षा भी उन्होंने की थी।

यहाँ कहते हैं कि देव-गुरु की परीक्ष करना चाहिये। श्वेताम्बर कहते हैं कि देव को क्षुधा, तृषा लगती है। परन्तु देव का ऐसा स्वरूप नहीं है। अतः स्वरूप की परीक्षा करना चाहिये। परीक्षा किये बिना माने तो मिथ्यादृष्टि है। गुरु की परीक्षा किये बिना माने तो मिथ्यादृष्टि है। गुरु की परीक्षा करनी चाहिये। सभी सम्प्रदाय वाले अपने-अपने देव-गुरु को सच्चा कहते हैं; परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है। अतः परीक्षा करना चाहिये।

सात तत्त्व की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। जीव ज्ञायक स्वरूप है। कर्म अजीव है। शुभाशुभ परिणाम आस्रव है। उनमें अटकना बंध है। स्वभाव के आश्रय से वीतरागी दशा प्रगट होना संवर-निर्जरा है। पूर्ण शुद्ध दशा मोक्ष है।-इन सबका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। किस भाव से बंध होता है और किस भाव से मोक्ष होता है-इसकी परीक्षा करना चाहिये। पुण्य पाप के परिणाम बंध के कारण हैं। स्वभाव के आश्रय से होने वाले परिणाम मोक्ष के कारण हैं; इसलिये इनकी तो अवश्य परीक्षा करनी चाहिये।

शास्त्रों में एक जगह ऐसा कहते हैं कि "जीव स्वयं ही अपनी बुद्धि के अपराध से रागादि भावों को करता है, इसमें पर का कोई दोष नहीं है। तथा दूसरी जगह ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी स्वयं स्वतः रागादिभावोंरूप नहीं परिणमता; परन्तु कर्मोदय के निमित्त से रागादिरूप परिणमता है।" तो क्या इन कथनों में परस्पर विरोध है? परस्पर विरोध नहीं, परन्तु कथन की अपेक्षा की शैली अलग-अलग है। अज्ञानी पर के कारण राग-द्वेष होना मानता है, उसको समझाया कि भाई! रागादिभाव होते हैं वह तेरी ही बुद्धि का अपराध है, ये रागादि पर के कारण नहीं होते और दूसरे कथन में ज्ञानी की दृष्टि स्वभाव के ऊपर है यह बताते हुए कहा है कि धर्मी जीव स्वयं रागादिरूप नहीं परिणमता- ऐसा कहकर वहाँ स्वभाव दृष्टि की पहिचान कराई है।

जीव ने बंध-पुण्यास्रव का पक्ष तो अनन्त बार किया है; परन्तु आत्मा के लक्ष्य से कभी शुद्धनय का पक्ष जीव को नहीं आया। जिसको आत्मा में से निर्विकल्प-अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करना हो उसको सर्वप्रथम मोक्षमार्ग में प्रयोजभूत रकम हेय-उपोदय के स्वरूप की परीक्षा अवश्य करना चाहिये।

जिन शास्त्रों में प्रयोजनभूत बात सत्य हो उनकी तो सर्व आज्ञा माननी चाहिये। जिसमें देव-शास्त्र-गुरु, नवतत्त्व, बंध-मोक्षमार्ग की बात विपरीत लिखी हो उनकी आज्ञा नहीं माननी चाहिये। तात्पर्य यह है कि मात्र कुलरूढ़ि से मानना योग्य नहीं है।

जैसे लोक में भी जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्य में झूठ नहीं बोलता वह प्रयोजनरहित कार्यो में झूठ क्यों बोलेगा? उसी प्रकार जिन शास्त्रों में प्रयोजनभूत देवादिक का स्वरूप, नवतत्त्वों का स्वरूप यथार्थ कहा है; तो वे शास्त्र समुद्र, पर्वत आदि अप्रयोजनभूत बात झूठ क्यों कहेंगे ? क्योंकि देव-गुरु का विपरीत कथन करने में तो वक्ता के विषय-कषाय का पोषण होता है।

....प्रश्नः- देवादिक का अन्यथा कथन तो विषय-कषायवश किया; परन्तु उन्हीं शास्त्रों में अन्य कथन अन्यथा किसलिये किये?

समाधानः- यदि एक ही कथन अन्यथा करे तो उसका अन्यथापना शीघ्र प्रगट हो जायेगा और भिन्न पद्धति ठहरेगी नहीं; इसलिये बहुत कथन अन्यथा करने से भिन्न पद्धति ठहरेगी। वहाँ तुच्छबुद्धि भ्रम में पड़ जाते हैं कि यह भी मत है, यह भी मत है। इसलिये प्रयोजनभूत का अन्यथापना मिलाने के लिये अप्रयोजनभूत कथन भी अन्यथा बहुत किये हैं। तथा प्रतीति कराने के अर्थ कोई-कोई सच्चे कथन भी किये हैं। परन्तु जो चतुर हो सो भ्रम में नहीं पड़ता। प्रयोजनभूत कथन की परीक्षा करके जहाँ सत्य भासित हो, उस मत की सर्व आज्ञा माने।....

प्रश्नः- विषय-कषाय से देवादिक का कथन तो अन्यथा किया; परन्तु उन्ही शास्त्रों में दूसरे कथन अन्यथा किसलिये किये ?

उत्तरः- यदि एक ही कथन अन्यथा कहे तो उसका अन्यथापना शीघ्र ही प्रगट हो जाए तथा अलग पद्धति भी नही ठहरे; परन्तु बहुत से कथन अन्यथा करने से अलग पद्धति भी ठहरती है और तुच्छबुद्धि भ्रम में पड़ जाते है। अपने बनाये हुए शास्त्रों में अपनी बात चलाने के लिए कुछ सत्य कहा और कितना ही असत्य कहा, परन्तु यह वीतराग की बात नहीं है।

हमको ऐसे शास्त्र और गुरु मिले, इसलिये भ्रम हुआ है-यह बात भी मिथ्या है। स्वयं ने सत्य-असत्य मार्ग की परीक्षा नहीं की और उनकी बात स्वयं को रुचिकर लगी; इसलिये स्वयं ने भ्रम खड़ा किया है। जहाँ सर्वज्ञ-वीतराग के नाम से हजारों बाते वस्तुस्थिति से विरूद्ध लिखी हुई हैं वहाँ तुच्छ बुद्धि वाला भ्रम में पड़ जाता है। वह अपनी योग्यता के कारण भ्रमित होता है। जैसे श्वेताम्बर मत में बहुत कथन अन्यथा किये हैं तथा प्रतीति योग्य मनाने के लिये कोई-कोई सच्चे कथन भी किये, परन्तु समझदार पुरुष तो वहाँ भ्रम में नहीं पड़ता, बल्कि प्रयोजनभूत बात की परीक्षा करने पर जिसमें वह सत्य भासित हो उस मत की सब बात मानता है।

....सो परीक्षा करने पर जैनमत ही सत्य भासित होता है- अन्य नहीं; क्योंकि इसके वक्ता सर्वज्ञ-वीतराग हैं, वे झूठ किसलिये कहेंगे? इसप्रकार जिनआज्ञा मानने से जो सच्चा श्रद्धान हो, उसका नाम आज्ञासम्यक्त्व है। और वहाँ एकाग्र चिंतवन होने से उसीका नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

यदि ऐसा न मानें और बिना परीक्षा किये ही आज्ञा मानने से सम्यक्त्व व धर्मध्यान हो जाये तो जो द्रव्यलिंगी आज्ञा मानकर मुनि हुए, आज्ञानुसार साधन द्वारा ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं; उनके मिथ्यादृष्टिपना कैसे रहा? इसलिये कुछ परीक्षा करके आज्ञा मानने पर ही सम्यक्त्व व धर्मध्यान होता है। लोक में भी किसी प्रकार परीक्षा होनेपर ही पुरुष की प्रतीति करते हैं।....

अब ऐसी परीक्षा करने पर एक जैनमत ही सत्य भासित होता है। सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी में जो मार्ग प्रतिपादित हुआ है वह यथार्थ है। सर्वज्ञ की वाणी में आया हुआ सात तत्व, उपादान-निमित्त आदि का स्वरूप यथार्थ है। जैनमत के वक्ता श्री सर्वज्ञ वीतराग है। वे झूठ किसलिये कहेंगे ? इस प्रकार परीक्षा करके आज्ञा माने तो वह सत्य श्रद्धान है और इसी का नाम आज्ञा सम्यक्त्व है। परीक्षा किये बिना माने जाने वाली आज्ञा सच्ची नहीं है।

तथा जहाँ एकाग्र चिन्तवन हो उसका नाम आज्ञाविचय धर्म ध्यान है। यदि ऐसा नहीं माने और परीक्षा किये बिना मात्र आज्ञा मानने से ही सम्यक्त्व अथवा धर्म

ध्यान हो जाता हो तब तो जीव अनन्तबार मुनिव्रत धारण करके द्रव्यलिंगी मुनि हुआ; परन्तु आत्मा के भान बिना सुखी नही हुआ। देह की क्रिया और पुण्य से धर्म मानने के कारण मिथ्यात्व से दुःखी हुआ। यदि अकेले आज्ञा से धर्म होता हो तो द्रव्यलिंगी मुनि ने आज्ञा तो मानी है; परन्तु परीक्षा नहीं की। अतः यदि आज्ञा मानने से ही धर्म होता हो तो द्रव्यलिंगी को धर्म हो जाना चाहिये। परन्तु वस्तुतः तो उसने भगवान की आज्ञा क्या है और आगम की आज्ञा क्या है-यह जाना ही नहीं, उसका निर्णय ही नही किया। उसने सर्वज्ञ की व्यवहार आज्ञा मानी, परन्तु मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ-ऐसी दृष्टि करके अनुभव करना वह अनुभूति है-ऐसी वास्तविक निश्चय आज्ञा नही मानी। उसने निश्चय और व्यवहार की परीक्षा नहीं की, वह तो मात्र व्यवहार आज्ञानुसार क्रिया-काण्ड करता है। उसने पाँच महाव्रतादि का पालन करना आदि परिणाम किये हैं; परन्तु आत्मा राग रहित ज्ञानानन्द है-इस निश्चय की परीक्षा नहीं की। वह व्यवहार आज्ञानुसार साधन करता है-पाँच महाव्रतों का पालन करता है, शरीर के खण्ड-खण्ड होने पर भी क्रोध नहीं करता; इस प्रकार व्यवहार आज्ञा का पालन करके नौवें ग्रैवेयक की इकतीस सागर की स्थिति को प्राप्त किया; परन्तु परीक्षा करके अन्तरंग निश्चय का भाव-भासन उसको नहीं हुआ।

आत्मा जड़ की क्रिया और राग का ज्ञाता है-ऐसी दृष्टि नहीं हुई उसकी बात करते हैं। जिसका व्यवहार भी सच्चा नहीं है उसका तो व्यवहार और निमित्त दोनो खोटे हैं। यहाँ तो जो जिन आज्ञानुसार मूलगुणों का पालन करता है, एक बार निर्दोष आहार लेता है, उद्देशिक आहार नहीं लेता-उसकी बात है। मिथ्यादृष्टि मुनि को व्यवहार श्रद्धा है। वह वीतराग देव के अतिरिक्त अन्य को नही मानता; परन्तु परीक्षा नहीं की है, अकेली आज्ञा मानी है। यदि आज्ञा मानने से ही सम्यग्दर्शन होता हो तो वह मिथ्यादृष्टि कैसे रहा? इसलिये प्रयोजनभूत बात-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि तथा बंध-मोक्ष और उनके कारणों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। इस प्रकार परीक्षा करके आज्ञा मानने से सम्यक्त्वी होता है।

कितने ही लोग कहते हैं कि दिगम्बर में जन्में हैं इसलिये श्रावक तो हुए; परन्तु यह बात मिथ्या है। पहले परीक्षा करके आज्ञा माने तो सम्यक्त्वी होता है और फिर श्रावक अथवा मुनिदशा प्रगट होती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य और दीपचन्दजी आदि ऐसा ही कहते हैं कि पहले परीक्षा करो और फिर मानो।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है; परन्तु आत्मा का भान करे तो इस श्रद्धा को व्यवहार श्रद्धा कहते हैं। इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानने पर ही सम्यक्त्व अथवा धर्मध्यान होता है। लोक मे भी किसी प्रकार से परीक्षा करके ही पुरुष की प्रतीति करते हैं। धर्म में परीक्षा नहीं करने वाला स्वयं ठगाता है।

....तथा तूने कहा कि जिनवचन में संशय करने से सम्यक्त्व के शंका नामक दोष होता है; सो 'न जाने यह किस प्रकार है'- ऐसा मानकर निर्णय न करे वहाँ शंका नामक दोष होता है। तथा यदि निर्णय करने का विचार करते ही सम्यक्त्व में दोष लगता हो तो अष्टसहस्री में आज्ञाप्रधान से परीक्षाप्रधान को उत्तम किसलिये कहा? पृच्छना आदि स्वाध्याय के अंग कैसे कहे? प्रमाण-नयसे पदार्थों का निर्णय करने का उपदेश किसलिये दिया? इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानना योग्य है।....

तथा तूने कहा कि जिनमत में संशय करने से सम्यक्त्व में 'शंका' नामक दोष होता है; परन्तु "ना मालूम यह क्या होगा"- ऐसा मानकर कुछ निर्णय ही नहीं करे तो वहाँ शंका नामक दोष होता है। निर्णय के लिये विचार करते ही सम्यक्त्व में दोष लगता हो तो 'अष्टसहस्त्री' में आज्ञाप्रधानी की अपेक्षा परीक्षा प्रधानी को उत्तम किसलिये कहा ? निर्णय नहीं करे तो 'शंका' दोष लगता है।

आचार्य समन्तभद्र सर्वज्ञ की परीक्षा करते हैं। वे आप्तमीमांसा में कहते हैं- हे नाथ! देवों के आगमन से चंवर अथवा समवसरण की रचना से आप सर्वज्ञ नहीं हैं। हम आपको परीक्षा करके मानते हैं। पुण्य की विभूति तो स्वर्ग के देवों के भी होती है, हम आपको पुण्य की विभूति के कारण नहीं मानते। आपने राग रहित स्वभाव के आश्रय से सर्वज्ञता और वीतरागता प्रगट की है; इसलिये मैं आपको आप्त मानता हूँ। इस प्रकार आचार्यदेव ने भगवान के स्वरूप की परीक्षा की है। अतः परीक्षा प्रधानी होना चाहिये।

तथा 'पृच्छना' स्वाध्याय का अंग है। मुनि भी प्रश्न पूछते है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र किसको कहते हैं-इत्यादिक प्रश्न पूछना स्वाध्याय का अंग है। तथा शास्त्रों में प्रमाण-नय-निक्षेप द्वारा निर्णय करने का उपदेश आया है। निश्चय और व्यवहारनय से, प्रमाण से और चार प्रकार के निक्षेप से निर्णय करना-ऐसा आगम वचन है। यदि आज्ञा से ही धर्म होता हो तो परीक्षा करने को क्यों कहा ? इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानना योग्य है।

....तथा कितने ही पापी पुरुषों ने अपने कल्पित कथन किये हैं और उन्हें जिनवचन ठहराया है, उन्हें जैनमत के शास्त्र जानकर प्रमाण नहीं करना। वहाँ भी प्रमाणदिक से परीक्षा करके, व परस्पर शास्त्रों से विधि मिलाकर, वह इस प्रकार सम्भव है या नहीं- ऐसा विचार करके विरुद्ध अर्थ को मिथ्या ही जानना।

जैसे- किसी ठगने स्वयं पत्र लिखकर उसमें लिखने वाले का नाम किसी साहूकार का रखा; उस नाम के भ्रम से धन को ठगाये तो दरिद्री होगा। उसी प्रकार पापी लोगों ने स्वयं ग्रन्थादि बनाकर वहाँ कर्त्ता का नाम जिन, गणधर, आचार्यों का रखा; उस नाम के भ्रम से झूठा श्रद्धान करे तो मिथ्यादृष्टि ही होगा।....

कोई पापी पुरुष आचार्य का नाम देकर कल्पित बात करता हो और उसे जिनवचन ठहराता होवे तो उसको प्रमाण नहीं करना। कितने ही जीव पुण्य से धर्म और निमित्त से कार्य होना मनाते हैं और ऐसे ही शास्त्रों को जैनमत के शास्त्र ठहराते हैं, तो वहाँ परीक्षा करना परस्पर विधि मिलाना। वर्तमान में भगवान और आचार्यो के नाम से मिथ्या शास्त्र लिखे गये हैं; इसीलिये परीक्षा करना चाहिये।

किसी के कहने से नहीं मानकर परीक्षा पूर्वक मानना। व्यवहार से धर्म नही होता, व्यवहार बंध मार्ग है। उससे रहित आत्मा के आश्रय से धर्म होता है। परस्पर शास्त्रों की विधि मिलाकर इस प्रकार संभव है या नहीं ? ऐसा विचार करके विरूद्ध अर्थ को मिथ्या जानना।

जैसे कोई ठग अपने पत्र में किसी साहूकार के नाम से हुण्डी लिखे तो नाम के भ्रम से कोई अपना धन ठगाये तो वह दरिद्र होता है। उसी प्रकार कोई अपना मत चलाने के लिये भगवान या आचार्यो के नाम से शास्त्र लिखे तो वह पापी ही हैं। व्यवहार से धर्म होना मनावें, जिनप्रतिमा को श्रृंगारयुक्त बतावे वह पापी है। मिथ्यादृष्टि जीवों ने शास्त्र बनाये और शास्त्र कर्ता का नाम जिन, गणधर,आचार्यादिक का रखा हो और कोई नाम के भ्रम से झूठा श्रद्धान करे तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।

श्वेताम्बर के ज्ञातासूत्र में कहा है कि मेघकुमार के जीव ने हाथी के भव में खरगोश की दया पाली, इस कारण वह संसार से पार हुआ। परन्तु दया का भाव तो शुभ परिणाम है; उनसे संसार पार नही होता, इसलिये वह बात मिथ्या हैं। शुभभाव से पुण्य होता है, धर्म नहीं। जो शुभराग से धर्म मनाता है और वीतराग के नाम से (ऐसे शास्त्र) लिखता है, तब उस नाम के भ्रम से कोई ठगाये तो वह मिथ्यादृष्टि होता है।

सर्वज्ञ के क्षुधा, तृषा नहीं होती, निहार नहीं होता। तीर्थङ्कर के जन्म से ही निहार नहीं होता और केवलज्ञान होने के बाद आहार-निहार दोनो ही नहीं होते-ऐसा जानना चाहिये। तथा आत्मा के भान वाले निर्ग्रन्थ गुरु सच्चे गुरु हैं।

....तथा वह कहता है- गोम्मटसार में ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरुके निमित्त से झूठ भी श्रद्धान करे तो आज्ञा मानने से सम्यग्दृष्टि ही है। सो यह कथन कैसे किया?

उत्तरः- जो प्रत्यक्ष-अनुमानादिगोचर नहीं है, और सूक्ष्मपने से जिनका निर्णय नहीं हो सकता उनकी अपेक्षा यह कथन है; परन्तु देव-गुरु-धर्मादि तथा तत्त्वादिक का अन्यथा श्रद्धान होनेपर तो सर्वथा सम्यक्त्व रहता नहीं है- यह निश्चय करना। इसलिये बिना परीक्षा किये केवल आज्ञा ही द्वारा जो जैनी है उन्हें भी मिथ्यादृष्टि जानना।...

प्रश्नः- गोम्मटसार (गाथा-27, जीवकाण्ड) में ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरु के निमित्त से झूठा श्रद्धान करे तो भी वह आज्ञा मानने से सम्यग्दृष्टि ही होता है ?

उत्तर:- जो प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर नहीं है तथा सूक्ष्मपने के कारण जिनका निर्णय नहीं हो सकता-उसकी अपेक्षा यह बात है; परन्तु देव-शास्त्र-गुरु तथा जीवादिक तत्त्वों का निर्णय हो सकता है। मूलभूत बात में ज्ञानी पुरुषों के कथन में अन्तर नहीं है और जिनके मूलभूत बात में अन्तर हो वे ज्ञानी नहीं हैं।

जड़ से आत्मा में लाभ होता है, आत्मा से शरीर चलता है-ऐसा मानने वाले को तो सात तत्त्वों का भी पता नहीं है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, ऐसा न मानकर वह आत्मा से होती है-ऐसा मानना मूलभूत भूल है।

पुण्यास्रव से धर्म तथा निमित्त से उपादान में विलक्षणता होती है-ऐसा मानने वाले के मूलभूत तत्त्व में भूल है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-ये सातो तत्त्व स्वतन्त्र है। ऐसा न मानकर कर्म से विकार अथवा जड़ की पर्याय जीव से होना मानना मिथ्या है। अग्नि से पानी गर्म होता है-ऐसा मानने पर ये सात तत्त्व नहीं रहते। अजीव में भी अनन्त पुद्गल स्वतन्त्र हैं-ऐसा नहीं माने तो अजीव स्वतन्त्र नहीं रहता। जो मूलभूत तत्व में भूल करता है उसके तो सर्वथा सम्यग्दर्शन नहीं होता-ऐसा निर्णय करना।

तात्पर्य यह है कि परीक्षा किये बिना जो मात्र आज्ञा से ही जैनी हैं उन्हें भी मिथ्यादृष्टि जानना। इसलिये परीक्षा करके वीतराग की आज्ञा मानना चाहिये।

....तथा कितने ही परीक्षा करके भी जैनी होते हैं; परन्तु मूल परीक्षा नहीं करते। दया, शील, तप, संयमादि क्रियाओं द्वारा; व पूजा, प्रभावनादि कार्यों से; व अतिशय चमत्कारादि से व जिनधर्म से इष्ट प्राप्ति होने के कारण जिनमत को उत्तम जानकर, प्रीतिवंत होकर जैनी होते हैं। सो अन्यमतों में भी ये कार्य पाये जाते हैं; इसलिये इन लक्षणों में तो अतिव्याप्ति पाया जाता है।....

कोई परीक्षा करके जैनी होता है; परन्तु देव-शास्त्र-गुरु किसको कहना, नव तत्त्व किसको कहना ?-ऐसी भूल बात की परीक्षा नहीं करता। मात्र दया पालन करे, शील पाले तो यह मूल धर्म नहीं है। दया और ब्रह्मचर्य पालन का भाव कषाय मंदता है परन्तु यह मूल परीक्षा नहीं है। ऐसी दया और शील का पालन तो अन्यमती भी करते

हैं। जैनदर्शन में तो परीक्षा करना चाहिये। जीव ज्ञायक तत्व है। पुण्य-पाप बंध (तत्व) है, इनसे धर्म नहीं होता। संवर-निर्जरा अपूर्ण निर्मल पर्याय है। मोक्ष पूर्ण निर्मल पर्याय है। ऐसी परीक्षा नहीं करता और तपादि से परीक्षा करता है तो वह मूल परीक्षा नहीं है। हमारे भगवान ने तप किया था और संयम का पालन किया था-यह मूल परीक्षा नहीं है।

भगवान की पूजा-स्तवन करता है इसलिये धर्मात्मा है-यह भी मूल परीक्षा नहीं है। विशाल जिनमन्दिर बनवावे, प्रभावना करे, पंचकल्याणक करावे-यह भी धर्मी की परीक्षा नहीं है। यह तो पुण्य परिणामों की बात है। ऐसी बातें तो जैन के अलावा अन्यमतों में भी है। तथा अतिशय चमत्कार से भी धर्म की परीक्षा नहीं है। व्यंतर भी चमत्कार करते हैं। हमारे भगवान पुत्र प्रदान करते हैं और चमत्कार करते हैं।- यह भी परीक्षा नहीं है।

जैन धर्म का पालन करुँगा तो स्वर्ग मिलेगा, धन प्राप्त होगा-ऐसा मानकर जैन धर्म की परीक्षा करने वाला मिथ्यादृष्टि है। कोई इन कारणों से जैनधर्म को उत्तम जानकर प्रीतिवान होता है; किन्तु ऐसे कार्य तो अन्यमत में भी होते हैं। अन्यमत में भी संयम, तप, इन्द्रियदमन, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करते हैं इसलिये यह सच्ची परीक्षा नहीं है; क्योंकि इसमें 'अतिव्याप्ति दोष' आता है। यह धर्म की परीक्षा नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है। पर्याय में विकार होता है। विकार में पर वस्तु निमित्त है। आत्मा विकार रहित शुद्धवस्तु है-ऐसा भान होना जैन धर्म है।

....कोई कहे- जैसे जिनधर्म में ये कार्य हैं, वैसे अन्यमतों में नहीं पाये जाते; इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है?

समाधानः- यह तो सत्य है, ऐसा ही है। परन्तु जैसे तू दयादिक मानता है उसी प्रकार तो वे भी निरूपण करते हैं। परजीवों की रक्षा को दया तू कहता है, वही वे कहते हैं। इसी प्रकार अन्य जानना।....

प्रश्नः- जैनमत में जैसी प्रभावना, संयम, तप आदि होते हैं वैसे अन्यमत में नहीं होते, इसलिये यहाँ अतिव्याप्ति दोष नहीं है?

उत्तरः- यह तो सत्य है; परन्तु तुम पर जीव की दया पालन करने को जैन धर्म कहते हो उसी प्रकार दूसरे भी कहते है; परन्तु वास्तव में आत्मा पर की दया नहीं पाल सकता- ऐसा समझना चाहिये। आत्मा पर जीव की रक्षा कर सकता है-ऐसा मानने वाला जैन नहीं है। स्वभाव के भान पूर्वक पर्याय में राग के न होने को दया कहते हैं। वस्तुतः परजीव उनके आयु कर्म के कारण जीते हैं और आयु पूर्ण होने पर मरते हैं; तथापि अज्ञानी जीव मानता है कि मैं परजीव का मार सकता हूँ अथवा बचा सकता हूँ। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है। वह पर का कुछ नहीं कर सकता। आत्मा के भानपूर्वक अराग (वीतराग) परिणाम होना निश्चय दया है और शुभभाव व्यवहार दया है। निश्चय से तो शुभभाव भी हिंसा है।

शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करना वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य तो अन्य मत वाले भी पालन करते हैं। आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है। उसकी दृष्टि रखकर उसमें लीनता करना वास्तविक ब्रह्मचर्य है। शरीर का ब्रह्मचर्य वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं है।

अज्ञानी आहार नहीं लेने को तप कहता है। यह वास्तविक तप नहीं है। अन्यमत वाले भी आहर नहीं लेते। वस्तुतः तो इच्छा का निरोध होना तप है। स्वभाव के भानपूर्वक इच्छाओं का रुक जाना और ज्ञानानन्द स्वभाव का प्रतपन होना तप है।

तथा अज्ञानी इन्द्रियदमन को संयम कहता है। वह वास्तविक संयम नहीं है। देह-मन-वाणी का लक्ष्य छोड़कर आत्मा में एकाग्र होना संयम है।

अपने राग रहित स्वभाव को पूज्य मानना पूजा है और अन्तर में प्रभावना हुई वह प्रभावना है। लोग व्यवहार से प्रभावना मानते हैं; परन्तु वस्तुतः वह धर्म नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, शुभाशुभभाव होते हैं वे मलिन हैं उनसे रहित आत्मा का भान होना धर्म है।

लोग बाहर में चमत्कार मानते हैं। अन्यमत वाले (भी) चमत्कार करते हैं; परन्तु वस्तुतः तो आत्मा चैतन्य चमत्कार है, इसमें (एकाग्र) होने से शान्ति मिलती है वही चमत्कार है। लक्ष्मी आदि की प्राप्ति होना इष्ट की प्राप्ति नहीं है। शुद्ध चिदानन्द स्वभाव ही इष्ट है; पुण्य-पाप अनिष्ट है। पुण्य-पाप रहित अन्तर लीनता होना ही इष्ट है।

लोग बाहर से जैनपना मानते हैं- यह भूल है। दया, शील,संयम, प्रभावना, चमत्कार आदि सब व्यवहार है। इससे जैन धर्म की परीक्षा नहीं होती। आत्मा के भान पूर्वक परीक्षा करना चाहिये।

....फिर वह कहता है- उनके ठीक नहीं है; क्योंकि कभी दया प्ररूपित करते हैं, कभी हिंसा प्ररूपित करते हैं?

उत्तरः- वहाँ दयादिक का अंशमात्र तो आया; इसलिये अतिव्याप्तिपना इन लक्षणों के पाया जाता है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा होती नहीं।

तो कैसे होती है? जिनधर्म में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है। वहाँ सच्चे देवादिक व जीवादिक का श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है, व उनको जानने से सम्यग्ज्ञान होता है, व वास्तव में रागादिक मिटने पर सम्यक्चारित्र होता है। सो इनके स्वरूप का जैसा जिनमत में निरूपण किया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं किया, तथा जैनी के सिवाय अन्यमती ऐसा कार्य कर नहीं सकते। इसलिये यह जिनमत का सच्चा लक्षण है। इस लक्षण को पहिचानकर जो परीक्षा करते हैं वे ही श्रद्धानी हैं। इसके सिवाय जो अन्य प्रकार से परीक्षा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।....

तथा वह कहता है कि अन्यमत में यह ठीक नही है। वे किसी समय दया प्ररूपित करते हैं तो किसी समय हिंसा प्ररूपित करते हैं।

उनसे कहते हैं कि अन्यमत में पूजा, प्रभावना, दया, संयम है, इसलिये इस लक्षण में अतिव्याप्तिपना होता है; इससे सच्ची परीक्षा नहीं होती। आत्मा राग से भिन्न है-इस प्रकार आत्मा की परीक्षा करना चाहिये। वह किस प्रकार होती है?

जैन धर्म में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है। अज्ञानी दया,दान,को धर्म मानता है। ज्ञानी को भी शुभराग आता है; परन्तु वह धर्म नहीं है। दया, शील, संयम,पूजा, प्रभावना आदि राग है और राग जैनधर्म नहीं है। सच्चे देव-सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु की परीक्षा करना चाहिये। निर्ग्रन्थ भावलिंगी मुनि सच्चे गुरु हैं। श्री समयसार में कहा है कि निश्चयनय बाह्यलिंग को स्वीकार नहीं करता। (मोक्षमार्ग नहीं मानता)

शास्त्र वस्तु का अनेकान्त स्वरूप कहते हैं। जीव अजीव नहीं है। आस्रव में संवर नहीं है-इत्यादि अनेकान्त स्वरूप से परीक्षा करना चाहिये।

द्रव्यदृष्टि से जीव वास्तव में आस्रव को नहीं करता। आस्रव तत्व अलग है, त्रिकाली जीव तत्त्व अलग है-दोनो भिन्न हैं। पुण्य-पाप के परिणाम आस्रव बंध है ऐसा जानना चाहिये। आस्रव से संवर माने, देव के मात्र बाह्य अतिशय माने-समवसरण माने-यह धर्म की परीक्षा नहीं है। ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा के अवलम्बन से स्थिरता होना धर्म है। इस प्रकार जो परीक्षा नहीं करता और बाह्य से परीक्षा करता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

जैन धर्म में दया, दान, शील, तप से संयम होता है-ऐसा नहीं कहा है। तत्त्व श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है। इसके बिना समस्त तप बालतप है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और जीव आदि तत्वों का श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है और इनको यथार्थ जानने से सम्यग्ज्ञान होता है।

शरीर निरोग होवे तो धर्म होता है- ऐसा मानने वाला मूढ़ है। वह जड़ से धर्म मानता है। उसको सात तत्वों की श्रद्धा नहीं है। यदि शरीर में बुखार आ जाये तो सामायिक कैसे हो ?-ऐसा अज्ञानी पूछता है। भाई ! क्या जड़ की पर्याय से धर्म होता है ? नहीं, शरीर की कैसी भी अवस्था हो, मैं शरीर से भिन्न हूँ-ऐसा भान होने वाले को सामायिक होती है। सुकौशल और सुकुमाल मुनिराज आदि का बाघ आदि खा रहे होने पर भी सामायिक वर्तती है। शरीर की अवस्था जड़ की है, वह आत्मा की अवस्था नहीं है। आत्मा शरीर का स्पर्श भी नहीं करता। जीव-अजीव दोनो भिन्न-भिन्न है। ऐसा चौथे गुणस्थान से ही सम्यग्दृष्टि मानता है और वहीं से धर्म प्रारम्भ होता है।

शरीर के टुकड़े होने से दुःख नहीं है। कोई शरीर को काट ही नहीं सकता। शरीर के अनन्त परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। मुनि के शरीर का एक-एक परमाणु व्याघ्री के शरीर से अभावरूप है। इस प्रकार सातों तत्व भिन्न-भिन्न हैं-ऐसा जिसको पता नहीं

हैं उसके तो निश्चय और व्यवहार दोनो ही मिथ्या हैं। धर्मी जीव पर के कारण दुःख नहीं मानता। अपने कारण निर्बलता से द्वेष होता है वह दुःख है। आस्रव स्वतन्त्र और ज्ञायक स्वभाव स्वतन्त्र है-ऐसा जाने तो धर्म हो।

अज्ञानी को आत्मा का भान नहीं होने से कषाय मन्दता होने पर भी वास्तव में उसके रागादि नहीं घटते। राग से धर्म मानने वाले की दृष्टि पुण्य पर है, इस कारण वास्तव में उसके रागादि नहीं घटते। जिसको ऐसी दृष्टि हुई है कि आत्मा शुद्ध चिदानन्द है उसके राग घटता है उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं ।

शरीर जड़ है। दया-दानादि के भाव आस्रव है। मेरा स्वभाव शरीर और आस्रव से रहित है- ऐसा मानने वाला जैन है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। राग से धर्म मानने वाला आत्मा को नहीं मानता।

आत्मा एक समय में परिपूर्ण परमात्मा है। जिसकों ऐसी दृष्टि नहीं है उसने आत्मा को नहीं जाना है। उसने राग को माना है, कर्म को माना है वह अन्यमती है।

कोई कहता है कि जैनधर्म कर्म प्रधान है; परन्तु यह बात मिथ्या है। आत्मा एक समय में पूर्ण शक्ति का भण्डार है- ऐसे आत्मा को मानने वाला जैन है। वीतरागी शास्त्रों का मर्म ही यह है कि आत्मा एक समय में परिपूर्ण प्रभु है। पर्याय में दोष है वह क्षणिक है। स्वभाव तो शुद्ध है-ऐसी श्रद्धा करना धर्म है। देव-शास्त्र-गुरु और सात तत्वों की परीक्षा किये बिना मात्र व्यवहार से परीक्षा करने वाले मिथ्यादृष्टि है। उसको तत्व की परीक्षा नहीं है।

....तथा कितने ही संगति से जैनधर्म धारण करते है, कितने ही महान पुरुष को जिनधर्म में प्रवर्तता देख आप भी प्रवर्तते हैं, कितने ही देखादेखी जिनधर्म की शुद्ध या अशुद्ध क्रियाओं में प्रवर्तते हैं। - इत्यादि अनेक प्रकार के जीव आप विचारकर जिनधर्म का रहस्य नहीं पहिचानते और जैनी नाम धारण करते हैं। वे सब मिथ्यादृष्टि ही जानना।

....इतना तो है कि जिनमत में पाप की प्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती और पुण्य के निमित्त बहुत हैं, तथा सच्चे मोक्षमार्ग के कारण भी वहाँ बने रहते हैं; इसलिये जो कुलादि से भी जैनी हैं, वे भी औरों से तो भले ही हैं।....

कोई अपने बाप-दादा के कारण जैनधर्म धारण करता है, किसी महान पुरुष को जैनधर्म में प्रवर्तित देखकर स्वयं भी विचार पूर्वक उसका रहस्य जाने बिना ही देखा-देखी उसमें प्रवर्त्तता है; तो वह भी सच्चा जैन नहीं है। वह देखा-देखी जैनधर्म की शुद्ध-अशुद्ध क्रियाओं में वर्तता है। कषाय मन्दता करता है,भक्ति आदि के परिणाम करता है। यहाँ शुद्ध-अशुद्ध का अर्थ शुभ-अशुभ समझना। वह देखा-देखी दया, दानादि के परिणाम करता है। उसने पाँच हजार रूपये दिये इसलिये हमें भी पाँच हजार देना चाहिये- इस प्रकार देखा-देखी दान करता है। वह बिना परीक्षा के करता है इसलिये उसे धर्म नहीं होता। अपने स्वभाव के आश्रय से होने वाली राग रहित दशा जैनधर्म है। वह बाहुबलीजी में अथवा सम्मेदशिखरजी में नहीं है। तथा शुभाशुभ भावों में भी जैनधर्म नहीं है। अपने आश्रय से प्रगट होने वाली शुद्ध पर्याय में जैनधर्म है।

जो जीव जैनधर्म को नहीं जानते और स्वयं विचार भी नही करते उन्हें मिथ्यादृष्टि ही जानना; क्योंकि विचार करके धर्म को जानना चाहिये। धर्म अपने स्वभाव के आश्रय से होता है- ऐसी परीक्षा नहीं करने वाला मिथ्यादृष्टि है। सात तत्त्वों की परीक्षा किये बिना धर्म नहीं होता। जैनधर्म का रहस्य जानने से ही धर्म होता है।

इस प्रकार कोई संगति से जैनधर्म को धारण करते हैं। कोई महान पुरुषों को जैनधर्म में प्रवर्तता देखकर स्वयं भी प्रवर्तते हैं; परन्तु जैनधर्म क्या है-इस बात का विचार नहीं करते। विकार क्या है, संयोग क्या है और विकार रहित आत्मा क्या है ?-इसका कुछ पता नहीं है; मात्र देखा-देखी शुद्ध-अशुद्ध (शुभ-अशुभ) क्रियारूप प्रवर्तता है। आत्मा के भान बिना प्रतिज्ञा धारण करले अथवा मुनिपना ले लेवे तो वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा राग और कर्म से भिन्न है। उसका तो वह विचार

नहीं करता और कोई एक माह के उपवास करे तो स्वयं भी देखा-देखी उपवास करता है; परन्तु इससे धर्म नहीं होता। शुद्ध चैतन्य स्वभावी आत्मा की श्रद्धा करने से ही धर्म होता है। जैसे थैली में चिरायता भरा हो और उसके ऊपर शक्कर लिख दे तो चिरायता मीठा नहीं हो जाता; उसीप्रकार जैन नाम रखने मात्र से ही जैन नहीं हो जाता। अन्तर जैन हुए बिना मिथ्यात्वरूपी कड़वाहट नहीं मिटती। जैनधर्म का रहस्य वीतरागता है, शुभपरिणाम धर्म नहीं है। जिसको ऐसी दृष्टि है कि मेरा स्वरूप राग-द्वेष से रहित है उसको धर्म होता है। वीतरागी दृष्टि पूर्वक शुद्ध परिणाम जैनधर्म है; परन्तु अज्ञानी राग की मंदता को धर्म मानता है वह जैन नहीं है। अतः धर्म की पहिचान करनी चाहिये। यह जानना चाहिये कि विकार और जड़ की क्रिया से रहित मेरा स्वरूप क्या है ? मेरा स्वभाव शुद्ध चिदानन्द है; जो ऐसी दृष्टि नहीं करते और मात्र देखा-देखी बाह्य क्रिया करते हैं वे सभी मिथ्यादृष्टि हैं।

हाँ, इतना अवश्य है कि जैनमत में गृहीत मिथ्यात्वादि की पाप प्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती, पुण्य के निमित्त अनेक हैं तथा यहाँ सच्चे मोक्षमार्ग के कारण भी बने रहते हैं। इस कारण जो कुलादिक से जैनी हैं और व्यवहार से कषाय मंदता है, इस कारण दूसरों की अपेक्षा इनको भला कहा है; परन्तु आत्मा का भान नहीं होने के कारण ये भी मनुष्य जीवन हार जायेंगे।

जिनको सर्वज्ञ के पंथ में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान है उनको पाप की प्रवृत्ति कम होती है। यात्रा, भक्ति, पूजा आदि शुभ परिणाम के निमित्त होते हैं वे आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निमित्त बन जाते हैं। इस अपेक्षा से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने वाले ठीक है। दूसरो की अपेक्षा वे व्यवहार श्रद्धा में ठीक है; परन्तु उनको जन्म-मरण के अन्त का लाभ नहीं है।

(सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक व्यवहाराभासी)

....तथा जो जीव कपट से आजीविका के अर्थ, व बड़ाई के अर्थ, व कुछ विषय-कषाय- सम्बन्धी प्रयोजन विचारकर जैनी होते हैं; वे तो पापी ही हैं। अति तीव्र कषाय होने पर ऐसी बुद्धि आती है। उनका सुलझना भी कठिन है।

जैनधर्म का सेवन तो संसार-नाश के लिये किया जाता है; जो उसके सांसारिक प्रयोजन साधना चाहते हैं वे बड़ा अन्याय करते हैं। इसलिये वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।....

पुनश्च, प्रतिदिन सामायिक, प्रतिक्रमण करेंगे तो धर्मी माने जायेंगे और आजीविका मिलेगी- इस प्रकार कपट करे तो मिथ्यादृष्टि है। उपवास करूँगा तो लोक में बड़प्पन मिलेगा- ऐसा मानने वाला अज्ञानी है, उसको जैन धर्म का पता नहीं है। व्रतधारण करूँगा तो पूज्य हो जाऊँगा, मुनिपना लूँगा तो मान मिलेगा- ऐसी बढ़ाई के लिये करता है वह मिथ्यादृष्टि है। जो लक्ष्मी प्राप्त होने की मान्यता से व्रत-तप करता है वह जैनधर्म के रहस्य को नहीं जानता। पैसा और स्वर्ग की इच्छा करने वाला, मान अथवा पर पदार्थ प्राप्त करने की भावना वाला मिथ्यादृष्टि है। जो बड़प्पन के लिये धर्म क्रिया करता है वह पापी है। पुण्य करेंगे तो पुत्र और प्रतिष्ठा मिलेगी, महावीरजी तीर्थक्षेत्र की यात्रा करने से धन प्राप्त होगा-ऐसी भावना से यात्रा करने वाला पापी है। क्योंकि वहाँ कषाय और कषाय के फल की भावना है। ऐसे जीव को जैनधर्म के स्वरूप का पता नहीं है और यह भी पता नहीं है कि संयोग पूर्व कर्म के उदयानुसार मिलते हैं। उसका तिरना कठिन है। धर्मी जीव तो स्वर्ग या लक्ष्मी आदि की आशा नहीं रखता।

जिसको ऐसी दृष्टि नहीं हुई है कि-"आत्मा की पर्याय में होने वाले विकार का अभाव स्वभाव के आश्रय से होता है। वस्तु स्वभाव वीतराग स्वरूप है। मैं सिद्ध समान हूँ" और राग-द्वेष करके धर्म मानता है वह संसार प्रयोजन को साधता है। वह बड़ा अन्याय करता है। 'पुण्य का ऐसा फल मिलना चाहिये'-यह मिथ्यात्व सहित निदान है।-ऐसा निदान सम्यग्दृष्टि नहीं करता। अज्ञानी अनुकूल सामग्री की भावना करता है और प्रतिकूल सामग्री को हटाना चाहता है। वह जैनधर्म नहीं है। संयोग और राग में अपनेपन की मिथ्याश्रद्धा छोड़कर स्वभाव की श्रद्धा करना ही जैनधर्म है।

....यहाँ कोई कहे कि-हिंसादि द्वारा जिन कार्यो को करते है; वही कार्य धर्म-साधन द्वारा सिद्ध किये जायें तो बुरा क्या हुआ? दोनो प्रयोजन सिद्ध होते हैं?

उससे कहते हैं- पापकार्य और धर्मकार्य का एक साधन करने से पाप ही होता है। जैसे कोई धर्म का साधन चैत्यालय बनवायें और उसी को स्त्री-सेवनादि पापों का भी साधन करे तो पाप ही होगा। हिंसादि द्वारा भोगादिक के हेतु अलग मकान बनवाता है तो बनवाये, परन्तु चैत्यालय में भोगादिक करना योग्य नहीं है। उसी प्रकार धर्म का साधन पूजा, शास्त्रादि कार्य है; उन्हीं को आजीविकादि पाप का भी साधन बनाये तो पापी ही होगा। हिंसादि से आजीविकादिक के अर्थ व्यापारादि करता है तो करे, परन्तु पूजादि कार्यों में तो आजीविकादिक का प्रयोजन विचारना योग्य नहीं है।....

प्रश्नः- हिंसादिक से जो व्यापारादिक करते हैं वे ही कार्य धर्म साधन से सिद्ध करें तो इसमें क्या बुरा हुआ? इसमें तो दोनो ही प्रयोजन सधते हैं।

उत्तरः- पुत्र के लिये अथवा अनुकूल साधन के लिये विषय-कषायरूप परिणाम करना- वह पाप है। जीव स्वयं ममता करता है। कमाने का भाव तथा परिवार की व्यवस्था का भाव पाप है। पापकार्य और धर्मकार्य का एक साधन करने से तो पाप ही होता है। प्रौषध (उपवास) करने से उसके अगले और पीछे के दिन अच्छा भोजन मिलेगा यह भाव पाप है। सामायिक, उपवास, अथवा वर्षी तप करने से कीमती वर्तन मिलेंगे-ऐसा विचारकर उपवास करे तो वह पाप ही है। वहाँ विपरीत दृष्टि तो है ही, तदुपरांत अशुभ परिणाम भी है।

धर्म साधन के लिये चैत्यालय बनावे और उसी मन्दिर में विकथा करे, जुआ,ताश खेले तो वह महान पाप है। उसको धर्म का पता नहीं है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ-ऐसे भानपूर्वक शान्ति उत्पन्न होना धर्म है। हिंसादि अथवा भोग के लिये अलग मकान बनावे तो बनाओ; परन्तु मन्दिर में ताश खेलना, जुआ खेलना आदि तो महान पाप है। मन्दिर में कुदृष्टि करे, उपाश्रय, धर्मशाला में व्याभिचार का सेवन करे वह तो महापापी है। इसी प्रकार धर्म का साधन पूजा, दान, शास्त्राभ्यास, आदि है। इन धर्म के साधनों से आजीविकारूप कार्य करने वाला पापी है। शास्त्र वाँचन से पैसा प्राप्त करने वाला पापी है। इसलिये ऐसा कार्य करना हित नहीं है। अपनी आजीविका के लिये हिंसादि व्यापार करता है तो करे; परन्तु भगवान की पूजादि करके आजीविका का प्रयोजन विचारना योग्य नहीं है।

....प्रश्नः- यदि ऐसा है तो मुनि भी धर्मसाधन कर पर-घर भोजन करते हैं तथा साधर्मी साधर्मी का उपकार करते-कराते हैं सो कैसे बनेगा?

उत्तरः- वे आप तो कुछ आजीविकादि का प्रयोजन विचारकर धर्म-साधन नहीं करते। उन्हें धर्मात्मा जानकर कितने ही स्वयमेव भोजन उपकारादि करते हैं, तब तो कोई दोष है नहीं। तथा यदि आप भोजनादिक का प्रयोजन विचारकर धर्म साधता है तो पापी है ही। जो विरागी होकर मुनिपना अंगीकार करते हैं उनको भोजनादिक का प्रयोजन नहीं है। शरीर की स्थिति के अर्थ स्वयमेव भोजनादि कोई दे तो लेते हैं, नहीं तो समता रखते है-संक्लेशरूप नहीं होते। तथा अपने हित के अर्थ धर्म साधते हैं। उपकार करवाने का अभिप्राय नहीं है, और आपके जिसका त्याग नहीं है वैसा उपकार कराते हैं। कोई साधर्मी स्वयमेव उपकार करता है तो करे, और यदि न करे तो उन्हें कुछ संक्लेश होता नहीं।- सो ऐसा तो योग्य है। परन्तु आपही आजीविकादि का प्रयोजन विचारकर बाह्यधर्म का साधन करे, जहाँ भोजनादिक उपकार कोई न करे वहाँ संक्लेश करे, याचना करे, उपाय करे, अथवा धर्म-साधन में शिथिल हो जाये; तो उसे पापी ही जानना।

इस प्रकार सांसारिक प्रयोजनसहित जो धर्म साधते हैं वे पापी भी है और मिथ्यादृष्टि तो हैं ही।

इस प्रकार जिनमत वाले भी मिथ्यादृष्टि जानना।....

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो मुनि भी धर्म साधन के लिये पर घर भोजन करते हैं तथा कोई साधर्मी किसी साधर्मी का उपकार करता है- वह कैसे बनेगा?

उत्तरः- कोई ऐसा विचार करके कि- मुनि हो जाने से रोटियाँ तो मिलेगी इसलिये मुनि हो जाना चाहिये तो वह पापी है। आजीविका के लिये मुनिपना अथवा प्रतिमा धारण करने वाला मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि जीव तो इन्द्र पद को भी तृणवत् मानता है। धर्मी जीव संयोगो की दृष्टि नही रखता। वह आजीविका का प्रयोजन

विचारकर धर्म साधन नहीं करता; परन्तु अपने को धर्मात्मा जानकर कोई स्वयं उपकारादि करे तो उसमें दोष नहीं है; परन्तु वहाँ वह दीनता नहीं करता। जो स्वयं ही भोजनादिक का प्रयोजन विचारकर धर्म का साधन करता है वह तो पापी ही है।

जो वैराग्यवंत होकर मुनि धर्म अंगीकार करते हैं उनके भोजनादिक का प्रयोजन नहीं है। जिसको मैं ज्ञानस्वरूप हूँ -ऐसी दृष्टि हुई है वह वैरागी होता है। मेरा स्वरूप राग और विकार से रहित है,''सिद्ध समान सदा पद मेरो'-ऐसा वह समझता है। सर्वप्रथम उसको दृष्टि में ऐसा आत्मा रुचा है, तत्पश्चात् राग-द्वेष से उदासीन परिणाम होते हैं, फिर मुनिपना अंगीकार करता है। लालच से मुनिपना लेना योग्य नहीं है। सर्वप्रथम आत्मज्ञान होना चाहिये। आत्मज्ञान होने के पश्चात् वैरागी होना चाहिये। भोजन के प्रयोजन के लिये मुनिपना नहीं लिया जाता। मुनिराज तो निर्दोष आहार नवधा भक्ति पूर्वक मिलने पर ही लेते हैं। वे स्वयं के लिये बनाया हुआ आहार नहीं लेते हैं। गृहस्थ ने स्वयं के लिये भोजन बनाया हो, वैसा आहार ही मुनि लेते हैं। वे एषणासमिति का पालन भलीभांति करते हैं। उद्देशिक आहार ग्रहण करना एषणासमिति में दोष है। वे आहार के प्रयोजन बिना आत्मा का साधन करते हैं। शरीर की स्थिति के लिये कोई निर्दोष भोजन दे तो लेते हैं; परन्तु भोजन का प्रयोजन विचारकर मुनिपना नहीं लेते।

मुनि को संक्लेश परिणाम नहीं होता। वे बड़प्पन के लिये अथवा यश के लिए मुनिपना धारण नहीं करते। तथा वे अपने हित के लिये धर्म को साधते हैं, परन्तु उनके उपकार कराने का अभिप्राय नहीं होता। स्वयं को जिसका त्याग नहीं है- ऐसा उपकार कराते हैं। कोई साधर्मी स्वयं उपकार करे तो करो; नहीं करे तो उससे स्वयं को संक्लेश नहीं होता। कोई याचना का प्रयत्न करे और धर्म साधन में शिथिल हो जाए तो वह मिथ्यादृष्टि अशुभपरिणामी है। इस प्रकार जो सांसारिक प्रयोजन के लिए धर्म साधता है वह मिथ्यादृष्टि तो है ही, परन्तु साथ में पापी भी है। इस प्रकार जैनमत वाले भी मिथ्यादृष्टि जानना।

उक्त व्यवहाराभासी धर्मधारकों की सामान्य प्रवृत्ति

....अब, इनके धर्म का साधन कैसे पाया जाता है सो विशेष बतलाते हैं:-

वहाँ कितने ही जीव कुलप्रवृत्ति अथवा देखा-देखी लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधते हैं, उनके तो धर्मदृष्टि नहीं है।

यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है, दृष्टि घूमती रहती है और मुख से पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है। मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस प्रयोजन के अर्थ स्तुति करता हूँ, पाठ में क्या अर्थ है, सो कुछ पता नहीं है।

तथा कदाचित् कुदेवादिक की भी सेवा करने लग जाता है; वहाँ सुदेव-गुरु-शास्त्रादि व कुदेव-गुरु-शास्त्रादिकी विशेष पहिचान नही है।

तथा यदि दान देता है तो पात्र-अपात्र के विचार रहित जैसे अपनी प्रशंसा हो वैसे दान देता है।

तथा तप करता है तो भूखा रहकर महंतपना हो वह कार्य करता है; परिणामों की पहिचान नहीं है।

तथा व्रतादिक धारण करता है तो वहाँ बाह्य किया पर दृष्टि है; सो भी कोई सच्ची क्रिया करता है, कोई झूठी करता है; और जो अन्तरंग रागादिभाव पाये जाते हैं उनका विचार ही नहीं है, तथा बाह्यमें भी रागादि के पोषण के साधन करता है।

तथा पूजा-प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ किस प्रकार लोक में बड़ाई हो, व विषय-कषाय का पोषण हो उस प्रकार कार्य करता है। तथा बहुत हिंसादिक उत्पन्न करता है।

सो यह कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के अर्थ कहे हैं। तथा वहाँ किंचित् हिंसादिक भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो वह कार्य करना कहा है। परिणामों की तो पहिचान नहीं है और यहाँ अपराध कितना लगता है, गुण कितना होता है-ऐसे नफा-टोटे का ज्ञान नहीं है व विधि-अविधि का ज्ञान नहीं है।....

अब इनके धर्म का साधन कैसा होता है- वह यहाँ विशेषरूप से दर्शाते हैं:-

कितने ही जीव तो कुल प्रवृत्ति से धर्म करते हैं। एक करे तो दूसरा भी करता है। तथा लोभ के अभिप्राय से साधन करने वाले के तो धर्म दृष्टि ही नहीं है। भगवान की भक्ति करते समय चित्त यहाँ-वहाँ घूमा करता है। अपने परिणामों का ठिकाना नहीं है और मुँह से पाठ बोलते हैं; परन्तु परिणाम खराब होने से उसको पुण्यबंध भी नहीं होता- धर्म तो होता ही नहीं। जैसे उस समय दुकान का विचार आवें, सुन्दर स्त्रियों को देखा करे तो उसको धर्म तो है ही नहीं; परन्तु अशुभ उपयोग है। मैं कौन हूँ ?- इसका विचार नहीं करता, पाठ पढ़ता जाता है; परन्तु अर्थ का पता नहीं है।

भगवान की भक्ति में विचार करना चाहिये कि वे कौन हैं ? वीतराग देव हैं। वे किसी का कुछ लेते-देते नहीं है। स्तवन में आता हैं कि-"शिवपद हमको दीजै" तो क्या तेरा शिवपद-मोक्ष भगवान के पास है ? नहीं। तथा ऐसा कहते हैं कि-हे भगवान! आप करो वह ठीक!- तो क्या भगवान तेरी पर्याय के कर्त्ता है ? ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। भगवान न तो किसी को डुबाते हैं और न किसी को तारते हैं; भगवान तो मात्र साक्षी हैं- केवलज्ञानी हैं।

मैं कौन हूँ ? इसका पता नहीं; किसकी स्तुति करता हूँ और किस प्रयोजन के लिये स्तुति करता हूँ- इसका पता नहीं है। सर्वज्ञ भगवान पूर्ण हो गये हैं और मैं भी अपने पुरुषार्थ से पूर्ण होऊँगा; परन्तु शुभराग आता है इसलिये (परमात्मा के प्रति) लक्ष्य जाता है- ऐसा भान जिसको नहीं है उसको वीतराग के स्वरूप का पता नहीं है। "आरोग्य बोहि लाभ"- ऐसा पाठ बोलता है; परन्तु अर्थ का पता नहीं है। हे नाथ! पुण्य-पाप के परिणाम रोग है, आत्मा निरोग स्वरूप आनन्दकन्द वस्तु है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूपी लाभ मुझे प्राप्त हो। मैं निरोग स्वरूप हूँ, मुझे आपके जैसी निरोग्यता प्राप्त हो- ऐसी भावना भाता है।

अज्ञानी मानता है कि भगवान की स्तुति से पैसा और अनाज मिलेगा; परन्तु ऐसा मानने वाला मूढ़ है। उसको भगवान के स्वरूप का पता नहीं है। भगवान तो सर्वज्ञ-वीतराग हैं। वे किसी को पैसा नहीं देते-लेते।

तथा वह जीव किसी समय क्षेत्रपाल, चक्रेश्वरी, अम्बाजी, भवानी आदि के पैंरो भी पड़ने लग जाता है। ये भगवान के कुलदेव (शासनदेव) हैं-ऐसा कहकर कुलदेव को मानता है, कुगुरु, कुशास्त्र को मानता है। कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु और उनके मानने वालों का त्याग करना चाहिये; परन्तु अज्ञानी का सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान नहीं है।

तथा वह दान देता है तो पात्र-अपात्र के विचार रहित दान देता है। पचास हजार रूपये दूँगा तो प्रतिष्ठा बढ़ेगी और मन्दिर में मेरे नाम का पट्ट लगेगा- इस प्रकार मान के लिये दान देने वाला पापी है। जो पात्र-अपात्र की परीक्षा के बिना दान देता है अथवा प्रशंसा के लिये दान देता है वह मिथ्यादृष्टि-पापी है। जो लाज के लिये धर्म करता है या भोजन के लिये धर्म करता है वह मिथ्यादृष्टि है। वस्तुतः धर्म तो अपने स्वभाव का भान करने पर ही होता है।

तथा भूखा रहने में तप मानता है। उसमें कषाय की मंदता होवे तो पुण्य है। स्वभाव का भान होने के बाद ही निर्जरा होती है। (मात्र अज्ञानी के बालतप से निर्जरा नही होती।) अज्ञानी जीव बालतप करके अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक तक गया है; परन्तु अपने परिणाम की पहिचान नहीं की, इस कारण धर्म नहीं हुआ। कषाय की मंदता करने से पुण्य होता है और राग रहित स्वभाव की पहिचान करने से धर्म होता है। ऐसी सत्य समझ करना चाहिये।

यहाँ व्यवहराभासी का वर्णन चल रहा है। जिसको ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का भान नहीं है और अकेले शुभभाव पर वजन है उसकी बात चल रही हैं। यहाँ उसकी तपश्चर्या का मिथ्यापन बतलाया जा रहा है।

तप में कषाय मंदता से पुण्य होता है। मैं आहार और राग से भिन्न चैतन्य स्वभावी आत्मा हूँ-ऐसा भान करने वाले को ही धर्म और सच्ची तपश्चर्या होती है। देह, मन, वाणी तो जड़ हैं। उनकी पर्याय जड़ से होती है। आत्मा उससे भिन्न है। आत्मा मै परपदार्थ का ग्रहण त्याग करने की शक्ति नहीं है। अज्ञानी जीव, मैं परपदार्थ

को ग्रहण करता हूँ ऐसा अभिमान करता है। जड़ पदार्थ तो आत्मा से अत्यन्त अभावरूप है। जो जड़ पदार्थो के ग्रहण-त्याग का अभिमान करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है- ऐसी जिसको दृष्टि नहीं है और बाह्य क्रिया पर दृष्टि है वह मिथ्यादृष्टि है। मैंने पर की दया पाली, मैंने पर की हिंसा की- यह सब मिथ्याभाव है। अज्ञानी भी पर का कर्ता-हर्ता नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मैंने पर की दया पाली और उसे बचाया-ऐसा अभिमान ही वह करता है। पर जीव को दुःख नहीं देने का भाव पुण्य आस्रव है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की दृष्टि धर्म है।-ऐसा भान नहीं और कहे कि मैंने व्रत धारण किये, मैंने परिग्रह छोड़ा- इच्छा छोड़ी तो वस्तु छूट गई-ऐसा मानने वाले की दृष्टि पर के ऊपर है। पर वस्तु का आना या जाना आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। जैन सम्प्रदाय में होने पर भी जो यह मानता है कि मैंने पर की दया पाली, वह ईश्वर कर्ता की मान्यता वाले (अन्यमती) की तरह मिथ्यादृष्टि है। छहों द्रव्य अनादि-अनन्त स्वतन्त्र हैं। कोई किसी का कर्ता नहीं है; तथापि जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय कर सकता हूँ वह ईश्वर को जगत कर्ता मानने वाले की तरह मिथ्यादृष्टि है। उसको जैनदर्शन की समझ नहीं है।

अविरत सम्यग्दृष्टि को आत्मा का भान है। वह जानता है कि राग आता है वह मेरी कमजोरी से आता है; परन्तु वस्तु में राग नहीं है। मैं एक समय में परिपूर्ण परमात्मा हूँ। इस प्रकार अन्तर स्वभाव में धर्मी की दृष्टि पड़ी है। उसकी दृष्टि बाह्य पर नहीं है। अज्ञानी की दृष्टि बहिर्मुख है, जड़ की क्रिया पर है। अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी को छोटी उम्र में जातिस्मरण ज्ञान हुआ था। वे तत्वज्ञानी थे। उन्होंने 29 वर्ष की उम्र में आत्मसिद्धि शास्त्र बनाया है। उसमें वे कहते हैं।

लहा स्वरूप न वृत्ति का, ग्रहा व्रत अभिमान।
ग्रहे नहिं परमार्थ को, लेने लौकिक मान।।

अज्ञानी जीव लौकिक मान लेने के लिये व्रत धारण करता है; परन्तु अपना स्वभाव राग रहित और जड़ की क्रिया से रहित है, उसकी पहिचान नहीं करता और व्रत धारण करके अभिमान करता है।

अन्तरंग में रागादि परिणाम होते हैं वे व्रत नहीं हैं। शुभाशुभ उपयोग रहित स्वभाव में स्थिरता होना निश्चय व्रत है। अज्ञानी राग-द्वेषरूप कलुषित भाव होने पर भी व्रत धारण किया मानता है। चिदानन्द स्वभावी आत्मा का भान होने के पश्चात उसमें आंशिक लीनता होना निश्चय व्रत है। दया, दानादि, व्यवहार है। निश्चय हो तो व्यवहार कहा जाता है।

पहले व्यवहार होवे तो निश्चय धर्म होता है- ऐसा मानने वाले दिगम्बर जैन नहीं है। आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व श्वेताम्बर उपाध्याय 'यशोविजय' हो गये हैं उन्होने दिगम्बरों की 84 (चौरासी) भूलें निकाली हैं। उनमें एक भूल ऐसी निकाली है कि-"तुम दिगम्बर निश्चय पहले कहते हो और फिर व्यवहार कहते हो। हम व्यवहार पहले कहते हैं और फिर निश्चय होता है।" परन्तु यह उनकी भूल है। ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि हुए बिना राग को व्यवहार कहने वाला कौन है? सम्यग्ज्ञान बिना नक्की कौन करेगा? आत्मा ज्ञायक है, राग मेरा स्वरूप नहीं है-ऐसा भान होने के बाद राग को व्यवहार कहते हैं।

निश्चयनय पहले कहै, पीछै ले व्यवहार।
भाषा क्रम जानै नहिं, जैनमार्ग कौ सार।।

-ऐसा कहकर उन्होंने दिगम्बरों की भूल निकाली है। इसी प्रकार वर्तमान के दिगम्बर भी व्यवहार को पहले (होना) कहते हैं तो वे भी श्वेताम्बरों की तरह मिथ्यादृष्टि हैं। यह जैन दर्शन की रीति नहीं है। दो हजार वर्ष पूर्व निकला श्वेताम्बरमत व्यवहार को पहले कहकर निकला है।

चौथे गुणस्थान में निश्चय पहले होता है। अथवा जिसको धर्म करना हो उसको प्रथम आत्मा की दृष्टि करना चाहिये। जिसको भावश्रुत ज्ञान हुआ हो उसको व्यवहार होता है। निश्चय की दृष्टि हुए बिना पुण्य को व्यवहार नहीं कहते।

पुनश्च, यशोविजयजी कहते हैं-

तातैं सो मिथ्यामती, जैन क्रिया परिहार।
व्यवहारी सौ समकिती, कहे भाष्य व्यवहार।।

तुम दिगम्बर दया, दानादि से धर्म नहीं मानते इसलिये मिथ्यादृष्टि हो। परन्तु उनकी यह बात यथार्थ नहीं है। राग का हेय मानकर स्वभाव को उपादेय माने, तो राग को व्यवहार कहते हैं। शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करना निश्चय है और राग को जानना व्यवहार है। अभव्य ने भी नवतत्त्वों की राग सहित श्रद्धा और महाव्रतों का पालन तो अनन्तबार किया है; परन्तु उसको व्यवहार नहीं कहते। जिसको आत्मा का भान हुआ है उसके शुभराग को व्यवहार कहते हैं।

तथा यशोविजयजी कहते है कि 'व्यवहारनय प्रथम परिणमता है'; परन्तु यह उनकी भूल है। मिथ्यादृष्टि के नय नहीं होते। निश्चय बिना कुनय अथवा व्यवहाराभासी है। राग की क्रिया करते-करते वीतरागता होगी-ऐसा मानने वाला व्यवहाराभासी है।

पहले अपने स्वभाव की दृष्टि करना चाहिये। ज्ञानी को भी दया, दानादि के भाव आते हैं; परन्तु वह उनको पुण्यास्रव मानता है। स्वभाव की प्रतीति-ज्ञान और लीनता होना निश्चय है ओर शुभराग को व्यवहार कहते हैं। श्रीमद्जी ने 'आत्मसिद्धि' में कहा है कि-

नय निश्चय एकान्त से इसमें नहीं कहेल।

एकान्ते व्यवहार नहीं, दोनो साथ रहेल।

जिस समय निश्चय प्रगट होता है तब शुभराग को व्यवहार कहते हैं।

अज्ञानी जीव उपवास करने के लिये पहले दिन खूब खा लेता है। यह गृद्धिपने की वृत्ति है। वह राग पोषण करने का साधन करता है, परन्तु आत्मा के पोषण का साधन नहीं करता। मेरे ज्ञानस्वभाव में शान्ति है-ऐसा उसे पता नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य आदि भावलिंगी मुनि थे। वे सहज निर्दोष आहार लेते थे। अभी तो साधुओं के लिये चौका बनाते हैं और वहाँ से साधु आहार लेते हैं- यह सब पापभाव है।

अज्ञानी बाह्य साधन भी रागादि के पोषण के लिये करता है। अज्ञानी की दृष्टि पर के ऊपर है। वह खाने-पीने के पदार्थो में शान्ति मानता है। शरीर तो अजीव तत्व है, आत्मा जीव तत्व है, खाने की वृत्ति उत्पन्न होना आस्रव तत्व है; इस प्रकार तीनो को भिन्न मानना चाहिये।

आत्मा का मान होने के बाद भी धर्मी को प्रभावना यात्रा आदि का भाव आता है; परन्तु रागरहित आत्मा का भान होना निश्चय है और शुभराग व्यवहार है।

राग कर्म से नहीं होता। औदयिकभाव जीव की पर्याय का स्वतत्व है। 'कर्म विचारै कौन, भूल मेरी अधिकाई' कर्म तो जड़ हैं। जीव अपनी भूल से परिभ्रमण करता है। मैं भूल करता हूँ तो कर्म को निमित्त कहते हैं। कर्म तो जड़ है, उन्हे कुछ भी पता नहीं है।

1. अज्ञानी स्वयं अपराध करता है और दोष कर्म पर डालता है। कर्म है इसलिये विकार नहीं है। स्वयं राग में रुका तो कर्म को निमित्त कहते हैं।
2. ऊपर कहे अनुसार पर्याय का यथार्थ ज्ञान करने वाला धर्मी समझता है कि मेरा ज्ञानस्वभाव राग से भी अधिक-भिन्न है। स्वभाव की अधिकता में राग गौण है। मैं राग नहीं हूँ। राग एकसमय की पर्याय है। मैं राग से भिन्न हूँ। मैं ज्ञानस्वभावी हूँ-ऐसी दृष्टि करना निश्चय है और राग की पर्याय का ज्ञान वर्तता है वह व्यवहार है।

अज्ञानी पूजा-प्रभावनादि कार्यों में बडप्पन मानता है। उसको अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा की दृष्टि नहीं है। पाँच लाख रूपये दान में खर्च करके बडप्पन मानता है। मन्दिर आदि बनने की पर्याय जड़ से होती है- इस बात का उसको पता नहीं है और मैं बनाता हूँ ऐसा व्यर्थ ही अभिमान करता है। जीव जितनी कषाय की मंदता करता है उतना पुण्य होता है; परन्तु उससे धर्म मानने वाला तो व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। जो राग आना है वह तो आयेगा ही; परन्तु उस समय दृष्टि किस तरफ है- यह देखने योग्य है। मन्दिर, मानस्तम्भ आदि तो जड़ के कारण बनते हैं; परन्तु अज्ञानी मानता है कि मैंने इतने मन्दिर बनाये हैं, इस प्रकार वह पर की कर्तत्व वृद्धि का पोषण करता है। आत्मा के ज्ञान वाला धर्मी ऐसा अभिमान नहीं करता।

जो जीव अपने को पर की पर्याय का अथवा राग की पर्याय का कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और सम्यग्ज्ञानी जीव जड़ की पर्याय का व अस्थिरता जन्य राग

का जानने वाला है, वह अपने को उनका कर्ता नहीं मानतां पर की क्रिया का कर्ता होने वाला ज्ञानी नहीं है और जो जानने वाला (ज्ञानी) है वह पर का व राग का कर्ता नहीं है।

जिसको आत्मा का भान हुआ है- ऐसे ज्ञानी को देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति का भाव आता है वह शुभभाव है। अपना ज्ञानस्वभाव उससे रहित है-ऐसा ज्ञानी समझता है। ज्ञानी की दृष्टि पुण्य पर नहीं है। ज्ञानी समझता है कि पुण्य तो आस्रव है। मैंने मकान की क्रिया नहीं की। पुद्गल परमाणुओं की जो पर्याय, जिस क्षेत्र में, जिस काल में होने वाली है वह होगी; उसमें फेरफार करने के लिये इन्द्र और जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है।

तथा अज्ञानी हिंसा के परिणाम करता है। भगवान की पूजा में फूल में हिंसा का तथा रात्रि के समय दीपक-बत्ती मैं जीव मरते हैं- इसका विचार करना चाहिये। ये कार्य तो अपने और अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के लिये कहे गये हैं। यद्यपि वहाँ किंचित् हिंसादिक भी होते हैं; परन्तु जहाँ अपराध (पाप) थोड़ा हो और लाभ विशेष हो वैसा करने को कहा है। पाप अल्प और पुण्य बहुत हो तो पूजा-भक्ति करने को कहा है। अब अज्ञानी को परिणामों की तो पहिचान नहीं है। कितना लाभ और कितनी हानि होती है उसकी खबर नहीं है। जिस प्रकार व्यापारी व्यापार में सब ध्यान रखता है, उसी प्रकार धर्म कार्य में लाभ हानि का विचार करना चाहिये; परन्तु अज्ञानी को लाभ-हानि या विधि-अवधि का ज्ञान नहीं है। सामूहिक यात्रा में कई बार तीव्र आकुलतारूप परिणाम हो जाते हैं। पहाड़ पर यात्रा करने जाए और थकान आ जाए, उस समय तीव्र कषाय के परिणाम करता है, विवेक नहीं रखता। पूजा विधिपूर्वक या अविधि से करता हूँ उसका ज्ञान नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभावी है- ऐसे भानपूर्वक अपने परिणामों को देखना चाहिये।

देखो! यहाँ व्यवहाराभासी की बात चल रही है। जिसको आत्मा के ज्ञानानन्द स्वरूप की अन्तर दृष्टि नहीं हुई और बाहर के क्रियाकाण्ड अथवा मन्द कषाय को ही धर्म मानता है वह जीव व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। मैं देह-मन-वाणी से पार

ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ, देहादिक की क्रिया मेरी नहीं है- ऐसा जिसको भान नहीं है और जो यह मानता है कि मैं देह की क्रिया करता हूँ वह मिथ्यादृष्टि व्यवहार मूढ़ है।

आत्मा शुद्ध है- ऐसा कहे; परन्तु पर्याय में राग है उसको नहीं जाने; वह तो निश्चयाभासी है और उस शुभराग को ही धर्म मान ले और राग रहित आत्मा को नहीं जाने वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। राग करते-करते कभी धर्म प्राप्त हो जायेगा-ऐसा मानने वाले को धर्म का भान नहीं है। पर्याय में राग है; परन्तु मैं उतना ही नहीं हूँ। मैं त्रिकाल ध्रुव ज्ञानस्वभावी हूँ- ऐसा भान करने वाले को भगवान धर्मी कहते हैं। *जो शुभराग को धर्म नहीं मानता उसके शुभराग का व्यवहार कहते है।*

चौथा-पाँचवा-छठवाँ आदि गुणस्थान है। यदि उन्हें नहीं माने तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा और जो जीव अकेले भेद का ही आश्रय करके धर्म मानता है; किन्तु निश्चय अभेद स्वभाव को नहीं पहिचानता उस जीव को तत्व का भान नहीं है। इस प्रकार निश्चय के बिना तो तत्व का लोप हो जाता है और व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप होता है। इसलिये दोनो को जैसे हैं वैसा जानना चाहिये।

यात्रा, पूजा आदि का शुभभाव धर्म नहीं है; किन्तु पुण्य है। बाहर की शरीर की क्रिया से पुण्य नही किन्तु अन्दर में मंदराग किया उससे पुण्य है- ऐसा न मानकर शरीर की क्रिया से पुण्य मानना और पुण्य से धर्म मानना-ये दोनो भूल है। निश्चय व्यवहार दोनो को जानकर निश्चय का आदर करना और व्यवहार को हेय करना ही कर्त्तव्य है। जानने योग्य दोनो हैं; परन्तु आदरणीय तो एक निश्चय ही है। मंदराग अलग वस्तु है और धर्म अलग वस्तु है; धर्म तो वीतराग भावरूप है। निश्चय स्वभाव की दृष्टि रखकर भूमिकानुसार आते हुए राग को जानना; परन्तु आदरणीय नहीं मानना- इसका नाम प्रमाण ज्ञान है। परन्तु जो अकेले व्यवहार के आश्रय से धर्म मानता है और निश्चय को पहिचानता ही नहीं वह व्यवहाराभासी है। उसका यह वर्णन चल रहा हैं।

....तथा शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धतिरूप प्रवर्तता है। यदि बाँचता है तो औरों को सुना देता है, यदि पढ़ता है तो आप पढ़ जाता है, सुनता है तो जो कहते हैं वह सुन लेता है; परन्तु जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है उसे आप अन्तरंग में नही अवधारण करता।-इत्यादि धर्मकार्यो के मर्म को नहीं पहिचानता।

कितने तो जिस प्रकार कुल में बड़े प्रवर्तते हैं उसी प्रकार हमें भी करना, अथवा दूसरे करते हैं वैसा हमें भी करना, व ऐसा करने में हमारे लोभादि की सिद्धि होगी-इत्यादि विचारसहित अभूतार्थधर्म को साधते हैं।

तथा कितने ही जीव ऐसे होते हैं जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है, कुछ धर्मबुद्धि भी है; इसलिये पूर्वोक्त प्रकार भी धर्म का साधन करते है और कुछ आगे कहते हैं उस प्रकार से अपने परिणामों को भी सुधारते है-मिश्रपना पाया जाता है।....

यह व्यवहाराभासी जीव शास्त्र पढ़ता है तो पद्धति अनुसार पढ़ जाता है, परन्तु उसके मर्म को नहीं समझता। यदि पढ़ता है तो अन्य को सुना देता है या पढ़ता है तो स्वयं पढ़ जाता है। तथा सुनता है तो कहते हैं वह सुन लेता है; परन्तु जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है अन्तर में उसको अवधारण नहीं करता। समस्त शास्त्रों का तात्पर्य तो वीतरागभाव है।

वीतरागभाव माने क्या? स्वभाव का अवलम्बन और निमित्त की उपेक्षा ही वीतरागभाव है। पहले वीतरागी दृष्टि प्रगट होती है फिर वीतरागी चारित्र प्रगट होता है। भाई! परद्रव्य तो तुझसे भिन्न है, उनका तो तेरे में अभाव है। अर्थात् तुझसे उनको कुछ हानि-लाभ नहीं होता और उनसे तुझे कुछ हानि-लाभ नहीं होता। तेरी पर्याय में होने वाले रागादि भाव भी धर्म नहीं है। धर्म तो ध्रुव स्वभाव के आश्रय से प्रगट होने वाले वीतराग भाव में हैं। ऐसा ज्ञान किये बिना शास्त्र पढ़ जाए- सुन जाए या बोल जाए- इससे कुछ भी धर्म नहीं होता। शास्त्रों का अन्तर रहस्य क्या है? इसको अज्ञानी नहीं समझता। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी जो जीव तत्व का निर्णय नहीं करता और देव पूजा, शास्त्र स्वाध्याय आदि में ही धर्म मान लेता है वह व्यवहाराभासी है।

भगवान जिनेन्द्रदेव के दर्शन करने जाए, यदि वहाँ स्वयं मंद राग करे तो पुण्य होता है। भगवान कोई इस जीव को शुभभाव करा नहीं देते। कर्म के कारण विकार होता है- यह बात मिथ्या है।"आत्मा के द्रव्य-गुण में विकार नहीं है तो पर्याय में विकार कहाँ से आया? पर्याय में कर्म ने विकार कराया है।"- ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। विकार हुआ है वह जीव की पर्याय में अपने अपराध से हुआ है। द्रव्य-गुण में विकार नहीं है; परन्तु पर्याय में वैसा धर्म (योग्यता) हैं। वह पर्याय भी जीव का स्वतत्व है। औदयिक आदि पाँचों भाव जीव का स्वतत्व है। कहा भी है-

"औदयिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्व मोदायिक पारिणामिकै च।"
(तत्वार्थ सूत्र अध्याय2, सूत्र 1)

औदयिकभाव भी जीव का स्वतत्व है। वह जीव की पर्याय में होता है, जड़ कर्म के कारण वह नहीं होता। जो अपनी पर्याय में विद्यमान विकार को नहीं जानता और कर्म के कारण विकार मानता है वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है और पर्याय में होने वाले शुभभाव का ही धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

निमित्त और राग का लक्ष्य छोड़कर, पर्यायबुद्धि छोड़कर त्रिकाली ध्रुव स्वभाव का अवलम्बन करना ही शास्त्रों का तात्पर्य है; क्योंकि ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही धर्म की पर्याय प्रगट होती है। पर्याय के आश्रय से अथवा निमित्त से आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। जिसको ऐसा भान नहीं है और राग से धर्म मान लेता है वह शास्त्रों का तात्पर्य नहीं जानता वह व्यवहाराभासी है।

विचार तो करो कि पूर्व में अनन्त-अनन्त काल परिभ्रमण में गया-तो वस्तु स्वरूप क्या है? शुभभाव किये-व्रत-तप किये, तो भी परिभ्रमण किया; तो क्या शेष रह गया? अट्ठाईस मूलगुणों सहित द्रव्यलिंगी मुनि होकर अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक तक जा आया; परन्तु अन्तर ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि बिना रंचमात्र भी सुख प्राप्त नहीं हुआ। पुण्य तो किया, किन्तु दृष्टि नहीं बदली। जो उद्देशिक आहार ले, अट्ठाईस

मूलगुण नहीं पाले, वह तो व्यवहार में द्रव्यलिंगी साधु भी नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि अट्ठाईस मूलगुण एकदम सही पालता है, उद्देशिक आहर नहीं लेता; परन्तु जो अन्तरंग में ज्ञानानन्द स्वरूप की दृष्टि नहीं करता वह व्यवहाराभासी है। धर्म क्या वस्तु है; इसका उसको पता नहीं है।

मैं पुण्य-पाप रहित ज्ञायक चिदानन्द मूर्ति हूँ- ऐसी दृष्टि से धर्म का प्रारम्भ होता है।

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति शुद्धं णादो जो सो दुसो चेव ।।6।।

हिन्दी पद्यानुवाद

नहि अप्रमत्त प्रमत्त नहीं, जो एक ज्ञायकभाव है।
इस रीत शुद्ध कहाय अरू जो, ज्ञात वो तो वो हि है।।6।।

समयसार गाथा- 6

सर्वप्रथम ऐसे ज्ञायक स्वभाव की पहिचान करना ही अपूर्व धर्म का प्रारम्भ है। निमित्त से धर्म मानने वाले को निमित्त से भेदज्ञान नहीं है। राग से धर्म मानने वाले को कषाय से भेदज्ञान नहीं है, अतः उसको धर्म नहीं होता। जैन कुल में जन्मने मात्र से ही धर्म नहीं हो जाता। कुल परम्परा धर्म नहीं है। जो जीव 'कुल के बड़े मनुष्य और त्यागी करते हैं वैसा करना'- ऐसा मानकर व्यवहार का अनुसरण करता है, परन्तु तत्व की पहिचान नहीं करता तो उसको धर्म नहीं होता। जो पुत्र अथवा धन के लिये भगवान को मानता है उसमे तो पाप ही है और कुदेवादि को मानने वाला तो मिथ्यादृष्टि ही है। इन्द्र ऊपर से उतरे तो भी धर्मी जीव कहता है कि तू मेरा कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी कुछ भी फेरफार करने में समर्थ नहीं है। सर्वज्ञदेव ने जिस पदार्थ का जिसकाल में जैसा होना देखा है उसमें परिवर्तन करने में कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार जानने वाला किसी कुदेवादिक को नहीं मानता। अज्ञानी आत्मा के परमार्थ स्वभाव को तो जानता नहीं और अभूतार्थ धर्म को साधता है। अर्थात् राग को धर्म मानता है।

व्यवहार तो अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। भूतार्थ आत्मस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। जो जीव इस बात को नहीं जानता और कषाय की मंदता को धर्म मानता है वह अभूतार्थ धर्म को साधने वाला व्यवहाराभासी है।

तथा कोई जीव ऐसे होते हैं जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है तथा कुछ धर्म बुद्धि भी है। इसलिये वे कुछ पूर्वोक्त प्रकार से भी धर्म का साधन करते हैं। वहाँ कुछ आगम के कहे अनुसार भी अपने परिणामों को सुधारते हैं। इस प्रकार उनके मिश्रपना होता है।

धर्म बुद्धि से धर्म धारक व्यवहाराभासी

....तथा कितने ही धर्मबुद्धि से धर्म साधते हैं, परन्तु निश्चय धर्म को नहीं जानते; इसलिये अभूतार्थ धर्म को साधते हैं। वहाँ व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग जानकर उनका साधन करते हैं।....

तथा कोई धर्म बुद्धि से धर्म साधते हैं; परन्तु निश्चय धर्म को नहीं जानते। इस कारण वे भी अभूतार्थ धर्म को अर्थात् राग को ही साधते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का शुभराग है उसको ही मोक्षमार्ग जानकर सेवन करते हैं- उसका ही साधन करते हैं; परन्तु वस्तुतः वह मोक्षमार्ग नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय तो आस्रव है; परन्तु अज्ञानी उसको मोक्षमार्ग मानता है।

सम्यग्दर्शन का अन्यथारूप

....वहाँ शास्त्रमें देव-गुरु-धर्म की प्रतीति करने से सम्यक्त्व होना कहा है। ऐसी आज्ञा मानकर अरहन्त देव, निर्ग्रन्थगुरु, जैनशास्त्र के अतिरिक्त औरों को नमस्कारादि करने का त्याग किया है; परन्तु उनके गुण-अवगुणों की परीक्षा नहीं करते, अथवा परीक्षा भी करते हैं तो तत्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करते, बाह्यलक्षणों द्वारा परीक्षा करते है।-ऐसी प्रतीति से सुदेव-गुरु-शास्त्रों की भक्ति में प्रवर्तते हैं।....

शास्त्रों में देव-गुरु-धर्म की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है; इस कारण वे जीव अरिहन्त देव-निर्ग्रन्थ गुरु और जैन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य को वंदनादि नहीं करते। कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को नहीं मानते; परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की परीक्षा करके स्वयं पहिचान नहीं करते। यदि तत्वज्ञान पूर्वक यथार्थ परीक्षा करे तो मिथ्यात्व नहीं रहता। अज्ञानी मात्र बाह्य लक्षणों से ही परीक्षा करता है; परन्तु तत्वज्ञान पूर्वक सर्वज्ञ को नही पहिचानता। अष्टसहस्त्री में आज्ञाप्रधानी की अपेक्षा परीक्षाप्रधानी को उत्तम कहा है। भगवान की भी परीक्षा करके पहिचानना चाहिये। समन्तभद्राचार्य भी सर्वज्ञ की परीक्षा करते हुए (आप्तमीमांसा में) कहते हैं कि-

देवागम नमोयान चामरादि विभूतयः
मायाविष्वपि दृश्यंतें नामस्त्वमसि नो महान्।।

अर्थात्-देवता आते है, आकाश में गमन होता है, चंवर ढोरते हैं, समवसरण की रचना होती है-यह सब तो मायावी देव के भी होता दिखाई देता है। अतः इतने मात्र से ही आप महान नहीं हो। परन्तु आपके सर्वज्ञता आदि गुणों की पहिचान करके ही हम आपको महान मानते हैं। इसलिये तत्वज्ञान पूर्वक सच्ची परीक्षा करना चाहिये।

जीव के गुण, पर्याय जीव में जानना चाहिये, अजीव के अजीव में जानना चाहिये। पुण्य को पुण्य और संवर को संवर मानना चाहिये- इत्यादि सातों तत्वों को ज्यों का त्यों जानना चाहिये। इस प्रकार तत्वज्ञान पूर्वक परीक्षा किये बिना अकेले बाह्य लक्षणों से (देवादि को) मानने वाला व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

देव भक्ति का अन्यथारूप-

....वहाँ अरहन्त देव हैं, इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशयसहित हैं, क्षुधादि दोष रहित हैं, शरीर की सुन्दरता को धारण करते हैं, स्त्री-संगमादिरहित हैं, दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं, काम-क्रोधादिक नष्ट किये हैं-इत्यादि विशेषण कहे हैं। वहाँ इनमेंसे कितने ही विशेषण पुद्गलाश्रित हैं और कितने ही जीवाश्रित हैं, उनको भिन्न-भिन्न नही पहिचानते। जिस प्रकार कोई असमानजातीय मनुष्यादि पर्यायों में जीव-पुद्गल

के विशेषणों को भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है, उसी प्रकार यह भी असमानजातीय अरहन्तपर्याय में जीव-पुद्गल के विशेषणों को भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है।

तथा जो बाह्य विशेषण हैं उन्हें तो जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेव को महंतपना विशेष मानता है; और जो जीव के विशेषण हैं उन्हें यथावत् न जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेव को महंतपना आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा मानता है। क्योंकि यथावत् जीव के विशेषण जाने तो मिथ्यादृष्टि न रहे।....

भगवान इन्द्रों से पूज्य है। भगवान को क्षुधा तृषा नहीं होती। शरीर मे रोग नहीं होता। भगवान आकाश में विचरते हैं। उनके परमौदारिक शरीर होता है।- यह बात तो सत्य है; परन्तु ये सब बाह्य लक्षण हैं। यह सब तो देह का वर्णन हुआ। किन्तु जो भगवान के आत्मिक गुणों को नहीं पहिचानता वह भी मिथ्यादृष्टि है। जो भगवान के क्षुधा-तृषा, रोग, आहार, निहार मानते हैं उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।

प्रवचनसार गाथा-80 में कहा है कि-

जो जानता अरहन्त को गुण-द्रव्य अर पर्ययपने।
वह जीव जाने आत्म को उस मोह क्षय पावे अरे॥

जो जीव तत्वज्ञान पूर्वक अरहन्त देव के द्रव्य गुण-पर्याय की परीक्षा करके जानता है उसको अपने आत्मा की पहिचान भी होती है। उसका (मोह) मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और उसको क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अरहन्तों ने इसी विधि से मोह का नाश किया है और यही उपदेश दिया है- जिस प्रकार हमने मोह का नाश किया है, उसी प्रकार तुम भी वैसा ही पुरुषार्थ करो तो तुम्हारे मोह का भी नाश होगा।

अरहन्त भगवान देव हैं। वे इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं। अनेक अतिशयों सहित है। क्षुधादि दोष रहित हैं। शरीर की सुन्दरता को धारण करते हैं। स्त्री संगमादि से रहित हैं। दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं। केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं तथा जिन्होंने काम-क्रोधादि नष्ट किये हैं-इत्यादि विशेषण कहे हैं। इनमें कोई विशेषण तो

पुद्गलाश्रित है और कोई विशेषण जीवाश्रित है। उन्हें भिन्न-भिन्न नही पहिचानता। जैसे कोई असमानजातीय मनुष्यादि पर्यायों में (जीव-पुदगल की) भिन्नता नहीं जानकर मिथ्यादृष्टि को धारण करता है; उसी प्रकार यह भी असमानजातीय अरहन्त पर्याय में जीव-पुद्गल के विशेषणों को भिन्न-भिन्न नहीं जानकर मिथ्यादृष्टिपना ही धारण करता है।

मुनिराज के निकट सिंह और हिरण एक साथ बैठते है, वहाँ कोई मुनि के अहिंसा भाव के कारण यह नहीं है; क्योंकि भावलिंगी अहिंसक मुनि को भी सिंह आकर खा जाता है। इसलिये बाहर के संयोग के आधार से गुण की पहिचान नही हो सकती। आत्मा के गुण क्या हैं और पुण्य का कार्य क्या है ? उन्हें भिन्न-भिन्न जानना चाहिये। आशय यह है कि जो तत्वज्ञान पूर्वक जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न नहीं जानता, भगवान के आत्मिक गुणों को नहीं पहिचानता वह जीव व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

जो जीव, अरहन्त का आत्मा क्या है ? उनका पुण्य क्या है ? उनका शरीर क्या है ? इस प्रकार भिन्न-भिन्न नहीं पहिचानता और पुण्य के फल को देखकर ही अरहन्त का पूज्यपना मानता है वह जीव जैन सम्प्रदाय में होने पर भी मिथ्यादृष्टि है। भगवान के रोगादि नहीं होते-ऐसा तो वह मानता है; परन्तु भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को नहीं पहिचानता है। परमौदारिक शरीर आदि कोई अरहन्त के आत्मा का स्वरूप नहीं है। दिव्यध्वनि भी वास्तव में भगवान से भिन्न है। जो उससे ही अरहन्त की पूज्यता मानता है वह अरहन्त को नहीं पहिचानता।

तथा वह ऐसा तो मानता है कि भगवान केवलज्ञान के द्वारा लोकालोक को जानते हैं; परन्तु केवलज्ञान क्या वस्तु है ? उसे नहीं पहिचानता। तथा शरीर और आत्मा के संयोगरूप पर्याय को ही जानता है; परन्तु जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न नहीं जानता। अतः वह मिथ्यादृष्टि है। तथा वह ऐसा मानता है कि भगवान अकेले लोकालोक को अर्थात् पर को ही जानते हैं; परन्तु उसमें आत्मा तो आया नहीं। निश्चय से अपने आत्मा को जानते हुए उसमें व्यवहार से लोकालोक जानने में आ जाता हैं-इसका अज्ञानी को पता नहीं है।

आत्मा और शरीर तो असमान जाति है। अर्थात् भिन्न-भिन्न जाति के हैं। जो उनको भिन्न-भिन्न नहीं पहिचानता उसके मिथ्यात्व है। तथा कर्म और आत्मा भी असमान जाति के हैं; फिर भी कर्म के क्षयोपशम के कारण जीव में ज्ञान का उघाड़ होता है-ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ तो अरहन्त देव की पहिचान करने की बात है। अरहन्त किसको कहना? अज्ञानी तो शरीर, दिव्यध्वनि, समवसरण आदि से ही अरहन्त को पूज्य मानता है; परन्तु भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचानकर नहीं मानता। जिसको सम्यग्ज्ञान करना हो उसको जीव और शरीर की पर्यायों को भिन्न-भिन्न जानना चाहिये। जो यह मानता है कि इन्द्रियाँ ठीक होने से जीव को ज्ञान होता है वह जड़-चेतन का एक मानता है। भगवान उसको वास्तव में जैन नहीं कहते। जैन नाम भले ही धरावे; परन्तु उससे लाभ कुछ नहीं होता।

केवलज्ञान आदि तो आत्मा की पर्याय है और पुण्य का उदय व परमौदाररिक शरीर जीव से भिन्न वस्तु है।

प्रश्नः- तीर्थंकर प्रकृति तो जीव से हुई है न?

उत्तरः- नहीं, वर्तमान में केवलज्ञान और वीतरागता है उसके कारण कहीं तीर्थंकर प्रकृति नहीं है। तीर्थंकर प्रकृति आत्मा के गुण का फल नहीं है। पूर्व में तीर्थंकर प्रकृति बंधी उससमय जीव का राग भाव निमित्त था; परन्तु तीर्थंकर प्रकृति स्वयं तो जड़ है। जो आत्मा के कारण तीर्थंकर प्रकृति मानता है उसको जड़-चेतन की भिन्नता का ज्ञान नहीं है। वह अरहन्त देव को नहीं पहिचनता। भले ही अरहन्त का जप और भक्ति का शुभभाव करके पुण्य बंध करता हो,परन्तु उसको धर्म नहीं होता।

जीव और शरीर को भिन्न कब माना कहा जाए? जीव के कारण शरीर अच्छा रहता है, जीव के कारण शरीर चलता है- ऐसा जो मानता है उसने जीव और शरीर को भिन्न नहीं, किन्तु एक माना है। जड़ पदार्थ भी 'उत्पाद व्यय ध्रोव्य युक्तं सत्'

है। अर्थात् जड़ शरीर के उत्पाद-व्यय भी उसके कारण होते हैं; जीव के कारण नहीं। आत्मा का उत्पाद-व्यय अपने में है। केवलज्ञान पर्यायरूप से भगवान का आत्मा उत्पन्न हुआ है; जड़ शरीर की परमौदारिक अवस्था हुई उसमें आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ है। वह तो जड़ का उत्पाद है। इसलिये बाह्य शरीर आदि से अरहन्त भगवान का महन्तपना नहीं है। अरहन्त भगवान का महन्तपना-पूज्यपना तो उनके केवलज्ञानादि गुणों से ही है। जो जीव ऐसी पहिचान बिना मात्र आज्ञा से ही अरहन्त देव को मानता है और उनकी पूजा आदि के भाव में धर्म मान लेता है वह व्यवहाराभासी है। यदि जीव के यथार्थ विशेषण से अरहन्त भगवान को पहिचाने तो वह अपने आत्मा को भी वैसा पहिचानता है। अर्थात् वह मिथ्यादृष्टि रहता ही नहीं।

वाणी और शरीर वास्तव में अरहन्त का स्वरूप नहीं है। वाणी और शरीर तो जड़ है। वस्तुतः भगवान कभी उपदेश करते ही नहीं। भगवान के आत्मा में ऐसी कोई वाणी की खान नहीं भरी है कि भगवान वाणी बोले, सहजरूप से वाणी खिरती है; परन्तु भगवान उसके कर्ता नहीं हैं। दोनो के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; परन्तु दोनो वस्तुयें भिन्न-भिन्न है।

तथा भगवान आकाश में डग भरे बिना उपर चलते हैं; परन्तु वहाँ शरीर के चलने की क्रिया भगवान के आत्मा के कारण नहीं हुई। केवलज्ञान हुआ-इस कारण शरीर ऊपर (आकाश में) चलता है-ऐसा भी नहीं है। दोनो का परिणमन भिन्न-भिन्न है।

भाषावर्गणा में से भाषा होती है। उसमे उसे इच्छा की आवश्यकता नहीं है और शरीर आहारवर्गणा में से होता है, जीव में से नहीं होता। इच्छा हो और भाषा हो-उस समय भी इच्छा अलग वस्तु है और भाषा अलग वस्तु है। इच्छा के कारण भाषा नहीं होती। परमाणुओं की ऐसी ही पर्याय होने की सामर्थ्य है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय स्वयं से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुव होता है। प्रत्येक पदार्थ में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सहित है। प्रत्येक पदार्थ में अपने-अपने स्वकाल में परिणमन होता है। यहाँ जीव में केवलज्ञान का स्वकाल है और पुद्गल में दिव्यध्वनि का स्वकाल है; परन्तु जीव के केवलज्ञान के कारण दिव्यध्वनि नहीं होती। यदि जीव के केवलज्ञान के कारण

दिव्यध्वनि होती हो तो, जीव मे केवलज्ञान तो धारावाहीरूप से सदा है-इस कारण वाणी (दिव्यध्वनि) भी सदा होनी चाहिये; परन्तु वाणी तो अमुक काल में ही खिरती है। इसलिये वाणी वाणी के स्वकाल में खिरती है। भगवान को तीनलोक का ज्ञान वर्तता है। वाणी किससमय खिरेगी ?-इसका भी ज्ञान है; परन्तु वाणी तो वाणी के स्वकाल में ही परिणमती है। केवलज्ञान किसी पर की पर्याय को करता या रोकता नहीं है। लोग अरहन्त-अरहन्त करते हैं; परन्तु अरहन्त के केवलज्ञान को नही पहिचानते।

'भगवान की वाणी'-ऐसा कहना उपचार है। तथा वास्तव में भगवान की वाणी से अन्य जीव को ज्ञान नहीं होता; परन्तु सभी जीव अपनी-अपनी योग्यता के कारण समझ जाते हैं। दिव्यध्वनि में तो एकसाथ बारह अंग आते हैं। अपनी योग्यता प्रमाण वह जीव को निमित्त होती है। जीव-अजीव स्वतन्त्र है; दोनो की अवस्था भिन्न-भिन्न है- ऐसा यथार्थ विशेषण से जीव को पहिचानने वाला मिथ्यादृष्टि नहीं रहता।

आत्मा में से तो वाणी निकलती ही नही; परन्तु वस्तुतः तो शरीर में से भी वाणी नही निकलती। क्योंकि शरीर आहारवर्गणा से बनता है और वाणी भाषावर्गणा में से बनती है-होती है। जैसे चने के आटे में जो आटा लड्डूओं के लिये तैयार किया हो उसमें से मगज नही बन सकता, मगज के लिए मोटे आटे की आवश्कता होती है। उसी प्रकार आहारवर्गणा और भाषावर्गणा भिन्न-भिन्न है, उसमें आहारवर्गणा में से सीधी भाषा नहीं हो सकती; परन्तु भाषावर्गणा से ही भाषा होती है। तथा कर्म की कार्माणवर्गणा है वह भी भिन्न है; अतः कर्म के कारण भाषा हुई-ऐसा भी नहीं है। जगत में भिन्न-भिन्न योग्यता वाले अनन्त पुद्गल परमाणु हैं।

....तथा उन अरहन्तों को स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधम उद्धारक, पतितपावन मानता है; सो जैसे अन्यमती कर्त्तृत्वबुद्धि से ईश्वर को मानता है, उसी प्रकार यह अरहन्त को मानता है। ऐसा नही जानता कि फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहन्त उनको निमित्तमात्र है, इसलिये उपचार द्वारा वे विशेषण सम्भव होते है।

अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वर्ग-मोक्षादि के दाता नहीं हैं। तथा अरहन्तादिक के नामादि के श्वानादिक ने स्वर्ग प्राप्त किया, वहाँ नामादिक का ही अतिशय मानते हैं; परन्तु बिना परिणाम नाम लेने वाले को भी स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, तब सुननेवाले को कैसे होगी? श्वानादिक को नाम सुनने के निमित्त से कोई मन्दकषायरूप भाव हुए हैं उनका फल स्वर्ग हुआ है; उपचार से नामही की मुख्यता की है।....

हे भगवान! आप स्वर्ग-मोक्ष के दाता हो'-ऐसा स्तुति में आता है; वहाँ अज्ञानी वास्तव में वैसा मान लेता है कि भगवान अपने को पार कर देंगे। परन्तु भाई! स्वर्ग तो तेरे शुभ परिणाम से होता है। और मोक्ष तेरे शुद्ध उपयोग से होता है; भगवान तो उसमें निमित्तमात्र ही है। भगवान तुझे मोक्ष प्रदान करें और दूसरों को नहीं- इसका क्या कारण ? क्या भगवान रागी-द्वेषी है ? जीव अपने ही परिणामों से स्वर्ग-मोक्ष पाता है। भगवान किसी को कुछ नहीं देते।

मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ। मेरा स्वरूप निरोग है और यह राग है सो रोग है- इस प्रकार पहिचान पूर्वक ज्ञानी कहता है कि हे भगवान! मुझे भाव आरोग्य और बोधि का लाभ प्रदान करो! मुझे उत्तम समाधि दो! वहाँ यह उपचार है। मैं अपने ज्ञानानन्द स्वरूप के आश्रय से समाधि उत्पन्न करूँ तो उसमें भगवान निमित्त कहलाते हैं। स्वयं में से भाव आरोग्य और समाधि प्रगट की तब विनय से नम्रता से ऐसा कहा है कि हे भगवान ! आप बोधि समाधि दातार हो! लोक में भी नम्रता से ऐसा कहते है न कि बुजुर्गो का पुण्य खाते हैं। परन्तु बुजुर्गो के पास पाँच हजार का धन नहीं हो और पोते के पास करोड़ो का धन हो जाए, तो इसमें बुजुर्गो का पुण्य कहाँ से आया ? वह तो अपने ही पुण्य का फल है; परन्तु वहाँ विनय से बुजुर्गो का पुण्य कहते हैं। इसी प्रकार धर्मी जीव अपने स्वभाव के आश्रय से बोधि-समाधि प्राप्त करके तरता है, वहाँ भगवान के विनय व बहुमान से ऐसा कहता है कि हे भगवान! आप मुझे बोधि-समाधि के दातार हो, आप हमारे तारण-तरण हो, आप अधम उद्धारक और पतितपावन हो। ये सब भक्ति के उपचार कथन हैं। जैसे मिट्टी के घड़े को उपचार

से घी का घड़ा कहते हैं; परन्तु इससे उस घड़े को (घी का मानकर) मुँह में नहीं डाल लेते; उसी प्रकार उपचार से भगवान को तरण-तारण अधम उद्धारक आदि कहा जाता है; परन्तु वस्तुतः भगवान अन्य जीव के परिणाम के कर्ता नहीं हैं। इस प्रकार यथार्थ वस्तुस्थिति को नहीं समझकर उपचार कथनों के आधार पर अरहन्तों को कर्ता मान ले तो वह भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

जिस प्रकार अन्यमती कर्तत्वबुद्धि से ईश्वर को मानते हैं; उसी प्रकार यह भी मानता है; परन्तु यह नहीं जानता कि-फल तो अपने परिणामों का लगता है। अरहन्त तो निमित्तमात्र है-इस कारण उपचार से ये विशेषण संभव है; परन्तु अपने परिणाम सुधरे बिना तो अरहन्त में ऐसा उपचार भी संभव नहीं है। इस प्रकार जो अरहन्त के स्वरूप को नही पहिचानता और पहिचाने बिना ही अरहन्त का नाम लेकर मानता है, वह भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। वास्तव मे वह जैन नहीं है।

देखो! आचार्य भगवन्तों द्वारा कही हुई बात को पण्डित टोडरमलजी ने प्रचलित जन भाषा में कही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने आत्मा का वास्तविक स्वरूप कहा है। उन्होंने पंचास्तिकाय में निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी का वर्णन किया है। अपनी पर्याय में विकारी परिणाम होने पर भी वे होते ही नहीं- ऐसा मानने वाला निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है और अपनी पर्याय में होने वाले दया, दान, व्रत, तपादि के भाव पुण्यास्रव है, तो भी जो उनको धर्म या धर्म का कारण मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को भी अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है; परन्तु ज्ञानी उसे पुण्यास्रव समझता है।

जैसे लहसुन खाते-खाते अमृत की डकार नहीं आती; उसी प्रकार शुभभावरूपी विकार करते-करते कभी भी शुद्धदशा प्रगट नहीं होती। अज्ञानी शुभराग को धर्म का कारण समझता है। राग त्यागने योग्य होने पर भी राग करते-करते सम्यग्दर्शन होगा-ऐसा मानना मिथ्यादर्शन शल्य है।

यहाँ तो व्यवहाराभासी का वर्णन चल रहा है। वह जीव अरहन्त को स्वर्ग-मोक्षदाता मानता है। जैसे ईश्वर को जगत का कर्ता मानने वाला (अन्यमती) मिथ्यादृष्टि है; उसी प्रकार अरहन्त को स्वर्ग मोक्ष का दातार मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। भगवान

दीनदयाल, अधम उद्धारक और पतितपावन हैं-ऐसा कहना निमित्त सापेक्ष कथन है। यदि भगवान ही पतितपावन हों, तब तो सभी का उद्धार हो जाना चाहिये और पाप का नाश हो जाना चाहिये; परन्तु ऐसा होता नहीं है।

जिस प्रकार अन्यमती कर्तत्वबुद्धि से ईश्वर को मानते हैं; उसी प्रकार यह भी अरहन्त को मानता है। यह इस बात को नही जानता कि फल तो अपने परिणामों का लगेगा। भगवान किसी को कुछ (फल) नहीं देते हैं। भक्ति में निमित्त सापेक्ष कथन आते हैं; परन्तु शुभभाव भगवान से होता है-ऐसी दृष्टि छोड़ देना चाहिये तथा शुभभाव से धर्म होता है-ऐसी दृष्टि भी छोड़ देना चाहिये। यदि भगवान की प्रतिमा के कारण शुभभाव होते हों तो सबको शुभभाव होने चाहिये, किन्तु चोर चोरी का भाव करता है। इसलिये भगवान के कारण या प्रतिमा के कारण शुभभाव होना मानना मिथ्या है। शुभभाव स्वतन्त्र (अपनी योग्यता से) होते हैं, वह पुण्य परिणाम हैं और उनसे रहित अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करना धर्म है।

यदि बाहुबलीजी की प्रतिमा के कारण आकर्षण हो तो सभी को आकर्षण होना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। जीव को फल तो अपने परिणामों का है। जो जीव स्वयं शुभ परिणाम करता है उसको भगवान अथवा दिव्यध्वनि निमित्त कहलाती है। भगवान है तो कषाय की मंदता हुई-ऐसा नहीं है। धर्मी जीव समझता है कि मेरे परिणाम मुझसे होते हैं, भगवान अथवा प्रतिमा तो निमित्तमात्र है-इस कारण उपचार से भगवान के ये विशेषण संभव है।

शुद्ध परिणाम हुए बिना अरहन्त भी स्वर्ग- मोक्ष दाता नहीं हैं। अरहन्त देव तथा वाणी परवस्तु है, शुभभाव पुण्यास्रव है। इनसे रहित चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि पूर्वक शुद्ध परिणाम करे तो वह (स्वभाव) मोक्ष का दातार है और तब (उपचार से) अरहन्त को मोक्ष दाता कहा जाता है तथा जितना शुभराग शेष रहता है उसके निमित्त से स्वर्ग मिलता है तो निमित्तरूप से भगवान का स्वर्गदातार कहा जाता है।

यदि भगवान इस जीव के शुद्ध या शुभ परिणाम के कर्ता हों तो भगवान निमित्त नहीं रहते, वे तो उपादान हो गये। इसलिये ऐसा मानना भूल है। कोई कहता है कि सम्मेदशिखर और बाहुबलीजी का वातावरण ऐसा है कि धर्म की रुचि होती है-तो ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

तथा वे कहते हैं कि भगवान का नाम सुनकर श्वानादि ने स्वर्ग प्राप्त किया है। अज्ञानी मानते हैं कि भगवान के नाम में बड़ा अतिशय है, परन्तु यह भ्रान्ति है। जब अपने परिणामों में कषाय की मंदता हुए बिना मात्र नाम लेने से स्वर्ग की प्राप्ति नही होती, तो फिर नाम सुनने वाले को तो होगी ही कैसे ? वस्तुतः परिणाम के बिना फल नहीं है। नाम तो परवस्तु है। यदि उससे शुभ परिणाम होते हों तो सबको होने चाहिये, परन्तु ऐसा होता नही है। शास्त्रों में जो श्वानादिक का दृष्टान्त दिया गया है, उसमें उन श्वानादिक ने अपने परिणामों में कषाय की मंदता की है और उसके फलस्वरूप उनको स्वर्ग की प्राप्ति हुई है। नाम के कारण भी शुभभाव नहीं होते। जैसे कोई भगवान के समवसरण में गया अथवा मन्दिर में गया; किन्तु यदि वह वहाँ व्यापारादिक के अशुभ परिणाम करे तो क्या भगवान उन्हें बदल देंगे ? जीव अपने पुरुषार्थ से शुभभाव करता है तो भगवान को निमित्त कहा जाता है। यहाँ भगवान के नाम की मुख्यता करके उपचार से कथन किया गया है-ऐसा समझना।

....तथा अरहन्तादिक के नाम-पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अर्थ व धनादिक की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्व कर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्त्ता है नहीं। अरहन्तादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते है; इसलिये उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्तिका कारण अरहन्तादिक की भक्ति कही जाती है। परन्तु जो जीव प्रथमसे ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है उसके तो पापही का अभिप्राय हुआ। कांक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए-उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे? इसलिये उसका कार्य सिद्ध नहीं हुआ।....

कितने ही अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि भगवान का नाम लो, आरती उतारो, छत्र चढ़ाओ, पूजा करो तो रोग नष्ट होगा, पुत्र की प्राप्ति होगी, धन मिलेगा और सब अनुकूलता हो जायेगी- तो ऐसा मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं। अनुकूलता तो पूर्व पुण्य के कारण प्राप्त होती है। वर्तमान में शुभभाव करने के कारण वर्तमान संयोग प्राप्त नहीं होता।

कोई कहता है कि भक्तामर स्तोत्र पढ़ने से श्री मानतुंगाचार्य के 48 ताले टूट गये थे न? तो उनसे कहते हैं कि भाई! उस समय ताले टूटना ही थे। शुभपरिणामों के कारण ताले नहीं टूटे हैं। जब ताले स्वयं टूटे तब भक्तामर स्तोत्र को निमित्त कहा जाता है।

सीताजी के ब्रह्मचर्य के प्रभाव से अग्नि पानीरूप हो गई-यह भी उपचार कथन है। सुकौशल मुनि भी बह्मचारी थे, तो भी उनको व्याघ्री क्यों खाती है? ब्रह्मचर्य बाह्य में कार्य नहीं करता। सीताजी के पूर्व पुण्यकर्म का उदय आया उसका आरोप ब्रह्मचर्य पर करके यह कथन किया गया है। गजकुमार मुनि तो छठे-सातवें गुणस्थान में विराजमान थे, फिर भी अग्नि का परिताप क्यों आया? आशय यह है कि बाह्य परीषह ब्रह्मचर्य से दूर नहीं होते।

अज्ञानी जीव धन की प्राप्ति के लिये दुकान की देहरी अथवा गल्ले को सिर झुकाते हैं और भगवान का नाम लेते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। पूर्व पुण्य के उदयानुसार अनुकूल और पाप के उदयानुसार प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होती है।

कोई-कोई विद्वान कहते हैं कि जीव को वर्तमान चतुराई के कारण अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है, परन्तु यह भूल है। सामग्री तो सामग्री के कारण प्राप्त होती हैं। उसमें निमित्त वर्तमान बुद्धिमता नहीं; किन्तु पूर्व पुण्य है। यदि भगवान के नाम के कारण सामग्री आती हो तब तो भगवान जड़ के कर्ता हो जायें; परन्तु ऐसा नहीं है। सामग्री अपने कारण आती है, उसमें कर्म निमित्त है-ऐसा यहाँ बतलाना है। भगवान को सामग्री का दाता मानने वाला व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। अरहन्त की

स्तुति करने से पूर्व पाप कर्मो का संक्रमण होकर वे पुण्यरूप हो जाते है और उनके निमित्त से सामग्री प्राप्त होती है।- इस कारण भगवान की स्तुति पर वैसा आरोप किया जाता है।

स्तुति में आता है कि-हे प्रभो! मुझे तारो- यह कथन निमित्त का है। तुझमें ज्ञानानन्द शक्ति विद्यमान है; तू स्वयं से ही तरेगा- ऐसा श्री भगवान कहते हैं। जो स्वयं तरता है उसको भगवान निमित्त कहलाते हैं। सीमन्धर भगवान वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। यदि उनसे तरते हों तब तो वहाँ के सभी जीव तर जाना चाहिये; परन्तु ऐसा होता नहीं है।

जो जीव पूर्व से ही सांसारिक प्रयोजन के लिये भक्ति करता है वह पापी है। पूजा करने से अनिष्ट टलेगा और इष्ट होगा ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि तो है ही; साथ ही अशुभ परिणामी भी है। मन्दिर बनवाने और पूजा करने से पुत्र की प्राप्ति होगी-ऐसा मानने वाले को मिथ्यात्व सहित पाप बंधता है। जीव अपने में कषाय की मंदता करे तो पूर्व के पाप कर्मो का संक्रमण होता है; परन्तु आकांक्षा वाले को पाप का संक्रमण नहीं होता है। इसलिये उसका कार्य सिद्ध नहीं होता।

....तथा कितने ही जीव भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ। परन्तु भक्ति तो राग रूप है और राग से बन्ध है, इसलिये मोक्ष का कारण नहीं है। जब राग का उदय आता है तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो, इसलिये अशुभराग छोड़ने के लिये ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग का बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं; परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते, शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।

वहीं पंचास्तिकाय व्याख्या में कहा है: इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्ररागज्वरविनोदार्थमस्थानरारगनिषेधार्थ क्वाचित्ज्ञानिनोपि भवति॥

अर्थः- यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके ऐसे अज्ञानी जीव के होती है। तथा तीव्ररागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।....

जो ऐसा मानता है कि भगवान की भक्ति से मोक्ष होगा- वह मिथ्यादृष्टि है। जो भगवान की भक्ति में तल्लीन होता है; परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव को ध्येय नहीं बनाता उसको मोक्ष नहीं होता। अज्ञानी जीव भक्ति में अति अनुराग करता है। वह भगवान से कहता है कि-हे प्रभो! अब तो तारो! इसका अर्थ तो यह हुआ कि आज तक भगवान ने डुबाया है, उन्हें आजतक पार करना नही आया; परन्तु यह बात मिथ्या है। जीव स्वयं के कारण ही तरता या भटकता है। भक्ति से मुक्ति मानने वाले की तो अन्यमती जैसी ही दृष्टि हुई। जिस जीव को आत्मा का भान हुआ है उसके शुभराग का व्यय होकर शुद्धदशा होगी तब मोक्ष होगा। इसी अपेक्षा से धर्मी जीव के शुभराग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है। अज्ञानी जीव भक्ति से सम्यग्दर्शन मानता है- यह भूल है। भक्ति तो बंधमार्ग है और सम्यग्दर्शनादि मुक्ति का मार्ग है। बंधमार्ग को मुक्तिमार्ग मानना मिथ्यात्व है। जीवों को सत्य वस्तुस्थिति का निर्णय करना चाहिये। धर्मी जीव को भी भक्ति का शुभराग आता है; परन्तु वह उसको मुक्ति का कारण नहीं मानता। भगवान की भक्ति का भाव राग है-विकार है, पुण्य है, उपाधि है; उससे तो बंध होता है।

अपने कारण शुभभाव करे तो पुण्य बंधता है; परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है। मुनि का आहारदान देते समय शुभभाव करे तो पुण्य बंधता है। भावलिंगी संत को निर्दोष आहार दे, उनके लिये खरीदकर न लावे, उद्देशिक आहार न दे तथा भक्तिपूर्वक विधि सहित दे तो पुण्य से भोगभूमि में उत्पन्न होता है। यदि उद्देशिक आहर दे तो पुण्य भी नहीं होता है। उद्देशिक आहार देना व मुनि द्वारा उसे लेना-दोनो पाप है। श्रावक, उद्देशिक, आहार होने पर भी 'आहार शुद्ध है'-ऐसा बोलता है तो वह असत्य बोलता है और इस बात को जानते हुए भी मुनि उसका अनुमोदन करे तो एषणा समिति में दोष लगता है। भावलिंगी मुनि को निर्दोष आहार देने में पुण्य होता है; परन्तु धर्म नहीं होता।

आशय यह है कि देव की भक्ति अथवा संत-मुनि की भक्ति मुक्ति का कारण नहीं है। भगवान जैसा कहते हैं मार्ग की वैसी श्रद्धा करो। वीतरागी मार्ग में गड़बड़ नहीं चलती।

धर्मी जीव को भी राग का उदय आने पर शुभभाव आते हैं। उस समय यदि वह भक्ति आदि नहीं करे तो पाप के परिणाम होते हैं। अतः यहाँ समझाते हैं कि धर्मी जीव अशुभ परिणामों को छोड़ने के लिये शुभ परिणाम करता है; परन्तु उन पुण्यरूप परिणामों से धर्म नहीं मानता। ज्ञानी जीव अशुभभाव छोड़ने के लिये भक्ति में प्रवर्तता है और उसे मोक्षमार्ग मे बाह्य निमित्तमात्र भी जानता है।

धर्मी को राग आता है; परन्तु वह राग को हेय समझता है। जबकि अज्ञानी जीव राग का उपादेय मानता है।

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ। शरीर, मन, वाणी की पर्याय जड़ के कारण होती है। पाँच महाव्रत के परिणाम विकार हैं, वे आदरणीय नहीं हैं। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है- ऐसी दृष्टिपूर्वक आनन्द का अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। जो अज्ञानी लोग बाहर से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ मानते हैं वे व्यवहाराभासी हैं। धर्मी जीव समझता है कि मैं ज्ञान हूँ। मेरी कमजोरी से शुभभाव आता है वह बंध का कारण है। अज्ञानी उस राग को धर्म का कारण मानता है। धर्मी आत्मा के भान सहित रमणता होने को मोक्षमार्ग मानता है। ज्ञानी को कमजोरी से भक्ति आदि के शुभ परिणाम आते हैं उन्हें वह बाह्य निमित्त मानता है। मेरा स्वरूप तो आनन्द हैं। जितनी उसमें लीनता करूँ उतना धर्म है। पैसे से पाप-पुण्य अथवा धर्म नहीं होता। कषाय की मंदता करने से पुण्य होता है; परन्तु धर्म नहीं होता। मैं राग का अथवा जड़ का कर्ता नहीं हूँ। पर की दया अथवा हिंसा करने वाला नहीं हूँ। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ-ऐसी दृष्टि होने वाले को धर्म का प्रारम्भ होता है। वह अरहन्त देव-निर्ग्रन्थ गुरु और शास्त्र की भक्ति को बाह्य निमित्त मानता है।

मेरा स्वरूप राग रहित है-ऐसे स्वरूप में कैलि (क्रीड़ा-स्थिरता) करना मोक्षमार्ग है। अज्ञानी बाह्य क्रियाकाण्ड और पुण्य से धर्म मानता है। सम्प्रदाय में जन्मने मात्र से ही जैन नहीं हुआ जाता; परन्तु गुण से जैन हुआ जाता है। जैन अर्थात् मोह-राग-द्वेष को जीतने वाला। किन्तु जो राग से धर्म मानता है वह जैन नहीं है। जिसको अन्तर में राग की रुचि है वह जैन नहीं है। दया, दानादि का भाव विकार और बंध का कारण है, धर्म नहीं और आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है- ऐसे आत्मा की रुचि करने वाला जैन है।

धर्मी जीव भक्ति के राग को उपादेय नहीं मानता, हेय मानता है। राग हितकारक नहीं हैं। त्रिलोकनाथ की भक्ति भी हेय है। अशुभ से बचने के लिये शुभराग आता है-यह उपदेश का कथन है। ज्ञानी शुभराग को हेय समझता है।-ऐसे ज्ञानी जीव के निश्चय और व्यवहार दोनो सच्चे हैं।

जिसको आत्मा का भान हुआ हो और जो सिद्धसमान आंशिक आनन्द का अनुभव करता हो वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज की बात तो आलौकिक है। वे तो अन्तर आनन्द में झूलते हैं। क्षणभर में देह से आत्मपिण्ड पृथक् हो जाता है-ऐसी उनकी दशा होती है। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि जीव की बात है। सम्यग्दृष्टि जीव राग को उपादेय नहीं मानता। सच्चा जैन भक्ति के परिणाम को छोड़कर शुद्धदशा में रहने का प्रयत्न करता है। शुद्धोपयोग में न रह सके तो शुभ करता है; परन्तु शुभ को हेय मानता है।

पुण्य और धर्म-दोनो भिन्न वस्तुयें हैं। सात तत्व हैं-उनमें भगवान की भक्ति आस्रव तत्व है। संवर-निर्जरा धर्म है। सातों तत्व प्रथक् है। चिदानन्द स्वभाव के आश्रय से जो दशा प्रगट होती है वह संवर-निर्जरा है। आस्रव से संवर नही होता। भक्ति अथवा पुण्य से धर्म मानने वाले को नव तत्वों की श्रद्धा नहीं है वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी जीव आस्रव में आनन्द मानता है। आत्मा तो सुन्दर आनन्दकन्द है। उसकी पर्याय मे होने वाले रागद्वेष के परिणाम मलिनता है। शुभराग भी मलिनता है। राग रहित अन्तर परिणाम (वीतरागता) होना धर्म है। धर्मी जीव भक्ति के परिणाम को उपादेय नहीं मानता, बल्कि शुद्धोपयोग का उद्यमी रहता है।

पण्डित टोडरमलजी पंचास्तिकाय की 136 वीं गाथा की अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका आ आधार देते हैं। वे कहते हैं कि-भक्ति से कल्याण होगा-ऐसी भक्ति (ऐसी मान्यता पूर्वक भक्ति) अज्ञानी जीवों के ही होती है। ज्ञानी को तो तीव्र अशुभराग मिटाने के लिये भक्ति का शुभराग आता है; परन्तु वह शुभराग को हेय समझता है।

....वहाँ वह पूछता है-ऐसा है तो ज्ञानी से अज्ञानी के भक्ति की अधिकता होती होगी?

उत्तरः- यथार्थता की अपेक्षा तो ज्ञानी के सच्ची भक्ति है, अज्ञानी के नहीं है। **और रागभाव की अपेक्षा अज्ञानी के श्रद्धान में भी उसे मुक्ति का कारण जानने से अति अनुराग है, ज्ञानी के श्रद्धान में शुभबन्ध का कारण जानने से वैसा अनुराग नहीं है। बाह्यमें कदाचित् ज्ञानी को अनुराग बहुत होता है, कभी अज्ञानी को होता है-ऐसा जानना।**

इसप्रकार देवभक्ति का स्वरूप बतलाया।....

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी के भक्ति की विशेषता होती होगी ?

उत्तरः- जिसको सम्यग्दर्शन हुआ है, जो पुण्य-पाप को हेय समझता है, देहादिक की क्रिया को ज्ञेय समझता है, चिदानन्द स्वभाव को उपादेय समझता है-ऐसे धर्मी जीव को ही सच्ची भक्ति होती है। जहाँ निश्चय होता है वहाँ ही सच्चा व्यवहार होता है पहले व्यवहार और फिर निश्चय-ऐसा मानने वाले वस्तु स्वरूप को नही समझते। अतः सच्ची भक्ति तो धर्मी जीव के ही होती है। मिथ्यादृष्टि जीव भक्ति को मुक्ति का कारण मानता है, इसलिये उसके श्रद्धान में अतिअनुराग है। वह मानता है कि भगवान की भक्ति से सम्यग्दर्शन और मुक्ति होगी। सम्यग्दर्शन तो अरागी पर्याय है। तो क्या राग की पर्याय में से अरागी पर्याय आयेगी? नहीं। उसका निश्चय भी मिथ्या है, इसलिये व्यवहार भी मिथ्या है। अज्ञानी जीव भक्ति में अति अनुराग करता है। भक्ति करते-करते कभी कल्याण हो जायेगा-ऐसा वह मानता है। राग करते-करते सम्यग्दर्शन नहीं होता। राग को हेय समझकर आत्मा को उपादेय मानने से सम्यग्दर्शन होता है।

जो राग को हेय मानता है और ज्ञानानन्द स्वभाव को उपादेय मानता है उस जीव के राग को व्यवहार कहते हैं। श्रुतज्ञान प्रमाण होने के पश्चात् निश्चय और व्यवहार-ऐसे दो नय होते हैं। जिसको निश्चय का भान नहीं है उसके व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

अज्ञानी जीव को अरहन्त की पहिचान नहीं है। वह मात्र बाह्य लक्षण से मानता है। धर्मी जीव श्रद्धान में भगवान की भक्ति को बंध का कारण मानता है;-इस कारण उसको अन्तरंग में भक्ति में अज्ञानी के जैसा अनुराग नहीं आता।

हाँ, बाह्य में कदाचित् ज्ञानी के बहुत अनुराग होता है। नन्दीश्वर द्वीप मे शास्वत प्रतिमायें हैं वहाँ इन्द्र नाच उठते हैं। वे स्वयं एकावतारी हैं। भगवान की भक्ति करते हैं; परन्तु समझते हैं कि शरीर की क्रिया जड़ से होती है, आत्मा उसको नहीं कर सकता और शुभभाव को हेय मानते हैं। स्वयं ज्ञाता-दृष्टा है-ऐसा समझते हैं। कमजोरीवश राग आता है उसको जानते हैं और हेय समझते हैं। उनको कभी ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि नहीं छूटती; फिर भी राग आता है तब भक्ति करते हैं। बाह्य में बहुत भक्ति करते दिखते हैं। रामचन्द्रजी ने भी वन में से आने पर शान्तिनाथ भगवान की भक्ति की थी। ज्ञानी को ऐसी दृष्टि कभी नहीं छूटती कि जड़ की क्रिया आत्मा की इच्छा से नहीं होती, राग आता है वह आस्रव है और मेरा स्वभाव आस्रव से रहित चिदानन्द है। ज्ञानी के भी भक्ति का अनुराग होता है; परन्तु वह भक्ति को मुक्ति का कारण नहीं मानता है।

इस प्रकार देव भक्ति का स्वरूप समझाया।

गुरु भक्ति का अन्यथारूप

....अब, गुरुभक्ति उसके कैसी होती है सो कहते हैं:-

कितने ही जीव आज्ञानुसारी हैं। वे तो-यह जैन के साधु हैं, हमारे गुरु हैं, इसलिये उनकी भक्ति करनी-ऐसा विचारकर उनकी भक्ति करते हैं। और कितने ही जीव परीक्षा भी करते हैं। वहाँ यह मुनि दया पालते हैं, शील पालते हैं, धनादि नहीं रखते, उपवासादि तप करते हैं, क्षुधादि परीषह सहते हैं, किसीसे क्रोधादि नही करते हैं, उपदेश देकर औरों का धर्म में लगाते हैं-इत्यादि गुणों का विचार कर उनमें भक्तिभाव करते है। परन्तु ऐसे गुण तो परमहंसादि अन्यमतियों तथा जैनी मिथ्यादृष्टियों में भी पाये जाते हैं, इसलिये इनमें अतिव्याप्तिपना है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती।

तथा जिन गुणों का विचार करते हैं उनमें कितने ही जीवाश्रित हैं, कितने ही पुद्गलाश्रित है; उनके विशेष न जानते हुए असमानजातीय मुनिपर्याय में एकत्वबुद्धि से मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग वह ही मुनियों का सच्चा लक्षण है, उसे नहीं पहिचानते। क्योंकि यह पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रहते नहीं। इस प्रकार यदि मुनियों का सच्चा स्वरूप ही नहीं जानेंगे तो सच्ची भक्ति कैसे होगी? पुण्यबन्ध के कारणभूत शुभक्रियारूप गुणोंको पहिचानकर उनकी सेवासे अपना भला होना जानकर उनमें अनुरागी होकर भक्ति करते हैं।

इसप्रकार गुरुभक्ति का स्वरूप कहा।....

अब उनके गुरु भक्ति कैसी होती है-यह कहते हैं। कोई जीव तो आज्ञानुसारी है। सो ये जैन के साधु हैं, हमारे गुरु हैं, इसलिये इनकी भक्ति करना-ऐसा विचारकर उनकी भक्ति करता है; परन्तु गुरु की परीक्षा नहीं करता। जैन कुल में जन्म लिया इसलिये गुरु की भक्ति करते हैं, तो यह मार्ग नहीं है। इस तरह तो अन्यमत वाले भी अपने सम्प्रदाय के गुरु को मानते हैं। कुल के अनुसार गुरु को मानने से नही चल सकता। यदि कोई परीक्षा करता है कि- यह मुनि दया पालते हैं और अपने लिये बनाये गये आहार को ये नहीं लेते हैं, तो यह सच्ची परीक्षा नहीं हैं। उद्देशिक आहार में छहकाय के जीवों की हिंसा होती है-ऐसा मानकर वे उसे नहीं लेते हैं, तो यह कोई मुनि का सच्चा लक्षण नहीं है। दया तो अन्यमत मे भी पालते हैं। अतः दया लक्षण में तो अतिव्याप्ति दोष आता है। अव्याप्ति-अतिव्याप्ति और असंभव-इन तीनो दोषों से रहित लक्षण से गुरु को पहिचानना चाहिये। जो दया नहीं पालते अथवा उद्देशिक आहार लेते हैं, उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है; परन्तु जो बाह्य से दया पालता है-यह साधु का लक्षण नहीं है; क्योंकि राग रहित आत्मा के भान बिना सब व्यर्थ है।

मुनि को दया के परिणाम आते हैं; परन्तु दया से परजीव नहीं बचते। सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार दया लक्षण से गुरु मानना ठीक नहीं है। जिनके लिये उद्देशिक आहार बनता है उनका तो व्यवहार भी ठीक नहीं है; परन्तु जो बाह्य से दया अथवा

ब्रह्मचर्य पालन करते हैं-उनकी यहाँ बात है। ब्रह्मचर्य को मुनि का लक्षण मानने में अतिव्याप्ति दोष आता है। कारण कि ब्रह्मचर्य तो अन्यमत वाले भी पालन करते हैं, इसलिये यह लक्षण सच्चा नहीं है। जिनको अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का भान है और अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं वे मुनि हैं। एषणा समिति में दोष लगावे तो अट्ठाईस मूलगुण में दोष है।

छहढाला में आता है कि-

मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रैवक उपजायो।
पे निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो।।

जीव ने अनन्तबार मुनिव्रत धारण किया, परन्तु आत्मभान बिना रंचमात्र भी सुख प्राप्त नहीं हुआ; इसलिये बाह्य शुभभाव से गुरु की परीक्षा करना सच्ची परीक्षा नहीं है।

स्वभाव में उपयोग नहीं हो तब शुभभाव आता है; परन्तु ज्ञानी समझता है कि वह राग है-व्यवहार है। व्यवहार समिति आस्रव है वह आत्मा का मूलस्वरूप नहीं है।

निश्चय समिति और व्यवहार समिति, निश्चय गुप्ति और व्यवहार गुप्ति-ऐसे दो प्रकार हैं। शुद्ध स्वभाव में लीनता ही निश्चय समिति है और वही निश्चय गुप्ति है। आत्मा में लीन न हो तब जो शुभभाव आता है और अशुभ से बचता है वह व्यवहार गुप्ति है और शुभ में प्रवृत्ति होना व्यवहार समिति है।

इस प्रकार जिसको गुरु के स्वरूप की पहिचान नहीं है और गुरु की भक्ति करके धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

अब जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर भी कितने ही जीव तो आज्ञानुसारी होते हैं। परन्तु परीक्षा बिना सम्यग्दृष्टि नहीं हुआ जाता। यह हमारे गुरु हैं- ऐसा कहकर उनकी भक्ति करता हैं; परन्तु साधु के स्वरूप का पता नहीं है। आत्मभान होने के पश्चात् मुनिदशा में भी व्यवहार आता है। व्यवहार आता ही नहीं-ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उस भूमिका में पुण्य परिणाम आता है-इसको वह नहीं समझता। चौथे,पाँचवें,छठवें गुणस्थान में राग के परिणाम आते हैं; परन्तु धर्मी उनको बंध का कारण समझता है। (यहाँ तो गुरु भक्ति की बात चल रही है।) कि:-

अब कोई परीक्षा भी करता है तो, ये मुनि दया पालते है-ऐसा मानकर उनकी भक्ति करता है। मुनि छियालीस दोष रहित आहार लेते हैं, उनमें पाँच समितियों के भाव आस्रव हैं। अट्ठाईस मूलगुणों में जो समिति है वह आस्रव है। निर्विकल्प आनन्द दशा में लीन होना निश्चय समिति हैं।

(व्यवहार) समिति तो आस्रव है। अपने लिये बनाये हुए आहार को मुनि नहीं लेते-ऐसा भाव शुभभाव है, वह धर्म नहीं है। मुनि को निश्चय और व्यवहार-दोनो होते हैं। चौथे गुणस्थान से ही निश्चय-व्यवहार दोनो होते हैं। अज्ञानी मानता है कि श्रावक को व्यवहार और मुनि को निश्चय होता है; परन्तु यह भूल है। देह-मन-वाणी और राग से भी रहित भगवान आत्मा में निर्विकल्प अनुभव होना सम्यग्दर्शन है- यह निश्चय है और जो राग आता है वह व्यवहार है। इस प्रकार दोनो का ज्ञान होना चाहिये।

अज्ञानी जीव दया पालन के परिणाम से और निर्दोष आहार लेने के परिणाम से मुनिपने की परीक्षा करता है; परन्तु यह सही नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मुनिपना हैं। न तो बाहर से परीक्षा करना यथार्थ है और न परीक्षा किये बिना मानना; यह तो अज्ञानता है।

निश्चय और व्यवहार के भान बिना सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान नहीं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना चारित्र और ध्यान नहीं और ध्यान बिना केवलज्ञान नहीं (यह नियम है।)

मुनि नाम रखाकर उद्देशिक आहार लेने वाला तो व्यवहार से भी भ्रष्ट है। मुनि के लिये चौका बनाने वाले के तो व्यवहार भी मिथ्या है। मुनि के लिये आहार बनाया हो तो उसे मुनि नहीं लेते-ऐसा शुभभाव होता है; तो भी वह आस्रव है, धर्म नहीं। जो मुनि की अन्तरंग परीक्षा नही करता वह व्यवहाराभासी है।

तीर्थंकर देव कहते हैं कि परीक्षा किये बिना मानना मिथ्यापना है। यहाँ तो सच्चे मुनि की बात है।

भावलिंगी मुनि को निर्दोष आहार लेने का विकल्प आता है वह चारित्र का दोष है, आस्रव है, व्यवहार समिति है। शुद्ध आहार नहीं होने पर भी आहार शुद्ध है-ऐसा बोलना झूठ है। यदि मुनि को पता चल जाए कि आहार दोषयुक्त है तो वे उसे नहीं लेते। अशुभ से निवृत्ति, वह व्यवहार वृत्ति है। व्यवहार वृत्ति आस्रव है और निश्चय वृत्ति संवर है-ऐसा अच्छी तरह समझना चाहिये।

कोई कहता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन सातवें गुणस्थान में होता है, तो यह भूल है। निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में होता है, तत्पश्चात् मुनिपना आता है। मुनि पंचसमितियों का पालन करते हैं-या ब्रह्मचर्य से मुनि की परीक्षा करना भी सच्ची परीक्षा नहीं है। ब्रह्मचर्य का पालन करके तो जीव अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक तक गया है।

व्रत के दो भेद हैं- एक निश्चयव्रत (दूसरा) व्यवहारव्रत। अपने स्वभाव को चूककर पाँच महाव्रत के परिणाम आना वह निश्चय से हिंसा है; परन्तु जिसको आत्मा का भान हो उसके अहिंसा के शुभभाव को व्यवहार से अहिंसा कहते है। हमारे मुनि वस्त्र, धन आदि नहीं रखते, समस्त मूलगुणों का पालन करते हैं, अपने लिये पुस्तक नहीं खरीदते-ऐसे-ऐसे शुभ परिणाम भी आस्रव हैं। इन परिणामों से मुनि की परीक्षा करना सच्ची परीक्षा नहीं है। अथवा

उपवास, वृत्तिपरिंसख्यान आदि नियम से मुनि की परीक्षा करना भी यथार्थ नहीं है। जीव ने ऐसे उपवासादि तो अनन्तबार किये हैं। शीत-तप (व परीषहादि) सहन करना भी मुनिपना नहीं है। अन्तर आत्मा का अनुभव ही वस्तुतः मुनिपना है। उसकी परीक्षा अज्ञानी नही करता। तथा कोई मुनि क्रोधादि करे वह तो व्यवहाराभास में भी नहीं आता, परन्तु कोई मुनि बाह्य क्षमा भाव रखता हो और उसके द्वारा परीक्षा करे तो वह भी सच्ची परीक्षा नहीं है। दूसरो को उपदेश देना भी मुनि का लक्षण नही है। उपदेश तो जड़ की क्रिया है, आत्मा उसको नही कर सकता।-ऐसे बाह्य लक्षणों से व्यवहाराभासी जीव मुनि की परीक्षा करता है वह यथार्थ नहीं है। परमहंसादि में भी ऐसे गुण होते हैं। दया पालना, उपवास करना आदि लक्षण तो मिथ्यादृष्टियों में भी होते हैं। ऐसे पुण्य परिणाम तो अन्य मुनियों में और जैन मिथ्यादृष्टि मुनियों में

भी दिखाई देते हैं। इसलिये इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। जो जीव अव्याप्ति,अतिव्याप्ति और असंभव दोष से रहित सच्ची परीक्षा नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है। तात्पर्य यह है कि शुभभाव से मुनि की सच्ची परीक्षा नहीं हो सकती।

तथा वह जिन गुणों का (परीक्षा करने के लिये) विचार करता है, उनमें कितने ही जीवाश्रित हैं और कितने ही पुद्गलाश्रित हैं। उन दोनो की भिन्नता नहीं जानने से असमानजातीय मुनिपर्याय में एकत्वबुद्धि से मिथ्यादृष्टि ही रहता है। शरीर, आहारादि की क्रिया जड़ से होती है, आत्मा से नहीं होती- इस प्रकार का भेदज्ञान जिसको नही है वह व्यवहाराभासी है।

क्रोधादि परिणामों को दूर करना आत्माश्रित है। 1. शुद्ध परिणाम 2. शुभ परिणाम 3. जड़ के परिणाम-इन तीनो की स्वतन्त्रता का भान अज्ञानी को नहीं है। क्षुधा जड़ की पर्याय है। अन्तर में सहनशीलता के परिणाम होते हैं वे जीवाश्रित हैं। जठराग्निरूप क्षुधा जीव के नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मुझे क्षुधा लगी। विभाव परिणाम जीव के हैं। समकिती को भी विभाव परिणाम आते हैं, वह समझता है कि ये भाव मेरी कमजोरी के कारण आते है, पर के कारण नहीं आते। कोई जीव पर की दया पालता है; इस कथन में पर के शरीर की क्रिया जड़ के आश्रित है और अपने में अनुकम्पा के परिणाम हुए वे जीवाश्रित है। परिग्रह नहीं आना वह जड़ाश्रित है और राग की मंदता होना, वह जीवाश्रित है। इस प्रकार जिसको जीवाश्रित भाव और पुद्गलाश्रित भाव का पता नही है वह मिथ्यादृष्टि है।

उपवास में राग की मंदता होना जीव के आश्रित है और आहार का न आना जड़ के आश्रित है। क्रोध के परिणाम होना जीवाश्रित है और आँख लाल होना जड़ाश्रित है। उपदेश के शब्द जड़ाश्रित है और उपदेश देने का भाव जीवाश्रित है-इस प्रकार जिसको दोनो के भेदज्ञान का पता नहीं है वह सच्ची परीक्षा नहीं कर सकता। चैतन्य और जड़ दोनो असमानजातीय पर्याय है। जड़ की पर्याय मुझसे होती है-ऐसा अज्ञानी मानता है। वह असमानजाति मुनि पर्याय में एकत्व बुद्धि से मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

अब मुनि की सच्ची परीक्षा कैसी होती है- यह बताते हैं।-

मुनि को व्यवहार होता अवश्य है; परन्तु व्यवहार से मुनि की सच्ची परीक्षा नहीं होती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनि का सच्चा लक्षण है। यहाँ एकता की बात है, पूर्णता की बात नहीं। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है। तत्पश्चात् आगे बढ़कर प्रथम सातवाँ गुणस्थान आता है, फिर छठवाँ आता है। स्वरूप में अकषाय परिणति होती है वह निश्चय व्रत है और जो शुभ परिणाम आते हैं वह व्यवहार व्रत है। चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र है। देवादिक की श्रद्धा-सम्यग्दर्शन नहीं है, शास्त्र पठन सम्यग्ज्ञान नहीं है और अट्ठाईस मूलगुणों का पालन चारित्र नहीं है। 'अष्ट सहस्त्री' में कहा है कि परीक्षा करके देवादिक को मानने वाला समकिती है। समन्तभद्राचार्य ने भी आप्त की परीक्षा की थी। वे कहते है कि-हे प्रभो ! देवों के आगमन से, आकाश में गमन से, चामरादि विभूति से मैं आपको महान नहीं मानता; आपकी सर्वज्ञता और वीतरागता से पूज्यपना मानता हूँ।

जैसे व्यापारी किसी वस्तु को लेते समय परीक्षा करता है; उसी प्रकार यहाँ उपादान-निमित्त स्वभाव-विभाव, द्रव्य-गुण-पर्याय आदि का स्वरूप समझकर परीक्षा करना चाहिये। जीव आत्मा के भान बिना मुनिपना लेकर शुक्ललेश्या के परिणाम करके अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक तक गया है; तथापि उसको धर्म नहीं है और आत्मा का भान करके मेढ़क भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। ज्ञानी अपनी शक्ति अनुसार तप-त्याग करता है; किन्तु यदि हठ करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यदि जीव को मोक्षमार्ग की पहचान हो तो मिथ्यादृष्टि नहीं रहता परन्तु यदि मुनि का सच्चा स्वरूप ही नहीं जाने तो सच्ची भक्ति कैसे हो? नहीं होती।

जिस प्रकार सुवर्ण कसौटी करके लिया जाता है; उसी प्रकार धर्म की परीक्षा करनी चाहिये। धर्म की कसौटी नहीं करे तो नहीं चल सकता। अज्ञानी सच्चे मुनि की अन्तर की परीक्षा नहीं करता और व्यवहार से अथवा शुभ क्रिया से परीक्षा करके सेवा से भला जानता है; परन्तु पर की सेवा से भला नहीं होता। पर की सेवा पुण्य है, धर्म नहीं। अज्ञानी जीव उससे भला जानकर सेवा करता है। वह अनुरागी होकर गुरु की भक्ति करता है।

इस प्रकार व्यवहाराभासी 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मुनि का लक्षण है'-ऐसा नहीं जानकर मात्र बाह्य से भक्ति करता है- इस कारण उसको धर्म नहीं होता। इस प्रकार व्यवहाराभासी की गुरु भक्ति का स्वरूप कहा।

शास्त्र भक्ति का अन्यथारूप

....अब, शास्त्रभक्ति का स्वरूप कहते हैं:

कितने ही जीव तो यह केवली भगवान की वाणी है, इसलिये केवली के पूज्यपने के कारण यह भी पूज्य है- ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। तथा कितने ही इस प्रकार परीक्षा करते हैं कि इन शास्त्रों में विरागता, दया, क्षमा, शील, संतोषादिक का निरूपण है इसलिये यह उत्कृष्ट हैं-ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। सो ऐसा कथन तो अन्य शास्त्र वेदान्तादिक में भी पाया जाता है।

तथा इन शास्त्रों में त्रिलोकादिक का गम्भीर निरूपण है, इसलिये उत्कृष्टता जानकर भक्ति करते हैं। परन्तु यहाँ अनुमानादिक का तो प्रवेश है नहीं, इसलिये सत्य-असत्य का निर्णय करके महिमा कैसे जाने? इसलिये इस प्रकार सच्ची परीक्षा नहीं होती। यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादितत्वों का निरूपण है और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दिखलाया है। उसीसे जैनशास्त्रों की उत्कृष्टता है, उसे नहीं पहिचानते। क्योंकि वह पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रहती नहीं।

इस प्रकार शास्त्रभक्ति का स्वरूप कहा।....

अब शास्त्र भक्ति का स्वरूप कहते हैं-

कोई जीव तो, यह केवली भगवान की वाणी है सो केवली भगवान के पूज्यपने से यह भी पूज्य है-ऐसा मानकर उसकी भक्ति करते हैं। उन्हें आत्मा की और जड़ की भिन्नता का परिज्ञान नहीं है और अकेली वाणी की भक्ति करते हैं। वह तो पुण्य परिणाम है, धर्म नहीं।

जो जीव परीक्षा किये बिना वाणी को पूज्य मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

पंचास्तिकाय गाथा 172 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी का वर्णन किया है। पर्याय में राग-द्वेष होने पर भी पर्याय को प्रगट शुद्ध मानने वाला निश्चयाभासी है और देव-शास्त्र-गुरु की परीक्षा किये बिना शुभभाव से धर्म मानने वाला व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

कोई जीव ऐसे परीक्षा करता है कि हमारे शास्त्रों में राग घटाने को कहा है; परन्तु शास्त्रों में तो राग रहित स्वभाव की प्रतीति करने को कहा है, राग का अभाव करने को कहा है, उसके वह नहीं समझता। कषाय घटाना पुण्य है, धर्म नहीं।

वह कहता है कि हमारे शास्त्रों मे जैसी दया है वैसी अन्यत्र है ही नहीं, परन्तु जीव पर की दया पालन नहीं कर सकता, पर की दया का भाव पुण्य है, धर्म नहीं-ऐसा शास्त्र कहते हैं- इस बात को वह नहीं समझता।

अपनी पर्याय में राग की उत्पत्ति न होना अहिंसा है। पर की दया का भाव निश्चय से हिंसा है।

अज्ञानी कहता है कि 'जीओ और जीने दो' परन्तु किसी का जीवन किसी पर के अधीन नहीं हैं। शरीर अथवा आयु से जीना आत्मा का जीवन नहीं है। स्वभाव की दृष्टिपूर्वक अपनी पर्याय में राग-द्वेष का भाव नहीं होने देना और ज्ञाता-दृष्टा रहने का नाम जीवन है।

जैन आत्मा का स्वरूप है। जैन शास्त्र पर की दया पालन करने को नही कहते। अज्ञानी कहता है कि निगोद में अनन्त जीव हैं, दो इन्द्रियादि जीव अनन्त हैं उनकी दया पालन करना चाहिये; परन्तु यह भूल है। जैसे ईश्वर जगत का कर्ता है-ऐसी मान्यता वाला जीव मिथ्यादृष्टि है; उसी प्रकार पर जीवों की पर्याय अपने शुभराग के आधीन मानने वाला पर द्रव्य की पर्याय का कर्ता होता है; अतः वह भी मिथ्यादृष्टि है।

कोई प्रश्न करता है कि-शास्त्रों मे देखकर चलने के लिये कहा है न?

उससे कहते है कि-शरीर की पर्याय मेरे से होती है-ऐसा मानना मिथ्यात्व शल्य है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है-ऐसा न मानकर, मैं आत्मा ध्यान पूर्वक (प्रयत्न से) शरीर की ऐसी क्रिया करुँ अथवा इस प्रकार शरीर को रखूँ तो जीव बच जायेंगे, ऐसा मानने वाला जैन नहीं है। यदि आत्मा की इच्छा से शरीर का कार्य होता हो तो शरीर में रोग क्यों आता है? आत्मा की इच्छा से शरीर की क्रिया होती है तो वह पराधीन हो जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि कोई पदार्थ किसी पदार्थ की क्रिया नहीं कर सकता। अपने ज्ञानानन्द स्वभाव के आश्रय से राग न होने देना और राग रहित लीनता करना अहिंसा और दया है और ऐसे भानपूर्वक अन्य जीवों को दुःख न देने का भाव व्यवहार दया है, वह पुण्यास्रव है।

आत्मा पर जीव की पर्याय अथवा शरीर, मन, वाणी की क्रिया का कर्ता नहीं है। यदि जड़ की क्रिया आत्मा से होती हो तो जड़ के द्रव्य और गुणों ने क्या किया? जगत को अनेकान्त तत्व का परिज्ञान नहीं है। जिसको आत्मा में जड़ नहीं और जड़ में आत्मा नहीं-ऐसे अनेकान्त का पता नहीं है और बाहर में दया मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

तथा वह कहता है कि हमारे शास्त्रों में क्षमा का उपदेश है; परन्तु क्षमा का उपदेश तो अन्यमत के शास्त्रों में भी है। वैराग्य और क्षमा शास्त्र की परीक्षा के लक्षण नहीं हैं। तथा वह कहता है कि हमारे शास्त्रों में शील पालन और सन्तोष रखने का उपदेश दिया है, इसलिये हमारे शास्त्र उत्कृष्ट हैं; परन्तु इस प्रकार के शुभभाव रखने का उपदेश तो अन्यमत के शास्त्रो में भी दिया गया है। अतः यह लक्षण सच्चा नहीं है।

तथा इन शास्त्रों में त्रिलोकादिक का गंभीर निरूपण है- ऐसी उत्कृष्टता जानकर उनकी भक्ति करता है। अब जहाँ अनुमानादि का प्रवेश नहीं है वहाँ सत्य-असत्य का निर्णय किस प्रकार होगा? अतः इस प्रकार भी सच्ची परीक्षा नहीं होती।

यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्वों का निरूपण है। शरीर में आत्मा का अभाव है और आत्मा में शरीर का अभाव है। कर्मों मे आत्मा का अभाव है और आत्मा में कर्मों का अभाव है- ऐसा कथन अनेकान्त स्वरूप शास्त्रों में होना चाहिये।

शरीर जड़ है। वह आत्मा से नहीं चल सकता। जब शरीर अपने से प्रथक् है तो उसकी क्रिया भी अपने से प्रथक् है- ऐसे अनेकान्त कथन द्वारा शास्त्र की पहिचान करना चाहिये।

शरीर मे रोग आना जड़ की पर्याय है, द्वेष होना आस्रव तत्व है। जड़ की पर्याय में आस्रव का और आस्रव में जड़ की पर्याय का अभाव है- ऐसा मानना अनेकान्त है।

मैं जीव हूँ और अनन्त जीव तथा अनन्तानंत पुद्गल मैं नहीं हूँ। अर्थात् पर की पर्याय मुझसे नहीं और मेरी पर्याय पर से नहीं होती-ऐसा अनेकान्त है।

अज्ञानी मानता है कि पर जीव बचता है तो मुझको पुण्य होता है और मुझें शुभभाव होता है तो पर जीव बचता है; परन्तु इस मान्यता में अनेकान्त नहीं रहता। पर जीव की पर्याय पर में है और अपना शुभभाव स्वतन्त्र है-इस प्रकार दोनो को स्वतन्त्र समझना चाहिये। इसी प्रकार यदि भगवान की प्रतिमा के कारण शुभभाव होना माना जाए तो एकान्त हो जाता है। शुभभाव हुआ तो मन्दिर बना- इस मान्यता में एकान्त हो जाता है।

जैन शास्त्र सातों तत्वों को भिन्न-भिन्न बतलाता है। जीव है तो अजीव है-ऐसा नहीं है। शुभपरिणाम है तो अजीव की पर्याय होती है-ऐसा नहीं है। पाप के परिणाम के कारण पर जीव मर गया-ऐसा नहीं है। पाप परिणाम जीव में होते हैं और अन्य जीव स्वतन्त्र है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने सात तत्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। जीव में अजीवादि छह तत्वों का अभाव है। अजीव में जीवादि छह तत्वों का अभाव है। पाप परिणाम अपने से होता है और अजीव मरता है वह उसके कारण मरता है। तथा शुभाशुभ रहित अपने शुद्ध स्वभाव के आश्रय से प्रगट होने वाली संवर पर्याय शुद्ध है। यदि पुण्य से संवर माना जाए तो आस्रव और संवर एक हो जाते हैं। इस प्रकार परीक्षा किये बिना शास्त्र की भक्ति करे तो पुण्य है। इससे जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। एक तत्व मे दूसरा तत्व नहीं है। मैं त्रिकाली ज्ञायक तत्व हूँ और संवर-निर्जरा पर्याय है। *त्रिकाली द्रव्य में पर्याय नहीं है और पर्याय में त्रिकाली द्रव्य नहीं है-ऐसा समझना चाहिये।*

इसी प्रकार निमित्त के कारण नैमित्तिक नहीं है। शास्त्र के कारण ज्ञान हुआ-ऐसा नहीं है और ज्ञान हुआ इसलिये शास्त्र को आना पड़ा-ऐसा भी नहीं है। दोनो पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं। एक में दूस रे का अभाव है। ऐसी परीक्षा नहीं करके बिना समझे शास्त्र की भक्ति करे तो धर्म नहीं होता। शास्त्र का लक्षण दया, वैराग्य, आदि मानने मे अतिव्याप्ति दोष आता है। कारण कि ऐसे परिणाम करने का कथन तो अन्यमत के शास्त्रों में भी किया हैं।

अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्वों का निरूपण यह शास्त्र का लक्षण है। तथा दिव्यध्वनि और सच्चे शास्त्रों में सच्चा रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग कहा है। यद्यपि अपूर्ण दशा में व्यवहार रत्नत्रय आता है; परन्तु वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है। ज्ञानस्वभावी आत्मा की प्रतीति, स्वसंवेदन ज्ञान और राग रहित स्वरूप लीनता को मोक्षमार्ग कहते हैं। जिस प्रकार अरहन्त का लक्षण वीतरागता और केवलज्ञान है; किन्तु बाह्य समवसरण लक्षण नहीं है। मुनि का लक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है; परन्तु बाह्य नग्न शरीर नहीं; उसी प्रकार शास्त्र का लक्षण नव तत्वों का भिन्नपना और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का प्रतिपादन है, परन्तु दया, दानादि का प्रतिपादन वह शास्त्र का लक्षण नहीं है।

लक्षण उसे कहते हैं कि जो उसी पदार्थ में हो और अन्य में न हो। हमारे भगवान के पास देव आते हैं- यह भगवान का लक्षण नहीं है; अपितु अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए- इस लक्षण से अरहन्त की पहिचान होती है।

कोई शास्त्र कहता है कि पहले व्यवहार आता है और बाद में निश्चय आता है, तो यह शास्त्र का लक्षण नहीं है। व्यवहार परिणाम राग है और निश्चय परिणाम अराग है। राग से अराग परिणाम होना मानने में एकान्त हो जाता है। इसलिये धवला, समयसार, इष्टोपदेश आदि सच्चे शास्त्रों में एक ही बात है कि सातों तत्व भिन्न-भिन्न है। मुनि के अट्ठाईस मूलगुण है तो शुद्धता टिकती है-ऐसा नहीं है। आम्रव और संवर भिन्न-भिन्न है-इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिये।

आत्मा को मोक्षमार्ग पर से नहीं होता व दया, दानादिक से भी नहीं होता। शुद्ध चिदानन्द आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता से मोक्षमार्ग होता है। सच्चे रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बताना शास्त्र का सच्चा लक्षण है।

चारों अनुयोग ऐसा बताते हैं कि एक तत्व के कारण दूसरा तत्व नहीं है। जो ऐसा नहीं मानता है कि व्यवहार से निश्चय नहीं है और निश्चय से व्यवहार नहीं है वह शास्त्र का भक्त नहीं है। कुम्हार आया तो घड़ा हुआ- ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। कुम्हार जीवद्रव्य है, घड़ा पुद्गल की अवस्था है। एक के कारण दूसरे की पर्याय नहीं होती। जो ऐसे अनेकान्त रहस्य से जैनशासन की उत्कृष्टता को नहीं पहिचानता वह मिथ्यादृष्टि है। दया, दानादि के परिणाम आते हैं, परन्तु उनसे धर्म नहीं होता। इस प्रकार नवतत्वों की भिन्न-भिन्न श्रद्धा करने वाला मिथ्यादृष्टि नहीं रहता।

जैसे मिट्टी में चूने का अंश हो तो उस मिट्टी के सारे बर्तन गर्म करने से टूट जायेंगे। अतः जिसको मिट्टी और चूने की भिन्नता का ज्ञान नहीं है उसके सब बर्तन टूट जाते हैं। उसी प्रकार अनेकान्त तत्व में भूल रह जाए और एकान्त हो जाए तो सब भूल होती है। देव-शास्त्र-गुरु कहते हैं कि प्रत्येक तत्व प्रथक् है और शुद्धात्मा के आश्रय से ही वीतरागता होती है। इस बात में कहीं भूल अथवा विपरीत अभिनिवेश रह जाए तो मोक्षमार्ग नहीं होता।

इस प्रकार शास्त्र भक्ति स्वरूप कहा।

....इस प्रकार इसको देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति हुई, इसलिये व्यवहारसम्यक्त्व हुआ मानता है। परन्तु उनका सच्चा स्वरूप भासित नहीं हुआ है; इसलिये प्रतीति भी सच्ची नहीं हुई है। सच्ची प्रतीति के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती; इसलिये मिथ्यादृष्टि ही है।....

इस प्रकार उसे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति हुई है, इस कारण वह अपने को व्यवहार सम्यक्त्व मानता है; परन्तु निश्चय प्रगट हुए बिना व्यवहार कैसा? उसको

अरहन्तादिक का सच्चा स्वरूप भासित नहीं हुआ, इसलिये प्रतीति भी सच्ची नहीं है और सच्ची प्रतीति के बिना सम्यक्त्व की भी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

सप्त तत्व का अन्यथारूप

....तथा शास्त्र में "तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन" (तत्वार्थसूत्र 1-2) ऐसा वचन कहा है- इसलिये शास्त्रों में जैसे जीवादि तत्व लिखे हैं वैसे आप सीख लेता है और वहाँ उपयोग लगाता है; औरों को उपदेश देता है; परन्तु उन तत्वों का भाव भासित नहीं होता; और यहाँ उस वस्तु के भावही का नाम तत्व कहा है। सो भाव भासित हुए बिना तत्वार्थश्रद्धान कैसे होगा? भावभासना क्या है? सो कहते हैं।

जैसे कोई पुरुष चतुर होने के अर्थ शास्त्र द्वारा स्वर, ग्राम, मूर्छना, रागों का स्वरूप और ताल-तान के भेद तो सीखता है; परन्तु स्वरादि का स्वरूप नही पहिचानता। स्वरूप की पहिचान हुए बिना अन्य स्वरादिक को अन्य स्वरादिकरूप मानता है, अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नही मानता है; इसलिये उसके चतुरपना नहीं होता। उसी प्रकार कोई जीव सम्यक्त्वी होने के अर्थ शास्त्र द्वारा जीवादिक तत्वों का स्वरूप सीख लेता है; परन्तु उनके स्वरूपको नहीं पहिचानता है। स्वरूप को पहिचाने बिना अन्य तत्वों को अन्य तत्वरूप मान लेता है, अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नही मानता; इसलिये उसके सम्यक्त्व नहीं होता। तथा जैसे कोई शास्त्रादि पढ़ा हो या न पढ़ा हो परन्तु स्वरादिक के स्वरूपको पहिचानता है तो वह चतुर ही है। उसी प्रकार शास्त्र पढ़ा हो या न पढ़ा हो; यदि जीवादिक के स्वरूप को पहिचानता है तो वह सम्यग्दृष्टि ही है। जैसे हिरन स्वर-रागादिकका नाम नहीं जानता परन्तु उसके स्वरूप को पहिचानता है; उसी प्रकार तुच्छबुद्धि जीवादिक का नाम नहीं जानते परन्तु उनके स्वरूप को पहिचानते हैं कि यह मैं हूँ, ये पर हैं; ये भाव बुरे हैं, ये भले है;- इस प्रकार स्वरूप को पहिचाने उसका नाम भाव भासना

है। शिवभूति मुनि जीवादिक का नाम नही जानते थे, और तुषमाषभिन्न ऐसा रटने लगे। सो यह सिद्धान्त का शब्द था नही; परन्तु स्व-पर के भावरूप ध्यान किया, इसलिये केवली हुए। और ग्यारह अंग के पाठी जीवादि तत्वों के विशेष भेद जानते है; परन्तु भाव भासित नहीं होता, इसलिये मिथ्यादृष्टि ही रहते है।

अब, इसके तत्वश्रद्धान किस प्रकार होता है सो कहते हैं:-....

आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्वार्थ सूत्र' ग्रन्थ बनाया है; उसमे 'तत्वार्थ श्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्' कहा है।

वस्तुतः तो मुनि शास्त्र बनाने के निमित्तमात्र हैं; शास्त्र बनाने के कर्ता नहीं। शुभराग आता है वह आस्रव है। मुनि उसको जानते हैं। मुनि से शास्त्र बना-ऐसा कहना निमित्त का कथन है।

'तत्वार्थ श्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्'-ऐसा वचन शास्त्र में कहा है। इसलिये शास्त्रों में जैसे जीवादि तत्व कहे हैं वेसे स्वयं सीख लेता है। वहाँ ही उपयोग लगाता है और अन्य को उपदेश देता है; परन्तु स्वयं को तत्वों का भाव भासित नहीं होता-इस कारण सम्यक्त्व नहीं होता।

वस्तु के भाव का ही नाम तत्व कहा है। अर्थ अर्थात् पदार्थ और वस्तु के भाव का नाम ही तत्व है। तत्वभाव और अर्थपदार्थ (द्रव्य-गुण-पर्याय)। पदार्थ के (अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय के) भाव का यथार्थ भासन होना, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। यहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन की बात नहीं है। इसलिये जो सात तत्वों की भिन्न-भिन्न यथार्थरूप से श्रद्धा करता है उसे सम्यग्दर्शन होता है।

* जीव का स्वभाव ज्ञायक शुद्ध चिदानन्द है राग और शरीर से भिन्न है।
* शरीर, कर्म आदि अजीव हैं और अजीव का स्वभाव जड़ है।
* पुण्य-पाप के परिणाम आस्रव हैं और उसका स्वभाव आकुलता है। मेरा स्वभाव अनाकुल है।

* विकार में अटकना बंध है।
* आत्मा की शुद्धि अर्थात् यथार्थ रुचि-ज्ञान और रमणता संवर तत्व है।
* शुद्धि की वृद्धि होना निर्जरा तत्व है।
* सम्पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना मोक्ष तत्व है।

इन सात तत्वों में जीव और अजीव-ये द्रव्य हैं और आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष-ये पर्यायें हैं। इस प्रकार सात तत्वो के यथार्थ और प्रथक्-प्रथक् भाव का श्रद्धान और भासन होना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानी को ऐसा श्रद्धान और भासन नहीं होता। भावभासन क्या चीज है- यह अब कहते हैं:-

जिस प्रकार कोई पुरुष चतुर होने के लिये संगीत शास्त्र के द्वारा स्वर, ग्राम, मूर्च्छना और ताल के भेद तो सीखता है, किन्तु स्वरादि का स्वरूप नहीं जानता और स्वरूप की पहिचान बिना अन्य-अन्य स्वरादि को अन्य स्वरादिरूप मानता है; अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय पूर्वक नहीं मानता; इसलिये उसमें चतुरता नहीं होती। उसी प्रकार कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये शास्त्रों से जीव-अजीव का स्वरूप सीख लेता है; परन्तु आत्मा ज्ञानस्वभावी है, पुण्य-पाप आस्रव है-इत्यादि सब निर्णय अपने अन्तरंग से नहीं करता। शास्त्र से सीखता है; परन्तु मैं ज्ञायक स्वरूप हूँ, पुण्य-पाप विकार है, शरीर अजीव है, आत्मा के आश्रय से शुद्धता प्रगट होना संवर-निर्जरा है-ऐसे निर्णय पूर्वक नहीं समझता वह व्यवहाराभासी है। वह तत्वों के स्वरूप की पहिचान बिना अन्य तत्व को अन्य तत्वरूप मान लेता है। आत्मा के कारण शरीर चलता है-ऐसा मान लेता है, कर्म से विकार होता है-ऐसा मान लेता है, दया, दानादि के शुभ परिणाम से धर्म मान लेता है, अतः वह मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार वह अन्य तत्व को अन्य तत्वरूप मान लेता है। अथवा सत्य भी मानता है तो वहाँ निर्णय नहीं करता-इस कारण वह मिथ्यादृष्टि है। जो सत्य नहीं मानता उसकी बात तो ऊपर कही जा चुकी है; परन्तु जो निर्णय किये बिना मानता है उसको भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और बिना सम्यग्दर्शन के चारित्र व्रत या तप नहीं होते।

यहाँ तीन बातें की है-

1. देव शास्त्र गुरु को बिना समझे रूढ़ि से मानना भूल है।

2. जो तत्वों का ज्ञान नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है।

3. जो तत्वों को रूढ़ि से या शास्त्र से मानता है; परन्तु अन्तरंग में भाव-भासन नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ जिसको भाव-भासन नहीं है उसकी बात चलती है। जिस प्रकार मदिरा पिया हुआ व्यक्ति कभी माता को माता कहे तो भी वह पागल है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव नव तत्वों के नाम बोले परन्तु; मैं जीव हूँ, विकारादि अधर्म है, उनसे रहित मैं शुद्ध हूँ-ऐसा पता नहीं होने से उसको धर्म नहीं होता।

तथा जैसे कोई संगीत शास्त्रादि पढ़ा हो या नहीं पढ़ा हो; परन्तु यदि वह स्वरादि के स्वरूप को पहिचानता है तो चतुर ही है; उसी प्रकार कोई जीव शास्त्र पढ़ा हो या नही पढ़ा हो; परन्तु यदि उसे तत्वों का भाव-भासन है तो वह सम्यग्दृष्टि ही है। पुण्य-पाप दुःखदायक है-अधर्म है, राग रहित स्वानुभव के परिणाम शान्तिदायक है, मैं शुद्ध ज्ञायक हूँ और शरीर-कर्मादि अजीव है- ऐसा भाव-भासन हो तो वह सम्यग्दृष्टि ही है। उसको कदाचित् वर्तमान में शास्त्रों का बहुत अभ्यास न हो, तथापि वह सम्यग्दृष्टि ही है।

जैसे हिरण रागादि का नाम नहीं जानता; परन्तु राग का स्वरूप पहचानता है; उसी प्रकार तुच्छ बुद्धि जीव जीवादि का नाम नहीं जानता; परन्तु उनके स्वरूप को पहिचानता है। जैसे किसी मनुष्य को जंगल में निधान मिला हो तो वह उसकी संख्या तो नही जानता, किन्तु बहुत लक्ष्मी है- ऐसा जानता है; उसी प्रकार तिर्यन्च आत्मा का नाम, संख्या आदि नहीं जानता; परन्तु उसे अन्तरंग भाव-भासन हो तो वह समकिती है। (क्योंकि) तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। उसको तत्वों का नाम तो नहीं आता, परन्तु उनका स्वरूप वह पहिचानता है। मैं जीव ज्ञायक तत्व हूँ, शरीरादि पर-अजीव है, वे मेरे में नहीं हैं, पुण्य-पाप के भाव तथा आस्रव-बंध के भाव बुरे हैं और संवर-निर्जरा मोक्ष का भाव भला है-इस प्रकार चार बोल में सात

तत्वों का भाव-भासन हुआ है। उसको पूर्व में ज्ञानी से उपदेश प्राप्त हुआ है। उस पूर्व संस्कार के निमित्त से स्वयं पुरुषार्थ करता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भाव भले हैं, इसमें देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप भी आ जाता है।

कोई जीव नव तत्वों के नाम मात्र बोल जाए; परन्तु अन्तर निर्णय नहीं करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। वह यत्नपूर्वक चलने को ईर्यासमिति मान लेता है। जबकि चलना तो जड़ की क्रिया है और अन्तर में शुभभाव होना व्यवहार समिति है और अन्तर में राग रहित शुद्ध परिणति होना निश्चय समिति है।-ऐसा भाव-भासन नही है। वह कदाचित शब्द रट लेता है, तो भी मिथ्यादृष्टि है।

अब भाव भासन मे शिवभूति मुनि का दृष्टान्त देते हैं-वे आत्मज्ञानी धर्मात्मा मुनि थे। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते थे। वे जीवादि तत्वों के नाम नहीं जानते थे और 'तुषमास भिन्न'-ऐसा घोलन करने लगे। गुरु ने 'मारूष मातुष अर्थात राग-द्वेष नहीं करना-ऐसा कहा था; परन्तु वह भी भूल गये। तथापि उनको भाव का भासन था। एक बार वे आहार करने जा रहे थे, रास्ते में एक स्त्री उड़द की दाल से छिलके निकाल रही थी। जब दूसरी स्त्री ने उससे पूछा कि क्या कर रही हो? तब उसने कहा कि-'तुषमास भिन्न' करती हूँ। मास अर्थात् उड़द और तुष अर्थात् छिलका। उड़द की दाल से छिलके को अलग कर रही हूँ। मुनि को भान तो था ही कि मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ, बस! विशेष लीनता करके वीतरागदशा को प्राप्त हो गये। मैं देह-मन-वाणी से भिन्न हूँ और राग-द्वेष छिलका है- उनसे भी रहित मैं ज्ञान स्वभावी हूँ। ऐसे स्वरूप में विशेष लीनता करने से केवलज्ञान दशा को प्राप्त हो गये। शास्त्र का ज्ञान नहीं होने पर भी केवलज्ञान दशा को प्राप्त हुए। यह सम्यग्दर्शन के बाद की बात है। शिव भूति मुनि जो शब्द बोले थे वे सैद्धान्तिक शब्द नहीं थे; परन्तु स्व-पर के भान सहित स्वभाव का ध्यान करने से केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

ग्यारह अंग तक पढ़ जाए अथवा उग्र तपश्चर्या करे, तो भी जिसको आत्मा का भान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। तथा ग्यारह अंग पढ़कर जीवादि के विशेष जानता है; परन्तु उसको अन्तर के भाव भासित नहीं होते-इस कारण वह मिथ्यादृष्टि रहता है। अभव्य को नाम निक्षेप से तत्व का श्रद्धान है; परन्तु भाव निक्षेप से भाव-भासन नहीं है।

जो संसार की बात में चतुराई करता है; परन्तु धर्म में मूर्खपना बताता है उसको धर्म की प्रीति नहीं है। तथा यदि शास्त्र की प्रीति हो; किन्तु भावभासन न हो तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

जीव-अजीव तत्व का अन्यथारूप

....जिनशास्त्रों से जीव के त्रस-स्थावरादिरूप तथा गुणस्थान-मार्गणादिरूप भेद को जानता है, अजीव के पुद्गलादि भेदों को तथा उनके वर्णादि विशेषों को जानता है; परन्तु अध्यात्मशास्त्र में भेदविज्ञान को कारणभूत व वीतरागदशा होने को कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नहीं जानता।....

वीतराग शास्त्र में जैसी जीवादि तत्वों की बात है वैसी अन्यत्र नहीं है। आचार्यों ने भगवान की वाणी के अनुसार शास्त्रों की रचना की है। समयसार, नियमसार, षटखंडागम आदि जैन शास्त्र हैं। यह उनमें कहे गये त्रस-स्थावरादिरूप जीव के भेद सीखता है। गुणस्थान-मार्गणास्थान के भेदो को सीखता है। जीव-पुद्गलादि के भेदों को व उनके वर्णादि भेदो को (विशेषों को) जानता है। इस प्रकार व्यवहार शास्त्रों की बातें जानता है; परन्तु अध्यात्म शास्त्रों में भेदविज्ञान को कारणभूत व वीतरागदशा होने को कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नहीं जानता। आत्मा जड़ कर्म से भिन्न है-ऐसा चैतन्य स्वरूप अध्यात्म शास्त्रों में कहा है। व्यवहार शास्त्रों में कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा होता है। अध्यात्म शास्त्रों में ऐसा कहा है कि गुणस्थान, मार्गणास्थान जीव का मूलस्वरूप नही है। वीतरागता का कारण जीव द्रव्य है। अध्यात्म शास्त्रों में किस अपेक्षा से कथन है उसे नही समझता है।

आगम शास्त्र में जीव का स्वरूप मार्गणास्थान और गुणस्थान से सहित तथा वर्तमान पर्याय से सहित कहा है और अध्यात्म शास्त्र में जीव का स्वरूप अकेला शुद्ध कहा है। वहाँ वर्तमान पर्याय को गौण करके त्रिकाली शुद्ध स्वभाव को जीव कहा है-ऐसे स्वरूप को (अज्ञानी) यथार्थरूप से नहीं जानता।

इस प्रकार वह जीव के त्रस-स्थावरादिरूप व गुणस्थान-मार्गणास्थानरूप भेदो को तथा अजीव पुद्गलादि भेदों को व वर्णादि विशेषों को जानता है। पुराण तथा त्रिलोकादि का वर्णन जानता है। करणानुयोग और चरणानुयोग की बातें करता है और उपदेश भी देता है; परन्तु समयसारादि शास्त्रों में भेदविज्ञान और वीतरागदशा होने को कारणरूप जैसा कथन है-उसका सच्चा अर्थ क्या है? उसमें मेरे लिये हितरूप प्रयोजन क्या कहा है?-इसका निर्धार करके नहीं जानता।

आत्मा में शुद्ध चिदानन्द स्वभाव के अवलम्बन से भेदविज्ञान और वीतरागता-अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं और इसी प्रकार अन्तर में वीतरागी दृष्टि और वीतरागी चारित्र प्रगट करना शास्त्र का प्रयोजन है। इस बात को वह नहीं जानता।

जो सत्य समझता है उसको राग और ज्ञान का भेदज्ञान बताने वाले देव-शास्त्र-गुरु निमित्तरूप होते हैं। परन्तु निमित्त से ज्ञान नहीं होता और न धर्म-अधर्म ही निमित्त से होता है। शास्त्रों में जहाँ रागादि को पुद्गल का परिणाम कहा हो वहाँ उस कथन का आशय यह है कि-वीतरागी द्रव्यस्वभाव के आश्रय से उनका अभाव कर देना, इसलिये उन्हें जड़ कहा है- ऐसा समझना चाहिये; परन्तु रागादि जड़ के ही हैं-ऐसा मानकर जो स्वच्छन्दी होता है, तो उससे कहते हैं कि-तू अशुद्ध उपादानरूप परिणमित हुआ है। तू करता है तो होते हैं, नहीं करे तो नहीं होते- इस प्रकार अपने अपराध का ज्ञान कराने के लिये ये रागादि भाव अशुद्ध निश्चयनय से जीव के हैं-ऐसा कहा है। इसलिये कथन की विवक्षा को ठीक प्रकार से समझना चाहिये।

समयसार की 12 वीं गाथा में, जहाँ तक पूर्ण वीतरागता न हो वहाँ तक गुणस्थानुसार राग और उसमें निमित्त कैसा होता है-यह बतलाया है, उसका ज्ञान करना व्यवहार है। इस प्रकार व्यवहार का ज्ञान तो कराया है; परन्तु व्यवहार उपादेय है- ऐसा कहीं नहीं कहा है। जो ऐसी अपेक्षा को ठीक प्रकार से नही समझता उसको यथार्थ भान नहीं होता। अतः वह या तो निश्चयाभासी या व्यवहाराभासी हो जाता है। अथवा उभयाभासी मूढ रहता है।

....तथा किसी प्रसंगवश उसी प्रकार जानता हो जाये तब शास्त्रानुसार जान तो लेता है; परन्तु अपने को आपरूप जानकर परका अंश भी अपने में न मिलाना और अपना अंश भी परमें न मिलाना-ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है। जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धि से जानपने में व वर्णादिमें अंहबुद्धि धारण करते हैं; उसी प्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादि में तथा शरीराश्रित उपदेश-उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है।....

किसी प्रसंग से वैसा भी जानना हो जाए तो शास्त्रानुसार जान लेता है; परन्तु अपने को आपरूप जानकर पर का अंश भी उसमें नहीं मिलाना और अपना अंश भी पर में नहीं मिलाना ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता। स्वयं अपने को नहीं जानता कि-मैं चिदानन्द ज्ञायक हूँ। तथा कर्म-नोकर्म का शरीर- का अंश अपने में नहीं मानना, शरीर की क्रिया मुझसे होती है-ऐसा नहीं मानना । आत्मा की इच्छा कर्म और शरीर में कार्यकारी नहीं है और अपनी ज्ञान पर्याय शास्त्र में नहीं है-ऐसा भेदज्ञान नहीं करता। मैं इच्छा करता हूँ तो पर की दया पलती है- ऐसा मानने से जीव का अंश अजीव में आ जाता है।

यहाँ तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन में सात तत्वों के ज्ञान सहित निश्चय सम्यग्दर्शन की बात चलती है। जिसको ऐसा सम्यग्दर्शन नहीं है वह जीव-अजीव तत्व में क्या भूल करता है उसकी बात चलती है। जीव का भूतार्थ दृष्टि से ज्ञान होने पर सातो तत्वों का ज्ञान राग रहितपने आ जाता है।

अब कोई जीव सात तत्वों के नाम भी जान ले; परन्तु यदि वह मानले कि वाणी से ज्ञान होता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। पर से सम्यग्दर्शन नहीं होता, अपनी आत्मा की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन होता है। मैं हूँ तो कर्म बंधते हैं-यह बात मिथ्या है। एक तत्व को दूसरे तत्व में न मिलावे तो ठीक है; परन्तु उसको वैसी भिन्नता भासित नहीं होती-इस कारण जीव-अजीव की सच्ची श्रद्धा नहीं होती।

जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धि से जानपने में व वर्णादिक में अहंबुद्धि धारण करते हैं। अर्थात् ज्ञातृत्व हो वह भी मैं हूँ, शरीर-वर्णादि भी मैं हूँ

और रागादि भी मैं हूँ- इस प्रकार सबको एक मानता है। उसी प्रकार जैनकुल में जन्म लेकर भी ऐसा मानना कि-मैं उपदेश देता हूँ अथवा शरीर को चलाता हूँ, तो वह भी जीव-अजीव को एक करता है-मानता है। उपदेश और शरीर की गमनादि क्रिया तो जड़ की है, आत्मा उस क्रिया को नहीं कर सकता, तथापि जो यह मानता है कि वे क्रियायें मुझसे हुई है वह जीव-अजीव की सच्ची श्रद्धा नहीं करता।

यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का निरूपण चल रहा है। जीव की क्रिया जीव में और अजीव की क्रिया अजीव में है-ऐसा भान नहीं होने से वह मिथ्यादृष्टि है।

जिस प्रकार अन्यमत वाला जीव निर्णय किये बिना वर्तमान अंश में दृष्टि करता है और जानपने में व वर्णादि में अहंबुद्धि धारण करता है। उसी प्रकार जो जैन में जन्मा होने पर भी यह मानता है कि मैं ज्ञानवान हूँ और उपदेश भी देता हूँ-वह जीव-अजीव को एक मानता है; परन्तु उसको यह पता नहीं है कि ज्ञान आत्माश्रित है और उपदेश जड़ आश्रित है। तथा उपवास के समय शरीर का क्षीण होना या भोजन का छूटना-यह जड़ की क्रिया है, तथापि जो उसको अपनी मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। दया, दानादि के तथा ज्ञानादि के परिणाम आत्माश्रित हैं और शरीर की क्रिया जड़ाश्रित है, तथापि जो इन क्रियाओं को आत्माश्रित मानता है वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि वह ज्ञान पर्याय, राग पर्याय और जड़ पर्याय इन सबको एक मानता है। मैंने उपदेश किया और राग भी मैंने किया-ऐसा मानता है। भगवान के पास जाने का शुभराग आत्माश्रित है और शरीर का हलन-चलन, हाथ जोड़ना आदि पुद्गलाश्रित है, तथापि दोनो को एक मानना-यह भूल है।

....तथा कभी शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है, परन्तु अन्तरंग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है। इसलिये जिस प्रकार मतवाला माताको माता भी कहे तो वह सयाना नहीं है; उसी प्रकार इसे सम्यक्त्वी नहीं कहते।

तथा जैसे किसी और की ही बातें कर रहा हो, उस प्रकार से आत्मा का कथन करता है; परन्तु यह आत्मा मैं हूँ-ऐसा भाव भासित नहीं होता।

तथा जैसे किसी और को और से भिन्न बतलाता हो, उस प्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है; परन्तु मैं इन शरीरादिकसे भिन्न हूँ-ऐसा भाव भासित नहीं होता।....

किसी समय शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है; परन्तु वहाँ अन्तरंग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है। शरीर की और पर जीव की क्रिया मेरी नहीं है, ज्ञान और राग होता है वह जीव करता है-ऐसा पता नहीं है, अन्तरंग में शास्त्रानुसार श्रद्धान नहीं है। जिस प्रकार मतवाला (नशेबाज) व्यक्ति माता को माता भी कहे तथापि वह शयाना नहीं है; इसी प्रकार इसे भी सम्यग्दृष्टि नहीं कहते। कोई शास्त्रानुसार बात कहे, परन्तु अन्तरंग मे श्रद्धान नहीं हुआ हो तो उसको सम्यग्दृष्टि नहीं कहते। जीव ने इच्छा की, इसलिये शुद्ध आहार आया-ऐसी मान्यता वाला जीव और अजीव को एक मानता है। उसको सात तत्वों में जीव-अजीव की प्रतीति का भी ठिकाना नहीं है।

जिस प्रकार किसी अन्य की ही बात कर रहा हो, उस प्रकार आत्मा का कथन करता है; किन्तु आत्मा मैं स्वयं ही हूँ, पुण्य-पाप के परिणाम विकार है और शरीरादि जड़ है-ऐसी भिन्नता उसको भासित नहीं होती। यद्यपि वह आत्मा से शरीर भिन्न है- ऐसा कहता है, तथापि 'मैं शरीर की क्रिया नहीं कर सकता, मेरा आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है'-ऐसा भाव अपने में नहीं बिठाता। जड़ की पर्याय प्रतिक्षण जड़ से होती है; अपने परिणाम उससे प्रथक् है-ऐसे भिन्न तत्व का भाव उसको भासित नहीं होता इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

....तथा पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन्हें दोनों द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई जानता है; यह जीव की क्रिया है उसका पुद्गल निमित्त है, यह पुद्गल की क्रिया है उसका जीव निमित्त है-ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नहीं होता। इत्यादि भाव भासित हुए बिना उसे जीव-अजीव का सच्चा श्रद्धानी नहीं कहते; क्योंकि जीव-अजीव को जानने का तो यही प्रयोजन था, वह हुआ नहीं।....

पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियायें होती हैं, उन सबको दो द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई मानता है।

मैं जीव हूँ तो शरीर चलता है, इन्द्रियाँ है तो मुझे ज्ञान होता है-ऐसा मानता है; परन्तु इन्द्रियाँ तो निमित्तमात्र है-ऐसा नहीं जानता। निमित्त हो तो कार्य होता है-ऐसा मानता है। भाषा निकलती है और उसमें रागी का राग निमित्तमात्र है। राग हुआ-इस कारण भाषा निकली-ऐसा नहीं हैं। आँख,नाक,कान, आदि इन्द्रियों के कारण ज्ञान होना मानना एकत्वबुद्धि है। आत्मा की इच्छा के कारण हाथ चला और रोटी के दो टुकडे हुए- ऐसा वह मानता है। रसोई बनाते समय रोटी जल जाती है वह उसके अपने कारण से जलती है, तथापि रसोईन स्त्री ने ध्यान नहीं रखा, इसलिये रोटी जल गई- इत्यादि मान्यतायें भ्रम है। वहाँ स्त्री तो निमित्तमात्र है, तथापि स्त्री का ध्यान न होना और रोटी का जल जाना-इन दो क्रियाओं का कर्ता एक जीव को मानना मूढ़ता है। जब पुद्गल की पर्याय उसके अपने कारण होती है तब दूसरे पदार्थ को निमित्त कहा जाता है।

बालक के हाथ से काँच का गिलास गिर कर टूट जाए, वहाँ पुद्गल की पर्याय नैमित्तिक है और बालक का बेभानपना निमित्त है।

ज्ञानी धर्मात्मा को अल्प राग-द्वेष होते हैं, तथापि वे समझते हैं कि भाषा, भाषा के कारण निकलती है। कमजोरीवश द्वेष आने पर भी वे पर के स्वामी नहीं बनते। आत्मा में राग-द्वेष या ज्ञान अपने से होता है, पर पदार्थ निमित्तमात्र है। निमित्त है इसलिये क्रोध आता है-ऐसा नहीं है। (रोग के समय) डॉक्टर स्वयं के कारण आता हैं जीव की इच्छा के कारण नहीं आता। पैसे की क्रिया पैसे के कारण है, जीव की इच्छा के आधीन नहीं है।

अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि दो पदार्थ साथ मिलकर एक कार्य करते हैं। रसोईन ने ध्यान नहीं रखा इसलियें कढ़ी उफनकर नीचे गिरती है? नहीं। जड़ की क्रिया जड़ से होती है। मूर्ख रसोईन स्त्री मानती है कि मैं होती तो चूल्हे में से लकड़ी

निकाल लेती और कढ़ी को उफनने से बचा लेती; किन्तु यह मान्यता मूढ-अज्ञानी की है। जीव और अजीव स्वतन्त्र हैं-इस बात का उसको परिज्ञान नहीं है। कर्म के कारण राग होना मानने वाले ने (जीव-अजीव) दो पदार्थों को एक माना है। कर्म अजीव है; उससे राग-द्वेष नहीं होते हैं; परन्तु राग-द्वेष अपने से (आत्मा से) होते हैं-ऐसा विचारना चाहिये।

जड़ की पर्याय जड़ से होती है, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैं विचारक हूँ इसलिये जगत की व्यवस्था कर सकता हूँ। मैं देश का, परिवार का प्रबंधक हूँ-ऐसा मानने वाला मूढ़ है। जड़ की पर्याय जड़ के कारण होती है, उसमें जीव निमित्तमात्र है। जो यह मानता है कि मूर्खता से जड़ की अवस्था बिगड़ती है और चतुरता से जड़ की अवस्था सुधरती है वह मिथ्यादृष्टि है।

जीव की होशियारी पैसे में काम नहीं आती। व्यापारी मूर्ख है इसलिये लक्ष्मी नहीं आती और चतुर है तो लक्ष्मी आती है-ऐसा मानना मूढ़ता है। तिजोरी में ताला लगाता है; वहाँ ताले की पर्याय तो अजीव की है, वह जीव के कारण नहीं होती। चोर चोरी का भाव करता है और हाथ में पिस्तौल रखता है वह जड़ की क्रिया है, चोर की इच्छानुसार पिस्तौल नहीं चलती। पिस्तौल की क्रिया जड़ के कारण है उसमे चोर का द्वेष भाव निमित्तमात्र हैं।

इसप्रकार जो परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं करता और कर्ताबुद्धि करता है वह मिथ्यादृष्टि है। प्रतिमा के कारण शुभभाव नहीं होता। प्रतिमा प्रतिमा के कारण होती है, शुभभाव के कारण प्रतिमा नहीं आती और प्रतिमा के कारण शुभभाव नहीं होता।

यहाँ जीव-अजीव की भिन्नता की बात चल रही है। भगवान ने सात तत्व कहे हैं, उनमे जीव-अजीव को स्वतन्त्र मानों। जीव से अजीव अथवा कर्म से राग मानने अथवा राग से कर्म मानने से दो द्रव्यों की एकता हो जाती है।

यदि बाहुबलीजी की प्रतिमा के आकर्षण के कारण जीव यात्रा को जाते हों तो सभी मनुष्यों को जाना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। जो यात्रा को जाते हैं उनको बाहुबलीजी की प्रतिमा निमित्तमात्र होती है।

जीव में ज्ञानपर्याय हो अथवा काम, क्रोध, मान, माया के परिणाम हों-वह जीव की क्रिया है। उसमें इन्द्रियां, कर्म आदि निमित्तमात्र हैं। कर्म और इन्द्रियां हैं तो राग और ज्ञान होता है-ऐसा नहीं है। दो द्रव्यों को एक मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है। उस जीव के व्रत,तप सच्चे नहीं होते। जिसके सम्यग्दर्शनरूपी मूल नहीं है उसके चारित्ररूपी वृक्ष कहाँ से होगा? नहीं होता।

जिसको जीव-अजीव की भिन्नता का भाव-भासन नहीं है उसको तत्व की श्रद्धा नहीं है। अज्ञानी मानता है कि ऑखें खुली हो तो ज्ञान होता है और ऑखें बंद हो तो ज्ञान नहीं होता; परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान ज्ञान के कारण होता है, उसमें इन्द्रियाँ और मन निमित्त है। राग- द्वेष का परिणाम जीव की पर्याय में है और हाथ का चलना जड़ की क्रिया है- ऐसी जड़-चेतन की भिन्नता का भाव-भासन जिसको नहीं उसके विपरीत बुद्धि रही हुई हैं। जड़ की पर्याय जड़ के कारण होती है, जीव की इच्छा निमित्तमात्र है। जड़ के अनन्त परमाणु अपने कारण क्षेत्र से क्षेत्रातंर होते हैं, जीव के कारण नहीं।

जिसको जीव-अजीव भिन्न-भिन्न भासित नहीं होते वह देव-शास्त्र-गुरु और मोक्ष को भी नहीं मानता। जड़ की पर्याय जड़ से और आत्मा की पर्याय आत्मा से होती है-ऐसा मानना, यह प्रत्यक्ष है। प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रोव्य स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक पदार्थ की क्रिया भिन्न-भिन्न होती है। एक पुद्गल की क्रिया में दूसरे पुद्गल अथवा जीव निमित्तमात्र है। निमित्त है इसलिये पर में कार्य होता है-ऐसा मानने में स्वतंत्रता नहीं रहती है। छह द्रव्य और सातों तत्व भिन्न-भिन्न हैं। एक के कारण दूसरें में कार्य माने तों छह द्रव्य अथवा सातो तत्व भिन्न-भिन्न नहीं रहते।

इसप्रकार जिसको नैमित्तिक दशा और निमित्त की स्वतन्त्रता का पता नहीं है अर्थात् सच्चा भाव-भासन नहीं है उसको जीव-अजीव का सच्चा श्रद्धानी नहीं कहा जा सकता। अज्ञानी कदाचित 'जीव-अजीव भिन्न है'-ऐसे कहे; परन्तु उसको भाव-भासन नहीं है। जीव-अजीव को जानने का प्रयोजन तो यह है कि जीव की पर्याय जीव से होती है, उसमे अजीव निमित्तमात्र है- ऐसा भाव भासन होना चाहिये। वह अज्ञानी को होता नहीं है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के जीव-अजीव तत्व की श्रद्धा की अयथार्थता बतलाई।

पुद्गल जाति अपेक्षा से एक है; परन्तु संख्या में अनन्तानन्त है। यदि एक पुद्गल से दूसरे पुद्गल में काम होता हो तो अनन्तानन्त पुद्गल नहीं रहते। इसप्रकार सात तत्वों का भान नहीं होने पर भी माने कि मैं पर की दया पालन करता हूँ तो यह भ्रान्ति है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि पुद्गल पुद्गल तो सजातीय है अतः एक पुद्गल तो दूसरे का कुछ कर सकता है न?

समाधान यह है कि-नहीं। एक अंगुली के स्कंध में अनन्त पुद्गल परमाणु हैं; उसमे प्रत्येक की क्रिया भिन्न-भिन्न है।

एक परिणाम के न करता दरव दोइ,
दोइ परिणाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूती दोई दर्व कबहूँ न करे,
दोई करतूति एक दर्व न करतु है।।

समयसार नाटक पं. बनारसीदासजी

यह बात समयसार नाटक में कही गई है-

1. दो द्रव्य एक परिणाम को नहीं करते,
2. एक द्रव्य दो परिणाम नहीं रखता,
3. दो द्रव्य एकत्रित होकर एक परिणाम को करे ऐसा कभी नहीं होता और
4. एक द्रव्य कर्ता होकर दो परिणाम करे-ऐसा नहीं होता।

इस प्रकार जिसको (वस्तु की ऐसी मर्यादा का) यथार्थ श्रद्धान नहीं होता उसको जीव-अजीव की स्वतन्त्रता का पता नहीं है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि जीव-अजीव को जानने का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ।

जीव में नैमित्तिक अवस्था स्वतन्त्र होती है, तथापि नाम कर्म के उदय के कारण कम्पन होता है, ज्ञानावरणीय के उदय के कारण ज्ञान रुकता है, ज्ञानावरणीय का अभाव हो तो केवलज्ञान हो-ऐसा मानने वाला द्रव्य को पराधीन मानता है। वह जीव और कर्म दोनो की एकता करता है। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व होना मानना, ज्ञानावरणीय के उदय के कारण ज्ञान की हीनता मानना भ्रान्ति है। अपने में नैमित्तिक दशा होती है उसमें कर्म निमित्तमात्र है और शरीर का हिलना-चलना, भाषा बोलना, कर्म का बंधना या छूटना-यह नैमित्तिक है उसमें जीव निमित्तमात्र है- इस बात को अज्ञानी नहीं समझता। जीव का राग परिणाम स्वतन्त्र है उसमें कर्म निमित्तमात्र है और कर्म बंध स्वतन्त्ररूप से होता है उसमें जीव के परिणाम निमित्त हैं-ऐसा भी वह नहीं समझता।

जीव-अजीव को भिन्न जानकर एक-दूसरे में स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझने का प्रयोजन था; परन्तु वह सिद्ध नहीं हुआ। अपना ज्ञानस्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। अपने में अपने से नैमित्तिकदशा होती है उसमे पर पदार्थ निमित्त है और पर में नैमित्तिक दशा होती है उसमें जीव की इच्छा निमित्तमात्र है।-ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जानना स्व-पर प्रकाशक ज्ञान का स्वभाव है।

इसप्रकार इसको जीव-अजीव को जानने का जो प्रयोजन था वह सिद्ध नहीं हुआ।

आस्रवतत्व का अन्यथारूप

....तथा आस्रवतत्व में हिंसादिरूप पापस्रव हैं उन्हें हेय जानता है; हिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं उन्हें उपादेय मानता है। परन्तु यह तो दोनो ही कर्मबन्ध के कारण है; इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है। वही समयसार के बन्धाधिकार में कहा है:-

सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीव के इन कार्यो का कर्त्ता हो, वही मिथ्याध्यवसाय बन्ध का कारण है। वहाँ अन्य जीवों को जिलाने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय हो वह तो पुण्यबन्ध का कारण है, और मारने का अथवा दुःखी करने का अध्यवसाय हो वह पापबन्ध का कारण है।

इस प्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबन्ध के कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबन्ध के कारण है। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं। इसलिये हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बन्ध का कारण जानकर हेय ही मानना।....

आस्रव तत्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव है उन्हें तो हेय जानता है तथा अहिंसादिरूप पुण्यास्रव है उन्हें उपादेय मानता है। दया, ब्रह्मचर्यादि के परिणाम जीव से स्वयं से होते हैं। जीव की क्रिया जीव से होती है कर्म के कारण नहीं। जो जीव कर्म के कारण दया, दानादि के परिणामों का होना मानता है उसकी तो जीव-अजीव तत्व में ही भूल है। शुभ-अशुभ परिणाम कर्म से होते हैं-यह तो जीव-अजीव तत्व की भूल है, यह आस्रव तत्व की भूल नहीं है; परन्तु जिस जीव के वैसी भूल होती है उसके तो सभी तत्वों में भूल है। दया, दानादि के परिणाम जीव के अस्तित्व में हैं, उसमें कर्म निमित्तमात्र है। स्वयं से केवलज्ञान होता है उसमें केवलज्ञानावरणीय कर्म का अभाव निमित्तमात्र है। इस प्रकार यथार्थ नहीं समझकर यह माने कि निमित्त हैं इसलिये कार्य हुआ-यह जीव-अजीव तत्व की भूल है। निमित्त-नैमितिक सम्बन्ध प्रथक् स्वतन्त्र नहीं मानने में तो दो के भिन्न अस्तित्व का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। जीव में भाव बंध होता है वह स्वतन्त्र है और द्रव्यबंध (कर्म का बंध) भी स्वतन्त्र है। भावबंध के कारण कर्म का बंध मानने में अजीव परतन्त्र हो जाता है। कर्म बंध कर्म के कारण होता है उसमें भावबंध निमित्त मात्र हैं-ऐसा नही मानने वाले के जीव-अजीव दोनो में भूल हैं। जब जीव स्वतन्त्रपने विकार करता है, तब कर्म कर्म के कारण बन्धता है, वह भी स्वतन्त्र है।

निमित्त का ज्ञान कराने के प्रयोजन से ऐसा कथन अवश्य किया जाता है कि जीव ने विकार किया इसलिये कर्म बंध हुआ; परन्तु इस कथन का आशय समझना चाहिये। आशय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वतन्त्र समझना चाहिये। जब कर्म का बंध कर्म के कारण होता है तब जीव का विकार निमित्तमात्र है-ऐसा समझना चाहिये। जिसे सच्ची प्रतीति हो उसे सच्चा ज्ञान होता ही है।

भाव बंध के कारण द्रव्यबंध मानने से द्रव्यबंध पराश्रित हो जाता है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, उसमें जीव का भाव निमित्तमात्र है और जीव में भावबंध स्वतन्त्र होता है उसमें कर्म निमित्तमात्र है- ऐसा समझना चाहिये। जो इस प्रकार स्वतन्त्रता को नहीं समझता उसके जीव-अजीव की भूल होती है। तदुपरांत वह आस्रवतत्व में क्या भूल करता है वह अब कहते हैं-

आस्रवतत्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं उन्हें तो हेय जानता है तथा अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दया, दानादि पुण्यास्रव हैं उन्हें अंगीकार करने योग्य मानता है।-यह भ्रान्ति है। पुण्य-पाप दोनो बंध के कारण हैं। यद्यपि साधकदशा में शुभ परिणाम आते हैं; परन्तु वे अंगीकार करने योग्य नहीं हैं। शुभभाव करते-करते सम्यग्दर्शन हो जायेगा-ऐसा मानने वाले को सात तत्वों की प्रतीति का पता नहीं है। पुण्य में उपादेयपना मानना ही मिथ्यादर्शन है।

ज्ञानी को पंच महाव्रत के परिणाम आये बिना नहीं रहते; परन्तु इस कारण वे उपादेय हैं-ऐसा नहीं है। पुण्यास्रव को उपादेय मानने वाले ने बंध को उपादेय माना-इस कारण वह मिथ्यादृष्टि है।

1. व्यवहार करना पड़ता है-ऐसा नहीं है। और
2. व्यवहार आये बिना रहता नहीं-इन दोनो मे बड़ा अन्तर है।

'व्यवहार करना पड़ता है'-इस मान्यता में (व्यवहार-पुण्यास्रव के प्रति) उपादेयपना आता है और 'व्यवहार आये बिना रहता नहीं'-इसमें हेयपना आता है। इसप्रकार दोनो बातों में अन्तर है, उसको अज्ञानी नहीं जानता इसलिये यह आस्रव तत्व के संदर्भ में उसकी भूल है।

'मोक्षशास्त्र' में सात तत्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है वह निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है, उसको अज्ञानी व्यवहार सम्यग्दर्शन की बात कहता है। अनादि काल से अज्ञानी ऐसी भूल करता है- इसकारण उसके मिथ्यादर्शन का अभाव नहीं होता।

श्री समयसार के बंध अधिकार में कहा है कि-

सर्व जीवों के जीवन-मरण होना, वह उनके स्वयं के आश्रित है। अपने जीवन-मरण दूसरे के आश्रित नहीं है। पर जीवों को मारना या बचाना क्या जीव के हाथ की बात है? नहीं। शरीर की क्रिया शरीर के कारण होती है, जीव निमित्तमात्र है। सभी जीवो के जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने-अपने कर्म के निमित्त से है। वह जीव अपने आयुकर्म के निमित्त से जीता है- यह भी व्यवहार कथन है। जीव अपनी स्वतन्त्र योग्यता से रहता है उसमें आयुकर्म निमित्त है; किन्तु अन्य जीव निमित्त नहीं है-ऐसा यहाँ बतलाना है। अज्ञानी जीव मानता है कि मैं हूँ इसलिये पर के जीवन-मरण, सुख-दुःख होते हैं, यह तो जीव-अजीव तत्व की भूल है। और दया, दानादि के परिणामों को उपादेय मानना आस्रव तत्व की भूल है। तथा सुख-दुःख के संयोग की प्राप्ति मे वेदनीय कर्म निमित्त है; उसमें अन्य जीव निमित्त नहीं है। जो सामग्री आती है वह अपने स्वयं के कारण आती है और उसमें निमित्त वेदनीय कर्म है। तथा जीव सुख-दुःख की कल्पना स्वतन्त्रपने करता है उसमें दर्शनमोहनीय कर्म निमित्त है। अन्य जीव अन्य जीव को सुख-दुःख नहीं दे सकता। मैं हूँ तो अन्य को निभाता हूँ-ऐसा मानकर अज्ञानी पर पदार्थ का कर्ता होता है; अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

मैं दूसरे को जिलाता हूँ, मैंने दूसरे को सुखी किया, उसकी क्षुधा-तृषा मिटाई-ऐसा अभिमान करता है-वह भ्रान्ति है। पर जीव को सुखी करने का अथवा जिलाने का अध्यवसान होता है वह तो पुण्य बंध का कारण है; इसलिये सन्तुष्ट होने योग्य नहीं है। अज्ञानी जीव पुण्य होने से प्रसन्न होता है कि 'पुण्य बंध' तो हुआ न! वह मिथ्यादृष्टि है और मारने व दुःखी करने का अध्यवसान हो वह पाप बंध के कारणरूप है।

सत्य बोलना, बिना आज्ञा वस्तु नहीं लेना, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करना-इत्यादि में शुभभाव है और उससे पुण्य बंध होता है। उसमें सन्तुष्ट होना महान भूल है। तत्वार्थ श्रद्धान से विरूद्ध श्रद्धा करने वाला निगोद का आराधक है।

यहाँ अज्ञानी 'मैंने शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन किया'-ऐसा मानकर शरीर की क्रिया का स्वामी होता है- यह जीव-अजीव तत्व में भूल है और उसमें होने वाले शुभ परिणाम से धर्म मानना आस्रव तत्व में भूल है।

अज्ञानी मानता है कि जीव को विकल्प आता है, इसलिये वस्त्र छूट जाते हैं, तो ऐसा नहीं है। वस्त्र छूटने का कार्य तो वस्त्र से हाता है। विकल्प के कारण वस्त्र का छूटना मानना जीव-अजीव तत्व में भूल है। परिग्रह न रखने का भाव शुभ है- पुण्य बंध का कारण है; उसको उपादेय मानना आस्रव तत्व में भूल है। पैसा रहना, असत्य वचन बोलना आदि तो जड़ की क्रिया है और पैसा रखने आदि के परिणाम पाप अव्यवसान है। उसमें पाप को हेय मानना और पुण्य को उपादेय मानना आस्रव तत्व में भूल है।

मैं सत्य बोल सकता हूँ, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन कर सकता हूँ-यह अज्ञान पूर्वक पुण्य बंध है। शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करना तो जड़ की क्रिया है, परिग्रह छुट जाना भी जड़ की क्रिया है और छोड़ने का भाव होना पुण्य बंध का कारण है। मैं झूठ बोला, मैंने चोरी की, मैंने शरीर से विषय सेवन किया-यह अज्ञान (मिथ्यात्व सहित) पाप बंध है। यह अनन्त संसार का कारणभूत अभिप्राय है। मैं पर को हैरान कर सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ-यह (मान्यता) मिथ्यात्व सहित पाप बंध का कारण है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि-दोनो को पुण्य-पाप का बंध होता है। मिथ्यादृष्टि को साता प्रकृति की स्थिति लम्बी बंधती है और सम्यग्दृष्टि के साता की स्थिति अल्प पड़ती है। मिथ्यादृष्टि को लम्बी स्थिति के कारण संसार परिभ्रमण का बहुत लाभ मिलता है।

आशय यह है कि इस प्रकार पुण्य-पाप दोनो भावों को हेयरूप मानना चाहिये। सत्यादि के भावों को भी अहिंसादि के भावों की तरह हेयरूप मानना चाहिये और

हिंसादि की भांति असत्यादि पाप बंध के कारण हैं (उन्हें भी हेय जानना चाहिये।) क्योंकि ये सब मिथ्याध्यवसाय हैं और त्याज्य हैं।

द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से पुण्य-पाप का कारण जीव द्रव्य है, दोनो का क्षेत्र एक है, और काल भी एक है; भाव मे अन्तर है।

जिसको आत्मा का भान नहीं है वह पुण्य को आदरणीय और पाप का छोड़ने योग्य मानता है, उसे आस्रव तत्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं होने से वह मिथ्यादृष्टि है।

....हिंसा में मारने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी द्वेषपरिणति से आप ही पाप बांधता है। अहिंसा रक्षा करने की बुद्धि हों, परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह जीता नहीं है, यह अपनी प्रशस्त रागपरिणति से आप ही पुण्य बांधता है। इस प्रकार यह दोनो हेय हैं; जहाँ वीतराग होकर दृष्टाज्ञातारूप प्रवर्ते वहाँ निर्बन्ध है सो उपादेय है।....

हिंसा में मारने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं। स्वयं ने मारने का द्वेष परिणाम किया वह पाप है। स्वयं ने अहिंसा का भाव किया, इसलिये जीव नहीं बचा है, अपनी आयु बिना वह नहीं जीता। अपने परिणाम से स्वयं ही पुण्य बंध करता है, वह धर्म नहीं है। पुण्य को आदरणीय मानना आस्रव तत्व में भूल है।

जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेंन्द्रिय तक के जीवों को मारने का भाव करता है उसको पाप बंध होता है और बचाने का भाव करता है उसको पुण्य बंध होता है; परन्तु आत्मा अन्य जीवों को मार या बचा नहीं सकता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं पर की रक्षा कर सकता हूँ-इससे उसको मिथ्यात्व सहित पुण्य बंधता है। इस प्रकार पुण्य-पाप दोनों भाव त्यागने योग्य है; क्योंकि वे आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है।

मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, मैं राग का भी कर्ता नहीं हूँ-ऐसा माने वहाँ निर्वंधता है और निर्बन्ध भाव उपादेय है।

....सो ऐसी दशा न हो तब तक प्रशस्तरागरूप प्रवर्तन करो; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्ध का कारण है, हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।....

अब पूर्ण वीतराग दशा न हो वहाँ तक प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करो-यह उपदेश का वचन है। वीतरागी दशा न हो, तब तक शुभराग उसके अपने कालक्रम में आता है- ऐसा जानो; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखों कि दया,दान,भक्ति, आदि बंध का कारण हैं, हेय है। यदि श्रद्धान में पुण्य को मोक्षमार्ग माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। जो निश्चय मोक्षमार्ग की साधना करता है उसके शुभराग को व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं; परन्तु निश्चय से वह बंधमार्ग है-ऐसा जानना चाहिये।

....तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये आस्रव के भेद हैं; उन्हें बाह्यरूप तो मानता है, परन्तु अंतरंग इन भावों की जाति को नहीं पहिचानता।

वहाँ अन्य देवादिके सेवनरूप गृहीतमिथ्यात्व को मिथ्यात्व जानता है, परन्तु अनादि अगृहीतमिथ्यात्व है उसे नहीं पहिचानता।

तथा बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा तथा इन्द्रिय-मन के विषयों में प्रवृत्ति उसको अविरति जानता है; हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवन में अभिलाषा मूल है उसका अवलोकन नहीं करता।

तथा बाह्य क्रोधादि करना उसको कषाय जानता है; अभिप्राय में राग-द्वेष बस रहे हैं उनको नही पहिचानता।

तथा बाह्य चेष्टा हो उसे योग जानता है, शक्तिभूत योगों को नहीं जानता।

इस प्रकार आस्रवों का स्वरूप अन्यथा जानता है।....

तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जो इसको नही जानता और बाहर से धर्म होना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। वह जीव आस्रव तत्व में कैसी भूल करता है यह यहाँ बताया जा रहा है। पाप को हेय मानना और पुण्य को उपोदय मानना आस्रव तत्व में भूल है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आस्रव के भेद हैं। उन्हें बाह्यरूप से तो मानता है; परन्तु अन्तरंग उन भावों की जाति को नही पहिचानता।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की बाह्य लक्षण से परीक्षा करना वह गृहीत मिथ्यात्व का त्याग है; किन्तु अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व को नही पहिचानता। ज्ञायक स्वरूप आत्मा की दृष्टि न होना और पुण्य-पाप पर दृष्टि होना वह अनादिकालीन मिथ्यात्व है, उसे नहीं पहिचानता। स्वस्वरूप की दृष्टि करके आस्रव को छोड़ना चाहिये, परन्तु इस भूल को दूर नही करता। दया, दानादि के परिणाम आस्रव हैं। उन पर दृष्टि पर्यायदृष्टि है वह धर्म नहीं है। अन्तर में राग को हितकर मानना मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व को नहीं पहिचानता।

तथा बाह्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा को अविरति जानता है। इन्द्रिय के विषयों की प्रवृत्ति को अविरति जानता है; परन्तु यह अविरति का स्वरूप नहीं है। जड़ की क्रिया घटी तो विषय घटे-ऐसा मानता है। स्त्री, लक्ष्मी के संसर्ग को अविरति मानता है। परन्तु हिंसा में प्रमाद परणति मूल है। उग्र प्रमाद होना अविरति है। नग्न होने से अव्रत छूट गये-ऐसा मानता है, यह भूल है। विषयों में आसक्ति का होना अव्रत है। अन्तर की आसक्ति छूटे नहीं और मानता हैं कि मैं व्रतधारी हूँ। शरीर द्वारा बाह्य इन्द्रिय विषयो में लीन न हो तो मानता है कि अव्रत छूट गया, यह अविरति में भूल है। जिसको स्वभाव के भान पूर्वक पर्याय में तीव्र प्रमादभाव का और विषयों की आसक्ति का त्याग नहीं हुआ और बाह्य में आसक्ति का त्याग मानता है वह अविरति रूप आस्रव तत्व में भूल है। ऐसी भूल वाले को सम्यग्दर्शन नहीं होता। श्रीमद्जी ने कहा किः-

लहा स्वरूप न वृत्ति का, गृहा वृत्त अभिमान।
ग्रहे नहिं परमार्थ को, लेने लौकिक मान।।

आत्मा के भान पूर्वक विशेष स्थिरता होना व्रत है-इसे अज्ञानी जीव नहीं पहिचानता; प्रमादभाव को नही पहिचानता; परन्तु बाहर के निमित्त छूटने से अव्रत छूटना मानता है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ-ऐसे भान पूर्वक स्वरूप में आंशिक लीनता होने पर अव्रत के परिणाम छूट जाते हैं और अव्रत के निमित्त भी स्वयं उनके कारण छूट जाते हैं-इस बात को वह नहीं जानता यह आस्रव तत्व में भूल है।

तथा बाह्य क्रोधादि करने को कषाय जानता है; परन्तु अभिप्राय का पता नहीं है। अनुकूल पदार्थ मिलने पर राग करना पड़ता है-यह कषाय का अभिप्राय है। अज्ञानी मानता है कि मैं विकल्प करता हूँ, इसलिये बाहर के पदार्थ आते हैं। इस प्रकार अभिप्राय में कषाय विद्यमान है इसलिये आस्रव तत्व की भूल है।

तथा आत्मा में योग (प्रदेश कंपन) की क्रिया होती है उसको अज्ञानी नहीं मानता। वह मानता है कि मैंने जड़ की क्रिया रोकी- इस कारण योग रुका ऐसा मानता है। मन-वचन-काय की क्रिया जड़ की है-इस बात का उसको पता नहीं है और मानता है कि शरीरादि की क्रिया रुकने से धर्म हुआ; परन्तु अन्तरंग में शक्तिभूत योगों को वह नहीं जानता। इस प्रकार वह आस्रवों का स्वरूप अन्यथा मानता है।

....तथा राग-द्वेष मोहरूप जो आस्रवभाव है, उनका तो नाश करने की चिन्ता नहीं और बाह्यक्रिया अथवा बाह्यनिमित्त मिटाने का उपाय रखता है; सो उनके मिटाने से आस्रव नहीं मिटता। द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा नहीं करता, हिंसा या विषयों में नही प्रवर्तता, क्रोधादि नहीं करता, मन-वचन-काय को रोकता है; तथापि उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रव पाये जाते हैं। तथा कपट से भी वे कार्य नहीं करता है, कपट से करे तो ग्रैवेयकपर्यंत कैसे पहुँचे? इसलिये जो अन्तरंग अभिप्राय में मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव है वे ही आस्रव है।

उन्हें नही पहिचानता इसलिये इसके आस्रवतत्वका भी सत्य श्रद्धान नहीं है।....

राग-द्वेष मोहरूप जो आस्रव भाव हैं उसे नष्ट करने की तो चिन्ता नहीं है और बाह्य क्रिया सुधारूँ-ऐसा वह मानता है। अनुकूल निमित्त प्राप्त करने और प्रतिकूल निमित्त को दूर करने का प्रयत्न रखता है। अज्ञानी मानता है कि-बाह्य क्रिया छोड़ो, भोजन छोड़ो, स्त्री छोडो, धन छोड़ो, कपड़े छोड़ो, बाह्य परिग्रह का प्रमाण करो तो धर्म होगा। वह बाह्य की क्रिया छूटने से प्रतिमा हुई मानता है; प्रतिमा बाहर से नहीं

आती। जिसके अन्तरंग परिणाम नही सुधरे हैं, जीव-अजीव का भेदज्ञान नहीं है, जीव की स्वतन्त्र क्रिया में अजीव-निमित्तमात्र है और अजीव की स्वतन्त्र क्रिया में जीव निमित्तमात्र है-ऐसी स्वतन्त्रता का पता नहीं हैं उसके प्रतिमा कहाँ से होगी?

कंचन-कामिनी और कुटुम्ब इन तीनों को छोड़ो तो धर्म होगा-ऐसा अज्ञानी कहता है। सो वे तो छूटे ही पड़े हैं। उन्हे मैं छोड़ता हूँ-यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आत्मा उनसे भिन्न और राग-द्वेष से रहित है। ऐसे आत्मा के भानपूर्वक जब राग छूटता है तो कंचन, कामिनी और कुटुम्ब का निमित्त भी छूटा-ऐसा कहा जाता है। अन्यथा तो निमित्त भी छूटा नहीं कहलाता है। स्वरूप में लीनता करना चारित्र है, बाह्य त्याग चारित्र नहीं है। अज्ञानी कहता है कि बाह्य वस्तु छोडने से अन्तरंग में राग छूटेगा, परन्तु यह बात मिथ्या है।

द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा नहीं करता। अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता है और प्राण जाने पर भी व्यवहार धर्म को नहीं छोड़ता है। वहाँ गृहीत मिथ्यात्व का त्याग है; परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग नहीं है।

वह बाह्य हिंसा बिलकूल नहीं करता, स्वयं के लिये बनाया हुआ आहार नहीं लेता, तब तो शुभपरिणाम होते हैं, परन्तु धर्म नहीं होता। वह झूठ नहीं बोलता, दया पालन करता है, विषय सेवन नहीं करता, क्रोधादिक नहीं करता, शरीर के खण्ड-खण्ड होने पर भी क्रोध नहीं करता-ऐसा उसका व्यवहार है; तथापि अन्तर मे आत्मा का भान नहीं है। इस कारण उसका अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता। उसके मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग-ये चारों आस्रव होते हैं। वह ऐसा मानता है कि मैं निमित्त हूँ तो जड़ की क्रिया होती है। उसे यथार्थ बात का पता नहीं है। दूसरे- यह कार्य वह कपट से भी नहीं करता । यदि कपट से करे तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे। नही पहुँच सकता। अन्तरंग मिथ्या अभिप्राय, राग-द्वेष की इष्टता आदि रागादि भाव ही आस्रव है। उसकी पहिचान नहीं होने से आस्रव तत्व की सच्ची श्रद्धा नहीं है।

बंध तत्व का अन्यथारूप

....तथा बन्धतत्व में जो अशुभभावों से नरकादिरूप पाप का बन्ध हो उसे तो बुरा जानता है और शुभभावों से देवादिरूप पुण्य का बन्ध हो उसे भला जानता है। परन्तु सभी जीवों का दुःख सामग्री में द्वेष और सुख-सामग्री में राग पाया जाता है, सो इसके भी राग-द्वेष करने का श्रद्धान हुआ। जैसा इस पर्याय सम्बन्धी सुख-दुख सामग्री में राग -द्वेष करना है वैसा ही आगामी पर्याय सम्बन्धी सुख-दुख सामग्री में राग-द्वेष करना है।

तथा शुभ-अशुभ भावों से पुण्य-पाप का विशेष तो अघातिकर्मो में होता है, परन्तु अघातिकर्म आत्मगुण के घातक नहीं है। तथा शुभ-अशुभभावों से घातिकर्मो का तो निरन्तर बन्ध होता है, वे सर्व पापरूप ही है, और वही आत्मगुण के घातक है। इसलिये अशुद्ध भावों से कर्मबन्ध होता है, उसमें भला-बुरा जानना वही मिथ्या श्रद्धान है।

सो ऐसे श्रद्धानसे बन्ध का भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।....

जो-हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभ भावों से नरकादिरूप पापबंध को बुरा जानता है और दया, दानादि के बंध को (शुभबंध को) भला जानता है वह मिथ्यादृष्टि है। ये (शुभाशुभ) दोनो बंध है। दोनो ही आत्मा का हित नहीं करते। मुझे दया, दानादि के भाव से पुण्य तो बंधा न! इस प्रकार हर्ष मानता है। दोनो बंधरूप होने पर भी पुण्य बंध को भला जानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

पुण्यबंध से अनुकूल सामग्री मिलती है, और पापबंध से प्रतिकूल सामग्री मिलती है; परन्तु उससे स्वभाव प्राप्त नहीं होता। पापबंध को बुरा जानकर द्वेष करता है। नरक की सामग्री में द्वेष करता है और पुण्यबंध से अच्छी सामग्री मिलेगी ऐसा मानकर राग करता है; परन्तु यह भ्रान्ति है। समवसरण का दर्शन मिला-इससे आत्मा को क्या लाभ है? पर वस्तु से लाभ-हानि नहीं है। स्वर्ग में जाकर फिर वहाँ से भगवान के पास जाऊँगा-तो वहाँ क्या मिला? समवसरण तो जड़ है, पर है। जीव वहाँ अनन्तबार गया है। पर सामग्री से स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। अज्ञानी जीव प्रतिकूल सामग्री

में द्वेष और अनूकूल सामग्री में राग करता है-यही मिथ्यात्व है। राग का अभिप्राय रहा-यही बंधतत्व की भूल है। उसकी तत्वार्थ श्रद्धा मिथ्या है। तत्वार्थ श्रद्धान के बिना सम्यग्दर्शन नहीं है और सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता। जैनदर्शन में गडबड़ नहीं चलती है। तत्व में अन्याय नहीं चलता है। अबंध स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से धर्म होता है। अज्ञानी जीव सोलहकारण भावना में राग करता है। अज्ञानी को तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता। ज्ञानी जीव राग का हेय मानता है और तीर्थंकर प्रकृति के बंध को भी हेय मानता है- ऐसे जीव में से किसी को कमजोरीवश शुभराग आवे तो तीर्थंकर प्रकृति बंध जाती है।

भक्ति में आता है कि भगवान! आपके पास से एक देव भेजो-इत्यादि यह सब निमित्त के कथन हैं। अज्ञानी जीव संयोग की भावना करता है। वह पाप के बंध को बुरा जानता है; क्योंकि उससे प्रतिकूल सामग्री मिलेगी और पुण्यबंध से अनुकूल सामग्री मिलेगी उसे अच्छी मानता है। यह बंध तत्व की भूल है।

पुण्य-पाप परिणामों से बंध होगा और सामग्री प्राप्त होगी, उसमें किसी सामग्री को अनुकूल अथवा प्रतिकूल मानना मिथ्यादर्शन शल्य है। यहाँ व्रत-तप करो तो स्वर्ग में जायेंगे और वहाँ भगवान के पास जायेगे और वहाँ चारित्र के प्रताप से सम्यग्दर्शन प्राप्त करेंगे-ऐसा अज्ञानी मानता है। उसकी दृष्टि संयोग पर है, स्वभाव पर दृष्टि नहीं है। अर्थात् उसे अपने आत्मा के पास नहीं आना है। बंध अहितकर है, पुण्य-पाप हेय है; संवर-निर्जरा हितकर है और मोक्ष परम हितकर है-ऐसी पहिचान नहीं होने वाला मिथ्यादृष्टि है। जो बंध तत्व में पुण्य से भला बंध होगा-ऐसा मानकर हर्ष करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ पण्डित टोडरमलजी कहते है कि पुण्य-पाप से सामग्री मिलती है। जबकि अभी वर्तमान के विद्वान कहते हैं कि सामग्री पुण्य-पाप से नहीं मिलती; तो यह भूल है। जैसे अच्छी हवा-पानी आदि अनुकूल सामग्री मिलने के समय जीव राग करता है और सर्प, जहर आदि प्रतिकूल सामग्री मिलने के समय द्वेष करता है; उसी प्रकार यह जीव, भविष्य में अनुकूल सामग्री मिलेगी-ऐसा मानकर राग करता है और प्रतिकूल

सामग्री मिलेगी-ऐसा मानकर द्वेष करता है। इस मान्यता में मिथ्यात्व का अभिप्राय है। जिस प्रकार इस शरीर सम्बन्धी सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करना हुआ, उसी प्रकार भविष्य में अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री के प्रति राग-द्वेष करना हुआ।

दया, दानादि, शुभ परिणाम से तथा हिंसादि अशुभ परिणाम से अघाति कर्मो में अन्तर पड़ता है। शुभ से साता और अशुभ से असाता का बंध होता है। शुभ से वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र में अन्तर पड़ता है, परन्तु ये अघाति कर्म कोई आत्म गुण के घातक नहीं है। शुभाशुभ भावों से घाति कर्मो का बंध तो निरंतर होता है जो कि सर्व पापरूप ही है। यहाँ सवाल कम ज्यादा बंध का नहीं हैं; भले ही पुण्य से घाति कर्मो में रस (अनुभाग) कम पड़े; परन्तु बंध तो निरंतर है। शुभभाव हो या अशुभभाव; परन्तु मिथ्यादृष्टि को ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय का बंध होता है। सम्यग्दृष्टि के भी शुभभाव के समय उनका बंध होता है वह सर्वपापरूप ही है और वही आत्म गुण के घातक हैं। यहाँ बताना यह है कि शुभभाव के समय भी बंध होता है।

(भाई!) बंध हानिकारक है और अबंध स्वभाव हितकारक है-यह समझे बिना जो पुण्य बंध को हितकारी मानता है वह बंध तत्व में भूल करता है।

यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का प्रकरण चल रहा है। जिसको 'मेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द है'-ऐसा भान नहीं है और देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा में सम्यग्दर्शन मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। उसको गृहीत मिथ्यात्व का तो त्याग है; परन्तु वह तत्वार्थश्रद्धान नहीं करता-इस कारण अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग नहीं है। तत्वार्थ श्रद्धान वस्तुतः निश्चय सम्यग्दर्शन है। जिसको अरहन्तादि के स्वरूप में बाह्य लक्षण से भी विपरीतता है उसको तो गृहीत मिथ्यात्व का त्याग भी नहीं है। जिसको जीवादि सातों तत्वों की यथार्थ श्रद्धा है उसके अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग है और वह निश्चय सम्यग्दृष्टि है। तत्वार्थश्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण है। वह लक्षण चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्ध में भी रहता है। यदि तत्वार्थश्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन होवे तो सिद्ध में वैसा व्यवहार नहीं होता है और वहाँ तत्वार्थश्रद्धान तो होता है, इसलिये

तत्वार्थश्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। इसी ग्रन्थ में कहा है कि-'इस प्रकार केवली-सिद्ध भगवान के भी तत्वार्थश्रद्धान लक्षण होता ही है, इसलिये इस लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं हैं।-(नौवाँ अधिकार)

तत्व अर्थात् भाव। जीव का भाव ज्ञायक है। व्यवहाररत्नत्रय (आस्रव-बंध तत्व) का भाव आत्मा के आनन्द को लूटना है-ऐसे भाव का भासन होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। जीव का ज्ञायक स्वभाव है। अजीव का स्वभाव जड़ है। पुण्य-पाप दोनो आस्रव हैं, हेय हैं। बंध अहितकारी है। संवर-निर्जरा हितरूप है और मोक्ष परम हितरूप है।-ऐसा भासन होना तत्वार्थश्रद्धान है।

मोक्षशास्त्र के पहले अधिकार के चौथे सूत्र में **"जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरा-मोक्षास्तत्वम्"** कहा है। वहाँ तत्वम्-एक वचन कहा है; इसलिये वहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है-राग रहित भाव की बात है। स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव एक में सात भाव का भासन राग रहित होना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

तथा तत्वार्थ सूत्र में सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज-ऐसे दो भेद बताये वे भेद व्यवहार (सम्यग्दर्शन) के नहीं हो सकते। अतः तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

देखो! यहाँ व्यवहाराभासी की बात चल रही है, जिसका व्यवहार खोटा है उसकी बात नहीं है। जो बाह्य से मुनि होने पर भी उद्देशिक आहार ले उसकी तो बात ही नहीं है। यहाँ तो व्यवहाराभासी जीव देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप बाह्य लक्षण से जानता है; परन्तु सात तत्वों में भूल करता है उसकी बात है।

मैं इच्छा करता हूँ तो शरीर चलता है-ऐसी मान्यता जीव और अजीवतत्व में भूल है। जीव की अपनी पर्याय अपने से होती है, उसमें अन्य पदार्थ निमित्त है और अजीव की क्रिया अजीव से होती है, उसमें जीव निमित्त है-ऐसा नहीं मानकर एक के कारण दूसरे में कार्य मानना जीव-अजीव तत्व सम्बन्धी भूल है। तथा निश्चय प्रगटे तो निमित्त को व्यवहार कहा जाता है। निमित्त होवे तो उपादान का कार्य होता है-ऐसा

मानने वाला अथवा व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है-ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। तथा पाप को हेय मानता है और पुण्य परिणाम को उपादेय मानता है यह आस्रव तत्व सम्बन्धी भूल है। तथा बंध में पुण्यबंध को भला और पापबंध को बुरा जानना बंधतत्व सम्बन्धी भूल है। बंध का एक ही प्रकार होने पर भी उसमें अन्तर किया-यह बंधतत्व के भाव का भासन नहीं है। वह अगृहीत मिथ्यादृष्टि है।

पुण्य करूँगा तो (अनुकूल) सामग्री मिलेगी-ऐसी भावना करने वाले को संयोग की भावना है। शुभभाव से अनुकूल और अशुभभाव से प्रतिकूल सामग्री मिलती है। सभी जीव अनुकूल सामग्री में राग और प्रतिकूल सामग्री में द्वेष करतें हैं, तो इस जीव में क्या अन्तर पड़ा? 'अनुकूल सामग्री में राग और प्रतिकूल सामग्री में द्वेष करना'-यही राग-द्वेष करने का श्रद्धान हुआ। जैसा इस पर्याय सम्बन्धी सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करना हुआ; वैसा ही भावी पर्याय सम्बन्धी भी सुख-दुख सामग्री में राग-द्वेष करना हुआ।

शुभभाव के कारण अघातिकर्मो में अन्तर पड़ता है और अघाति से बाह्य सामग्री मिलती है। उच्च गोत्र मिले, यशकीर्ति नामकर्म का उदय हो-इत्यादि संयोगो में अन्तर पड़ता है, परन्तु स्वभाव में अन्तर नहीं पड़ता। इस बात के परिज्ञान बिना उसको यथार्थ तत्वार्थ श्रद्धान नहीं है, अतः उसके अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग नहीं है। शुभाशुभभावों सें घातिकर्मो का बंध निरंतर पड़ता है। अबंध स्वभाव हितकर है और बंधभाव हितकर नहीं है-ऐसा अज्ञानी नहीं मानता है। घाति कर्म आत्मस्वभाव के घातने में निमित्त है। शुभपरिणाम से संयोगो में अन्तर पड़ता है; परन्तु शुभ से घाति कर्म तो निरन्तर बंधते है। शुभ से अच्छा बंध (पुण्य बंध) होगा-ऐसा मानकर उसे हितरूप मानना भूल है।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी अहितकर है-ऐसा समझना चाहिये। जिस भाव से अहित होता है वह भाव आस्रव है और हेय है; इसलिये बंध अहितकर है-ऐसा जानना चाहिये। तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता। जिस परिणाम से तीर्थंकर

नामकर्म प्रकृति बंधती है वह जीव के स्वयं के लिये हेय है और अहितकर है, तो फिर अन्य के लिये हितकर कैसे हो सकती है? अज्ञानी जीव तीर्थंकर पुण्य प्रकृति से लाभ मानता है और उससे बहुत जीव तिरेंगे ऐसा मानता है वह भूल है। जीव स्वयं अपने कारण-पुरुषार्थ से तिरते हैं तो तीर्थंकर की वाणी को निमित्त कहा जाता है-ऐसा वह नहीं जानता।

देखो, आस्रव तत्व की भूल मे शुभ-अशुभ परिणामों की बात थी, यहाँ शुभाशुभ परिणामों से पड़ने वाले बंध की बात है। शुभाशुभ भाव के कारण कर्म बंध होता है। उसमें एक को ठीक मानना और दूसरे को अठीक मानना बंध तत्व की भूल है।

मिथ्यादृष्टि को शुभभाव के कारण पुण्य की लम्बी स्थिति बंधती है, तो भी उसके फल में लम्बे काल तक सामग्री रहती है-ऐसा नहीं है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि ने पुण्य बंध को भला माना है इसलिये शुभभाव बदल जाते हैं और वह पाप के परिणाम करता है-इस कारण उस स्थिति को तोड़ देता है, इसलिये पुण्यबंध में लम्बे काल सामग्री रहती है-ऐसा नहीं है।

इसप्रकार शुभाशुभ भावो द्वारा कर्म बंध होता है उसे भला-बुरा जानना ही मिथ्याश्रद्धान है और ऐसे श्रद्धान से उसको बंधतत्व का भी सही श्रद्धान नहीं है।

संवरतत्व का अन्यथारूप

....तथा संवरतत्व में अहिंसारूप शुभास्रवभावोंको संवर जानता है। परन्तु एक ही कारण से पुण्यबन्ध भी माने और संवर भी माने वह नहीं हो सकता।....

पर जीव को नहीं मारने का भाव, ब्रह्मचर्य पालन का भाव, सत्य बोलने का भाव इत्यादि भाव आस्रव हैं। अज्ञानी इन भावों को संवर अथवा संवर का कारण मानता है। संवर अविकारी भाव है और आस्रव विकार है। अविकार का कारण विकार कैसे हो सकता है? अतः ऐसा मानने वाले की मूल में भूल है।

यहाँ तत्वार्थ श्रद्धान की भूल बताते हैं। तत्वार्थ अर्थात् तत्व+अर्थ। अर्थ में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनो आ जाते हैं। तत्व अर्थात भाव। द्रव्य का भाव, गुण का भाव, पर्याय का भाव-इस प्रकार तीनो का भावभासन होना सम्यग्दर्शन है। सात तत्वों में जीव और अजीव द्रव्य हैं और आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष-ये पर्यायें हैं। इनके भाव का भासन होना चाहिये। तथा द्रव्यास्रव, द्रव्यबंध, द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा, द्रव्यमोक्ष-ये अजीव की पर्यायें हैं। इनका भी भावभासन होना चाहिये। इसप्रकार द्रव्य-गुण और पर्याय के भाव का भासन होना सम्यग्दर्शन है।

अहिंसा परम धर्म है। राग रहित शुद्ध दशा-महाव्रतादि के परिणामों से भी रहित दशा वह अहिंसा है, वह संवर है। महाव्रतादि के परिणाम आस्रव है संवर नहीं।

तत्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के पहले सूत्र में उपशमभाव को पहले लिया है-इस कारण तत्वश्रद्धान सम्यग्दर्शन में निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है। पारिणामिकभाव द्रव्य है और उपशम, क्षयोपशम, औदायिक तथा क्षायिकभाव पर्याय है। वह जीव का स्वतत्व है। इस सूत्र में सर्वप्रथम उपशमभाव लिया है, क्योंकि जिसको उपशमभाव प्रगट होता है वह अन्य भावों को यथार्थ जान सकता है। जिसको उपशमभाव प्रगट नहीं है वह औदायिकभाव को भी यथार्थ नहीं जान सकता है।

अज्ञानी जीव संवर तत्व में भूल करता है। व्रत प्रतिमा आदि के परिणाम आस्रव है, संवर नहीं। आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है। उसके आधार से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। आस्रव से संवर प्रगट नहीं होता है। तथा जीव के आश्रय से संवर प्रगट होता है- यह कहना भी सापेक्ष है। प्रथम निरपेक्ष निर्णय करना चाहिये। सातों तत्वों के भाव स्वतन्त्र है। जीव जीव से है, संवर संवर से है-इस प्रकार सातों स्वतन्त्र है यह निर्णय करने के पश्चात् जीव के आश्रय से संवर प्रगट होता है- ऐसा सापेक्ष कहा जाता है।

शुभाशुभ-दोनो परिणाम अशुद्ध हैं। आत्मा के आधार से होने वाले परिणाम शुद्ध हैं। अज्ञानी अहिंसादिरूप शुभभावों से संवर मानता है यह संवर तत्व में भूल है। कारण कि एक ही कारण से पुण्य बंध भी माने तथा संवर भी माने-ऐसा नहीं होता। पंच महाव्रत पालो, ब्रह्मचर्य पालो, सत्य बोलो, परिग्रह छोड़ो तो संवर हो जायेगा-ऐसा

अज्ञानी मानता है; परन्तु यह तो पुण्यभाव है-आस्रवभाव है। दया,दान,व्रतादि के परिणाम से पुण्यबंध भी हो और उन्हीं से संवर भी हो-ऐसा नहीं होता।

....प्रश्नः- मुनियों के एक काल में एक भाव होता है, वहाँ उनके बन्ध भी होता है और संवर निर्जरा भी होते हैं, सो किस प्रकार है?

समाधानः- वह भाव मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है, कुछ सराग रहा है। जो अंश वीतराग हुए उनसे संवर है और जो अंश सराग रहे उनसे बन्ध है। सो एक भावसे दो कार्य बनते है, परन्तु एक प्रशस्तराग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभाव में भी यह सरागता है, यह वीतरागता है-ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि ही के होती है, इसलिये अवशेष सरागता को हेयरूप श्रद्धा करता है। मिथ्यादृष्टि के ऐसी पहिचान नहीं है, इसलिये सरागभावमें संवर के भ्रम से प्रशस्तरागरूप कार्यो को उपादेयरूप श्रद्धा करता है।....

प्रश्नः- मुनि के एक ही काल में यह भाव होता है वहाँ उनको बंध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है वह किस प्रकार है?

सामाधानः- वह भाव मिश्ररूप है। चिदानन्द आत्मा के आश्रय से जो वीतरागी दशा हो वह संवर है और जितना राग शेष है वह आस्रव है। जो अकषाय परिणति होती है वह वीतरागीभाव है और वह यथार्थ मुनिपना है। जितना राग शेष है वह व्यवहार है, बंध का कारण है। यदि (उस भूमिका में) व्यवहार सर्वथा ही न हो तो केवलज्ञान होना चाहिये और यदि उस व्यवहार से लाभ माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। साधकजीव को आंशिक शुद्धता और आंशिक अशुद्धता है। वह शुभराग को हेय मानता है। पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण मुनि को अट्ठाईस मूलगुणों के परिणाम होते है; उनसे किंचित बंध है अवश्य; परन्तु वह संसार (अनन्त संसार) का कारण नहीं है। उनको जितना वीतरागभाव प्रगट हुआ उतनी शान्ति है और (जितने) व्रतादि के शुभभाव हैं उतनी अशान्ति है। इस प्रकार एक राग से ही पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना भ्रम है।

कोई प्रश्न करता है कि ऐसा शुभभाव लाना या नहीं?

समाधानः- क्या (तू) राग को बदल सकता है? चारित्रगुण की क्रमबद्ध पर्याय जो होने वाली है वह होती है। उसे किसप्रकार बदल सकते हैं? ज्ञानी को शुभराग बदलने की दृष्टि नहीं, किन्तु अपने स्वभाव में एकाग्रता की भावना है।

उमास्वामी तत्वार्थ श्रद्धान कहते हैं। वह सात तत्वों के भाव-भासन बिना करे तो उपाशम,क्षयोपशम अथवा क्षायिक (सम्यक्त्व) नहीं होता है।

पंचास्तिकाय शास्त्र की जयसेनाचार्य कृत टीका (गाथा173) में तत्वार्थ सूत्र को द्रव्यानुयोग के शास्त्र के रूप में गिना है और द्रव्यानुयोग में द्रव्य-गुण-पर्याय इन तीनों की व्याख्या आती है।

यहाँ जिसको तत्वार्थ का यथार्थ भाव-भासन नहीं है उसकी बात चलती है। मिथ्यादृष्टि को भाव का भासन नहीं है। उसको नाम निक्षेप से अथवा आगम द्रव्य निक्षेप से तत्वश्रद्धा कहलाती है। वह आगम से धारणा कर लेता है; परन्तु उसे अपने भाव का भासन नहीं है इस कारण सच्ची श्रद्धा नहीं है। यह बात यहाँ नहीं है यहाँ तो निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है।

यहाँ संवर तत्व सम्बन्धी भूल बताते हैं। एक क्षण में जो मिश्रभाव होता है उसमें दो कार्य तो बनते हैं; परन्तु महाव्रतादि के परिणाम, जो आस्रव-बंध हैं, उनसे संवर-निर्जरा मानना भ्रम है। अन्तर मे निर्विकल्प शान्ति और आनन्द प्रगट हो वह संवर है। तथापि जिस प्रशस्त राग के भाव से आस्रव होता है उसी से संवर-निर्जरा भी होती है-ऐसा मानना संवर तत्व में भूल है।

अनादि से निश्चयाभासी जीव अपनी पर्याय में होने वाले विकार को नहीं मानता। वह अपने को एकांत शुद्ध ही मानता है वह मिथ्यादृष्टि है तथा जिसको आत्मा के शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि नहीं है और वर्तमान दया दानादि के शुभभाव को ही धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा में पंचमहाव्रत, भक्ति आदि के परिणाम होते है वह शुभराग है। वह आस्रव है। उस राग को आस्रव भी मानना और उसे ही संवर भी मानना-यह भ्रम है। एक शुभराग है वही एक आस्रव का व दूसरे संवर का-दोनो का कारण कैसे हो सकता है? वस्तुतः मिश्रभाव का ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होता है। सम्यग्दृष्टि को भी जो राग है वह धर्म नहीं है। राग रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है वही धर्म है। मैं ज्ञायक हूँ-ऐसे स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से जितना वीतरागभाव हुआ वह संवर-धर्म है और उसी समय जो राग है वह आस्रव है। एक ही समय में ऐसे मिश्ररूप दो भाव हैं। धर्मी जीव इन दोनो को भिन्न-भिन्न पहिचानता है। पहले व्यवहार और पीछे निश्चय-ऐसा नहीं है। व्यवहार का शुभराग तो आस्रव है। आस्रव संवर का कारण कैसे हो सकता है? पहले व्यवहार हो, फिर वह व्यवहार करते-करते निश्चय होता है-ऐसी दृष्टि तो सनातन जैन परम्परा से भिन्न पड़कर श्वेताम्बर निकले उनकी है। कोई दिगम्बर परम्परा में रहकर भी ऐसा मानता है कि राग करते-करते धर्म होगा, व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, तो ऐसी मान्यता वाले भी श्वेताम्बरवत् अभिप्राय वाले हैं। उनको दिगम्बर जैनधर्म का पता नहीं है।

जिसने राग का आदर किया है कि-राग करते-करते सम्यग्दर्शन हो जायेगा, पहले व्यवहार की क्रिया सुधारों फिर धर्म होगा, तो ऐसा मानने वाले ने दिगम्बर जैन शास्त्र को अथवा मुनियों को नहीं माना है। अपने को दिगम्बर जैन कहलाये; परन्तु जैनधर्म क्या है-इसका पता नहीं है, तो वह जीव व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु एकसमय में सामान्य शक्ति का भण्डार है और विशेषरूप पर्याय है। उसमें अभेदरूप सामान्य की दृष्टि करे तो पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं; परन्तु उस अभेद का आश्रय तो नहीं करता और व्यवहार करते-करते उसके आश्रय से कल्याण मानता है, तो वह व्यवहारमूढ मिथ्यादृष्टि है। जहाँ स्वभाव की दृष्टि करके निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान प्रगट हुआ वहाँ जो राग अवशेष रहता है उसको उपचार से व्यवहार कहते हैं; परन्तु धर्मी की दृष्टि में उसका आदर नहीं है।

आत्मा पर्यायदृष्टि से राग से अभिन्न है और त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि से आत्मा राग से भिन्न ज्ञायक स्वरूप है। ***वहाँ त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि करके राग को हेय जाना तब राग को व्यवहार कहा जाता है।***

अज्ञानी अकेले शुभराग से ही धर्म मानता है। वह तो सरागभाव से ही धर्म मानकर उसी का आदर करता है-यह भ्रम है। वह मिथ्यादृष्टि जीव शुभ में प्रवर्तता है और उसको धर्म मानता है; परन्तु वह व्यवहाराभासी है। भाई! निश्चय धर्म की खबर बिना राग में व्यवहार धर्म का आरोप भी कहाँ से होगा? निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? वह तो व्यवहाराभास है।

....तथा सिद्धान्त में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र-इनके द्वारा संवर होता है ऐसा कहा है, सो इनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता।

किस प्रकार ? सो कहते हैं:-

गुप्तिः- बाह्य मन-वचन-काय की चेष्टा मिटाये, पाप-चितवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे, उसे वह गुप्ति मानता है । सो यहाँ तो मन में भक्ति आदिरूप प्रशस्तराग से नानाविकल्प होते हैं, वचन-कायकी चेष्टा स्वयं ने रोक रखी है; वहाँ शुभप्रवृत्ति है, और प्रवृत्ति में गुप्तिपना बनता नहीं है; इसलिये वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।....

तथा सिद्धान्त मे गुप्ति, समिति धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र इनको संवर कहते हैं; परन्तु अज्ञानी उनके स्वरूप को नहीं समझता है। निश्चय स्वरूप के अवलम्बन बिना गुप्ति, समिति आदि सच्चे नहीं होते हैं।

1. गुप्तिः- मन में पाप चिन्तवन नहीं करे और शुभराग रखे, वचन से मौन रखे और काया से हलन-चलन आदि न करे-ऐसी मन-वचन-काय की क्रिया को अज्ञानी जीव गुप्ति मानता है और उसे वह संवर मानता है। परन्तु मौन तो जड़ की क्रिया है, शरीर स्थिर रहे वह भी जड़ की क्रिया है तथा अन्दर पाप चिन्तवन नहीं किया वह शुभराग है। इनमें वस्तुतः संवर नहीं है; परन्तु स्वभाव की दृष्टि होने के

पश्चात शुभाशुभ विकल्प रहित वीतरागभाव प्रगट होता है वह वास्तविक गुप्ति और संवर है। वहाँ शरीर स्थिर हो, और वाणी की क्रिया में मौन आदि हो उसे उपचार से कायगुप्ति और वचनगुप्ति कहते हैं। एकेन्द्रिय के तो सदा मौन ही है, परन्तु उसके कोई गुप्ति नहीं कही जाती है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगटे बिना शुभराग करे तो वह भी गुप्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो वीतरागभाव है। वहाँ मन-वचन-काया का अवलम्बन नहीं है। स्वाध्याय आदि का विकल्प भी नहीं है-ऐसा जो वीतरागभाव वही गुप्ति है और वही संवर-निर्जरा का कारण है। कषाय का कण भी मेरे स्वभाव की वस्तु नहीं है-ऐसी दृष्टि होने पर जो वीतरागभाव हुआ वह निश्चय गुप्ति है और जहाँ ऐसी निश्चय गुप्ति प्रगट हुई हो वहाँ शुभराग को व्यवहार गुप्ति कहा जाता है; परन्तु व्यवहार गुप्ति वास्तव में संवर नही है; व्यवहार गुप्ति तो आस्रव है। निश्चय गुप्ति मे वीतरागभाव है वही संवर है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात ही संवर-निर्जरा होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना संवर-निर्जरा नहीं होती है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही समिति-गुप्ति आदि धर्म मुनियों को होते हैं। वह संवर-निर्जरा है। तथा समिति-गुप्ति आदि जितने मुनि के धर्म है वे समस्त धर्म अंशतः सम्यग्दृष्टि श्रावकों को भी होते हैं और श्रावक को भी उतने अंश मे संवर निर्जरा है।

....समितिः- तथा परजीवों की रक्षा के अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति को समिति मानता हैं। सो हिंसा के परिणामों से तो पाप होता है और रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबन्ध का कारण कोन ठहरेगा? तथा एषणासमिति में दोष टालता है वहाँ रक्षा का प्रयोजन है नही; इसलिये रक्षा ही के अर्थ समिति नहीं है।

तो समिति कैसी होती है? मुनियों के किंचित् राग होने पर गमनादिक्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अतिआसक्तता के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती। तथा अन्य जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इसलिये स्वयमेव ही दया पलती है। इस प्रकार सच्ची समिति है।...

2. समितिः- मैं परजीवों की रक्षा करूँ-ऐसी बुद्धि से प्रवर्तता है और उस रक्षा के शुभ परिणाम को ही संवर मानता है वह भी अज्ञानी है। तू परजीव की हिंसा के परिणाम को पाप कहता है और रक्षा के परिणाम को संवर कहता है, तो फिर पुण्य बंध किससे होगा? अतः पर की रक्षा के शुभ परिणाम संवर नहीं हैं; परन्तु शुभास्रव है। जीव पर की रक्षा तो कर ही नहीं सकता और पर की रक्षा का परिणाम होता है वह भी आस्रव है, संवर नहीं हैं। वीतरागभाव द्वारा अपने चैतन्य प्राण की रक्षा करना निश्चय संवर-निर्जरा है और वहाँ पर प्राणी की रक्षा का भाव व्यवहार संयम कहलाता है। श्रावक को भी आंशिक समिति-गुप्ति आदि होती हैं। जितने मुनि के धर्म हैं वे सभी श्रावकों को भी एकदेश उपासने योग्य हैं; परन्तु श्रावक किसको कहना? जिसको पहले आत्मा के स्वभाव का भान है और स्वभाव के अवलम्बन से अंशतः राग टालकर वीतरागी अकषायी शान्ति प्रगट हुई हैं उतने अंश में संवर-निर्जरा आदि धर्म है वह श्रावक है। सम्यग्दर्शन और पंचम गुणस्थान के बिना श्रावक नहीं कहलाता है।

श्रावक धर्म में ग्यारह प्रतिमा स्थूलरूप भेद है। उनमें एक-एक प्रतिमा मे भी अनेक प्रकार के सूक्ष्म परिणाम होते हैं।

मुनि को छठवें गुणस्थान में शुभभाव आता है, वहाँ समिति में पर की रक्षा का अभिप्राय नहीं; परन्तु उस प्रकार की हिंसा का प्रमाद भाव ही नहीं होता है इतना वीतरागभाव हो गया है- इसका नाम समिति है । मुनि को गमन-विहारादि का शुभभाव होने पर उसमें अति आसक्तिभाव नहीं हैं। अर्थात् प्रमाद की परणति नहीं है। इस कारण वह समिति हैं। उसमे स्वभाव के अवलम्बन से वीतराग भाव हुआ वह निश्चय समिति है और उसको तत्वार्थ सूत्र मे संवर कहा है। तथा अट्ठाईस मूलगुणादि में समिति कही वह व्यवहार समिति है। वह तो पुण्यरूप है, वह संवर नहीं है। अज्ञानी तो व्यवहार समिति को ही धर्म मानता है अतः वह व्यवहाराभासी है।

अट्ठाईस मूलगुणों में समागत समिति को संवर कहने (मानने) वाला अज्ञानी है। तत्वार्थसूत्र में जिस समिति को संवर का कारण कहा है; वह समिति अलग और अट्ठाईस मूलगुणों मे समाहित समिति अलग है। तत्वार्थसूत्र में अट्ठाईस मूलगुणों मे समागत समिति को संवर नहीं कहा है; परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से प्रगट हुई मुनियों की वीतराग परिणतिरूप निश्चय समिति को ही संवर का कारण कहा है। इसप्रकार दोनो प्रकार जुदे हैं। जो इसे नही समझकर व्यवहार समिति को ही संवर मानता है उसको संवर तत्व का पता नहीं है। शुभराग मुनिपना नहीं है, अन्तर में वीतरागभाव हुआ है वह मुनिपना है। वहाँ शुभराग रहा वह व्यवहार समिति है- आस्रव है।

भाई! तत्व की यथार्थ समझ के बिना अकेला सम्प्रदाय के नाम से कोई तिर नहीं जाता है। अतः समझ करके यथार्थ निर्णय करना चाहिये।

छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि चलते हों-प्रमाद भाव न हो और कोई नीम का सूक्ष्म पत्ता आ जाये, वृक्ष पर से जीव जन्तु शरीर पर पड़कर गर्मी से मर जाये वहाँ मुनि को कोई दोष नहीं है; क्योंकि उनकी परिणति में प्रमाद नहीं है। अपनी परिणति में प्रमाद होवे तो दोष है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि देखकर चलने का शुभभाव भी वास्तव में संवर नही है। देखकर चले, प्रमाद न करे और कोई जीव भी नही मरे; तथापि उस शुभराग से धर्म माने तो उस जीव को संवर तत्व के स्वरूप का पता नहीं है।

आत्मा की तीव्र शान्ति में प्रमाद का भाव न होने देना वह सच्ची समिति है। इसको अज्ञानी नहीं जानता। इस कारण उसको संवर तत्व का भान नही है। मुनि भिक्षा-आहार के लिए गये हों वहाँ अग्नि की ज्वाला देखलें तो आहार की इच्छा को तोड़ देते हैं और वापस आ जाते है। वहाँ वे अग्नि के जीवों की रक्षा के लिए वैसा नहीं करते; परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से तीव्र प्रमाद नही होने देने का भाव उनको होता है और वह समिति है। जिनको तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होकर अपूर्व शान्ति प्रगट हुई है उन मुनिराज की बात तो अपूर्व और अद्भुत है। अभी तो व्यवहार द्रव्यलिंग का ठिकाना भी नहीं दिखता तो भावलिंग तो कहाँ है? (द्रव्यलिंगी को)

आगमानुसार द्रव्यलिंग की क्रिया होती है; तथापि संवरादि का यथार्थ भान नहीं है। इस कारण उनको यथार्थ समिति नही होती है।

....धर्मः- तथा बन्धादिक के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे-कोई राजादिक के भय से अथवा महंतपने के लोभ से परस्त्री का सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहते। वैसे ही यह क्रोधादिक का त्यागी नहीं है। तो कैसे त्यागी होता है? पदार्थ अनिष्ट-इष्ट भासित होने से क्रोधादिक होते हैं; जब तत्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते हैं; तब सच्चा धर्म होता है।....

स्वर्ग मोक्ष की इच्छा से अथवा नरकादि के भय से क्रोधादि न करे और मंद राग रखे; परन्तु इससे कोई धर्म नही होता; क्योंकि उसे यह पता नही है कि कषाय क्या है और स्वभाव क्या है? जैसे कोई लौकिक में प्रतिष्ठा के लिये पर स्त्री का सेवन न करे, राजा के भय से चोरी न करे इससे कोई उसे व्रतधारी नहीं कहते हैं; क्योंकि कषाय करने का अभिप्राय तो छूटा नही है। जिसको पुण्य की प्रीति है उसको कषाय का ही अभिप्राय पड़ा है। जिस जीव को ज्ञायकस्वभाव का अनादर है और राग का आदर है उस जीव के अभिप्राय में अनन्तानुबंधी क्रोध पड़ा है वह धर्मी नहीं है। जिसको ज्ञायकस्वभाव का भान नही है और पर पदार्थ को इष्ट-अनिष्ट मानता है उस जीव के राग-द्वेष का अभिप्राय नहीं छूटा है। भगवान पंचपरमेष्ठी इष्ट और कर्म अनिष्ट है-ऐसी जिसकी बुद्धि है वह भी अज्ञानी है। मैं तो ज्ञान हूँ और समस्त पर द्रव्य मेरे ज्ञेय हैं; उनमें कोई मुझे इष्ट-अनिष्ट नही है-ऐसा भान होने के पश्चात धर्मी को शुभराग होने पर भगवान को बहुमान आता है-वहाँ पर में इष्ट बुद्धि नहीं है और राग का आदर नही है। राग पर के कारण नहीं होता। जब तत्वज्ञान के अभ्यास से पर पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित नहीं होते तब राग का अभिप्राय नहीं रहता।

यहाँ यह कहा है कि तत्वज्ञान के अभ्यास से पर पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित नही होते। मात्र आत्मज्ञान से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मिटती है-ऐसा नही कहकर सात तत्वों को यथार्थरूप से जाने तो अपना शुद्ध स्वरूप उपादेय माने और पर से उदासीन होवे। यह अनित्यादि भावना मोक्षमार्ग में गिनी है। शरीर, स्त्री, परिवार, धनादि अवश्य हैं; परन्तु उनमें कोई इष्ट-अनिष्ट नहीं है। सात तत्वों की सम्यक् श्रद्धा होने पर शुद्धात्मा का प्रतिभास होने पर पर-पदार्थो में इष्ट-अनिष्टपना भासित नहीं होता और राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती-यह धर्म है।

मुझे सर्वज्ञ भगवान इष्ट है। वे हैं इसलिये मुझे उनके प्रति बहुमान आता है-ऐसा मानने वाले ने पर पदार्थ को इष्ट माना है। उसको तत्व का पता नही है! कोई कहता है कि मीराबाई ने जहर का प्याला अमृत मानकर पिया; अतः उनको पर पदार्थो में इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं थी; परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है; क्योंकि उसे तो तत्व का पता ही नही था। तत्वज्ञान पूर्वक पर पदार्थ में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि न होवे तो स्वयं ही क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते हैं।

कोई कहता है कि आत्मा में धर्म प्रगट होता है तो बाहर में प्रभाव पड़ता है; तो यह बात भी सत्य नहीं है। गजकुमार मुनि को धर्म प्रगट था तो भी शरीर का नाश होगया। जिसको आत्मा में धर्म हुआ हो उसके समीप में वैरभाव नहीं होता-यह तो व्यवहार का कथन है; परन्तु सिद्धान्त ऐसा नहीं है। धर्मी को प्रतिकूल संयोग होते ही नहीं-ऐसा नहीं है। सनतकुमार चक्रवर्ती तद्भव मोक्षगामी थे; परन्तु उनके शरीर में सात सौ वर्षो तक गलित कोढ़ रहा था। धर्मी को बाहर में अनुकूलता ही रहे-ऐसा धर्म का स्वरूप नहीं है।

कोई ऐसा कहता है कि एक धर्मी जीव परदेश में रहता था। उसका पन्द्रह वर्ष का पुत्र देश में मर गया।-ऐसा किसी ने उसकी परीक्षा करने के लिए कहा। तब धर्मी ने कहा कि मेरा पुत्र नहीं मर सकता। देखो, ऐसी धर्मी की दृढ़ता थी। तो यह बात एकदम मिथ्या है। धर्मी के कारण उसके पुत्र की आयु बढ़ जाए-ऐसा है ही नहीं। किसी के कारण किसी अन्य की स्थिति नहीं होती। धर्मी को भी सर्प आदि काट लेते

हैं और उनका शरीर छूट जाता है। धर्मी को पर के साथ कोई सम्बन्ध नही है। धर्मी को बाहर में अनुकूलता ही होवे-ऐसा कोई नियम नहीं है।

धर्मी गरीब और अधर्मी करोड़पति हो सकता है। धर्मी को शरीर में रोग और अधर्मी को शरीर में निरोगता हो सकती है। अर्थात् बाहर की स्थितियों के साथ कुछ सम्बन्ध नही है। कोई पर पदार्थ इष्ट अथवा अनिष्ट है ही नहीं-ऐसा तत्वज्ञानी जानता है और इसी कारण उसके स्वतः क्रोधादि नहीं होते। यह उत्तम क्षमादि दस धर्मो की व्याख्या है और यही संवर है। यह पर पदार्थ इष्ट अथवा अनिष्ट है-ऐसी बुद्धि पूर्वक कषाय की मंदता करने वाले को धर्म अथवा संवर नहीं होता है, मात्र पुण्यबंध होता है। जिसको यह तथ्य ज्ञात नहीं है उसको सात तत्वों की श्रद्धा व्यवहार से भी नही है।

पाँच-पन्द्रह मनुष्य शहीद हो जायें तो देश का उद्धार हो जाता है-यह अज्ञानी की मान्यता है। वह धर्म को नहीं समझता है। जैन नाम धराकर भी जो पर पदार्थ को इष्ट-अनिष्ट मानता है अथवा कषाय की मंदता में धर्म मानता है उसको दस लक्षण धर्म का पता नही है।

प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है। उसकी पर्याय उसके कारण से स्व काल में होती है। अन्य के कारण उस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता है। एक का दूसरे पर प्रभाव मानने वाले को तत्वज्ञान का पता नही है। तत्वज्ञानी को पर पदार्थ में इष्ट-अनिष्टपना भासित नहीं होता वह धर्म है।

कोई त्यागी नाम धराता हो अथवा लौकिक नेता नाम धराता हो, परन्तु वे तत्व ज्ञान के बिना पर पदार्थो को इष्ट-अनिष्ट मानते होने से एक ही जाति के अज्ञानी हैं। मेरे कारण देश को लाभ होगा और मेरे कारण जीवों की रक्षा होगी-यह समस्त पर में इष्ट-अनिष्ट मानने की बुद्धि है। ऐसा जीव भूखा रहे, जेल में जाये, उपवास करे; परन्तु उसको धर्म नहीं होता। वस्तुतः अज्ञानी धर्म के स्वरूप को नहीं जानता। इस प्रकार जिसको समिति, गुप्ति, और धर्म के स्वरूप का भान नहीं है उसको संवर तत्व का पता नहीं है।

....अनुप्रेक्षाः- तथा अनित्यादि चिंतवन से शरीरादि को बुरा जान, हितकारी न जानकर उनसे उदास होना; उसका नाम अनुप्रेक्षा कहता है। सो यह तो जैसे कोई मित्र था तब उससे राग था और पश्चात् उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ; उसी प्रकार शरीरादिकसे राग था, पश्चात् उसके अवगुण अवलोककर उदासीन हुआ; परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। अपना और शरीरादिक का जहाँ-जैसा स्वभाव है वैसा पहिचानकर, भ्रम को मिटाकर, भला जानकर, राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करना; ऐसी सच्ची उदासीनता के अर्थ यथार्थ अनित्यत्वादिक का चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।....

शरीरादि में अशुचि, अनित्यादि चिन्तवन से उसे बुरा-अहितकर जानकर उससे उदास होने को वह अनुप्रेक्षा कहता है; परन्तु यह तो द्वेष बुद्धि है। स्त्री-पुत्रादि स्वार्थ के सगे है; लक्ष्मी (धन) पाप उत्पन्न करती है ऐसा मानकर उनसे द्वेष करता है। तो क्या परद्रव्य तेरा बुरा करते हैं ? नहीं करते। यह तो उनके प्रति द्वेष भाव हुआ। जिस प्रकार पहले कोई मित्र से राग करता था फिर उसके दोष देखकर द्वेषरूप उदास हो गया; उसी प्रकार पहले शरीरादि से राग था, फिर उन्हें अनित्यादि जानकर उनसे उदास होकर उनके प्रति द्वेष करने लगा। वस्तुतः यह कोई सच्ची अनुप्रेक्षा नहीं है।

एक उपदेशक कहते थे कि राग के कारणरूप स्त्री-धनादिक पर ऐसा द्वेष करो कि उनक प्रति रंचमात्र भी राग नहीं रहे। तो क्या पर वस्तु के कारण से राग-द्वेष-मोह होते हैं ? क्या पर वस्तु का त्याग-ग्रहण किया जा सकता है ? तत्वज्ञान पूर्वक ज्ञातामात्र स्वभाव में स्थिर दशा होने से सहज ही परवस्तु के राग का त्याग हो जाता है और परवस्तु स्वयं स्वतः छूट जाती हैं। अज्ञानी को कर्ताबुद्धि का मोह है। वस्तुतः प्रतिसमय भूमिकानुसार होने वाले राग को भी छोड़ा नहीं जा सकता। आत्मा तो मात्र ज्ञाता रह सकता है।-अज्ञानी को इस बात का परिज्ञान नही होने से वह मैं पर वस्तु को छोड़ूँ और पर संयोग से दूर रहूँ तो शान्ति प्राप्त होगी-ऐसा मानता है; परन्तु अपने ज्ञानानन्द स्वरूप का और शरीरादि का जो स्वभाव है उसे जानकर भ्रम छोड़कर किसी पर को भला-बुरा न मानकर मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहने का नाम सच्ची उदासीनता है।

निश्चय तत्वश्रद्धान पूर्वक स्वसन्मुख होकर यथार्थ ज्ञातपने में जितनी एकाग्रता बढ़ती है उसका नाम संवर-निर्जरा का कारण सच्ची अनुप्रेक्षा है और उस दशा में रहा हुआ शुभराग व्यवहार अनुप्रेक्षा है जो कि आस्रव है।

....परीषहजयः- तथा क्षुधादिक होनेपर उनके नाशका उपाय नहीं करना; उसे परीषह सहना कहता है। सो उपाय तो नहीं किया और अंतरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेपर दुःखी हुआ, रति आदिका कारण मिलने पर सुखी हुआ; तो वे दुःख-सुखरूप परिणाम हैं, वही आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान हैं। ऐसे भावों से संवर कैसे हो? इसलिये दुःख का कारण मिलने पर दुःखी न हो और सुख का कारण मिलने पर सुखी न हो, ज्ञेयरूप से उनका जानने वाला ही रहे; वही सच्चा परीषहसहन है।....

क्षुधादि होने पर उनके नाश का उपाय नहीं करना, आहारादि नही लेना-उसको वह परीषहजय मानता है। क्योंकि संयोगी दृष्टि तो है और अन्तर में क्षुधादिक को अनिष्ट मानकर दुःखी हुआ है, वह तो अशुभभाव है; किन्तु कभी शुभभाव होवे तो भी धर्म नहीं है।

कोई कहता है कि प्रथम परीषह सम्बन्धी प्रतिकूलता का विकल्प आवे और फिर दूसरे समय राग को जीत ले वह परीषहजय है, तो यह बात मिथ्या है; क्योंकि विकल्प तो राग है, आस्रव है; वह परीषहजयरूप संवर नही है। क्षुधा, तृषा, रोगादि को मिटाने का उपाय नहीं करना परीषहजय नही है; क्योंकि उसमें तो शुभराग की उत्पत्ति है। मुनिराज नग्न रहते हैं वह परीषहजय है-ऐसा भी नहीं है; परन्तु तत्वज्ञान पूर्वक स्वाश्रय से बल से राग की उत्पत्ति नहीं होना परीषहजय है। ज्ञातामात्ररूप से स्वरूप में स्थिर रहने का नाम संवर है-परीषहजयरूप धर्म है।

आत्मानुशासन शास्त्र में कहा है कि अज्ञानी त्यागी हो और उसके बाह्य सामग्री का अभाव वर्त रहा हो, वह तो अन्तराय के कारण है। तात्पर्य यह है कि अन्तरंग ज्ञान-वैराग्य के बिना उपचार से भी धर्म नहीं है। जिसको अनुकूल संयोगो की रुचि है उसको उसी समय प्रतिकूल संयोगों के प्रति के प्रति द्वेष है। इसी प्रकार उपवासादि

में दुःख मानता है उसे रति के कारण मिलने से उनमें सुख बुद्धि है ही। यह तो पर से सुख-दुःखरूप परिणाम हैं और यही आर्त्तरौद्रध्यान है, इनसे संवररूप धर्म नही होता; परन्तु पर की अपेक्षा रहित मात्र ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और लीनता द्वारा स्वसन्मुख ज्ञाता रहे और किसी को अनुकूल-प्रतिकूल नहीं माने यही सच्चा परीषहजय है। अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के प्राप्त होने पर भी अपने सहज ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सर्वत्र ज्ञाता-दृष्टा रहने से जितनी अपनी वीतरागदशा होती है उतने अंश मे धर्म है। शुभराग तो पुण्यास्रव है।

....चारित्रः- तथा हिंसादि सावद्ययोग के त्याग को चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादिरूप शुभयोग को उपादेयपने से ग्राह्य मानता है। परन्तु तत्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हों? तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है; इसलिये महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना संभव नहीं होता; सकल कषायरहित जो उदासीनभाव उसीका नाम चारित्र है।

जो चारित्रमोह के देशघाती स्पर्द्धकोंके उदय से महामन्द प्रशस्तराग होता है, वह चारित्र का मल है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नही करते, सावद्ययोग का ही त्याग करते हैं। परन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि बहुत दोषवाली हरितकाय का त्याग करता है, और कितनी ही हरितकार्योंका भक्षण करता है; परन्तु उसे धर्म नहीं मानता; उसी प्रकार मुनि हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करते हैं, और कितने ही मन्द कषायरूप महाव्रतादिका पालन करते हैं; परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो चारित्र के तेरह भेदों में महाव्रतादि कैसे कहे हैं?

समाधानः- वह व्यवहार चारित्र कहा है, और व्यवहार नाम उपचार का है। सो महाव्रतादि होने पर ही वीतरागचारित्र होता है-ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रतादि में चारित्र का उपचार किया है; निश्चय से निःकषायभाव है, वही सच्चा चारित्र है।

इस प्रकार संवर के कारणों को अन्यथा जानते हुए संवर का सच्चा श्रद्धानी नहीं होता।....

अज्ञानी हिंसादि सावद्ययोग के त्याग को चारित्र मानता है; परन्तु हिंसा, आरंभ, समारंभ बाह्य में नही अपितु जीव के अरूपी विकारभाव में आरंभ, हिंसादिरूप भाव होते हैं। बाह्य त्याग दिखता है इसलिये हिंसारूप आरंभ से छूट गया है।-ऐसा नहीं है।

अट्ठाईस मूलगुण तथा महाव्रतादि के पालनरूप शुभोपयोग शुभास्रव है, वह धर्म नहीं है। अज्ञानी उस व्रत-तपादि के शुभराग को उपादेय मानता है, हितकारी-सहायक मानता है; परन्तु वह चारित्र नहीं है। चरणानुयोग की अपेक्षा से भी अज्ञानी के व्यवहार-त्याग नहीं कहा जा सकता। आत्मा के तत्वज्ञान पूर्वक अकषाय शान्ति की वृद्धि होती है वह संवररूप धर्म है और वहाँ अव्रतादिक के राग का त्याग होने पर व्यवहार से बाह्य त्याग कहलाता है; किन्तु मात्र बाह्य वस्तु का त्याग धर्म नही है। राग का त्याग किया-ऐसा कहना भी नाममात्र है-उपचार से है; क्योंकि ज्ञाता स्वभाव तो राग के भी अभावस्वरूप है। आत्मा आत्मा में स्थिर हो वही सच्चा प्रत्याख्यान है। व्रतादि का शुभराग है वह आस्रव है। वह आस्रव तो बंध का साधक है और चारित्र तो वीतराग भावरूप होने से मोक्ष का साधक है। इसलिये इन महाव्रतादिरूप शुभभाव को चारित्रपना संभव नहीं है। अज्ञानी के व्रत तो उपचार से-व्यवहार से भी व्रत नहीं कहलाते हैं।

निश्चय सम्यग्दर्शन पूर्वक जितना स्वसन्मुख वीतरागभाव होता है उतना चारित्र है और मुनिदशा में होने वाला महाव्रतादि का शुभराग वस्तुतः चारित्र नहीं; किन्तु चारित्र का मल है-दोष है। यद्यपि मुनिराज उसे छूटता नहीं जानकर उसका त्याग नहीं करते, और अव्रतादि अशुभराग का त्याग करते हैं; तथापि उस शुभराग को धर्म नहीं मानते।

जिस प्रकार कोई बहुत दोष युक्त कंदमूलादि हरितकाय का तो त्याग करता है और किसी हरितकाय का सेवन करता है; परन्तु उसको धर्म नहीं मानता। उसी प्रकार

मुनिराज हिंसादि तीव्र कषायभावरूप अव्रत का त्याग करते हैं और अकषाय दृष्टि व स्थिरता पूर्वक मन्द कषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं; परन्तु व्रतादि आस्रव को मोक्षमार्ग नहीं मानते हैं।

अट्ठाईस मूलगुणों के परिणाम चारित्र में भेद में नहीं आते; कारण कि अट्ठाईस मूलगुणों के परिणाम तो बंध के साधक हैं और आत्मा की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जो रमणता (चारित्र) है वह मोक्ष का साधक है।

जो जैन नाम धराकर जैन से विरूद्ध प्ररूपणा करता है अथवा लेख लिखता है उसको जैन नहीं कहते।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा के यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान पूर्वक स्वरूप में लीनता होने को वीतरागी चारित्र कहते हैं और वह मोक्ष का कारण है। सर्व कषाय रहित उदासीन भाव का नाम चारित्र है।

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते मुनिराज को आत्मरमणता होती है वह चारित्र है। वहाँ भी मुनि को चारित्रमोह के उदय से महामंद कषायरूप प्रशस्त राग होता है वह चारित्र में दोष है-ऐसा ज्ञानी जानता है। वह जानता है कि अभी मुझको यथाख्यात चारित्र प्रगट नहीं हुआ होने से सर्वथा शुभराग छूटा नहीं है। जिस प्रकार ज्ञानी कंदमूल लहसून, आलू आदि बहुत दोष वाली हरितकाय को छोड़ देता है तथा लौकी, तिरोई आदि हरितकाय को खाता है; परन्तु उसको धर्म नहीं मानता। उसी प्रकार मुनिराज हिंसादिरूप तीव्र कषायभाव का त्याग करते हैं और अहिंसा आदि मंदकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं; परन्तु वे उसको मोक्षमार्ग नहीं मानते।

देखो! यहाँ कंदमूल आदि में बहुत दोष कहा है और प्रत्येक वनस्पति में अल्पदोष कहा है। इसी प्रकार हिंसादि में अधिक और अहिंसादि में अल्प दोष है। कोई कहे कि वह तो परद्रव्य है, इसलिये परस्त्री के विषय में और स्वस्त्री के विषय में समान दोष है, तो ऐसा नहीं है। पुण्य-पाप में व्यवहार से अन्तर है। एक में तीव्र कषाय है, एक में मंद कषाय है; परन्तु इनमें से एक भी धर्म नहीं है-ऐसा ज्ञानी जानता है।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो चारित्र के तेरह भेदों में उन महाव्रतादिक का वर्णन क्यों किया है।

समाधानः- वहाँ उन्हें व्यवहार चारित्र कहा है। व्यवहार चारित्र उपचार का नाम है। मुनिदशा में अकषाय रूप आनन्द होता है और विकल्प के समय पंच महाव्रत के परिणाम आते हैं- ऐसा निमित्तरूप सम्बन्ध जानकर महाव्रत में चारित्र का उपचार करते हैं। चारित्र साक्षात मोक्षमार्ग है और सम्यग्दर्शन परम्परा मोक्षमार्ग है। तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं और आत्मा में प्रगट होने वाली अकषायरूप शान्ति चारित्र है। जिसको वह चारित्र प्रगट हुआ है ऐसे मुनि के पांच महाव्रतों को उपचार से चारित्र कहा है। निश्चय से निष्कषाय भाव ही चारित्र है-ऐसा समझना

निर्जरा तत्व का अन्यथारूप

....तथा यह अनशनादि तप से निर्जरा मानता है; परन्तु केवल बाह्य तप ही करने से तो निर्जरा होती नहीं है। बाह्यतप तो शुद्धोपयोग बढ़ाने के अर्थ करते हैं। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है, इसलिये उपचार से तप को भी निर्जरा का कारण कहा है। यदि बाह्य दुःख सहना ही निर्जरा का कारण हो तो तिर्यंचादि भी भूख-तृषादि सहते हैं।....

अब अज्ञानी की निर्जरातत्व के सम्बन्ध में होने वाली भूल बताते हैं।

वह उपवास, वृत्ति संक्षेप आदि से निर्जरा मानता है; परन्तु ये सब तो बाह्य तप हैं। इनमें कषाय की मंदता करे तो पुण्य है। शुद्ध आत्मा का भान होने के पश्चात् उसमें अन्तरलीनता करना निर्जरा है। बाह्यतप तो शुद्धोपयोग बढ़ाने के लिये किये जाते हैं। इसका यह अर्थ है कि-स्वयं ज्ञानस्वभावी है-ऐसी दृष्टि पूर्वक लीनता करने से पूर्व उपवासादि का शुभभाव निमित्तरूप होता है; इसलिये शुद्धोपयोग के बढ़ाने के लिये बाह्य तप किया जाता है- ऐसा कहते हैं। जिसको उपवासादि में अरुचि हो उसकी बात नहीं है। स्वभाव में लीन होने पर बाह्य तपरूपी निमित्त से भी लक्ष्य हट गया-इस कारण बाह्य तप पर उपचार आता है। स्वभाव मे लीनता करने पर सहज ही इच्छा का अभाव हो जाता है। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभाव है-ऐसे निश्चय पूर्वक लीनता करने

पर शुभ उपयोग छूट जाता है। शुद्धता में अपना स्वभाव कारण होता है; तो शुभ का अभाव कारण है-ऐसा उपचार किया जाता है। सम्यग्दर्शन के समय अंशतः शुद्ध उपयोग हुआ है, विशेष लीनता होने पर शुद्ध उपयोग बढ़ता है। जिसको सम्यग्दर्शन-सम्यक् अनुभूति तथा आंशिक आनन्द प्रगट नही हुआ है उसके शुभभाव पर तो उपचार भी संभव नहीं है।

अज्ञानी जीव कहता है कि उपवास करो! प्रतिमा धारण करो! परन्तु भाई! सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् विशेष शुद्धता के लिये प्रयोग वह प्रतिमा है। प्रतिमा कोई बाह्य चीज नही है। जब अन्तर में शुद्ध उपयोग होने पर इच्छा टूट जाती है तब बाह्य तप पर आरोप आता है। अज्ञानी जीव आत्मा के भान बिना अनेक तप करता है; परन्तु उसके निर्जरा नहीं होती। मैं यह करूँ और यह छोड़ूँ-यह भाव मिथ्या है। वस्तु स्वभाव में-भगवान आत्मा में ऐसा विकल्प नही है।

समयसार कलश 62 वें में कहा है कि

आत्माज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करें ? राग को करे अथवा छोड़े- यह भी ज्ञान का स्वभाव नहीं है। क्या ज्ञान आहार का ग्रहण-त्याग कर सकता है ? नहीं। आत्मा में तो जानने की क्रिया है। (ऐसे आत्मस्वरूप का) निर्णय होने के पश्चात् लीनता होना निर्जरा का कारण है।

पुण्य परिणाम निर्जरा का कारण नहीं; परन्तु अन्तर शुद्धोपयोगरूप रमणता निर्जरा है। जिसको ऐसी निर्जरा होती है उसके अनशनादि बाह्य तप को भी निर्जरा कहा जाता है।

आशय यह है कि ज्ञानी जीव के बाह्यतप को उपचार से निर्जरा का कारण कहते हैं; परन्तु यदि बाह्य दुःख सहन करना ही निर्जरा का कारण हो तब तो पशु इत्यादि बहुत भूख-प्यास सहन करते हैं, इसलिये उनके बहुत निर्जरा होनी चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये बाह्य दुःख सहन करना निर्जरा का कारण नहीं है।

....तब वह कहता है-वे तो पराधीनता से सहते हैं; स्वाधीनता से धर्मबुद्धिपूर्वक उपवासादिरूप तप करे उसको निर्जरा होती है।

समाधानः- धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि तो किये; और वहाँ उपयोग अशुभ, शुभ, शुद्धरूप जैसा परिणमित हो वैसा परिणमों। यदि बहुत उपवासादि करने से बहुत निर्जरा हो, थोड़े करने से थोड़ी निर्जरा हो-ऐसा नियम ठहरे; तब तो उपवासादिक ही मुख्य निर्जरा का कारण ठहरेगा; सो तो बनता नही। परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादिक से निर्जरा होना कैसे संभव है?

यदि ऐसा कहें कि जैसा अशुभ, शुभ, शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो उसके अनुसार बन्ध-निर्जरा है; तो उपवासादि तप मुख्य निर्जरा का कारण कैसे रहा? अशुभ-शुभपरिणाम बन्ध के कारण ठहरे, शुद्धपरिणाम निर्जरा के कारण ठहरे।....

प्रश्नः- ढोर इत्यादि तो पराधीनता से सहन करते हैं; किन्तु स्वाधीनता पूर्वक धर्म बुद्धि से तप करे तो निर्जरा होती है अथवा नहीं? हमें अन्न-जल अच्छी तरह से मिलने पर भी हम त्याग करदें तब तो निर्जरा होगी न?

समाधानः- धर्मबुद्धि से अर्थात् शुभभाव से बाह्य उपवासादि तो करे; परन्तु वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ अथवा शुद्धरूप जैसा परिणमता है वैसा परिणमों। वहाँ अशुभ परिणाम हो तो पाप होता है, शुभ परिणाम हो तो पुण्य होता है और शुद्ध परिणाम हो तो धर्म होता है। (किन्तु) अज्ञानी जीव को परिणामों का पता नहीं है। 24 घन्टे अथवा 48 घन्टे आहार नहीं लिया इस कारण शुभपरिणाम हुए- ऐसा नहीं है। बाह्य पदार्थ के साथ परिणामों का सम्बन्ध नहीं है। यदि अपनी प्रशंसा अथवा मानादि के लिए उपवास करता है तो वे अशुभ परिणाम हैं। उसको कषायमंदता नहीं होने से पाप होता है। स्वयं तपादि करे और उद्यापन के अवसर पर सगे-सम्बन्धी नहीं आवे तो अन्दर में खेद होता है- यह सब अशुभभाव है। साधु नाम धराकर प्रशंसा के लिये उपवास करना पाप है। बाह्य उपवास से निर्जरा नहीं है। यदि वहाँ शुभभाव करे तो पुण्य बंधता है। लाभ-अलाभ अपने ही परिणामों से है, बाहर से नहीं। किसी ने आठ

उपवास किये हों और अन्दर में मान के परिणाम हो तो उसको पाप होता है। 'हमने इतने उपवास किये, फिर भी कोई हमारी तरफ नहीं देखता'- इत्यादि परिणामों से पाप बंध होता है। यदि बहुत उपवास करने से बहुत निर्जरा और थोड़े उपवास करने से थोड़ी निर्जरा होने का नियम हो, तब तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवास सिद्ध हो; परन्तु ऐसा तो नहीं होता। कारण कि दुष्ट परिणाम होने पर उपवास आदि करने पर भी निर्जरा कैसे संभव है? इसलिये जैसा शुभ-अशुभ और शुद्ध उपयोग परिणमित होता है तदनुसार ही बंध और निर्जरा होती है।

शुभ-अशुभ से बंध है और शुद्ध से अबंधदशा होती है। इसलिये उपवासादि तप निर्जरा के कारण नहीं रहे; बल्कि शुभ-अशुभ राग बंध का और शुद्ध परिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ।

देखो! यह मुद्दे की बात है । कोई 'बरसीतप' करता है। अर्थात् बारह महीनें तक अकेले उपवास करता है और उसमें मानादि का भाव हो, कषाय की मंदता नहीं करे तो उस बरसीतप में भी पाप होता है। कारण कि धर्म का मुख्य आधार परिणाम है, उपवासादि तप मुख्य आधार नहीं है। 'अरे! हम तीन-तीन दिन के उपवास करके बैठे हैं, फिर भी कोई सामने देखता नहीं है'- ऐसे परिणाम करता है वे दुष्ट परिणाम हैं। उसको निर्जरा तो होती ही नहीं; परन्तु अकेला पाप बंधन होता है। ऐसे आत्मा को अधर्म का लाभ होता है, परन्तु धर्म का लाभ किंचित् भी नहीं होता। कोई जीव भगवान की प्रतिमा के सामने खड़ा होकर विनय-भक्ति कर रहा हो; परन्तु अन्दर में ऐसे परिणाम हो कि यह देखकर कोई भोजन के लिये निवेदन करने आयेगा, तो वह पाप भाव है। कोई चार घन्टे तक भगवान की भक्ति तो करता है; परन्तु शास्त्र-अध्ययन में समय नहीं लगाता, तो उसको समझने की चीज में विवेक नही है। उसको अच्छे शुभभाव नहीं होते, तो फिर निर्जरा तो कैसे हो सकती है? नहीं ही होती।

पुण्य-पाप के परिणाम बंध के कारण हैं और शुद्ध परिणाम से निर्जरा होती है। बाह्य आचरण की मुख्यता नहीं है, बल्कि जैसे परिणाम करे उस अनुसार

बंध-अबंधदशा होती है। बारह प्रकार के तप जो कि बाह्य क्रिया है उसके अनुसार निर्जरा अथवा बंध नहीं है।

किसी ने बहुत वर्षों तक शास्त्र का अभ्यास किया हो; परन्तु जरा भी निर्णय का ठिकाना न हो, तत्वादिक का कुछ पता न हो तो उसको शास्त्राभ्यास से कुछ लाभ नहीं होता। शास्त्र श्रवण के समय कषाय की मंदता तो करे, परन्तु सच्चा क्या और झूठा क्या- इसका निर्णय नहीं करे तो उसको शास्त्राध्ययन से निर्जरा का लाभ नहीं होता। शरीर, कर्म आदि पर है और आत्मा में होने वाले पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा का स्वभाव नहीं है।- इस प्रकार सबको भिन्न-भिन्न न जानकर अनेक को एकरूप मानने वाले को तत्वार्थ श्रद्धान का लाभ नहीं होता। जो जीव सात तत्वों को प्रथक्-प्रथक्रूप से नहीं जानता उसको भेदाज्ञानरूपी धर्म नहीं होता। देखो! जिसको इस यथार्थ वस्तु की रुचि हुई हो और यही करने योग्य है- ऐसा जो मानता हो उसको यह भावना तो होती है कि सभी जीव इस बात को स्वीकार करें, परन्तु ऐसी भावना नहीं होती कि यदि यह बात लड़का सुनेगा तो धंधा चोपट हो जायेगा अतः वह न सुने तो ठीक। प्रथक्-प्रथक् तत्व की यथार्थ श्रद्धा होने पर जैसे अपने को होने वाले शुभाशुभ भाव हितकर नहीं है ऐसा जाना, उसी प्रकार अन्य को होने वाले शुभाशुभभाव उसको भी हितकर नहीं है- ऐसा जानता है और मानता है; परन्तु लड़का शुभाशुभभाव करे तो ठीक है- ऐसा वह नहीं मानता। अभी लड़के के लिये धर्म श्रवण नहीं है। हम तो अब व्यापार कर नहीं सकते, इसलिये यह तो हमारा काम है, परन्तु उसका काम नहीं- ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। जिसने शुभाशुभ परिणाम को अहितकर माना है उसको ऐसा परिणाम नहीं होता। यदि ऐसा भाव आता हो तो उसको सात तत्वों की सच्ची श्रद्धा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य-पाप और निर्जरा का आधार अपने परिणामों पर है, बाह्य क्रिया पर नहीं। इसलिये तेरे पुण्य-पाप परिणाम से धर्म होता है- ऐसा मत मानना। पुण्य-पाप का संसर्ग नहीं करना निर्जरा है। अहो भगवान! तू शान्त हो जा! ऐसा भान हो जाना चाहिये कि जैसे मेरे परिणाम में शुभाशुभभाव होने से मुझको लाभ

नहीं है, तो अन्य को भी इन परिणामों से लाभ नहीं हो सकता। तथा अन्य के पुण्य-पाप के कारण मुझको लाभ नुकसान नहीं है और मेरे पुण्य-पाप से अन्य को लाभ-नुकसान नहीं है।

कोई ऐसा कहता है कि मरते समय ऐसा निर्णय करूँगा-भेदज्ञान मृत्यु के समय करूँगा। 'यह ठीक है'- ऐसा जिसने माना है, उसको वर्तमान में 'यह ठीक है'- ऐसा माने बिना 'मरते समय यह भेदज्ञान करने योग्य है' -यह बात नहीं रहती।

तात्पर्य यह है कि शुद्धि की वृद्धि (निर्जरा) का कारण शुद्ध उपयोगरूप भेदज्ञान है, बाह्य क्रिया शुद्धि का कारण नहीं है।

....प्रश्नः- तत्वार्थसूत्र में "तपसा निर्जरा च" (६-३) ऐसा कैसे कहा है?

समाधानः- शास्त्रमें "इच्छानिरोधस्तपः" ऐसा कहा है; इच्छा को रोकना उसका नाम तप है। सो शुभ-अशुभ इच्छा मिटने पर उपयोग शद्ध हो वहाँ निर्जरा है। इसलिये तप से निर्जरा कहीं है।....

प्रश्न :- तो फिर तत्वार्थसूत्र में 'तपसा निर्जरा च'- ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर :- शास्त्र में 'इच्छा निरोधस्तपः' कहा है। शुभ और अशुभ दोनो इच्छाओं का नाश करना तप है। इच्छा को रोकने का नाम तप है- वस्तुतः तो यह भी उपदेश का वचन है। क्या जो इच्छा होती है उसे रोका जा सकता है? (नहीं।) परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव में लीन होने पर इच्छा ही उत्पन्न नहीं हुई- इसे इच्छा का रोकना कहा जाता है। पहली पर्याय में इच्छा थी, स्वभाव में लीनता होने से दूसरी पर्याय में वह उत्पन्न नहीं हुई यह निर्जरा है। इसीलिये तप से निर्जरा होना कही है।

आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है, उसमें राग है ही नहीं- ऐसा भान किये बिना इच्छा का अभाव नहीं होता। शुभ और अशुभ दोनो इच्छायें हैं। आहार करने की इच्छा और आहार न करने की इच्छा- दोनो का निरोध तप है। आत्मा की समझ बिना इच्छा का अभाव होता ही नहीं। पुण्य-पाप के परिणाम रहित ज्ञानानन्द चैतन्य मूर्ति के आश्रय से शुभाशुभ विकार को नहीं होने देने का नाम 'इच्छा निरोधस्तपः है।

आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण है और पुण्य-पाप के परिणामों से शून्य है- ऐसा जाने तो विकार रहित हो। आत्मा इच्छा रहित तो हो सकता है; परन्तु कभी ज्ञान से रहित नहीं हो सकता; कारण कि ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है। वह ज्ञान शास्त्र में से नहीं आता। कोई जीव शास्त्राभ्यास करके हजारों लोगों के समक्ष जैनतत्वज्ञान पर भाषण करे; परन्तु आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, वह ज्ञान पर में से नहीं आता; इस बात का निर्णय नहीं किया होवे तो उसको मात्र शास्त्राभ्यास से कुछ लाभ नहीं होता।

उपवास, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्यायादि का विकल्प शुभ इच्छा है, इसमें अशुभ इच्छा मिटी वह कोई धर्म नहीं है। शुभाशुभ दोनो इच्छाओं के मिटने पर उपयोग शुद्ध होता है वह निर्जरा है। भगवान की विनय का भाव भी बंध का कारण है, उस इच्छा के भी मिटने पर धर्म होता है।

देखों! यह निर्जरा तत्व की बात चलती है। जिसको एक तत्व में भूल है उसको सातों तत्वों में भूल है। जो इस बात को समझने का प्रयत्न तो नहीं करता और बाह्य क्रिया करने से लाभ होगा- ऐसा मानता है, तो उसको निर्जरा नहीं होती।

त्रिकाल शुद्ध चिदानन्द आत्मा के आश्रय से पुण्य-पाप के परिणाम नहीं रहे- इस कारण शुभराग की इच्छा नहीं रहने से निर्जरा हुई तब बाह्य क्रिया के निमित्त से निर्जरा हुई ऐसा कहा जाता है। इसीलिये तप द्वारा निर्जरा हुई- ऐसा कहा है।

....यहाँ कहता है- आहारादिरूप अशुभ की तो इच्छा दूर होने पर ही तप होता है; परन्तु उपवासादिक व प्रायश्चितादिक शुभ कार्य हैं इनकी इच्छा तो रहती है?

समाधानः- ज्ञानीजनों के उपवासादि की इच्छा नहीं है, एक शुद्धोपयोग की इच्छा है; उपवासादि करने से शुद्धोपयोग बढ़ता है, इसलिये उपवासादि करते हैं। तथा यदि उपवासादिक से शरीर या परिणामों की शिथिलता के कारण शुद्धोपयोग को शिथिल होता जानें तो वहाँ आहारादिक ग्रहण करते हैं। यदि

उपवासादिकही से सिद्धि हो तो अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी। परन्तु जैसे परिणाम हुए वैसे बाह्य साधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोग का अभ्यास किया।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो अनशनादिक को तप संज्ञा कैसे हुई?

समाधानः- उन्हें बाह्य तप कहा है। सो बाह्यका अर्थ यह है कि बाहर से औरोंको दिखायी दे कि यह तपस्वी हैं; परन्तु फल तो जैसे अंतरंग परिणाम होंगे वैसा ही पायेगा, क्योंकि परिणामशून्य शरीर की क्रिया फलदाता नहीं है।

यहाँ फिर प्रश्न है कि शास्त्र में तो अकाम-निर्जरा कही है। वहाँ बिना इच्छा के भूख-प्यास आदि सहने से निर्जरा होती है; तो फिर उपवासादि द्वारा कष्ट सहने से कैसे निर्जरा न हो?

समाधानः- अकाम-निर्जरा में भी बाह्य निमित्त तो बिना इच्छा के भूख-प्यास का सहन करना हुआ है; और वहाँ मन्दकषायरूप भाव हो; तो पापकी निर्जरा होती है, देवादि पुण्य का बन्ध होता है। परन्तु यदि तीव्रकषाय होने पर भी कष्ट सहने से पुण्यबन्ध होता हो तो सर्व तिर्यंचादिक देव ही हों, सो बनता नहीं है। उसी प्रकार इच्छापूर्वक उपवासादि करने से वहाँ भूख-प्यासादि कष्ट सहते हैं, सो यह बाह्य निमित्त है; परन्तु वहाँ जैसा परिणाम हो वैसा फल पाता है। जैसे अन्न को प्राण कहा उसी प्रकार। तथा इस प्रकार बाह्यसाधन होने से अंतरंग तप की वृद्धि होती है इसलिये उपचार से इनको तप कहा है; परन्तु यदि बाह्य तप तो करे और अंतरंग तप न हो तो उपचार से भी उसे तप संज्ञा नही है। कहा भी हैः-

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासःस विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः।।

जहाँ कषाय-विषय और आहार का त्याग किया जाता है उसे उपवास जानना। शेष को श्रीगुरु लंघन कहते हैं।....

प्रश्नः- आहारादि अशुभ की इच्छा तो दूर होने पर ही तप होता है, परन्तु ज्ञानी को उपवासादि अथवा प्रायाश्चितादि की इच्छा तो रहती है न?

उत्तरः- धर्मी जीव को उपवासादि की इच्छा नहीं है, एक शुद्ध उपयोग की भावना है। उपवास होता है वहाँ आहर आना ही नहीं था, इच्छा टूटने से आहार रुक गया- ऐसा नहीं है। स्वभाव में लीन होने पर इच्छा टूट जाती है, उसको तोड़ना नहीं पड़ता। कोई कहे कि इच्छा की होती तब तो आहार आता न? यह प्रश्न ही नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव में लीनता होने पर इच्छा उत्पन्न ही नहीं हुई और आहार उसके अपने कारण से नहीं आया यह उपवास है।

ज्ञानी को उपवासादि की इच्छा नहीं है। उन्हें तो 'मैं ज्ञायक-चिदानन्द हूँ'- ऐसा भान है और एकमात्र शुद्धोपयोग की भावना है। ज्ञानी को आस्रव की भावना नहीं है। ज्ञानी को तो सोलहकारण भावना भी राग होने से उसकी भी भावना नहीं है। उपवासादि करने से शुद्धोपयोग में वृद्धि होती है, इसलिये वे उपवासादि करते हैं। अर्थात् जब अपने स्वभाव के लक्ष्य से शान्ति बढ़ती है तब ऐसा कहा जाता है कि उपवास से निर्जरा हुई। वस्तु का स्वभाव धर्म है और धर्म स्वद्रव्य के अवलम्बन से होता है इसलिये सर्वप्रथम द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप का निर्णय करना चाहिये।

यदि धर्मी जीव अथवा मुनि को ऐसा लगे कि उपवास के परिणाम सहज नहीं आते और शरीर में शिथिलता ज्ञात होवे अथवा शुद्धोपयोग शिथिल होता जाने तो वहाँ वे आहारादि ग्रहण करते हैं। धर्मात्मा ज्ञानी देखे कि अपने परिणामों में सहज शान्ति नहीं रहती तो वे आहारादि ग्रहण करते हैं। ज्ञानी हठपूर्वक उपवास नहीं करते; वे तो परिणामों की शक्ति देखकर तप करते हैं। जहाँ हठ है वहाँ लाभ नहीं है। मुनिपने अथवा प्रतिमा को हठपूर्वक निभाना ठीक नहीं है।

ज्ञानी तत्वज्ञान होने के पश्चात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखकर प्रतिमा अथवा मुनिपना अंगीकार करते हैं, वे किसी के देखादेखी प्रतिमा नहीं लेते। यह सब दशायें सहज होती है।

पंडित बनारसीदासजी कहते हैं कि-

'सद्गुरु कहे सहज का धंधा,
वाद-विवाद करे सो अंधा।।

जो वाद-विवाद करते हैं वे सब अंधे हैं। अपने परिणाम देखकर प्रतिमा इत्यादि लेना योग्य है। बनारसीदास का कथन गंभीर है कि 'एक में अनेक खोजे।' (समयसार नाटक) काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ और कर्म का अभाव- ये पाँचों समवाय एक समय में आ जाते हैं।

वे समयसार नाटक में कहते हैं कि-

''टेक डारि एक में अनेक खोजै सो सुबुद्धि
खोजी जीवै वादि मरै सांची कहवति है।।'

प्रतिसमय जो परिणति होना है वह होगी- यह निर्णय किसने किया? वस्तु स्वभाव ज्ञान ही है, वह स्वयं निर्णय करता है। नियत का निर्णय पुरुषार्थ से होता है। जिस समय जो होना है वह होगा ही- यह निर्णय पुरुषार्थ से होता है। पुरुषार्थ स्वभाव में है और नित्य स्वभाव ज्ञानस्वरूप है। उसके आश्रय से ही ज्ञातापने का सम्यक् पुरुषार्थ होता है।

जो खोजता है वह जीता है और वादी मरता है।

वस्तुस्वभाव को समझे बिना सब व्यर्थ है। मुनिराज अपने में शिथिलता देखें तो आहार लेते हैं। यदि उपवासादि से ही सिद्धि होती तो अजितनाथ आदि तीर्थंकरों ने दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों किये? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी; परन्तु जैसे परिणाम हुए वैसे बाह्य साधन द्वारा एक वीतरागभाव का अभ्यास किया। यह बात भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा से है।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो आहार नहीं लेने व उनोदर करने को तप क्यों कहा है?

उत्तरः- उसको बाह्य तप कहा है। बाह्य का अर्थ यह है कि दूसरों को दिखाई देता है कि यह व्यक्ति तप करता है; परन्तु स्वयं को तो जैसे परिणाम होंगे वैसा ही फल मिलेगा। कारण कि परिणामों के बिना शरीर की क्रिया फलदाता नहीं है।

प्रश्नः- शास्त्र में तो अकाम निर्जरा कही है वहाँ इच्छा के बिना भी भूख-प्यासादि सहन करने से निर्जरा होती है, तो जो उपवास करता है, कष्ट सहता है उसको निर्जरा क्यों नहीं होगी?

उत्तरः- अकाम निर्जरा में भी बाह्य निमित्त तो इच्छा रहित भूख-प्यास सहन करना है। वहाँ भी अन्तरंग में कषाय की मंदता हो तो अकाम निर्जरा है। कषाय की मंदता नहीं होवे तो अकाम निर्जरा नहीं है। बाह्य मे अन्न-जल नहीं मिलने के काल में कषाय की मंदता हो तो अकाम निर्जरा है।

प्रश्नः- जो उपवास करता है, बाह्य संयम का पालन करता है, कंदमूलादि का त्याग करता है उसको धर्म क्यों नहीं होता?

उत्तरः- पशु आदि के भूख-प्यास सहन करते समय कषाय की मंदता होती है वह अकाम निर्जरा है। उस अकाम निर्जरा में भी बाह्य निमित्त तो इच्छा रहित भूख-प्यास सहन करना हुआ है। यदि वहाँ मंदकषाय नहीं हो तो पाप बंध होता है। कषाय की मंदता करे तो पुण्य होता है, देवादिगति का बंध होता है, किन्तु वहाँ मिथ्यात्व का पाप तो है ही। वहाँ अन्तर स्वभाव का भान नहीं होने से धर्म नहीं होता है।

निर्जरा चार प्रकार की हैः-

(1) बाह्य प्रतिकूल संयोंगो के काल में कषाय मंदता करे तो 'अकाम निर्जरा' होती है। गरीब लोंगो को अन्नादि नहीं मिले, उस समय वे कषाय की मंदता करे तो पुण्य होता है। कोई युवती विधवा हो जाने पर कषाय की मंदता पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करे तो वह पुण्य है। उसको अकाम निर्जरा होती है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनो को मंदकषाय की दशा में यह निर्जरा होती है।

(2) आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है। जिसको ऐसे अकषाय स्वभाव का लक्ष्य हो, देहादिक की क्रिया जड़ से होती है और पुण्य पाप दोनों भाव बंधरूप है उस बंध से रहित शुद्धस्वभाव का भान हो उसको "सकाम निर्जरा" होती है।

(3) लोभादि के परिणाम प्रति समय करता है तब जो कर्म के परमाणु खिर जाते हैं उसे (सविपाक निर्जरा) कहते हैं। यह निर्जरा अज्ञानी को नवीन बंध सहित होती है। यह "सविपाक निर्जरा" चारों गति के जीवों के होती है।

(4) मैं ज्ञाता हूँ, देह की क्रिया मेरी नही है; मैं पर वस्तु का त्याग (ग्रहण) नहीं कर सकता-ऐसी सम्यक् दृष्टि होने के पश्चात् जो कर्म खिरते हैं वह 'अविपाक निर्जरा' है।

'सकाम' का अर्थ आत्मा की सम्यक् भावना सहित है। मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, राग मेरा स्वरूप नही है वह तो अहितकर है। शुभराग भी करने योग्य नहीं है और मै शरीर की क्रिया तो कर ही नहीं सकता। राग का करना भी मेरे स्वभाव में नहीं है-ऐसे भान वाले ज्ञानी को अकाम, सकाम, अविपाक, सविपाक चारों प्रकार की निर्जरा होती है। कर्म पके बिना खिर गये- इस कारण अविपाक कहा है। आत्मा का पुरुषार्थ बतलाने के लिऐ उसी को सकाम कहते हैं। ये सकाम और अविपाक निर्जरा ज्ञानी के ही होती है। इनके अतिरिक्त ज्ञानी के अकाम और सविपाक निर्जरा भी होती है। अज्ञानी के सविपाक और अकाम दोनो प्रकार की निर्जरा होती है।

मैं त्रिकाल ज्ञायक हूँ, शुभाशुभभाव का नाशक हूँ-ऐसा भान होने पर भ्रान्ति दूर हो जाती है; और मैं शुभाशुभ का रक्षक हूँ-ऐसा मानना भ्रान्ति है। मैं परिवार, देश, आदि का रक्षक नहीं हूँ, तथा शुभाशुभभाव का रक्षक भी नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ-ऐसा भान होने पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होते ही शुभाशुभभाव का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता; परन्तु भ्रान्ति का अभाव अवश्य हो जाता है। तत्पश्चात् स्वरूप में विशेष लीनता करने पर पुण्य-पाप दूर होते हैं।-ऐसा करने वाला सच्चा जैन है। अपनी पर्याय में होने वाले पुण्य पाप के भाव का स्वभाव के लक्ष्य से नाश करने वाला सच्चा जैन है। उस जीव को शुद्धि की वृद्धि करने वाली निर्जरा होती है। मैं आत्मा हूँ। शरीर-मन-वाणी आदि मेरे नहीं है; मैं तो उन सब का ज्ञाता हूँ। मैं विभाव का भक्षक और स्वभाव का रक्षक हूँ-ऐसा मानने वाला जैन है। जो विभाव का रक्षक और स्वभाव का भक्षक है वह अजैन है। शुद्ध चिदानन्द का भान करने वाला जैन है।

अब यहाँ मूल प्रश्न की बात करते है।

यदि बाह्य प्रतिकूल निमित्त के समय पशु आदि कषाय की मंदता करे तो पुण्य बंध होता है और वे देवादिक गति में जाते हैं। प्रतिकूलता के समय कषाय की मंदता नहीं करे तो पुण्य बंध भी नही होता। मात्र दुःख सहन करने से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता। आलू आदि के जीवों को महान प्रतिकूलता होती है, वे अग्नि में सिक जाते हैं। वहाँ दुःख का निमित्त तो हैं; परन्तु पुण्य बंध सबको नहीं होता। जो जीव कषाय की मंदता करते हैं उन्हीं को पुण्य बंध होता है। यदि कष्ट सहन करते समय तीव्र कषाय होने पर भी पुण्य बंध होता होतो सब तिर्यन्चादि देव ही हो जायेंगे; परन्तु ऐसा तो नहीं होता।

इसी प्रकार जो इच्छापूर्वक उपवासादि करने में भूख-प्यास सहन करता है वह बाह्य निमित्त है; परन्तु वहाँ भी राग की मंदता करने पर पुण्य बंध होगा, धर्म नहीं। उपवास के समय भी फल अपने परिणामों के अनुसार होता है। यहाँ निर्जरा तत्व सम्बन्धी भूल बतला रहे हैं। स्वरूप शुद्धि की वृद्धि और राग का अभाव होना भाव निर्जरा है तथा कर्मो का खिरना द्रव्य निर्जरा है।

जीव जैसे परिणाम करता है वैसा ही बंध होता है। बाह्य प्रतिकूलता सहने में कष्ट करने से पुण्य नहीं होता। जैसे अन्न को प्राण कहा है वह उपचार मात्र है, वस्तुतः जीव आयु प्राण के बिना जीवित नहीं रह सकता। यदि आयु प्राण हो तो अन्न को निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार उपवासादि बाह्य साधन होने से तप की वृद्धि होती है। अर्थात् शुद्ध चिदानन्द स्वभाव के भान पूर्वक अन्तर्लीनता करे तो उपवास को बाह्य साधन कहा जाता है। चिदानन्द आत्मा विभाव रहित है-ऐसे भान बिना धर्म नहीं होता। देवादिक की श्रद्धा हुई हो और उस विकल्प का आदर भी न हो तथा आत्मभान वर्त रहा हो-ऐसे जीव को अन्तर्लीनता से तप होता है।

हजारों रानियो का त्याग कर दिया हो, उपवासादि किये हो; परन्तु आत्मा के भान बिना सब व्यर्थ हैं। जो राग में रुका है और उसको धर्म मान रहा है वह मिथ्यादृष्टि है। कोई बाह्य तप तो करे; परन्तु अन्तरंग तप न हो तो उसको उपचार

से भी तप नहीं कहा जा सकता। स्वभाव की भावना होने पर ही बाह्य तप को निमित्त कहा जाता है। निश्चय का भान होने पर ही व्यवहार कहा जाता है। अज्ञानी कहते हैं कि जिस प्रकार दुकान में माल भरा हो तो भाव बढ़ते हैं; उसी प्रकार शुभ रागादिरूप माल भरा हो तो आगे बढ़ा जाता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। शुभराग कोई माल ही नहीं है। वास्तव में आत्मा का भान हो तो भाव बढ़ता है। मेरा ज्ञान स्वभाव वीतरागी है-ऐसे दृष्टि होने पर ही लीनता होती है; किन्तु जिसको द्रव्य दृष्टि नहीं है उसके उपवासादि को तप संज्ञा नहीं है। आत्मा के भान बिना उपवास लंघनहै।

शास्त्र में कहा है कि जहाँ विषय कषाय और आहार का त्याग किया जाता है उसको उपवास जानना, शेष को श्रीगुरु लंघन कहते हैं।

जिसको आहारादि के ग्रहण-त्याग की इच्छा नहीं है; पुण्य-पाप की इच्छा नहीं है और पर पदार्थो की वृत्ति का त्याग है उसे उपवास कहते हैं। शुद्ध चिदानन्द आत्मा के निकट वास करने को उपवास कहते हैं। अज्ञानी को (आत्मा का) कुछ भान नहीं है, इसलिये पुण्य-पाप की वृत्ति कैसे रुके? नहीं रुक सकती। अकषाय स्वभाव के भान बिना उपवास कभी नहीं हो सकता।

आत्मा आहार-पानी का ग्रहण नहीं कर सकता। यह तो जड़ की क्रिया है। राग के कारण भी आहार नही आता। आहार की इच्छा होने पर भी आहार ग्रहण नहीं हो पाता, भोजन करने बैठा हो और उसी समय अशुभ समाचार आ जाये तो आहार नही होता। वहाँ वास्तव में तो आहार आना ही नही था, इसलिये नहीं आया। तो भी आहार लेने अथवा छोड़ने की क्रिया मुझसे होती है-ऐसा मानने वाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा के भान बिना उपवास करने को लंघन कहते है। उपवास करने से शरीर अच्छा रहता है-ऐसा भी नही है। आत्मा शरीर की अवस्था का स्वामी नहीं है। अजीव की क्रिया का स्वामी होने वाला मूढ है। जीव शरीर को रखने में समर्थ नहीं है। जिस समय, जिस क्षेत्र में शरीर छूटना हो उस समय उस क्षेत्र में छूटता है। भले ही लाखों

उपाय करे, डॉक्टर आवे; परन्तु वे सब भी उसे बचाने में समर्थ नहीं है। अज्ञानी जीव अपनी पर्याय में गढ़बढ़ करता है। अज्ञानी जीव के पुण्य का ठिकाना नहीं है और पुण्य मान बैठे तो मिथ्यात्व होता है।

अज्ञानी जीव अज्ञानतप का उद्यापन करके अभिमान करता है। स्वयं लोभ कम करे तो पुण्य होता है, किन्तु आत्मा के भान बिना धर्म नहीं होता।

....यहाँ कहेगा-यदि ऐसा है तो हम उपवासादि नहीं करेगे?

उससे कहते हैं-उपदेश तो ऊँचा चढ़ने को दिया जाता है; तू उल्टा नीचे गिरेगा तो हम क्या करेगे? यदि तू मानादिक से उपवासादि करता है तो कर या मत कर; कुछ सिद्धि नहीं है। और यदि धर्मबुद्धि से आहारादिका अनुराग छोड़ता है तो जितना राग छूटा उतना ही छूटा; परन्तु इसीको तप जानकर इससे निर्जरा मानकर संतुष्ट मत हो।....

यहाँ कोई कहे-यदि ऐसा है तो हम उपवासादि नहीं करेगें?

उनसे कहते हैं-हम तो उपवास और निर्जरा का सही स्वरूप कहते हैं। उपदेश ऊपर चढ़ने के लिये है। आहार के प्रति राग कम करे तो पुण्य होता है। तीव्र कषाय घटे तो पुण्य होता है; आहार नहीं लेतो पुण्य होता है- ऐसा नहीं है। धर्म तो पुण्य से अलग है जो कि आत्मा के भान से होता है। तू इस बात को सुनकर उल्टे नीचे गिरे तो हम क्या करें?

दया, दान, व्रत भक्ति, उपवास आदि में कषाय मंद करे तो पुण्य बंध होता है। यदि तू इस शुभभाव को छोड़कर अशुभभाव करेगा तो इसमें हम क्या करेंगे? हम तो स्वभाव दृष्टि कराने के लिये पुण्य का निषेध करते हैं, उसके बदले तू अशुभभाव करेगा तो इसमें हम क्या करेंगे? हाँ, यदि तू मानादिक से उपवासादि करता है तो कर या मत कर उससे आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता। कीर्ति के लिये, दिखावा करने के लिये, बड़प्पन के लिये करता हो तो कर या मत कर- सब समान है; परन्तु व्यवहार धर्मबुद्धि से अर्थात् शुभभाव से आहारादि का राग छोड़ता है तो जितना राग छूटा

उतना ही छूटा। तीव्र तृष्णा छोड़कर मंद तृष्णा की उसको पुण्य समझ। वस्तुओं के प्रति राग घटने को पुण्य मानना चाहिये निर्जरा नहीं। जो उस मंद राग को धर्म (निर्जरा) मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

जैन कुल में जन्म हुआ हो और जो सच्चे देवादिक को मानता हो तथा कषाय की मंदता करता हो तो वह पुण्य बंध है, धर्म नहीं। धर्म तो आत्मा का अवलम्बन करने से होता है ऐसा बताने के लिये पुण्य की रुचि छुड़ाते हैं, उसके बदले अज्ञानी उल्टे शुभभाव छोड़ दे तो उससे उसकी आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। शुभभाव छोड देने पर तो अकेला अशुभभाव- पापभाव ही होगा। ज्ञानी के भी उपवासादि की क्रिया होती है, परन्तु वह मानादि के लिये नहीं होती; क्योंकि परद्रव्य से भिन्न आत्मा ज्ञायक स्वभावी है- ऐसी दृष्टि हुई होने से उनके अनन्तानुबंधी मान नहीं होता।

क्रमबद्धपर्याय में मान-अपमान आदि के परिणाम अपने कालक्रम में होते हैं; परन्तु ज्ञानी के स्वभाव की दृष्टि होने से अनन्तानुबंधी मान के परिणाम होते ही नहीं। 'जो होने वाला है वह होता है'- ऐसा निर्णय ज्ञान में होने पर ज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। ज्ञानी को पुरुषार्थ की कमजोरीवश अल्प मान का भाव हो जाता है, उसको वह जानता है। वह जानता है कि उपवास करने का भाव मंद कषाय है और वह मेरा स्वरूप नहीं है, मै तो ज्ञायक हूँ। जिसको अकषाय चैतन्य की दृष्टि नहीं हुई है उसको धर्म या निर्जरा यथार्थ नहीं होती। आत्मभान के बिना जगत के बताने के लिये किये जाने वाले उपवासादि में तो पापभव ही है। श्रीमद्जी ने भी कहा है न

" लहा स्वरूप न वृत्ति का, ग्रहा वृत अभिमान।
ग्रहे नहीं परमार्थ को, लेने लौकिक मान।।"

यदि तू धर्म बुद्धि से अर्थात् पुण्य बुद्धि से आहारादि का राग मंद करता है तो जितना राग मंद हुआ उतना पुण्य होगा, परन्तु इससे धर्म नहीं होगा। सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म नहीं होता। यदि बाह्य क्रिया के समय शुभपरिणाम करे तो वह मंद कषाय है, परन्तु न तो वह धर्म है और न तप ही है। इसलिये उसको तप मानकर

सन्तुष्ट नहीं होना। राग की मंदता से सम्यग्दर्शन नहीं होता। राग का एक कण भी आत्मा को लाभदायक नहीं है। धर्म तो आत्मा के शुद्ध परिणाम से ही होता है।

तथा उपवास करने से राग मंद होता ही है- ऐसा भी नहीं है। उपवासादि में मानादि करने से तो पाप बंध ही होता है। इसलिये बाह्य उपवासादि से आत्मा में कुछ सिद्धि नहीं है। आत्मा पर से तो भिन्न है ही, परन्तु बाह्यतप के विकल्प से भी आत्मा को लाभ नहीं है- ऐसा मानने से लाभ होता है। तात्पर्य यह है कि पुण्यबंध से धर्म होना मानकर सन्तुष्ट होना योग्य नहीं है।

....तथा अंतरंग तपों में प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप जो क्रियाऐं-उनमें बाह्य प्रर्वतन उसे तो बाह्यतपवत् ही जानना। जैसे अनशनादि बाह्य क्रिया हैं उसी प्रकार यह भी बाह्य क्रिया है; इसलिये प्रायश्चितादि बाह्यसाधन अंतरंग तप नहीं है। ऐसा बाह्य प्रर्वतन होने पर जो अंतरंग परिणामों की शुद्धता हो उसका नाम अंतरंग तप जानना।

वहाँ भी इतना विशेष है कि बहुत शुद्धता होने पर शुद्धोपयोगरूप परिणति होती है वहाँ तो निर्जरा ही है; बंध नहीं होता। और अल्प शुद्धता होने पर शुभोपयोग का भी अंश रहता है; इसलिये जितनी शुद्धता हुई उससे तो निर्जरा है और जितना शुभभाव है उससे बन्ध है। ऐसा मिश्रभाव युगपत् होता है, वहाँ बंध और निर्जरा दोनों होते हैं।....

अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित लेने में शुभ विकल्प होने से पुण्य है, निर्जरा नहीं। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विनय करना पुण्य परिणाम है। वैयावृत्य करने से भी पुण्य होता है, धर्म नहीं होता। अज्ञानी लोग कहते हैं कि साधु की वैयावृत्य करने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। (परन्तु भाई!) तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति जड़ है वह बांधने की भगवान की आज्ञा नहीं है और वह प्रकृति जिस भाव से बंधती है वह शुभभाव करने की भी भगवान को आज्ञा नहीं है। भगवान तो शुद्ध आत्मा की भावना करने को कहते हैं। स्वाध्याय का शुभभाव भी पुण्य है। व्युत्सर्ग में शुभभाव पुण्य है। बाह्य ध्यान में भी शुभभाव है। तात्पर्य यह है कि कषाय की मंदता करने से पुण्य और स्वभाव का भान करने से धर्म होता है।

बाह्य निमित्त से आत्मा के परिणाम अच्छे होते हैं- ऐसा भी नहीं है। भगवान की प्रतिमा देखकर ही परिणाम सुधरते हों तो कौए, चिड़िया आदि जीवों को खाकर भगवान की प्रतिमा पर बैठ जाते हैं और चोर वही से चोरी कर जाता है, तो इनके परिणाम (क्यों) नहीं सुधरते? इसी प्रकार विनय, वैयावृत्यादि बाह्य क्रिया होने पर अन्तर में शुद्ध परिणाम होते हैं- ऐसा नहीं है; परन्तु चिदानन्द आत्मा की रुचि करके निमित्त की रुचि छोड़कर ज्ञाता-दृष्टारूप रहने पर शुद्ध परिणाम होते हैं वह धर्म है। और निर्जरा है और वही अन्तरंग तप है, इससे बंध नहीं होता।

प्रायश्चित, विनय आदि अन्तरंग तपों में बाह्य प्रवर्तन है उसे तो बाह्यतपवत ही जानना। प्रायश्चित और विनय निमित्तरूप से प्रवर्तित होने पर 'मैं ज्ञानानन्द हूँ'- इस प्रकार स्वरूपानुभव द्वारा शुद्धि की वृद्धि होना निर्जरा है। सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा तप नहीं होता है। मैं ज्ञायक हूँ, एक रजकण की क्रिया भी मेरी नहीं है, मैं दया, दानादि का स्वामी नहीं हूँ- ऐसे भानपूर्वक होने वाले अकषाय परिणाम निर्जरा है।

मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ- ऐसी दृष्टि करके जगत का साक्षी-ज्ञाता रहे उतने अंश शुद्धि है वह भाव निर्जरा है और उसके निमित्त से कर्मों का खिरना द्रव्य निर्जरा है। बारह प्रकार के तपों में जितना विकल्प उठता है वह बंध है और जितने अंश में परिणामों में निर्मलता हुई वह वीतरागता है- ऐसा मिश्रभाव ज्ञानी के युगपत् होता है। अज्ञानी बाह्य में धर्म मानता होने से उसके निर्जरा नहीं होती।

चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में जितनी शुद्धि हुई है उतनी निर्जरा है और जितना राग है उतना बंध है और जहाँ अकेला शुद्धभावरूप उपयोग है वहाँ निर्जरा ही है। परन्तु जहाँ थोड़ा शुद्धभाव उतनी निर्जरा है और जितना भक्ति पूजादि का राग है उतना तो बंध है; इस कारण वहाँ बंध और निर्जरा दोनो होती है- ऐसा मिश्रभाव (ज्ञानी को) एक साथ होता है और वहाँ उसको बंध और निर्जरा भी एक साथ होती है।

....यहाँ कोई कहे कि शुभभावों से पाप की निर्जरा होती है, पुण्य का बन्ध होता है; परन्तु शुद्धभावों से दोनों की निर्जरा होती है-ऐसा क्यों नहीं कहते?

उत्तरः- मोक्षमार्ग में स्थिति का तो घटना सभी प्रकृतियों का होता है; वहाँ पुण्य-पाप का विशेष है ही नहीं। और अनुभाग का घटना पुण्य-प्रकृतियों में शुद्धोपयोग से भी नहीं होता। ऊपर-ऊपर पुण्यप्रकृतियों के अनुभाग का तीव्र बन्ध-उदय होता है और पापप्रकृतियों के परमाणु पलटकर शुभप्रकृतिरूप होते हैं- ऐसा संक्रमण शुभ तथा शुद्ध दोनों भाव होनेपर होता है; इसलिये पूर्वोक्त नियम संभव नही है, विशुद्धताही के अनुसार नियम संभव है।

देखो, चतुर्थगुणस्थानवाला शास्त्राभ्यास, आत्मचिंतवन आदि कार्य करे-वहाँ भी निर्जरा नहीं, बन्ध भी बहुत होता है। और पंचमगुणस्थानवाला विषयसेवनादि कार्य करे-वहाँ भी उसके गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है; बन्ध भी थोड़ा होता है। तथा पंचमगुणस्थानवाला उपवासादि या प्रायश्चितादि तप करे उस काल में भी उसके निर्जरा थोड़ी होती है। और छठवें गुणस्थानवाला आहार-विहारादि क्रिया करे उस काल में भी उसके निर्जरा बहुत होती है, तथा बन्ध उससे भी थोड़ा होता है।

इसलिये बाह्य प्रवृति के अनुसार निर्जरा नहीं, अन्तरंग कषायशक्ति घटने से विशुद्धता होनेपर निर्जरा होती है। सो इसके प्रगट स्वरूप का आगे निरूपण करेगे वहाँ से जानना।....

प्रश्नः- (1) शुभभावों से पाप की निर्जरा और पुण्य का बंध होता है- ऐसा कहो और (2) आत्मा शुभाशुभ रहित (स्वभाव की) दृष्टि करे तो दोनो की निर्जरा होती है- पुण्य-पाप दोनो खिर जाते हैं- ऐसा क्यों नहीं कहते हो? लोग भी कहते हैं कि पुण्य से पाप धुलते हैं?

समाधानः- आत्मा ज्ञायक है, उसकी निर्विकल्प प्रतीति तथा लीनता से समस्त कर्म प्रकृतियों की स्थिति घटती है। तथा शुभ आयु के अतिरिक्त पुण्य प्रकृतियों की स्थिति भी कम हो जाती है। मिथ्यादृष्टि जीव निर्जरा तत्व के वास्तविक स्वरूप को

नहीं समझता होने से बाह्य तप से निर्जरा मानता है और मानता है कि आत्मा का भान होने के पश्चात् स्थिति और अनुभाग दोनो घटते हैं; परन्तु यह बात मिथ्या है। शुद्धोपयोग होने के पश्चात् पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग कम नहीं होता। मोक्षमार्ग में पुण्य और पाप दोनो (कर्म प्रकृतियों) की स्थिति घटती है, इसमें पुण्य-पाप की विशेषता है ही नहीं तथा पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का घटना शुद्धोपयोग से भी नहीं होता। शुभभावों से पाप की निर्जरा नहीं होती, क्योंकि उनसे घातिकर्म (जो कि पापरूप ही है) भी बंधते हैं।

गोम्मटसार गाथा 274 में कहा है कि केवली भगवान को सातावेदनीय का बंध एक समय के लिये है, इसलिये वह उदयस्वरूप है तथा उनके असाता कर्म सातावेदनीय रूप मे परिणमित होता है। केवली के कषाय नहीं है, मात्र शुद्धोपयोग है; इसलिये उनके असातावेदनीय की अनुभाग शक्ति अनन्तगुनी हीन हो जाती है। जो साता का बंध हुआ है उसका अनुभाग अनन्तगुना है। पहले नहीं था उसकी अपेक्षा अनन्तगुना रस है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप में रमणता करे तब पाप का रस घट जाता है और पुण्य का रस बढ़ जाता है। अकषाय परिणाम से स्थिति घट जाती है और सातादि कर्मों का रस अनन्तगुना बढ़ जाता है।

आत्मा स्वयं शुद्ध चिदानन्द है- ऐसी दृष्टि पूर्वक शुद्धोपयोग करने से पुण्य का अनुभाग बढ़ता है और स्थिति घटती है। स्थिति तो पुण्य-पाप दोनो की घट जाती है तथा पाप का अनुभाग घट जाता है और पुण्य का बढ़ जाता है। जितनी विशुद्धता है उतना अनुभाग बढ़ जाता है। देखो! जो पुण्य का त्याग करता है उसके पुण्य का रस-अनुभाग बढ़ जाता है और जो पुण्य की इच्छा करता है उसके पुण्य का रस घट जाता जाता है।

अज्ञानी मानता है कि गुरु की वैयावृत्य करने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध करेगे। वस्तुतः उसको तत्व का पता नहीं है। शुद्धोपयोग से ऊपर-ऊपर (आगे के गुणस्थानों में) पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का तीव्र उदय होता है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ- ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् शुभभाव होवे तो पाप प्रकृतियाँ पलटकर पुण्यरूप होती है और

शुद्धभाव से पुण्य का अनुभाग बढ जाता है तथा पाप प्रकृतियाँ पलटकर पुण्यप्रकृति हो जाती है। जैसे जो दाना जितना बड़ा होगा उसका छिलका भी उतना ही बड़ा होगा; उसी प्रकार शुद्धोपयोग में जितनी पुष्टता होती है उतनी पुण्य में भी पुष्टता होती है; इसलिये शुद्ध भाव से पुण्य के अनुभाग की निर्जरा नहीं होती; बल्कि पुण्य का अनुभाग बढ़ जाता है। इसलिये पूर्वोक्त नियम संभव नहीं होता; परन्तु विशुद्धता के अनुसार ही नियम संभव होता है।

(तात्पर्य यह है कि) मोक्षमार्ग में स्थिति का घटना तो सभी प्रकृतियों का होता है, वहाँ पुण्य पाप का विशेष नहीं है। और अज्ञानी के पुण्य की स्थिति अधिक बंधती है; परन्तु स्थिति तो संसार है। पुण्य-पाप दोनो संसार है इसलिये संसार की स्थिति का घटना ही लाभ है। मिथ्यादृष्टि को पुण्य की स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है और ज्ञानी के अन्तःकोड़ाकोड़ी से अधिक की स्थिति नहीं होती। मिथ्यात्वरूपी पाप होने पर भी पुण्य की स्थिति बढ़ती है और सम्यग्दृष्टि के पुण्य की स्थिति बढ़ती नहीं है। इसलिये शुद्धभाव से पुण्य-पाप की निर्जरा और शुभभाव से पाप की निर्जरा होती है- ऐसा नहीं है।

ज्ञानी अपने को बंधने वाली अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम की पुण्य की स्थिति को तोड़कर मोक्ष चला जाता है और अज्ञानी अपने को बंधने वाली पन्द्रह कोड़कोड़ी स्थिति को तोड़कर अशुभ भाव करे तो निगोद में चला जाता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के पुण्य-पाप दोनो की स्थिति घटती है; परन्तु पुण्य प्रकृति का अनुभाग नहीं घटता और वह जैसे-जैसे ऊपर के गुणस्थानों में जाता है वैसे-वैसे पुण्य का अनुभाग बढ़ता जाता है। इसलिये शुद्ध उपयोग से दोनो प्रकृतियों की निर्जरा होती है- यह बात नहीं रही।

द्रव्य संग्रह में आता है कि अशुभभाव की निवृत्ति और शुभभावों में प्रवृत्ति से संवर होता है; परन्तु वहाँ तो सम्यग्दृष्टि की बात है। वह आत्मा में जितना लीन हुआ है और अशुभभाव नहीं होता उतना उसको वहाँ संवर कहा है। परन्तु मिथ्यादृष्टि के शुभभाव से अशुभ की निर्जरा नहीं होती, शुभभाव से अकेला बंध ही होता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि जितना शुद्धभाव है उतनी निर्जरा है और जो शुभभाव रहा उससे बंध ही है।

शुभभाव से पाप की निर्जरा और पुण्य का बंध होता है- ये दो बातें कहो न!- ऐसा शिष्य का प्रश्न था। उसको कहते हैं कि शुभ से बंध ही होता है। इस प्रकार पहले बोल में अन्तर है।

अब शुद्धभाव से पुण्य-पाप दोनो की निर्जरा होती है- ऐसा भी नहीं है। कारण की मुक्ति मार्ग (साधक दशा) में पुण्य-पाप दोनो की स्थिति तो घटती है- इस कारण वहाँ पुण्य-पाप की विशेषता नहीं है। अर्थात् पुण्य की स्थिति नहीं घटे और पाप की स्थिति घटे- ऐसा नहीं है। तथा शुद्धभाव से पुण्य का अनुभाग नहीं घटता।

जैसे लड्डू की मिठास उसका 'रस' है, लड्डू का टिकना 'स्थिति' है, उसका स्वभाव 'प्रकृति' है और उसके परमाणु 'प्रदेश' हैं। उसी प्रकार कर्म में उदय होकर कर्म में रस आना 'अनुभाग' है, कर्म का टिकना 'स्थिति' है, कर्म का स्वभाव 'प्रकृति' है और कर्म के परमाणु 'प्रदेश' हैं।

जैसे कोई छोटी फुंशी हो और उसकी स्थिति भी थोड़ी हो; तथापि उसका रस बहुत होता है और बड़ी गांठ हुई हो तो उसकी स्थिति बहुत होती है; परन्तु फलदान शक्ति थोड़ी होती है। सम्यग्दर्शन के होने के पश्चात् जीव जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता जाता है और पाप प्रकृतियां पुण्य प्रकृतिरूप संक्रमण हो जाती है। इस प्रकार पाप कर्म का संक्रमण शुभ और शुद्धभाव होने पर होता है। जहाँ तीव्ररस होता है वहाँ उदय तीव्ररूप होता है, किसी केवली के असाता का उदय होता है वह बहुत अल्प होने से सातारूप होकर बाहर में आता है- ऐसा गोम्मटसार गाथा 274 में कहा है।

केवली भगवान के तेरहवें गुणस्थान में पुण्य प्रकृतियों का तीव्र उदय होता है, इसी प्रकार निर्मलता के अनुसार निर्जरा है। यहाँ विशुद्धता का अर्थ शुद्धभाव है। केवली भगवान के विशुद्धता बढ़ गई है इसलिये वहाँ साता का अनुभाग अनन्तगुना होता है, असाता का संक्रमण होकर सातारूप परिणम जाता है- यह बात यहाँ कहते हैं कि:-

शुद्धभाव-अकषाय भाव से पाप के परमाणु पलटकर पुण्य के परमाणुरूप होते हैं; इसलिये शुद्धभाव से दोनो की निर्जरा होती है- ऐसा नहीं है; क्योंकि शुद्धभाव से पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग नहीं घटता। इसलिये तू जो यह कहता है कि- (शुद्धभाव से पुण्य-पाप दोनो की निर्जरा कहो) वह नियम संभव नहीं है विशुद्धता के अनुसार ही नियम संभव है।

देखो,चौथे गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि शास्त्राभ्यास करे और आत्मा का चिंतनादि कार्य करे, वहाँ विशेष गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है, निर्जरा अल्प है और बंध अधिक है। अन्तर आनन्द का अनुभव करता हो उस समय भी उसके निर्जरा कम है। यहाँ पाँचवें छठवें गुणस्थान वाले के साथ तुलना करते हैं। चौथे गुणस्थान वाला धर्मी जीव निर्विकल्प अनुभव में हो तो भी उसके निर्जरा कम है और पंचम गुणस्थान वाला श्रावक उपवास, विनयादि करता हो उस समय भी छठवें (गुणस्थान) वाले की अपेक्षा उसके निर्जरा थोड़ी है; क्योंकि निर्जरा अकषाय उपयोग के आधार से है, शुभभाव अथवा बाह्य क्रिया की अपेक्षा निर्जरा नहीं है। पॉचवे गुणस्थान वाला उपवास करता होने पर भी निर्जरा थोड़ी और छठवें गुणस्थान वाला मुनि आहार करता हो तो भी उसके निर्जरा बहुत है। उससमय उसके जो राग वर्तता है उससे निर्जरा नहीं है, शुभराग से तो पुण्यबंध है; परन्तु शुभभाव के काल में निर्जरा बहुत है; क्योंकि मुनि के स्वरूप के आश्रय से तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है। अकषाय स्वभाव के अवलम्बन से निर्जरा होती है। गुरु की सेवा पुण्यभाव है उससे निर्जरा नहीं होती। जिस भाव से कर्म का खिरना होता है उसे निर्जरा कहते हैं। आत्मा में शुद्धभाव से निर्जरा होती है और उससे कर्म खिरते हैं; परन्तु पुण्य का अनुभाग बढता है।

बाह्य क्रिया से निर्जरा नहीं होती है। पंचम गुणस्थान वाला श्रावक एक महीने के उपवास करता है उस समय जो निर्जरा होती है उसकी अपेक्षा मुनि को निद्रा के समय अथवा आहार के समय निर्जरा विशेष है। अतः निर्जरा अकषाय परिणाम के अनुसार होती है, बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार नहीं।

अज्ञानी लोग बाहर से धर्म मानते है। एक समय भोजन लेना, पाठशाला चलाना इत्यादि में धर्म होना मानते हैं। जिसको शुद्ध चिदानन्द स्वभाव की रुचि पूर्वक उसमें

लीनता हो उसकी निर्जरा होती है। वस्त्र पात्र सहित मुनिपना मनाने वाला तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। जिसको नग्नदशा पूर्वक अकषाय परिणति हो उसको भावलिंगी मुनि कहते हैं, बाहर से अकेले नग्नपने का नाम मुनिपना नहीं है। जिसको जीव की क्रिया जीव से होती है, उसमें अजीव निमित्त मात्र है- इत्यादि नवतत्वों का भान नहीं है वह भले ही बाह्य में उपवासादि करे, नमक का सेवन नही करे तो भी इससे क्या? सादा भोजन लेने से निर्जरा मानता है, अमुक वस्तुओं के नहीं खाने में धर्म होता मानता है। बाह्य की चीज़ खाने अथवा नही खाने में आधार से निर्जरा नहीं है, निर्जरा अपने शुद्धोपयोग से होती है। किसी ने अन्न-पानी छोड़ दिया-इस कारण उसको त्यागी मानते हैं यह भ्रान्ति हैं।

पाँचवें गुणस्थान वाला बैल हरी घास खाता हो उस समय भी उसके चौथे गुणस्थान वाले ध्यानी की अपेक्षा विशेष निर्जरा है। उसका कारण यह है कि उसके अन्तर में दो कषाय चौकड़ी-अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण का अभाव है और उसके प्रतिक्षण शुद्धि की वृद्धि होती जाती है। कमजोरीवश जो अशुभभाव होता है उससे अल्पबंध है। अशुभभाव से निर्जरा नही है, किन्तु अशुभभाव के समय दो कषायों का नाश है इसलिये निर्जरा है।

छठवें गुणस्थान वाले मुनिराज को आहारादि से शुभ बंध होता है, परन्तु अन्तरंग में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ होने से शुद्धता बढ़ती है। वहाँ निर्जरा की अपेक्षा बंध अल्प है। इसलिये बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार निर्जरा नहीं है; अन्तरंग कषाय शक्ति घटने और विशुद्धता होने पर निर्जरा होती है। यहाँ विशुद्धता का अर्थ शुद्धता की विशेषता समझना। अन्तर में कषाय शक्ति कम होने से निर्जरा होती है।

पण्डित श्री टोडरमलजी को दृष्टि तो थी, तदुपरांत ज्ञान का उघाड़ भी विशेष था। उन्होंने इस मोक्षमार्गप्रकाशक में हजारों शास्त्रों का सार भर दिया है।

....इस प्रकार अनशनादि क्रिया को तपसंज्ञा उपचार से जानना। इसीसे इसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक अर्थ है। तथा ऐसे साधन से जो वीतरागभावरूप विशुद्धता हो वह सच्चा तप निर्जरा का कारण जानना।

यहाँ दृष्टान्त है-जैसे धनको व अन्न को प्राण कहा है। सो धन से अन्न लाकर, उसका भक्षण करके प्राणों का पोषण किया जाता है; इसलिये उपचार से धन और अन्न को प्राण कहा है। कोई इन्द्रियादि प्राणों को न जाने और इन्हीं को प्राण जानकर संग्रह करे तो मरण को ही प्राप्त होगा। उसी प्रकार अनशनादिक को तथा प्रायश्चितादि को तप कहा है; क्योंकि अनशनादि साधन से प्रायश्चितादिक रूप प्रवर्तन करके वीतराग भावरूप सत्यतप का पोषण किया जाता है; इसलिये उपचार से अनशनादि को व प्रयाश्चितादि को तप कहा है। कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और इन्हीं को तप जानकर संग्रह करे तो संसारही में भ्रमण करेगा।

बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधन की अपेक्षा उपचार से किये हैं उनको व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। इस रहस्य को नहीं जानता इसलिये उसके निर्जरा का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।....

इस प्रकार उपवास, वृत्तिपरिसंख्यान, ध्यानादि को उपचार से तप संज्ञा है-ऐसा जानना और इसीलिये उन्हें व्यवहार तप कहा है। आत्मा के शुद्धता हो जावे तो पूर्व के विकल्प को व्यवहार कहते हैं। निमित्त का आश्रय छोड़कर स्वाश्रय द्वारा शुद्धि में वृद्धि होवें तो निमित्त को साधन कहा जाता है। व्यवहार और उपचार का एक अर्थ है और ऐसे साधन से जो वीतराग भावरूप विशुद्धता होती है वही सच्चा तप निर्जरा का कारण जानना।

दृष्टान्तः- जैसे धन और अन्न को प्राण कहा है। उसका कारण यह है कि धन से अन्न लाकर भक्षण करने से प्राणों की पुष्टि हो सकती है; इसलिये धन और अन्न को प्राण कहा है; परन्तु यदि आयुष्य नहीं हो तो धन क्या काम करेगा? मुर्दे को आहार-पानी दे तो क्या होगा? पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काय, आयु और श्वास-ये दसों प्राण जीव सहित हो तो धन को प्राण कहा जाता है; परन्तु कोई इन्द्रियादि प्राणों को तो नहीं जाने और धन को ही प्राण मानकर संग्रह करे तो मरण ही होगा।

इसी प्रकार अन्तरदृष्टि और ज्ञानपूर्वक होने वाले बाह्यतप को उपचार से तप कहा है। जिसको अन्तरदृष्टि और ज्ञान नही है उसके बाह्यतप को तो उपचार से भी तप नहीं कहा जाता । यहाँ अनशन, प्रायश्चित, विनय आदि को तप कहने का कारण यह है कि अनशनादि साधन से प्रायश्चितादिरूप प्रवर्तित होने पर वीतराग भावरूप सत्यतप का पोषण हो सकता है; इसलिये उन अनशन,प्रायश्चितादि को उपचार से तप कहा गया है। अब कोई वीतरागभावरूप तप को तो नही जाने और बारह तपों को तप जानकर संग्रह करे तो वह संसार में भटकता है। लोग तो बाह्य से धर्म मानते हैं। कुदेवादि को मानने वाले के तो गृहीत मिथ्यात्व का भी त्याग नहीं है, तब वहाँ तपश्चर्या कैसी ? अज्ञानी की तपश्चर्या में सच्ची तपश्चर्या मानना और मनवाना महान पाप है। जिसको दृष्टि का पता नहीं है, सच्ची बात रुचती नहीं है और व्रत धारण करे तो वह जैन नही है, उसे अपना पता नही है। जिसको व्यवहार सहित सात तत्वों की प्रथक्ता का पता नही है उसको तत्वार्थश्रद्धान कहाँ से होगा ? नहीं हो सकता।

मिथ्यादृष्टि जीव वीतरागी चैतन्य प्राणों से तो मरा हुआ है; इसलिये उसके किसी भी बाह्यतप को निमित्तरूप तप भी नहीं कहा जाता है। अज्ञानी सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और तप को तो जानता ही नहीं है और बाहर में उपवासादि करता है, भक्ति करता है, जिनमन्दिर और मानस्थम्भ आदि बनाता है; परन्तु इससे जरा भी धर्म नही होता। अन्तर में वीतरागी धर्म तो प्रगट हुआ नहीं, इसलिये यथार्थ तप को जानता नहीं और मात्र गुरु की सेवा मे अथवा भगवान की भक्ति में रुकता है, तो उस शुभभाव से संसार में ही परिभ्रमण होता है; परन्तु आत्मप्राप्तिरूप धर्म नहीं होता। आत्मा में इच्छा रहित वीतरागभाव प्रगट होना तप है-इस बात को पता नहीं होने वाला जीव बाहर की क्रिया और मंद कषाय में रुकता है; परन्तु उसको निर्जरा नहीं होती। इस कारण वह जीव चारगतिरूप संसार में परिभ्रमण करता है।

जैसे यहाँ तीनप्रकार के प्राण कहे हैं; उसी प्रकार तीन प्रकार के तप कहे हैं। जैसे इन्द्रियादि प्राण वे सच्चे प्राण हैं; उसी प्रकार वीतरागभाव सच्चा तप है। और

धन तथा अन्न को बाह्य प्राण कहा; उसी प्रकार छह प्रकार के बाह्य तथा छह प्रकार के अभ्यतंर तप समझना। वे बाह्य तप हैं। इस प्रकार दृष्टान्त के द्वारा सिद्धान्त कहा है। इसलिये इतना समझ लेना कि निश्चय धर्म तो वीतरागता है। अपने में पुण्य-पाप रहित शुद्धता का होना वीतरागभाव है।

अधिक क्या कहें! ज्ञानानन्द स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता होना ही धर्म है, अन्य कोई धर्म है ही नहीं। शास्त्र में अनेक प्रकार के भेदों को बाह्य साधन कहा है वह उपचार से कथन किया है।

क्षमा किसको कहना इसका तो पता नहीं हो और माने कि क्षमा मोक्ष का द्वार है; परन्तु आत्मा की अरुचि क्रोध है और आत्मा की रुचि करना क्षमा है इसका पता नहीं है; तो ऐसे जीव के सच्ची क्षमा कैसे हो सकती है? आत्मा ज्ञानानन्द वीतराग चैतन्यमूर्ति है। जिसको ऐसे आत्मा का आश्रय करके वीतराग दृष्टि हुई उसको जो शुभभाव होता है उसे उपचार से धर्म संज्ञा दी है। -इस रहस्य को नहीं जानने के कारण अज्ञानी को निर्जरा तत्व की सच्ची श्रद्धा नहीं होती।

सम्यक् दृष्टि का विषय क्या है और मिथ्या दृष्टि का विषय क्या है? इस रहस्य को नहीं जानने वाले के निर्जरातत्व की सच्ची श्रद्धा नहीं है। सात तत्वों की यथार्थ श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

कर्मो का छूटना द्रव्य निर्जरा है और पर्याय में शुद्धि की वृद्धि होना अर्थात् पुण्य-पाप रहित स्वरूप में लीनता होना भाव निर्जरा है-धर्म है। रस परित्याग, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय आदि धर्म नहीं है, उन्हें उपचार से तप (धर्म) कहा है। मेरा स्वभाव जानना-देखना है, रागादि करना मेरा स्वभाव नहीं है-ऐसी श्रद्धा पूर्वक स्वरूप मे लीनता होना धर्म है। वीतरागभाव हो तो उपवास को निमित्त कहते हैं। दृष्टि पूर्वक अविकारी परिणाम को निर्जरा कहते हैं। बाह्य तप को उपचार से धर्म संज्ञा कही है। द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करना भी राग है। उस राग से भी प्रथक् होने पर आत्मा को धर्म होता है। उपवास का नाम धारण करने पर भी यदि सात तत्वों का

भाव-भासन नहीं हो तो वह उपवास नहीं, बल्कि लंघन है, उससे निर्जरा नहीं होती। उससे निर्जरा मानना मिथ्यात्वरूप पाप है। आहार का न आना जड़ की क्रिया है, कषाय की मंदता पुण्य है; निर्जरा पुण्य रहित शुद्ध आत्मा के आश्रय से होती है। जो इस रहस्य को नहीं जानता उसको निर्जरा की सच्ची श्रद्धा नहीं है-इस कारण उसके बाह्य उपवासादि को व्यवहार संज्ञा लागू नहीं होती है।

मोक्षतत्व का अन्यथारूप

....तथा सिद्ध होना उसे मोक्ष मानता है। वहाँ जन्म-मरण-रोग-क्लेशादि दुःख दूर हुए, अनन्तज्ञान द्वारा लोकालोक जानना हुआ, त्रिलोकपूज्यपना हुआ-इत्यादि रूप से उसकी महिमा जानता है। सो सर्व जीवों के दुःख दूर करने की, ज्ञेय जानने की , तथा पूज्य होने की इच्छा है। यदि इन्ही के अर्थ मोक्ष की इच्छा की तो इसके अन्य जीवों के श्रद्धान से क्या विशेषता हुई?

तथा इसके ऐसा भी अभिप्राय है कि स्वर्ग में सुख है उससे अनन्तगुना सुख मोक्ष में है। सो इस गुणाकार में वह स्वर्ग-मोक्षसुख की एक जाति जानता है। वहाँ स्वर्ग में तो विषयादि सामग्रीजनित सुख होता है, उसकी जाति इसे भासित होती है; परन्तु मोक्ष में विषयादिक सामग्री है नहीं; सो वहाँ के सुख की जाति इसे भासित तो नहीं होती परन्तु महान पुरुष स्वर्ग से भी मोक्ष को उत्तम कहते हैं इसलिये यह भी उत्तम ही मानता है। जैसे-कोई गायन का स्वरूप न पहिचाने; परन्तु सभा के सर्व लोग सराहना करते हैं इसलिये आप भी सराहना करता है। उसी प्रकार यह मोक्षको उत्तम मानता है।....

मोक्षतत्व अरिहन्त-सिद्ध का लक्षण है। पंच परमेष्ठी में अरिहन्त-सिद्ध लक्ष्य है और मोक्षतत्व उनका लक्षण है। अतः जिसको मोक्षतत्व का भान नहीं है उसको अरिहन्त-सिद्ध का भी पता नहीं है। अपने में पूर्ण निर्मल पर्याय होना मोक्ष है। कहा भी है कि

"मोक्ष कही निज शुद्धता"

अज्ञानी जीव मुक्ति शिला पर जाने को सिद्धपना कहते हैं; परन्तु यह भूल है। अपनी शक्ति में-स्वभाव में शुद्धता भरी है, उसमें से परिपूर्ण व्यक्त शुद्धदशा का होना मोक्ष है। जब यहाँ पर्याय में मोक्ष होता है तब उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण आत्मा ऊपर जाता है। मोक्ष और उर्ध्वगमन में समयभेद नहीं है। अपनी ज्ञान शक्ति में से केवलज्ञान प्रगट हुआ, दर्शनशक्ति में से केवलदर्शन प्रगट हुआ, आनन्द शक्ति में से केवलआनन्द प्रगट हुआ-इत्यादि प्रकार से सम्पूर्ण शुद्धता का प्रगट होना मोक्ष है।

केवलज्ञान लोकालोक को जानता है-यह तो व्यवहार है। लोकालोक को जानता है इसलिये केवलज्ञान अथवा मोक्ष है-ऐसा नहीं है। ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि पर्यायों की परिपूर्णता है इसलिये मोक्ष है। मुक्ति शिला पर रहना सिद्धपना नहीं है; क्योंकि वहाँ तो एकेन्द्रिय-निगोदिया जीव भी है।

सिद्ध के जन्म, जरा, मरण, रोग- क्लेशादि दुःख दूर हुए हैं इसलिये मोक्ष मानता है; परन्तु अज्ञानी को यह भान नहीं है कि अपना स्वभाव जन्म-जरा रहित है।

वह ऐसा मानता है कि उन्हें अनन्तज्ञान द्वारा लोकालोक का ज्ञान हुआ है। जो सिद्ध दशा में लोकालोक का ज्ञान हो जाता है-ऐसा नहीं मानता वह तो व्यवहाराभासियों में भी नहीं आता; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि लोकालोक का ज्ञातृत्व मानने पर भी, जिसको यह पता नहीं है कि अपने में अनन्तज्ञान भरा है वह व्यवहाराभासी है।

कोई कहता है कि केवली भगवान अनन्त को अनन्त जानते हैं, इसलिये भगवान अनन्त का अन्त नहीं जानते; अतः उनको केवलज्ञान नहीं है; परन्तु यह भी भूल है। अनन्त को अनन्तरूप से नही जाने और अन्तरूप जाने तो केवलज्ञान मिथ्या सिद्ध हो। पंडित बनारसीदासजी ने 'परमार्थ वचनिका' में कहा है कि 'उस अनन्तता के स्वरूप को केवलज्ञानी पुरुष भी अनन्त ही देखते, जानते हैं और कहते हैं।' अनन्त का दूसरा अन्त है ही नहीं कि जो ज्ञान में अन्तरूप भासित हो। इसलिये सर्वज्ञ परमात्मा को अनन्तता अनन्तरूप ही भासित होती है। चैतन्य ज्योति अपने ज्ञानस्वभाव की सामर्थ्य से अपने द्रव्यसहित लोकालोक को नहीं जाने तो वह केवलज्ञान नहीं है। केवलज्ञान

लोकालोक को व्यवहार से जानता है, इसमें भूल करने वाला मिथ्यादृष्टि है; परन्तु केवलज्ञानी मात्र लोकालोक को ही जानते हैं;-ऐसा मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि है। वस्तु स्थिति यह है कि वे अपने को जानते हुए पर को जान लेते हैं।

अज्ञानी की बात-बात में भूल है, इसलिये ज्ञानी उसकी बात-बात में भूल बताते हैं। वह मानता है कि लोकालोक को जानते हैं इसलिये वे भगवान हैं; परन्तु यह तो व्यवहार है। तथा दुःख दूर हुआ, इसलिये भगवान हैं- ऐसा मानता है सो, दुःख दूर करने की इच्छा तो समस्त जीवों की है तब भगवान में और उनमें कोई अन्तर नहीं रहा। इसलिये मोक्षतत्व के यथार्थस्वरूप को जाने बिना अज्ञान नहीं मिटेगा और सम्यग्दर्शन नहीं होगा।

आत्मा का स्वभाव उत्पाद-व्यय और ध्रुव है; इसलिये आत्मा में पर्याय अपने ही कारण होती है। उसमें अन्य वस्तु तो निमित्तमात्र है। (भगवान के) संसार पर्याय का व्यय और मोक्षपर्याय का उत्पाद होता है (और आत्मा ध्रुवरूप विद्यमान रहता है।)

सिद्ध भगवान के जन्म-मरणादि का दुःख नहीं है-ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु केवली को स्वयं के कारण से चौदहवें गुणस्थान में विकार था उसका अभाव करके सिद्धदशा प्रगट की है वहाँ निरूपाधिक पूर्ण सुख है, उसको वह नहीं जानता। भगवान ने विकार पर्याय का अभाव किया है, इसका तो उसे पता नहीं है और भगवान तीनलोक को जानते हैं तथा त्रिलोक पूज्य हैं इसलिये भगवान महिमवान हैं-ऐसा वह जानता है; परन्तु सिद्ध के गुणों को नहीं जानता कि आत्मा में समस्त गुणों की परिपूर्ण निर्मल दशा मोक्ष है।

अज्ञानी मानता है कि संसार में तो बहुत काम करने होते हैं, सिद्ध को ऐसा कुछ करना नहीं पड़ता! इसलिये वे सुखी हैं। अज्ञानी यह नहीं जानता कि विकल्प की उत्पत्ति दुःख है किन्तु बाहर में कमाना, परिवार का पालन करना इत्यादि को दुःख और इन कार्यो का अभाव होना सुख है ऐसा मानता है। सिद्ध को ऐसा नहीं करना पड़ता इस कारण वे सुखी हैं-ऐसा वह मानता है।

भगवान लोकालोक को जानने से सुखी हैं-यह तो ज्ञेय जानने की महत्ता हुई। हम एक नाटक देखते हैं तो सुखी होते हैं, तो फिर भगवान लोकालोक के नाटक देखते हैं; अतः उनको तो बहुत सुख होता है। अज्ञानी इस प्रकार सिद्ध के ज्ञान और सुख की महत्ता जानता है; परन्तु उसको आत्मा की सुखरूपी शुद्धदशा का पता नही है।

अज्ञानी सिद्ध भगवान के त्रैलोक्य पूज्यता मानता है; किन्तु यह तो व्यवहार है। अपना स्वभाव पूज्य है; उसकी शक्ति के विश्वास से त्रैलोक्य पूज्यता प्रगट हो सकती है-ऐसा उसको पता नहीं है।

इस प्रकार वह बाहर से सिद्ध की महिमा करता है। अपना दुःख दूर करने की, ज्ञेय को जानने की तथा पूज्य होने की इच्छा तो समस्त संसारी जीवों में है; इसलिये इसमें कोई अपूर्वता नहीं है। अपना स्वभाव परिपूर्ण है इसका इसे विश्वास नहीं है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी लिखते हैं कि "यद्यपि प्रगटरूप से प्रवर्त्तमान में केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है, किन्तु जिसके वचन से, विचार योग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है-ऐसा स्पष्ट जाना है। स्वसन्मुख होने से पर्याय में ऐसा ख्याल आया है शक्तिरूप से है तो पर्याय में केवलज्ञान होगा और श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है। मेरा केवलज्ञान अल्पकाल में प्रगट होगा-ऐसा विश्वास आया है। विचार दशा से ऐसा निःशंक ज्ञान हुआ है कि केवलज्ञान होगा ही, और इच्छा दशा से केवलज्ञान हुआ है। अर्थात् इच्छा वर्तती है कि अल्पकाल मे केवलज्ञान प्रगट करूँगा। मेरा आत्मा केवलज्ञान शक्ति से भरपूर है। पहले केवलज्ञान शक्ति नहीं मानी थी, अब माना कि केवलज्ञान बाहर से नहीं आयेगा, बल्कि मुझमें से ही आयेगा-इस प्रकार श्रद्धा से केवलज्ञान वर्तता है। मुख्य (निश्चयनय) के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है। वर्तमान पर्याय को गौण करके द्रव्यार्थिकनय से केवलज्ञान वर्तता है।"

यह मोक्षतत्व की यथार्थ प्रतीति है। जिसे मोक्ष की प्रतीति नहीं है उसे सम्यग्दर्शन नहीं है।

लोग दुःख दूर होने को सिद्धदशा हुई कहते हैं; परन्तु दुःख दूर होना तो नास्ति कथन है; अस्ति क्या है ? लोकालोक का जानना यह व्यवहार कथन है; परन्तु निश्चय क्या है ? मेरा ज्ञानस्वभाव मुझसे है, केवलज्ञान अपने आश्रय से ही प्रगट होता है-ऐसी प्रतीति जिसको नहीं है वह अपने अभिप्राय में भेद, विकार या राग के आश्रय से धर्म मानता है। राग से संवर, निर्जरा और मोक्षतत्व नही है। नौ तत्वों को स्वतन्त्र नहीं मानने वाले की श्रद्धा सच्ची नहीं है।

उसके ऐसा भी अभिप्राय है कि स्वर्ग में जो सुख है उससे अनन्तगुना सुख मोक्ष में है; परन्तु स्वर्ग का सुख तो रागयुक्त है और वीतरागी सुख (मोक्ष का सुख) अनाकुल है; दोनो की जाति भिन्न-भिन्न है-ऐसा उसको भान नहीं है। अतः स्वर्ग के और मोक्ष के सुख को एक मानना भूल है।

आत्मा सहजानन्द मूर्ति है। उसकी प्रतीति और लीनता से सुख दशा होती हैं। संसार (स्वर्ग) सुख की अपेक्षा मोक्ष में अनन्तगुना सुख मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। स्वर्ग सुख तो विषयादि सामग्रीजनित होता है; अतः वह आत्मजनित सुख नही है। वहाँ बाग-बगीचे, हाथी-घोड़े, हीरे-जवाहरात आदि अनुकूल संयोगो का सुख मानता है; परन्तु उसको आत्मा के सुख का आभास भी नहीं है।

अज्ञानी जीव कहता है कि मोक्ष में शरीर, इन्द्रियां, लाड़ी, बाड़ी, गाड़ी, पैसा, आदि कुछ भी तो नहीं हैं, तो वहाँ कैसा सुख ?-यह उसकी मान्यता है। कोई कोई कहते हैं कि भगवान तीनलोक-तीनकाल के नाटक देखते हैं, इसलिये उनको महान आनन्द है।-ऐसी मान्यता वाले जीवों को मोक्ष के स्वरूप का पता नहीं है। अपनी पर्याय में पूर्ण आनन्द का प्रगट होना ही मोक्ष है। अर्थात् जैसी परिपूर्ण शक्ति है वैसी परिपूर्णता पर्याय में प्रगट होना मोक्ष है-ऐसा अज्ञानी को पता नहीं है; परन्तु महापुरुष स्वर्ग से मोक्ष को उत्तम कहते हैं, इसलिये अज्ञानी भी मोक्ष को उत्तम मानता है। जैसे कोई संगीत के स्वरूप को नही जानता; परन्तु सारी सभा को प्रशंसा करते देखकर स्वयं भी प्रशंसा करने लगता है, उसी प्रकार अज्ञानी मोक्ष को उत्तम मानता है।

....यहाँ वह कहता है-शास्त्र में भी तो इन्द्रादि के सुख से अनन्तगुना सुख सिद्धों के प्ररूपित किया है?

उत्तरः- जैसे तीर्थंकर के शरीर की प्रभा को सूर्य प्रभा से कोटि गुनी कही, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है; परन्तु लोकमें सूर्यप्रभा की महिमा है, उससे भी अधिक महिमा बतलाने के लिये उपमालंकार करते हैं। उसी प्रकार सिद्धसुख को इन्द्रादिसुख से अनन्तगुना कहा है, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है; परन्तु लोक में इन्द्रादिसुख की महिम. है, उससे भी बहुत महिमा बतलाने के लिए उपमालंकार करते हैं।....

प्रश्नः- शास्त्र में भी इन्द्र के सुख की अपेक्षा सिद्धों को अनन्तगुना सुख है-ऐसा प्ररूपित किया है उसका क्या कारण है?

उत्तरः- यहाँ जिसको मोक्षतत्व की पहिचान नहीं है उसकी बात चलती है। जिस प्रकार तीर्थंकर के शरीर की प्रभा सूर्य के तेज से करोड़ गुना कही है; परन्तु वहाँ उनकी एक जाति नहीं है। भगवान के उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है और शरीर परमौदारिक है; सूर्य का जो विमान दिखता है वह पृथ्वीकाय है। तीर्थंकर के पंचेन्द्रिय शरीर है। इस कारण पुण्य प्रकृति उत्कृष्ट है; परन्तु लोक में सूर्य के प्रकाश की महिमा है; उससे भी अधिक महिमा बताने के लिये यह उपमा दी है। तीर्थंकर के केवलज्ञान की तो क्या बात! परन्तु उनकी पुण्य प्रकृति भी तीनलोक में अद्वितीय है। उन्होंने पूर्व में तीर्थंकर नामकर्म बांधा है, उसके निमित्त से अद्‌भुत शरीर है। भक्तामर स्तोत्र में आता है कि हे नाथ! जगत में जितने शान्त परमाणु हैं वे सब आपके शरीर में आकर परिणमित हो गये हैं। उनका शरीर ऐसा शान्त दिखने वाला होता है। जहाँ गौतम ने समवसरण में प्रवेश किया कि भगवान को देखकर उनका मान गल गया। वस्तुतः मान तो उनकी स्वयं की पात्रता से गला है, वहाँ भगवान को निमित्त कहा जाता है। बस! इस दृष्टान्त के अनुसार ही सिद्ध के सुख को इन्द्रादि के सुख से अनन्तगुना कहा है। वहाँ उन दोनो की जाति एक नहीं है; परन्तु लोक में इन्द्र सुख की महिमा है; इसलिये उपमालंकार से ऐसा कहा है। महिमा बतलाने के लिये ऐसा कहा है। जिनके अन्दर से आत्मा का सुख प्रगट हुआ है वैसी जाति अन्यत्र नहीं हो सकती।

...फिर प्रश्न है कि वह सिद्धसुख और इन्द्रादिसुख की एक जाति जानता है-ऐसा निश्चय तुमने कैसे किया?

समाधानः- जिस धर्मसाधन का फल स्वर्ग मानता है; उस धर्मसाधन ही का फल मोक्ष मानता है। कोई जीव इन्द्रादि पद प्राप्त करे, कोई मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ उन दोनो को एक जाति के धर्म का फल हुआ मानता है। ऐसा तो मानता है कि जिसको साधन थोड़ा होता है वह इन्द्रादिपद प्राप्त करता है, जिसके सम्पूर्ण साधन हो वह मोक्ष प्राप्त करता है; परन्तु वहाँ धर्म की जाति एक जानता है। सो जो कारण की एक जाति जाने, उसे कार्य की भी एक जाति का श्रद्धान अवश्य हो; क्योंकि कारणविशेष होने पर ही कार्यविशेष होता है। इसलिये हमने यह निश्चय किया कि उसके अभिप्राय में इन्द्रादिसुख और सिद्धसुख की एक जाति का श्रद्धान है।....

प्रश्नः- तुमने यह निश्चय किस प्रकार किया कि अज्ञानी सिद्ध के सुख और इन्द्रादि के सुख की एक ही जाति मानता है?

उत्तरः- वह जिस धर्म साधन से स्वर्ग होना मानता है उसी साधन से मोक्ष होना मानता है- इस कारण उसके अभिप्राय में स्वर्ग और मोक्ष की एक जाति है।

लोग कहते हैं कि व्यवहार करो तो एक दिन बेड़ा पार हो जायेगा। तो क्या राग करते-करते धर्म होता है? नहीं, बाहर का लक्ष्य छोड़े बिना निश्चय कभी भी प्रगट नहीं होता। तुम राग की क्रिया से स्वर्ग मानते हो और राग की क्रिया से मोक्ष होना भी मानते हो- इस कारण तुमको मोक्ष का पता नहीं है। व्यवहार से मोक्ष मानने वाला मूढ़ है उसको मोक्ष की जाति का पता नहीं है। अनशनादि करने से, णमोकार मंत्र जपने से धर्म होगा- ऐसा अज्ञानी मानता है। जब अंजनचोर ने अपने आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट किया तो उसके द्वारा पूर्व में जपे हुए णमोकार मंत्र के शुभराग पर उपचार किया है। जिस भाव से स्वर्ग की प्राप्ति होती है उसी भाव से मोक्ष होना मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। जो जीव निश्चय दशा प्राप्त करता है, उसके पूर्व के शुभराग को व्यवहार कहा जाता है। अंजनचोर ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है उसका

आरोप णमोकार मंत्र पर किया है। नौवें ग्रैवेयक तक जाने वाले मिथ्यादृष्टि मुनि ने बहुत बार णमोकार मंत्र जपा है; तो उस पर आरोप क्यों नहीं आता? कारण कि उसको निश्चय प्रगट नहीं हुआ है। इसलिये अंजनचोर ने अभेद स्वभाव की दृष्टि करके भविष्य में सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, तो उसके व्यवहार के एक अंश पर आरोप करके कहा गया है कि अंजनचोर ने णमोकार मंत्र से धर्म प्राप्त किया; परन्तु अज्ञानी जीव तो बाह्य क्रिया और शुभभाव से मोक्ष होना मानता है। वस्तुतः वह अज्ञानी जीव मोक्षतत्व को नहीं जानता, इसलिये अरिहन्त को भी नहीं जानता।

तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। वह व्यवहार समकित नहीं, बल्कि निश्चय समकित है। तत्व अर्थात् भाव का भासन होना और अर्थ माने द्रव्य-गुण-पर्याय। द्रव्य-गुण-पर्याय के भाव का यथार्थ भासन होना निश्चय सम्यग्दर्शन है।

सिद्धचक्र विधान पूजा होती है, उसमें जड़ की क्रिया स्वतन्त्र होती है, वह आत्मा से नहीं हुई है। जब नैमित्तिक (जड़ की) क्रिया होती है तो आत्मा की इच्छा और योग को निमित्त कहा जाता है। जड़ और चेतन दोनो भिन्न-भिन्न होने पर भी यह मानना कि दोनो मिलकर कार्य करते हैं भ्रान्ति है। उपादान और निमित्त दोनो निश्चय है और दोनो अपना-अपना निश्चय है। उपादान की पर्याय निश्चय है और निमित्त की पर्याय भी निश्चय है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं की अपेक्षा से निश्चय है और अन्य पदार्थ के साथ के सम्बन्ध को व्यवहार कहते हैं।

प्रश्नः- आप कैसे कहते हो कि हम स्वर्गसुख और मोक्षसुख को एक मानते हैं?

उत्तरः- जिस परिणाम से स्वर्ग मिलता है उसी परिणाम से मोक्ष मिलता है- ऐसा तू मानता है; इस कारण तेरे अभिप्राय में स्वर्ग और मोक्ष की एक जाति है। कारण में विपरीतता है, इसलिये कार्य में भी विपरीतता है। व्यवहार करो तो बेड़ा पार हो जायेगा- ऐसा अज्ञानी मानता है। वह यथार्थ कारण को नहीं मानता। जो यह मानता है कि बहुत पुण्य करो तो पुण्य फटकर मोक्ष मिलेगा; तो वह मूढ़ है, वह मोक्ष को नहीं जानता। जिस कारण से बंध होता है उस कारण को मोक्ष का कारण मानने वाला मूढ़ है।

....तथा कर्मनिमित्त से आत्मा के औपाधिक भाव थे, उनका अभाव होने पर आप शुद्धस्वभावरूप केवल आत्मा हुआ। जैसे-परमाणु स्कन्ध से पृथक् होने पर शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह कर्मादिक से भिन्न होकर शुद्ध होता है। विशेष इतना कि वह दोनो अवस्था में दुःखी-सुखी नहीं है; परन्तु आत्मा अशुद्ध अवस्था में दुःखी था, अब उसका अभाव होने से निराकुल लक्षण अनन्तसुख की प्राप्ति हुई।....

कर्म के निमित्त से अपनी पर्याय में औदयिकभाव है। असिद्धभाव जीव का स्वतत्व है। अज्ञानी को इसका भाव भासित नहीं होता। मोक्ष अपनी पर्याय में होता है, कर्म का अभाव अपना भाव नहीं है। कर्मोदय के निमित्त से औदयिकभाव- राग द्वेष हैं। केवली भगवान को भी अपनी पर्याय में कुछ गुण, जैसे कि कर्त्ता, कर्म, करण आदि तथा वैभाविकशक्ति, क्रियावतीशक्ति, योग आदि में विकाररूप परिणमन है। अर्थात उदयभाव है, मलिनता है; इस कारण वे सिद्धदशा को प्राप्त नहीं करते। असिद्धत्व अपनी पर्याय का दोष है।

चौदहवें गुणस्थान तक स्वयं के कारण से औपाधिकभाव है। अपनी नैमित्तिक पर्याय में मलिनता है, उसका अभाव होकर सिद्धदशा होती है। (मलिनता में) कर्म का निमित्त है और अपनी पर्याय में नैमित्तिकता स्वयं के कारण से है। जीव वहाँ रुका है- इसकारण द्रव्यमोक्ष नहीं होता। उपाधिभाव का अभाव होने से, शुद्धस्वभावरूप केवल आत्मा होने से द्रव्य मोक्ष होता है। इस प्रकार मोक्ष तत्व का भाव-भासन होना चाहिये। जैसे स्कंध से प्रथक हुआ परमाणु शुद्ध होता है; उसी प्रकार आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन अनन्तआनन्द, अनन्तवीर्य आदिरूप होता है। मोक्ष लक्षण है और अरिहन्त-सिद्ध लक्ष्य है। अतः जिसको मोक्ष के भाव का भासन नहीं है उसको अरिहन्त-सिद्ध की श्रद्धा भी विपरीत है। सम्यग्दर्शन यथार्थ निर्णय करने पर ही होता है।

परमाणु स्कंध से प्रथक पड़े तो शुद्ध है; परन्तु विशेषता यह है कि परमाणु स्कंध में होवे तो दुःखी नहीं है और प्रथक् पड़ने पर सुखी नहीं है। अर्थात् उसको सुख-दुःख नहीं है। जबकि आत्मा अशुद्ध अवस्था के समय दुःखी है और शुद्ध अवस्था के समय सुखी है। परमाणु और आत्मा में इतना अन्तर है।

औपाधिकभाव संसार है और उनका अभाव होना मोक्ष है और वहाँ निराकुल लक्षण वाले अनन्तसुख की प्राप्ति होती है।

....तथा इन्द्रादिकके जो सुख है वह कषायभावों से आकुलतारूप है, सो वह परमार्थ से दुःख ही है; इसलिये उसकी और इसकी एक जाति नहीं है। तथा स्वर्गसुख का कारण प्रशस्तराग है, और मोक्षसुख का कारण वीतरागभाव है; इसलिये कारण मे भी विशेष है; परन्तु ऐसा भाव इसे भासित नहीं होता।

इसलिये मोक्ष का भी इसको सच्चा श्रद्धान नहीं है।....

तथा इन्द्रादिकों का सुख है वह तो आकुलता का सुख है। इन्द्रानी में, धनादिक में सुख नहीं है। वस्तुतः तो इन्द्र भी दुःखी है। अपने स्वभाव को चूककर धनादिक में सुख मानना दुःख है। जीव रोग से दुःखी और निरोगता से सुखी नहीं है। आकुलता जन्य परिणाम होना दुःख है; इसलिये देव आदि भी परमार्थतः दुःखी ही हैं। उनके और सिद्ध के सुख की एक जाति नहीं है। तथा स्वर्ग सुख का कारण तो प्रशस्तराग है और मोक्ष सुख का कारण वीतरागभाव है- इस प्रकार दोनो के कारणों में अन्तर है। अज्ञानी को सात तत्वों की श्रद्धा का पता नहीं है और श्रद्धा के बिना धर्म नही होता। क्या दया, दान यात्रा, भक्ति आदि में धर्म है? नहीं। चारित्र ही धर्म है और उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। क्या मूल के बिना शाखा या वृक्ष होता है? नही होता है।

....इस प्रकार इसके सच्चा तत्वश्रद्धान नहीं है। इसलिये समयसार में कहा है कि अभव्य को तत्वश्रद्धान होने पर भी मिथ्यादर्शन ही रहता है। तथा प्रवचनसार में कहा है कि आत्मज्ञानशून्य तत्वार्थश्रद्धान कार्यकारी नहीं है।....

अज्ञानी जीव के विकल्प सहित नव तत्वों की श्रद्धा हुई है; परन्तु भाव-भासन नहीं हुआ- इसकारण मिथ्यादर्शन ही रहता है।

अभव्य के तत्वश्रद्धान है वह नाम निक्षेप से है; परन्तु उसके यथार्थ श्रद्धान तत्वार्थ नहीं समझना; कारण कि उसके भाव का भासन नहीं होता। अभव्य के

जीवादिक का श्रद्धान है; परन्तु भाव भासन नहीं है अथवा भावनिक्षेप से नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र है- ऐसा भाव-भासन उसको नहीं है।

समयसार में कहा है कि अभव्य के तत्वार्थ श्रद्धान होने पर भी वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है उसको भाव-भासन नहीं होने से सच्चा तत्वार्थ श्रद्धान नहीं होता।

अभी तो जीवों के सात तत्वों की व्यवहार से वे जैसे हैं वैसी श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। अज्ञानी को तत्व श्रद्धान है; परन्तु सच्चा तत्व श्रद्धान नहीं है। अज्ञानी जीव दिगम्बर जैन नग्न साधु होकर नौवें ग्रैवेयक तक जाता है; परन्तु सात तत्व क्या है- इसका उसे पता नहीं है, इस कारण उसके मिथ्यादर्शन रहता है।

अभव्यजीव सूक्ष्म अभिप्राय में नित्य कर्मफलचेतनारूप वस्तु का श्रद्धान करता है; परन्तु नित्य ज्ञानचेतनारूप वस्तु का श्रद्धान नहीं करता। कारण कि उसको स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है। ज्ञानमात्र ही सत्यार्थ धर्म है- ऐसी श्रद्धा वह नहीं करता बल्कि असत्यार्थरूप शुभभाव जो कि भोग का कारण है उसका श्रद्धान-आचरण करता है। उस अभूतार्थ धर्म की रुचि-प्रतीति करके अन्तिम ग्रैवेयक तक के भोग को प्राप्त करता है; परन्तु कभी संसार से नहीं छूटता। अज्ञानी द्रव्यलिंगी मुनि को वास्तव में राग नहीं छूटा है; इसलिये बाहर की वस्तुयें छूट गई है- ऐसा आरोप भी नहीं आता। 'ज्ञानमात्र सत्य धर्म है'- ऐसी श्रद्धा उसके नहीं है- इस कारण उसको सच्ची श्रद्धा नहीं हैं। जो आत्मा में एकाकार ज्ञानस्वभाव का आश्रय नहीं करता उसको उस स्वभाव से विरूद्ध राग और राग के भोग की रुचि है- ऐसा निर्णय होता है।

श्री प्रवचनसार में कहा है कि आत्मज्ञान शून्य तत्वार्थ श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। वहाँ कहा गया तत्वार्थ श्रद्धान भी नाम निक्षेप से है। वहाँ राग रहित तत्वार्थ श्रद्धान की बात नहीं है। तत्वार्थो का जैसा भाव है वैसा ही भासन होना तत्वार्थ श्रद्धान है। राग का आलम्बन छूटकर नौ ही तत्वों के भाव का भासन एक आत्मा में होना सम्यग्दर्शन है। ज्ञान भेद करके जानता है, तो भी उसमें राग का आलम्बन नहीं है। अभेद के आलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है।

भेद के चार अर्थ निम्नानुसार है :-

(1) आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद करना भी भेद है- व्यवहार है। वह बंध का कारण है, धर्म का नहीं।

(2) आत्मा शरीर से भिन्न है, कर्म से भिन्न है- ऐसे विकल्प सहित भेद करना सो भेदज्ञान है; परन्तु वह राग सहित है। सम्यग्दर्शन होने के पूर्व ऐसा विकल्पमय भेदज्ञान होता है।

(3) राग का अभाव होकर स्वभाव में एकाग्र होना निर्विकल्प भेदज्ञान है। उसमें पर से प्रथक् होने की अपेक्षा भेदज्ञान कहा है, तथापि वह निर्विकल्प है।

(4) 'तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन' - यह चौथी बात है। ज्ञान सबको जान लेता है, तो भी वहाँ राग नहीं है।

यद्यपि यह निर्विकल्प भेदज्ञान (नं.3) में आ जाता है; तथापि अपेक्षा में अन्तर है। अपना भावभासन होने पर उसमें सात तत्वों का भावभासन आ जाता है। यहाँ अपनी स्व-परप्रकाशक ज्ञान सामर्थ्य से स्व को जानते हुए सात तत्वों को जान लेता है; तो भी वहाँ राग नहीं है- इस अपेक्षा से निर्विकल्प भेदज्ञान है। अपने ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि स्व-पर को भेद करके जानता है; तो भी वह निर्विकल्प भेदज्ञान है। सातों तत्व भेदरूप है- ऐसे भाव का भासन एक आत्मा में होना निर्विकल्प भेदज्ञान है।- ऐसा यहाँ और तत्वार्थसूत्र में कहा है।

श्री 'समयसार नाटक' में सविकल्प और निर्विकल्प भेदज्ञान की बात आती है। वहाँ प्रथम सविकल्प भेदज्ञान को उपादेय कहा है; फिर तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। उसमें निर्विकल्प भेदज्ञान की बात है। नवतत्वों की परिपाटी नहीं है। अर्थात नौ के विकल्प नहीं है। मोक्षशास्त्र कथित तत्वार्थ श्रद्धान 'एकरूप भाव' है, वहाँ विकल्प नहीं है। समयसार में 'नवतत्वों की परिपाटी को छोड़कर एक आत्मा प्राप्त होओ'- तो वहाँ राग सहित के नवतत्वों की बात की है।

एकरूप स्वभाव की प्रतीति सम्यग्दर्शन है। पर्याय में सात तत्व के भाव का भासन होना सम्यग्ज्ञान है। यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक और तत्वार्थसूत्र में वैसे सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन की बात है। सात तत्वों का भासन होना- यह ज्ञान प्रधान कथन है। ज्ञान सातों को यथार्थ जानता है, तो भी उसमें राग नहीं है। तीसरे बोल में जो विकल्प रहित भेदज्ञान कहा है वह पर से भेद पड़ने की अपेक्षा से बात की है और चौथे बोल में अपने ज्ञान की सामर्थ्य से सातों तत्वों को भासन होता है वह एकरूप है। समयसार में दर्शन (दृष्टि) की प्रधानता से सम्यग्दर्शन की व्याख्या है।

....तथा व्यवहारदृष्टि से सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं उनको यह पालता है, पच्चीस दोष कहे हैं उनको टालता है, संवेगादिक गुण कहे हैं उनको धारण करता है; परन्तु जैसे बीज बोए बिना खेत के सब साधन करने पर भी अन्न नहीं होता; उसी प्रकार सच्चा तत्वश्रद्धान हुए बिना सम्यक्त्व नहीं होता। पंचास्तिकाय व्याख्या में जहाँ अन्त में व्यवहाराभास वाले का वर्णन किया है वहाँ ऐसा ही कथन किया है।

इस प्रकार इसको सम्यग्दर्शन के अर्थ साधन करने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।....

मिथ्यारुचि वाला जीव व्यवहार दृष्टि से सम्यग्दर्शन के निःशंकित निःकांक्षित आदि आठ अंगों का पालन करता है; किन्तु वह तो शुभराग है, धर्म नहीं। वह आठ अंगों का पालन करने पर भी व्यवहाराभासी है।

जिसको चिदानन्द ज्ञायक स्वरूप का पता नहीं है, मैं जानने वाला हूँ- ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। व्यवहार का विकल्प तो आस्रव तत्व है। जिसको परम पारिणामिक स्वभावभाव की दृष्टि नहीं हुई वह सम्यक्त्व के आठ अंगादि का पालन करने पर भी मिथ्यादृष्टि है। जो कुदेवादिक को मानता है वह तो व्यवहाराभासी भी नहीं हैं।

जिसको कुदेवादि की श्रद्धा है और व्यवहार से सच्चेदेव-शास्त्र-गुरु का भी पता नहीं है वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। जो सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और अनेकान्त को बतलाने वाले शास्त्र की श्रद्धा करता है और कुदेवादि की श्रद्धा छोड़ता है तथा उन्हें मानने वालों की श्रद्धा छोड़ता है, आठ मद नहीं करता, आठ अंगो का पालन करता है और देव-गुरु-लोक मूढता का त्याग करता है। अर्थात् पच्चीस मलों का त्याग करता है; तो वह राग है और राग है वह पुण्य है, धर्म नहीं है। जिसके पच्चीस दोषों का त्याग नहीं है वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसके गृहीत मिथ्यात्व का तो अभाव हुआ है; परन्तु अन्तरस्वभाव का भान नहीं है वह शुभोपयोग युक्त होने पर भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। कारण कि व्यवहार से पच्चीस दोष दूर करने पर भी उसके यथार्थ तत्वार्थश्रद्धान नहीं है। तत्वार्थश्रद्धान में भाव भासन होना चाहिये।

वह संवेगादि धारण करता है। अप्सरा आने पर भी चलित नहीं होता। भगवान की भक्ति के लिये मस्तक भी दे दे; तो भी वह शुभभाव है। परन्तु जैसे बीज बोये बिना खेत की सावधानी पूर्वक संभाल करने पर भी अनाज नहीं होता; उसीप्रकार पच्चीस दोषो का त्याग, संवेगादि का पालन क्षेत्र शुद्धि है; परन्तु आत्मभानरूपी बीज के बिना मात्र क्षेत्र शुद्धि व्यर्थ है। उस व्यवहार आचार का फल संसार है। जो कुदेवादिक को मानता है उसके तो क्षेत्र शुद्धि भी नहीं है। सर्वज्ञ कथित मार्ग ही सच्चा मार्ग है- ऐसा मानने पर भी सम्यग्दर्शनरूपी बीज के बिना कोई लाभ नहीं हो सकता। जिसको केवलज्ञान में शंका है, महाविदेहक्षेत्र में शंका है, असंख्य द्वीप-समुद्र होंगे या नहीं- ऐसा संदेह है उसको तो शास्त्र की श्रद्धा भी नहीं है। वह जीव तो व्यवहाराभासी में भी नहीं आता है। जिसको 'मै ज्ञायक हूँ'- ऐसे भानपूर्वक राग होता है उसके राग को व्यवहार कहते हैं। जो सर्वज्ञ वीतराग कथित धर्म और वेदांतादि को समान मानता है वह तो मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्नः- मध्यस्थ बुद्धि रखे तो?

उत्तरः- मल और हलुए में मध्यस्थ बुद्धि रखे तो? सर्वमत में समानभाव अर्थात् उनको एक मानना मूर्खता है। सर्वज्ञ वीतराग कथित मार्ग के साथ मिथ्यामतों का समन्वय नहीं हो सकता। अतः दोनो को यथावत जानने वाला मध्यस्थ है। दर्पण के सामने जैस-जैसे पदार्थ होंगे वह उन्हें वैसा ही बतलाता है। उसी प्रकार पदार्थ जैसे हैं ज्ञान उन्हें वैसा ही जानता है। जैसे (वहाँ) दर्पण की स्वच्छ अवस्था स्वयं के कारण होती है; उसी प्रकार चैतन्य दर्पण में विरूद्ध-अविरूद्ध वस्तुयें ज्यों की त्यों ज्ञात होती है। यहाँ किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं है, परन्तु जैसा वस्तु स्वरूप है वैसा प्रतिपादन है।

तात्पर्य यह है कि व्यवहार सुधारने पर भी जिसको परमार्थ का भान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है

इस प्रकार व्यवहाराभासी जीव सम्यग्दर्शन में क्या भूल करता है- यह बतलाया। अब वह सम्यग्ज्ञान में क्या भूल करता है- यह बतलाते हैंः-

सम्यग्ज्ञान का अन्यथारूप

....अब, शास्त्र में सम्यग्ज्ञान के अर्थ शास्त्राभ्यास करने से सम्यग्ज्ञान होना कहा है; इसलिये यह शास्त्राभ्यास में तत्पर रहता है। वहाँ सीखना, सिखाना, याद करना, बाँचना, पढ़ना आदि क्रियाओं में तो उपयोग को रमाता है; परन्तु उसके प्रयोजन पर दृष्टि नही है। इस उपदेश में मुझे कार्यकारी क्या है, सो अभिप्राय नहीं है; स्वयं शास्त्राभ्यास करके औरों को सम्बोधन देने का अभिप्राय रखता है और बहुत से जीव उपदेश मानें वहाँ सन्तुष्ट होता है; परन्तु ज्ञानाभ्यास तो अपने लिये किया जाता है और अवसर पाकर पर का भी भला होता हो तो पर का भी भला करे। तथा कोई उपदेश न सुने तो मत सुनो-स्वयं क्यों विषाद करे? शास्त्रार्थ का भाव जानकर अपना भला करना।

तथा शास्त्राभ्यास में भी कितने ही तो व्याकरण, न्याय, काव्य आदि शास्त्रों का बहुत अभ्यास करते हैं; परन्तु वे लोक मे पांडित्य प्रगट करने के कारण हैं; उनमें आत्महित का निरूपण तो है ही नहीं। इनका तो प्रयोजन

इतना ही है कि अपनी बुद्धि बहुत हो तो थोड़ा बहुत इनका अभ्यास करके पश्चात् आत्महित साधक शास्त्रों का अभ्यास करना। यदि बुद्धि थोड़ी हो तो आत्महित के साधक सुगम शास्त्रों का ही अभ्यास करे। ऐसा नहीं करना कि व्याकरणादि का ही अभ्यास करते-करते आयु पूर्ण हो जाये और तत्वज्ञान की प्राप्ति न बने।....

शास्त्रों में शास्त्राभ्यास करने से सम्यग्ज्ञान होना कहा है- इस कारण शास्त्राभ्यास में तत्पर रहता है। अपनी ज्ञानपर्याय शास्त्र में से आती है- ऐसा मानता है। शास्त्र पुद्गल है, अजीव है, मूर्त्त है। अज्ञानी को शास्त्र के अभिप्राय का पता नहीं है और शास्त्रों को रट-रट कर मर जाता है वह मात्र शास्त्र पाठी है। उसको पता नहीं है कि ज्ञानगुण में से ज्ञान पर्याय आती है। वह मानता है कि मुझे देशना से लाभ होगा। इस प्रकार अज्ञानी जीव मात्र शास्त्राभ्यास में लीन- तत्पर रहता है। ज्ञानी शास्त्राभ्यास करता है; परन्तु वह मात्र शास्त्राभ्यास में लीन नहीं है। उनको आत्मअभ्यास में लीनता वर्तती है। अज्ञानी शास्त्राभ्यास करता है; सीखता है, अन्य को सिखाता है, याद करता है; परन्तु उसको शास्त्राभ्यास के प्रयोजन का पता नहीं है। राग क्या है, जड़ की क्रिया क्या है- इसका उसे पता नहीं है। अज्ञानी कहता है कि ऐसे निमित्त मिलाओ, ऐसी क्रिया करो इत्यादि! परन्तु उसको यह पता नहीं है कि सब कुछ निश्चित है, मैं ज्ञाता हूँ। आत्मा का जानने का स्वभाव निश्चित है और ज्ञेय भी निश्चित है- ऐसा वह नहीं जानता है। अज्ञानी जीव शास्त्र पठन में- जानने में रुक जाता है; परन्तु शास्त्र की पर्याय शास्त्र के कारण से निश्चित है और अपनी पर्याय अपने कारण से निश्चित है- ऐसा भान उसको नहीं है। अतः उसका शास्त्र पठन का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ।

शास्त्र पढ़कर वाद-विवाद करने वाला तो अंधा है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि :-

'सदगुरु कहे सहज का धंधा, वाद विवाद करे सो अंधा'
'खोजी जीवे वादी मरे'

सत्य का शोधक जीव धर्म को प्राप्त करेगा और वाद विवाद करने वाला संसार में परिभ्रमण करेगा। शास्त्र का प्रयोजन अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना है; वह नहीं करता। 'आदि पुराण' में कहा है कि तत्वज्ञान के बिना अकेले शास्त्र पढ़ने वाला अक्षर- म्लेच्छ है।

शास्त्र कहते हैं कि प्रथम दृष्टि पलटनी चाहिये। पर्यायज्ञान होना आवश्यक है। जो पर्याय अकेले पर का ज्ञान करती है वह पलटकर स्व का ज्ञान करे यह 'पर्यायज्ञान' है। यह ज्ञानसामर्थ्य की बात है। श्रुतज्ञान की पर्याय स्व-पर प्रकाशक होती है वह सच्ची है। जो पर्याय राग में अटकती है वह पर्यायज्ञान नहीं है। ज्ञान पर्याय एक समय में स्व-पर को जानने की शक्ति वाली है- ऐसा न मानकर मात्र राग को अथवा पर को जानना पर्यायज्ञान नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने पर्यायज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। पर्याय में स्व-पर प्रकाशक ज्ञान सम्यक् प्रगट न हो वहाँ तक पर्यायज्ञान सच्चा नहीं है। ज्ञान पर्याय का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। समयसार, गाथा-15 में कहा है कि भावश्रुत ज्ञानपर्याय स्व सहित पर को जानती है- ऐसा नहीं जानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

अज्ञानी शास्त्र सीख तो लेता है; परन्तु उसका प्रयोजन नहीं जानता। शास्त्राभ्यास करके अपने में स्थिरता करना चाहिये- यह प्रयोजन है, उसे नहीं करता। परन्तु अन्य को समझाने का अभिप्राय हो, अथवा व्याख्यान की शैली सुधारने का अभिप्राय रखे तो मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि वहाँ दूसरों को उपदेश देने का अभिप्राय है। जैसे किसी को धनादि लक्ष्मी प्राप्त होने पर वह बाहर में ढ़िढोरा नहीं पीटता; परन्तु खर्च करने से ही उसके धनवानपने का पता पड़ जाता है। उसी प्रकार आत्मा का भान होने वाला जीव छिपा नहीं रहता। अज्ञानी तो दुनिया को समझाने जाता है। बहुत लोग समझें तो ठीक है- ऐसा मानता है। वह मानता है कि करोंडो लोग मानें तो अपनी बात सत्य है। बहुत लोग मानने वाले होने पर सन्तुष्ट होता है। क्या बहुत लोगों को मानने से अपने को लाभ है? और कोई नहीं माने तो अपनी हानि है?- ऐसा नहीं है। अन्य जीव उसके स्वयं के कारण धर्म प्राप्त करता है और अपने को अपने कारण से धर्म होता है। अपने को राग होता है, उससे अपने को अथवा पर को लाभ नहीं होता।

अपने को लाभ-नुकसान अपनी पर्याय से है; पर की पर्याय से अपने को किंचित भी लाभ-नुकसान नहीं है- इस बात का अज्ञानी को पता नहीं है।

उपदेश देने से अच्छा आहार-पानी मिलेगा, अच्छी सुख-सुविधायें मिलेगी- ऐसी दृष्टि मिथ्या है। उसकी दृष्टि आत्मा पर नहीं है। अपने से दूसरे की पर्याय नहीं होती। ज्ञानाभ्यास तो स्वयं के लिये किया जाता है और विकल्प के समय वाणी निकलना हो तो निकलती है, उसका निमित्त पाकर पर का भी भला होता हो तो होवे; परन्तु अपने उपदेश से पर-जीव धर्म प्राप्त करता है- ऐसी मान्यता मिथ्या है। उपदेश अथवा वाणी आत्मा से नहीं निकलती। वाणी की पर्याय भी निश्चित है। अज्ञानी जीवों को आत्मज्ञान का पता नहीं है और शुभराग आता है उससे धर्म मानते हैं- इस कारण उनको मिथ्यात्व का लाभ होता है।

दूसरे जीवों के उपदेश सुनने से अपने आत्मा को लाभ नहीं है; परन्तु अपनी ज्ञान की निर्मलता से अपने को लाभ है। कोई नहीं सुने अथवा नहीं समझे तो विषाद किसलिये करता है? अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं, तो भी सभी जीवों का मोक्ष नहीं हुआ है। सब अपनी-अपनी योग्यता से समझते हैं। इसलिये पर की आवश्यकता नहीं है। (स्वयं को समझकर निजहित कर लेना चाहिये।) जो शास्त्रों का भाव समझकर अपना हित नहीं करता और मात्र शास्त्रों में ही तत्पर रहता है वह मिथ्यादृष्टि है।

अनादि काल से अज्ञानी जीव यथार्थ तत्व श्रद्धान नहीं करता। वह ज्ञान में क्या भूल करता है यह बात चल रही है। अज्ञानी शास्त्र तो पढ़ जाता है; परन्तु आत्मा पर द्रव्यों से भिन्न है- ऐसी प्रतीति करना शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है वह नहीं करता। शास्त्र दया पालने को नहीं कहते; शास्त्र का प्रयोजन तो वीतरागता है; उसे वह नहीं समझता। अन्य जीव उपदेश सुने तो अज्ञानी प्रसन्न होता है; परन्तु अन्य को उपदेश देने से अपने को लाभ नहीं है। उपदेश तो जड़ (भाषा) वर्गणा है, उसका स्वामी आत्मा नहीं है। मेरे उपदेश से अन्य जीव धर्म प्राप्त कर लेंगे- ऐसा मानना भ्रम है। उपदेश तो जड़ की-भाषावर्गणा की क्रिया है, आत्मा उसको नहीं कर सकता। उपदेश देने का भाव शुभ आस्रव है; इन दोनो से रहित अपना आत्मा शुद्ध है- ऐसी प्रतीति करना शास्त्र का प्रयोजन है। इस प्रयोजन को अज्ञानी नहीं साधता।

कुछ लोग व्याकरणादि के अभ्यास में बहुत समय लगाते हैं; परन्तु उसमें आत्महित नहीं है। अपनी बुद्धि बहुत हो और समय हो तो इनका अभ्यास करना; परन्तु बुद्धि अल्प हो और अकेले व्याकरणादि के अभ्यास में रुक जाये तो आत्महित नहीं हो सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अष्टसहस्त्री' में 'छायावाद' भरा पड़ा है। अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर असर करता है, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर कभी असर नहीं करता; परन्तु जब एक में कार्य होता है तब जिस पर अनुकूलता का आरोप आता है- ऐसे अन्य पदार्थ की उपस्थिति होती है। (उसे निमित्त कहते हैं।)

कोई कहता है कि अग्नि से पानी गर्म होता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। पानी, पानी के कारण गर्म होता है तो अग्नि को निमित्त कहा जाता है। शिष्य की पर्याय गुरु के कारण नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ अपने कारण स्वयमेव परिणमता है तब अन्य पदार्थ को निमित्त कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि व्याकरण-काव्य आदि शास्त्रों में आत्महित का निरूपण नहीं है। उनका प्रयोजन इतना सा है कि अपनी बुद्धि अधिक हो तो उनका थोड़ा- बहुत अभ्यास करके तत्पश्चात् आत्महित के साधक शास्त्रों का अभ्यास करना।

संस्कृत आदि को जानने पर ही न्याय को समझ सकता है- ऐसा नहीं है। यहाँ कहते हैं कि अपने में बुद्धि अधिक हो तो संस्कृत आदि सीखना चाहिये और फिर सत्समागम से द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये। यदि बुद्धि अल्प होवे तो आत्महित साधक सरल शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है, पर्याय में होने वाले दया, दानादि के परिणाम विकार है। आत्मा स्वयं विकार रहित है। उसका निर्णय सुगम शास्त्रों द्वारा करना चाहिये। मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि सुगम शास्त्र हैं इनका अभ्यास करना चाहिये। संस्कृत-व्याकरणादि पढ़ते-पढ़ते ही आयु पूर्ण हो जाए- ऐसा नहीं करना चाहिये। तत्वज्ञान की प्राप्ति न हो सके- ऐसा

नहीं करना चाहिये। यहाँ तत्वज्ञान शब्द प्रयुक्त किया है, क्योंकि तत्वश्रद्धान सम्यग्दर्शन है। सात तत्व भिन्न-भिन्न है- ऐसा जानना चाहिये।

दया दानादि के परिणाम चैतन्य के परिणाम हैं। पर्यायदृष्टि से जीव के साथ उनका अनित्य तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यदृष्टि से वे जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे जीव में से निकल जाते हैं- ऐसा समझना चाहिये। ऐसा नहीं समझे तो व्याकरणादि का अभ्यास व्यर्थ है।

....यहाँ कोई कहे-ऐसा है तो व्याकरणादि का अभ्यास नहीं करना चाहिये?

उससे कहते हैं कि उनके अभ्यास के बिना महान ग्रन्थों का अर्थ खुलता नहीं है, इसलिये उनका भी अभ्यास करना योग्य है।

फिर प्रश्न है कि-महान ग्रन्थ ऐसे क्यों बनाये जिनका अर्थ व्याकरणादि के बिना न खुले? भाषा द्वारा सुगमरूप हितोपदेश क्यों नहीं लिखा? उनके कुछ प्रयोजन तो था नहीं?

समाधानः- भाषा में भी प्राकृत, संस्कृतादिक के ही शब्द है; परन्तु अपभ्रंश सहित हैं। तथा देश-देश में भाषा अन्य-अन्यप्रकार है, तो महंत पुरुष शास्त्रों में अप्रभ्रंश शब्द कैसे लिखते? बालक तोतला बोले परन्तु बड़े तो नही बोलते। तथा एक देश की भाषारूप शास्त्र दूसरे देश में जाये, तो वहाँ उसका अर्थ कैसे भासित होगा? इसलिये प्राकृत, संस्कृतादि शुद्ध शब्दरूप ग्रन्थ रचे हैं।

तथा व्याकरण के बिना शब्द का अर्थ यथावत् भासित नहीं होता; न्याय के बिना लक्षण, परीक्षा आदि यथावत् नहीं हो सकते-इत्यादि। वचन द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय व्याकरणादि बिना भलीभांति न होता जानकर उनकी आम्नाय अनुसार कथन किया है। भाषा में भी उनकी थोड़ी-बहुत आम्नाय आने पर ही उपदेश हो सकता है परन्तु उनकी बहुत आम्नाय से भली-भांति निर्णय हो सकता है।....

प्रश्नः- तो व्याकरणादि का अभ्यास नहीं करना?

उत्तरः- इनके अभ्यास का निषेध नहीं है, परन्तु तत्वज्ञान का अभ्यास नहीं हो सके इतना समय इनमें नहीं लगाना।

प्रश्नः- ऐसे महान ग्रन्थ किसलिये बनाये कि जिनके अर्थ व्याकरणादि के बिना स्पष्ट नहीं होते? भाषारूप सुगम हित उपदेश क्यों नहीं लिखा? सादी भाषा में लिखना था।

उत्तरः- भाषा में भी संस्कृत, प्राकृतादि के ही शब्द हैं; परन्तु अपभ्रंश सहित हैं, अलग-अलग देश में अलग-अलग भाषा है। महापुरुष अपभ्रंश कैसे लिखे? बालक भले ही तोतला बोले, परन्तु बड़े तो तोतला नहीं बोलते। तथा हिन्दी भाषा अंग्रेजी वाले नहीं समझते। एक दूसरे परस्पर में भाषा नहीं समझते; इसलिये (ज्ञानियों ने) प्राकृत संस्कृतरूप शुद्धरूप ग्रन्थों की रचना की है। तथा व्याकरण के बिना शब्द का अर्थ यथावत भासित नहीं होता और न्याय के बिना लक्षण, परीक्षा नहीं होती। व्याकरण के बिना अर्थ नहीं जाना जाता, इसलिये अभ्यास करने को कहा है। भाषा में भी थोड़ी-बहुत आम्नाय का ज्ञान होने पर ही उपेदश हो सकता है; परन्तु उसकी बहुत आम्नाय से भली भांति निर्णय हो सकता है।

रागादि पर्याय में होते हैं, परन्तु वे आत्मा में से निकल जाते हैं- इस कारण जीव का स्वरूप नहीं है। ज्ञानादि जीव का स्वभाव है। पानी पदार्थ है वह स्वयं के कारण से गर्म होता है, तो अग्नि को निमित्त कहते हैं- ऐसे न्याय सादी भाषा में भी लिखे हों तो प्रयोजन समझमें आ जाता है। अग्नि और पानी के पुद्गलों में अन्योन्याभाव है। अग्नि पानी का स्पर्श नहीं करती। अज्ञानी मानता है कि अग्नि के कारण कपड़े जल गये; परन्तु यह बात मिथ्या है। कपड़े उनके कारण से जलते है, उसमें अग्नि निमित्त है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार है।

व्यवहार से कहा जाता है कि गुरु से ज्ञान हुआ; परन्तु (वस्तुस्थिति यह है कि) एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करती है। प्रत्येक द्रव्य अपने अनंत गुणों का और अपनी पर्यायों का स्पर्श करता है; परन्तु पर द्रव्य की पर्याय का स्पर्श कभी नहीं करता।- यह महान न्याय है। यह बात समयसार की गाथा-3 की टीका में है।

प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र है। वह अपने धर्मों का स्पर्श करता है; परन्तु परस्पर एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करता। वस्त्र का प्रत्येक परमाणु अपने अस्तित्वादि गुणों का स्पर्श करता है; परन्तु अग्नि के परमाणु का स्पर्श नहीं करता। एक परमाणु दूसरे परमाणु का स्पर्श नहीं करता यही प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। संयोग आवे तो परिणमन हो- इस दृष्टि में भूल है। प्रत्येक आत्मा और परमाणु अपने परिणमन में परिणमता हुआ ही लोक में सुन्दर है। भिन्न द्रव्य, भिन्न द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। कर्म अनन्त परमाणु का स्कंध है वह कभी आत्मा को स्पर्श नहीं करता। कर्म का उदय जड़ है वह आत्मा का स्पर्श नहीं करता।

प्रश्नः- कर्म का प्रभाव तो पड़ता है न?

उत्तरः- प्रभाव माने क्या? क्या एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश होता है? नहीं। एक-दूसरे की छाप एक- दूसरे में नहीं पड़ती है। एक परमाणु दूसरे परमाणु में जाता है? नहीं। रूपी परमाणु अरूपी आत्मा को स्पर्शता है? नहीं। आत्मा में कर्म का प्रभाव मानना मूल में भूल है। अज्ञानी को सत्य बात सुनने में अरुचि होती है। बालक और अज्ञानी सभी कहते हैं कि कुम्हार से घड़ा होता है और कुम्हार की कहता हैं कि मैं आया इसलिये घड़ा बना; तो इस अपेक्षा से दोनो समान है। कुम्हार को घड़े का कर्त्ता कहना नयाभास है। यह बात पंचाध्यायी में लिखी है।

कुम्हार घड़े का कुछ नहीं करता, मिट्टी ही अपने कारण विशेषरूप परिणमति है तब कुम्हार को निमित्त कहा जाता है। मिट्टी में प्रदेशत्व गुण है, उसके कारण उसकी आकाररूप अवस्था हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा का आकार शरीर के कारण नहीं है। शरीर स्थूल होने से आत्मा का आकार स्थूल हुआ-ऐसा नहीं है। आत्मा और शरीर का आकार स्वतन्त्र है। शरीर दुबला होने पर आत्मा के प्रदेश संकुचित हो जाते हैं, वहाँ वे स्वयं के कारण संकुचित होते हैं। ये सिद्धान्त प्रचलित भाषा में भी समझे जा सकते हैं।

....फिर कहोगे कि ऐसा है तो अब भाषारूप ग्रन्थ किसलिये बनाते हैं?

समाधानः- कालदोष से जीवों की मन्दबुद्धि जानकर किन्ही जीवों के जितना ज्ञान होगा उतना ही होगा-ऐसा अभिप्राय विचारकर भाषाग्रन्थ रचते है-इसलिये जो जीव व्याकरणादिका अभ्यास न कर सकें उन्हें ऐसे ग्रन्थों द्वारा ही अभ्यास करना।

तथा जो जीव शब्दों की नाना युक्तियों सहित अर्थ करने के लिये ही व्याकरण का अवगाहन करते है; वादादि करके महंत होने के लिये न्याय का अवगाहन करते हैं, और चतुराई प्रगट करने के लिये काव्यका अवगाहन करते है-इत्यादि लौकिक प्रयोजनसहित इनका अभ्यास करते हैं वे धर्मात्मा नहीं हैं। इनका बन सके उतना थोड़ा-बहुत अभ्यास करके आत्महित के अर्थ जो तत्वादिक का निर्णय करते हैं वही धर्मात्मा-पण्डित जानना।....

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो अब सादी भाषा में ग्रन्थ किसलिये बनाते हो?

उत्तरः- कालदोष से जीवों की बुद्धि मंद है। अर्थात् जीवों की अपनी योग्यता है उसमें काल को निमित्त कहा जाता है। पंचम काल है, इसलिये केवलज्ञान नहीं है-ऐसा नहीं है; परन्तु स्वयं अपने कारण केवलज्ञान नहीं होता तो काल को निमित्त कहा जाता है। इस रहस्य को नहीं समझकर अज्ञानी काल पर दोष डालता है। वह कहता है कि ज्ञानावरणी कर्म के कारण ज्ञान हीन हो गया है; परन्तु ऐसा नहीं है। जब अपने कारण ज्ञान को हीन बनाता है तो ज्ञानावरणी को निमित्त कहा जाता है। ज्ञानावरणी कर्म की पर्याय तो कभी ज्ञान को छूती ही नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने में प्रतिसमय कार्य करता है। काल (द्रव्य) अचेतन है। वह अन्य को नहीं परिणमाता है। यदि काल अन्य को परिणमावें तो निगोद के जीव को सिद्धदशारूप परिणमाना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। निगोदिया जीव अपने कारण से निगोदरूप परिणमता है तो काल निमित्त है। जहाँ सिद्धभगवान विराजते हैं वहाँ भी निगोदिया है और प्रत्येक का परिणमन स्वतन्त्र है। काल ने क्या किया? जो जीव अपने कारण जैसी अवस्था करता है उसका आरोप काल पर आता है।

आजकल जीव मंद बुद्धि वाले हैं, जितना ज्ञान होगा उतना तो होगा-ऐसे अभिप्राय से मोक्षमार्ग प्रकाशकरूप भाषा ग्रन्थ की रचना करते हैं। जो व्याकरणादि का अभ्यास नहीं कर सकते उन्हें सरल शास्त्र पढ़ना चाहिये।

शब्दों के अर्थ के लिये व्याकरणादि शास्त्र पढ़ने वाले-विवाद के लिये पढ़ने वाले को लौकिक प्रयोजन है। चतुराई बतलाने के लिये पढ़ने में आत्मा का हित नहीं है। व्याकरण-न्यायादिक का हो सके उतना थोड़ा-बहुत अभ्यास करके आत्महित के लिये तत्वों का निर्णय करने वाले को ही धर्मात्मा पण्डित जानना।

प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, कोई किसी का उपकारी नहीं है-ऐसा समझना चाहिये। तत्वार्थसूत्र में एक सूत्र आता है कि पुद्गल आत्मा का सुख-दुःख में उपकार करता है। इसका अर्थ तो यह है कि आत्मा अपने में सुख-दुःख उत्पन्न करता है तब पुद्गल को निमित्त कहा जाता है। तथा कहा है कि पुद्गल मरण में उपकार करता है। आत्मा की शरीर के साथ रहने की स्थिति पूर्ण होने पर शरीर छूट जाता है। वहाँ भी वास्तव में आत्मा की स्थिति स्वतन्त्र है, आयुकर्म स्वतन्त्र है और शरीर की पर्याय स्वतन्त्र है; कोई किसी के आधीन नहीं है। क्या आयुकर्म पूर्ण हुआ इसलिये शरीर छूट गया? नहीं, सब स्वतन्त्र है।

यहाँ कहते हैं कि जो तत्वादि का निर्णय करता है उसको ही धर्मात्मा पण्डित जानना। द्रव्य-गुण-पर्याय सब स्वतन्त्र है-ऐसा समझना चाहिये। ऐसा निर्णय नहीं करने वाला मिथ्यादृष्टि है।

....तथा कितने ही जीव पुण्य-पापादिक फल के निरूपक पुराणादि शास्त्रोंका; पुण्य-पापक्रिया के निरूपक आचारआदि शास्त्रों का; गुणस्थान-मार्गणा, कर्म-प्रकृति, त्रिलोकादि के निरूपक करणानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास करते है; परन्तु यदि इनका प्रयोजन नहीं विचारते, तब तो तोते जैसा ही पढ़ना हुआ। और यदि इनका प्रयोजन विचारते है तो वहाँ पाप को बुरा जानना, पुण्य को भला जानना, गुणस्थानादिका स्वरूप जान लेना तथा जितना इनका अभ्यास

करेगे उतना हमारा भला है-इत्यादि प्रयोजन का विचार किया है; सो इससे इतना तो होगा कि नरकादि नहीं होगे, स्वर्गादिक होगे; परन्तु मोक्षमार्ग की तो प्राप्ति होगी नही।

प्रथम सच्चा तत्वज्ञान हो; वहाँ फिर पुण्य-पापके फलको संसार जाने, शुद्धोपयोग से मोक्ष माने, गुणस्थानादिकरूप जीव का व्यवहार निरूपण जाने; इत्यादि ज्योंका त्यों श्रद्धान करता हुआ इनका अभ्यास करे तो सम्यग्ज्ञान हो।

सो तत्वज्ञान के कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं, और कितने ही जीव उन शास्त्रों का भी अभ्यास करते हैं; परन्तु वहाँ जैसा लिखा है वैसा निर्णय स्वयं करके आपको आपरूप, परको पररूप और आस्रवादिका आस्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते। मुखसे तो यथावत् निरूपण ऐसा भी करें जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जायें। परन्तु जैसे कोई लड़का स्त्री का स्वांग बनाकर ऐसा गाना गाये जिसे सुनकर अन्य पुरुष-स्त्री कामरूप हो जायें; परन्तु वह तो जैसा सीखा है वैसा कहता है, उसे कुछ भाव भासित नहीं होता, इसलिये स्वयं कामासक्त नहीं होता। उसी प्रकार यह जैसा लिखा है वैसा उपदेश देता है; परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता। यदि स्वयं को श्रद्धान हुआ होता तो अन्य तत्व का अंश अन्य तत्व मे न मिलता; परन्तु इसका ठिकाना नहीं है, इसलिये सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार यह ग्यारह अंग तक पढ़े; तथापि सिद्धि नहीं होती। सो समयसारादिमें मिथ्यादृष्टि को ग्यारह अंगों का ज्ञान होना लिखा है।....

तथा कोई जीव शुभभाव करता है उसको स्वर्ग प्राप्त होता है और पाप भाव करता है उसको नरकादि प्राप्त होते हैं; परन्तु सम्यग्दर्शन नहीं होता-ऐसा नहीं समझने वाला प्रथमानुयोग के कथन का प्रयोजन नहीं समझता। तथा चरणानुयोग में भी पुण्य-पाप का कथन है। वहाँ जो शुभपरिणामों का कथन है उसका प्रयोजन अशुभपरिणाम छुड़ाने का है; परन्तु शुभभाव पुण्य बंध का कारण है, धर्म नहीं। जो

जीव शुभभाव में लग रहा है और स्वरूप को समझने का प्रयत्न नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है, उसे तत्व का पता नहीं है।

जो ऐसा मानता है कि शुद्ध आहार से परिणाम सुधरते हैं, वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि पर द्रव्य से शुभ-अशुभ परिणाम नहीं होते; पर से पुण्य-पाप नहीं होते; परन्तु स्वयं जैसा करता है वैसे होते हैं। ऐसा नहीं समझकर जो परद्रव्य को राग-द्वेष का कारण मानता है और अशुद्ध-शुद्ध आहार से परिणाम बुरे या अच्छे होना मानता है उसको आत्मा का लाभ नहीं होता।

शास्त्र में प्रतिमा की स्थापना आदि करने वाले को पुण्य होता है-ऐसा निमित्त का कथन करके शुभ परिणामों का वर्णन करते हैं; परन्तु इससे धर्म होता है-ऐसा नहीं है। निर्दोष आहार करने से संवर-निर्जरा होती है और सदोष आहार करने से पाप होता है-ऐसा कोई कहे तो यह बात मिथ्या है। कोई ऐसा कहता है कि अव्रती को आहार देने से पाप होता है, तो यह बात भी मिथ्या है;क्योंकि अनुकम्पा के भाव से किसी को आहार देने से पुण्यबंध होता है, इस बात को भी वह नहीं समझता है। तथा चरणानुयोग में ऐसे शुभभाव का कथन किया हो उसे धर्म मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि हैं। वह पुण्य-पाप के स्वरूप को नहीं समझता।

करणानुयोग में मार्गणास्थानादिक का वर्णन किया है, वहाँ भेद से कथन किया होता है। उस भेद को समझकर अभेद दृष्टि करना करणानुयोग का प्रयोजन है। उसे नहीं समझकर मात्र भेद में अटक जाने वाला मिथ्यादृष्टि है। द्रव्यसंग्रह में कहा है कि आत्मा हाथादि की क्रिया तीनकाल में भी नहीं कर सकता। ज्ञानावरणी कर्म के कारण ज्ञान की पर्याय रुकती है-ऐसा नहीं है। समयसार में कहा है कि चौदह गुणस्थानों का भेद से कथन किया है वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है।

द्रव्यानुयोग का अभ्यास करके आत्मा एकान्त शुद्ध ही है और पर्याय में विकार है ही नहीं-ऐसा मानने वाला भी द्रव्यानुयोग के वास्तविक अर्थ और प्रयोजन को नही समझता। जिसने पहले आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझा हो, तत्पश्चात् उसमें विशेष स्थिरता हो उसको चारित्र दशा कहते हैं। पर्याय में जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है

उसका ज्ञान गोम्मटसार में कराया है और द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में पर्याय आदि के भेद का आश्रय छोड़कर अभेद स्वरूप का अवलम्बन करने को कहा है। शास्त्र में ऐसा कथन आये कि ज्ञानावरणी कर्म के कारण ज्ञान रुकता है-तो यह निमित्त का कथन है। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के कारण राग-द्वेष होते हैं-ऐसा है ही नहीं। वह तो राग-द्वेष में निमित्तमात्र है-ऐसा बतलाने के लिये यह कथन किया गया है। चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। जिन शास्त्रों में तीनलोक का निरूपण किया है उन शास्त्रों का अभ्यास करता है; परन्तु उनके प्रयोजन पर विचार नहीं करता। अर्थात् अभेद दृष्टि नहीं करता-शुद्धोपयोग नहीं करता। इस कारण अज्ञानी को शास्त्राभ्यास से भी कुछ लाभ नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानी शास्त्राभ्यास तो करता है; परन्तु उसके प्रयोजन का विचार नहीं करता, इसलिये मिथ्यादृष्टि है।

सिद्धचक्र की पूजा करने से शरीर का कुष्ट रोग दूर हो जाता है-ऐसा कथन शास्त्र में निमित्त की अपेक्षा से आता है। कोई इस कथन को यथार्थ ही मानले तो वह मिथ्यादृष्टि है। वह पुराणों का प्रयोजन नहीं समझता है। पुराणों में-प्रथामानुयोग में पुण्य-पाप के फल का कथन है; उसमें पुण्य के फल को हितकर मानने वाला प्रथमानुयोग के प्रयोजन को नही समझता है।

तथा चरणानुयोग में पुण्य-पाप के परिणामों का वर्णन किया है; उसमें पुण्य परिणाम से धर्म होना मानने वाला चरणानुयोग के प्रयोजन का नही समझता है। तथा करणानुयोग के अभ्यास से आत्मा का भला होता है-ऐसा मानने वाला करणानुयोग के प्रयोजन को नही समझता है। द्रव्यानुयोग के साथ-साथ तीनों अनुयोगों का प्रयोजन भी अपने अभेद आत्मा का आश्रय करना है। अज्ञानी इस प्रयोजन को नहीं समझता; इसलिये उसको मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती।

पहले सच्चा तत्वज्ञान हो तो फिर पुण्य-पाप के फल को संसार जाने। जो यह नहीं विचारता कि पुण्य-पाप दोनो हेय है उसको तत्वज्ञान नहीं होता। पुण्य भाव भी संसार है, धर्म का कारण नहीं। तत्वज्ञान पूर्वक ज्ञानानन्द स्वभाव की रुचि करके अन्तर्लीनता करना धर्म है। गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि जीव का व्यवहार निरूपण है, वह कोई शरीरादि जड़ का स्वरूप नहीं है- ऐसा समझने वाले को तत्वज्ञान होता है।

अब तत्वज्ञान के कारण तो द्रव्यानुयोग के अध्यात्म शास्त्र हैं, उनका तो अभ्यास नहीं करता। तथा यदि अभ्यास करता है तो विपरीत करता है-इस कारण वह मिथ्यादृष्टि रहता है।

बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि समयसार शास्त्र तो मुनियों के लिये है, उच्चदशा होने पर पढ़ने योग्य है-ऐसा कहकर वे द्रव्यानुयोग के अभ्यास का निषेध करते हैं। (वे तो स्पष्ट अज्ञानी है ही।) तथा जो जीव द्रव्यानुयोग का अभ्यास करके भी कर्म के कारण विकार होना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा का स्वरूप शुद्ध चैतन्यमय है, रागादि विकार मेरा स्वभाव नहीं है। आत्मा का आश्रय करने पर ही केवलज्ञानादि प्रगट होते हैं-ऐसा निर्णय करने वाला समझता है कि जो पर्याय जिस काल में होने वाली है वह होगी। आत्मा में विकार तथा भव नहीं है-ऐसा निर्णय होने वाले को ही केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय होता है। आत्मा सर्वज्ञ होने की योग्यता वाला है-ऐसा निर्णय करने वाले के अनन्त भव नहीं होते हैं। जिसको यह निर्णय करने की भी सामर्थ्य नहीं है कि मैं भव्य हूँ या अभव्य; तो उसको आत्मा की सर्वज्ञ शक्ति है-ऐसी प्रतीति नहीं है। जिसको अल्पज्ञ पर्याय में सर्वज्ञ का निर्णय हुआ है उसके अधिक भव नहीं होते हैं। कर्म अजीव है। मेरे में कर्म नहीं है, अतः मुझमे भव नहीं है। जिसने निर्णय किया कि मेरा सर्वज्ञ स्वभाव है उसको भव की शंका नहीं होती। कोई कर्म मेरे पुरुषार्थ को रोकने वाला नहीं है-ऐसा निर्णय ही पुरुषार्थ है। ऐसे पुरुषार्थी को भव नहीं होते।

प्रवचनसार गाथा-80 में कहा है कि जो जीव अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर-ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है ऐसा निर्णय करता है उसके मोह-राग-द्वेष नष्ट होते हैं। अरिहन्तों ने इसी विधि से मोह-राग-द्वेष का अभाव किया है। अतः तुम भी ऐसा ही पुरुषार्थ करो और मोह का नाश करो। (ऐसा द्रव्यानुयोग का उपदेश है।)

जो जीव द्रव्यानुयोग का अभ्यास करके भी अन्तर्लीनता का पुरुषार्थ नही करता, स्व-पर का यथार्थ निर्णय नहीं करता और आस्रवादि का स्वरूप ज्यो का त्यों नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ व्यवहाराभासी की सम्यग्ज्ञान में कैसी अयथार्थ प्रवृत्ति होती है-यह वर्णन चल रहा है। यहाँ कहते हैं कि कदाचित मुख से किसी समय ऐसा भी कथन करता है कि इसका निमित्त पाकर जिसने पूर्व में ज्ञानी से सुना है उस जीव को सम्यग्दर्शन हो जाय। देखो! यहाँ तो जो अध्यात्म शास्त्र जानकर भी यथार्थ निर्णय नहीं करता है उसका वर्णन है; परन्तु सम्यग्दर्शन किसके निमित्त से होता है-यह बात यहाँ नहीं बताना है।

श्री नियमसार गाथा-53 में कहा है कि-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में प्रथम निमित्त यथार्थ ज्ञानी का ही उपदेश होता है।

श्रीमद्जी ने भी कहा है कि-

'बुझी चाहत जो प्यास को है, बूझन की रीत।
पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थित॥

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि सात तत्वों का यथार्थ ज्ञान नहीं करता और स्वयं जैनी है-ऐसा मानता है; परन्तु वस्तुतः वह जैन नहीं है। मिथ्यादृष्टि तो अजैन है। वह जीव शास्त्राभ्यास करके मुख से कदाचित ऐसा भी उपदेश करता है कि जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। अज्ञानी को स्वयं को तो सम्यग्ज्ञान, नहीं है; परन्तु किसी समय शास्त्र की बात ऐसी भी करता है कि जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

यहाँ यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं करना है कि मिथ्यादृष्टि के निमित्त से सम्यग्दर्शन होता है; परन्तु यहाँ तो मिथ्यादृष्टि बहुत शास्त्राभ्यास करता है, तो भी उसको सम्यग्ज्ञान नहीं होता-यह बात सिद्ध करनी है। अज्ञानी के निमित्त से कभी कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करता। देशनालब्धि में निमित्त साक्षात ज्ञानी ही होता है। जिस जीव को पूर्व में ज्ञानी से देशनालब्धि प्राप्त हुई हो वह जीव स्वयं विचार करता है कि यह मिथ्यादृष्टि उपदेश करता है-इसका ऐसा अर्थ है, ऐसा विचारकर स्वयं सम्यग्दृष्टि हो जाता है; परन्तु जिसने पूर्व में कभी भी नहीं सुना हो, देशनालब्धि प्राप्त नहीं हुई हो वह जीव मिथ्यादृष्टि का उपदेश सुनकर कभी भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

नियमसार गाथा-53 की संस्कृत टीका में कहा है कि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होते हैं-ऐसी अनादि जैनदर्शन की मर्यादा है। सम्यग्ज्ञानी के निमित्त बिना तीनकाल में सम्यग्दर्शन नही हो सकता। जैसे जब चिदानन्द स्वरूप के अनुभव से छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता है तो बाह्य में सहज ही शरीर की नग्नदशा हो जाती है। यद्यपि भावलिंगरूप मुनिदशा द्रव्यलिंगरूप नग्नदशा के आधीन नहीं है; परन्तु ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले जीव को सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होते हैं; परन्तु इससे सम्यग्दर्शन निमित्ताधीन है-ऐसा नहीं है।

द्रव्यलिंग हो भावलिंग न हो-ऐसा होता है; परन्तु जहाँ भावलिंग हो वहाँ द्रव्यलिंग न हो-ऐसा नहीं होता। देशनालब्धि प्राप्त हुई हो और सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो-ऐसा तो हो सकता है; परन्तु किसी को सम्यग्दर्शन तो प्राप्त हुआ हो और देशनालब्धि प्राप्त नहीं हुई हो-ऐसा कदापि नहीं हो सकता। तो भी देशनालब्धि में निमित्त तो सम्यग्ज्ञानी ही होते हैं-ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

जिसको पहले देशनालब्धि प्राप्त हुई हो और बहुत काल के अन्तराल पश्चात् स्वयं ही विचार करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करे उसे निसर्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन निसर्ग हो या अधिगम, उसमें पहले निमित्तरूप से सम्यग्ज्ञानी न मिलें हो-ऐसा कभी नहीं होता। तथापि दोनो ही प्रकार का सम्यग्दर्शन निमित्त के कारण होता है-ऐसा भी नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि ऐसा उपदेश देता है कि जिसके निमित्त से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तो इस कथन में यह बात सिद्ध करते हैं कि मिथ्यादृष्टि शास्त्राभ्यास करके इतनी धारणा कर लेता है कि अन्य जीव ने यदि पूर्व में सम्यग्ज्ञानी से सुना हो तो उसे याद करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब यह निमित्त है। इसको इतनी धारणा होने पर भी मिथ्यादृष्टि रहता है। मिथ्यादृष्टि के निमित्त से भी सम्यग्दर्शन होता है-यह यहाँ नहीं कहना है।

जीव अनन्तबार भगवान के समवसरण में गया, अनन्तबार द्रव्यलिंग भी धारण किया; परन्तु स्वयं कौन है, पर कौन है इसका यथार्थ ज्ञान करके पराधीन दृष्टि का

परित्याग नहीं किया। निश्चय आत्मस्वभाव को नहीं जाना; इसलिये उसका व्यवहार भी सच्चा नहीं कहलाता। कार्य की प्राप्ति नहीं हुई होने से कारण की प्राप्ति हुई भी नहीं कहलाती। कार्य हो तो कारण कहलाता है। प्रत्येक पदार्थ का स्वतन्त्र परिणमन हो रहा है।

तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है वह निश्चय सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वरूपी धर्म पर में से तो आता ही नहीं, राग की पर्याय में से भी नहीं आता। आत्मा में श्रद्धा नाम का गुण है उसमें से सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय प्रगट होती है; परन्तु निमित्त के कारण सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। आत्मा के श्रद्धा गुण की विपरीत पर्याय मिथ्यात्व और सम्यक् पर्याय सम्यक्त्व है।

जब आत्मा स्वयं पुरुषार्थ से सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है तब पांचों समवाय होते हैं। काल, नियत, स्वभाव, पुरुषार्थ और कर्म का अभाव-ये पांचों समवाय एक समय में होते हैं।

यहाँ दृष्टान्त दिया है कि जैसे कोई बालक स्त्री का स्वाँग धरकर ऐसा गायन गाता है कि जिसे सुनकर अन्य स्त्री-पुरुष कामरूप हो जाते हैं; परन्तु वह तो जैसा सीखा है वैसा करता है, उसका भाव इसे भासित नहीं होता; इसलिये यह स्वयं कामासक्त नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञानी जैसा सीखा है वैसा बोलता है; परन्तु उसे स्वयं की मर्म भासित नहीं होता। यदि स्वयं को भावभासित हो गया होवे तो अन्य तत्व का अंश अन्य तत्व में नहीं मिलाता; परन्तु इसका कुछ ठिकाना नहीं है।

द्रव्य अंशी है और पर्याय अंश है। जो यह मानता है कि अपनी पर्याय पर से अथवा पर की पर्याय अपने से होती है, तो ऐसी मान्यता वाला मिथ्यादृष्टि है। देखो! जीव की इच्छा के कारण भाषा नहीं होती; क्योंकि भाषा अजीव का अंश और इच्छा आस्रव है, वह जीव का अंश है। अतः इच्छारूप जीव अंश के कारण भाषारूप पर्याय होना मानने वाला अज्ञानी है तथा आस्रव अंश के कारण संवर, निर्जरा अंश होता है-ऐसा मानने वाला भी दो अंशों को एक करता है, इसलिये मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार अज्ञानी को सात तत्वों के यथार्थ ज्ञान बिना सम्यक्त्व नहीं होता ग्यारह अंग का ज्ञान करने पर भी आत्म सिद्धि नहीं होती।

यहाँ कोई कहे कि ज्ञान तो इतना होता है; परन्तु जैसा अभव्यसेन को श्रद्धानरहित ज्ञान हुआ वैसा होता है?

समाधानः- वह तो पापी था, जिसे हिंसादि की प्रवृत्ति का भय नहीं था। परन्तु जो जीव ग्रैवेयक आदि में जाता है उसके ऐसा ज्ञान होता है; वह तो श्रद्धानरहित नहीं है। उसके तो ऐसा ही श्रद्धान है कि यह ग्रन्थ सच्चे हैं, परन्तु तत्वश्रद्धान सच्चा नहीं हुआ। समयसार में एक ही जीव के धर्म का श्रद्धान, ग्यारह अंग का ज्ञान और महाव्रतादि का पालन करना लिखा है। प्रवचनसार में ऐसा लिखा है कि आगमज्ञान ऐसा हुआ जिसके द्वारा सर्व पदार्थो को हस्तामलवत् जानता है। यह भी जानता है कि इनका जानने वाला मै हूँ; परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार स्वयंको परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता। इसलिये आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है।

इसप्रकार यह सम्यग्ज्ञान के अर्थ जैन शास्त्रों का अभ्यास करता है, तथापि इसके सम्यग्ज्ञान नहीं है।

प्रश्नः- अज्ञानी के ग्यारह अंग जितना ज्ञान तो होता है; परन्तु जैसे अभव्यसेन को श्रद्धान रहित ज्ञान था वैसे इसके होता है।

उत्तरः- वह तो पापी था, जिसको हिंसादि की प्रवृत्ति का भी भय नहीं था; परन्तु जो जीव ग्रैवेयक आदि में जाता है; कारण कि मिथ्यादृष्टि अभव्य के शुक्ललेश्या भी होती है और इससे ग्रैवेयक में भी जाता है; परन्तु इसको सच्चा तत्वार्थ श्रद्धान नहीं होता। आत्मा का जैसा भाव-भासन होना चाहिये वैसा भाव-भासन यह नहीं करता। इसलिये यह मिथ्यादृष्टि रहता है।

आत्मा में इच्छा हुई, इसलिये पैसा आता है-ऐसी मान्यता में अजीव तत्व और आस्रव तत्व एक हो जाते हैं, दो तत्व भिन्न नहीं रहते। कर्म का उदय आया वह अजीव तत्व है और उसके कारण विकार हुआ-ऐसा यदि माना जाए तो दो तत्व भिन्न नहीं रहते। सम्यग्दृष्टि तो एक तत्व का अंश दूसरे तत्व में नहीं मिलाता।

जिसने माना कि व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है, उसने आस्रव तत्व के कारण संवर तत्व होना माना है; अतः वह मिथ्यादृष्टि है। व्यवहार तो भेद है; परन्तु अभेद बिना भेद किसका ? निश्चय के बिना तीनकाल मे भी व्यवहार सच्चा नहीं होता। आत्मस्वरूप के भानपूर्वक अन्तर रमणता होती है वह चारित्र है। आंशिक राग का अभाव होकर पाँचवे-छठवें गुणस्थान की दशा होती है। व्यवहार शुभभाव वस्तुतः चारित्र नहीं है। सम्यग्दृष्टि 'पहले व्यवहार और फिर निश्चय'- ऐसा कभी नही मानता। आत्मा अखण्ड ज्ञायक है-ऐसी अभेद दृष्टि होने के पश्चात् जो राग रहता है उसे व्यवहार कहते हैं।

जिसको ऐसी मान्यता है कि व्यवहार से निश्चय होता है और पुण्य से धर्म होता है-वह तो व्यवहार जैन भी नहीं है। पुरुषार्थ की कमजोरी से ज्ञानी को भी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभराग आये बिना नहीं रहता; परन्तु जो मानता है कि पहले शुभभावरूप व्यवहार करे तो फिर निश्चय प्रगट होता है-तो ऐसी मान्यता वाला मिथ्यादृष्टि है।

देखो! यह बात अत्यन्त शान्ति से समझने योग्य है।

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है कि जिसका आगमज्ञान ऐसा हुआ है कि जिसके द्वारा पदार्थों को हस्तकमलवत् जानता है, तथा ऐसा भी जानता है कि इनका जानने वाला मैं हूँ; परन्तु ''मैं ज्ञानस्वरूप हूँ''-ऐसा अपने को पर द्रव्य से भिन्न केवल चैतन्य द्रव्य अनुभव नहीं करता। इसलिये आत्मज्ञान शून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है।

अनन्तबार ऐसा आगमज्ञान हुआ है कि बाहर में कोई भूल दिखाई नहीं देती। अभी तो आगमज्ञान का भी ठिकाना नहीं है। आगम से विरूद्ध प्ररूपण करने वाला तो मिथ्यादृष्टि है ही; परन्तु यहाँ तो आगम ज्ञान किया, अनन्तबार पंच महाव्रतों का पालन किया; तथापि आत्मा राग से रहित चैतन्यमूर्ति ज्ञाता है उसका अनुभव नहीं है इसलिये वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

पहले यथार्थ वस्तु स्वरूप कैसा है-यह सुनना चाहिये और उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिये। अभी तो सत्य बात का श्रवण भी अत्यधिक दुर्लभ हो गया है। अज्ञानी शास्त्र का अभ्यास तो बहुत करता है; परन्तु वह कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है।

सम्यक्चारित्र का अन्यथारूप

....तथा इनके सम्यक्चारित्रके अर्थ कैसी प्रवृत्ति है सो कहते हैं:-

बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है। और यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखायी दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है, परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करने पर अभिप्राय में जो वासना है उसका विचार नहीं करते और फल लगता है सो अभिप्राय में जो वासना है उसका लगता है। इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे। वहाँ स्वरूप भलीभाँति भासित होगा।

ऐसी पहिचान के बिना बाह्य आचरण का ही उद्यम है।....

अब उनके सम्यक्चारित्र के लिये कैसी प्रवृत्ति होती है वह कहते हैं:-

क्षुद्र के हाथ का पानी पीता है या नहीं? शुद्ध आहार लेता है या नहीं?-इस प्रकार बाह्य क्रिया पर ही जिसकी दृष्टि है, परन्तु अपने परिणाम सुधरने-बिगड़ने का तो विचार ही नहीं है वह मिथ्याज्ञानी-मिथ्याचारित्री है। यदि परिणामों का भी विचार होता है तो जैसे अपने परिणाम होते देखें उन्हीं पर दृष्टि रहती है; परन्तु उन परिणामों की परम्परा विचारते हुए अभिप्राय में जो वासना है उसका विचार नहीं करता और फल तो अभिप्राय में वासना है उसका लगता है।

कषाय मंदता से धर्म होता है-ऐसी वासना मिथ्यादृष्टि के नहीं छूटती। कषाय की मंदता रही इसलिये शुद्ध आहार आया और मन तन शुद्ध रहा-ऐसी वासना उसके नहीं छूटती। जिस प्रकार कस्तूरी की सुगंध में रहने से बही के प्रत्येक पृष्ट में गंध लग जाती है, उसी प्रकार बाह्य क्रियाकाण्ड से परिणाम सुधरते हैं और कषायमंद होती है, जिससे धर्म होता है-ऐसी वासना अज्ञानी को नहीं छूटती है।

यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि की सम्यक्चारित्र के लिये होने वाली प्रवृत्ति का वर्णन चल रहा है।

कोई भी आत्मा पर जीव की दया नहीं पाल सकता; क्योंकि पर जीव की पर्याय उससे स्वयं से होती है। निश्चय अथवा व्यवहार से किसी भी प्रकार आत्मा पर जीव की दया नहीं पाल सकता। आत्मा मे होने वाले दया के परिणामों के कारण पर जीव नहीं बचता है और दया के शुभ परिणाम हुए वे भी धर्म नहीं है; तथापि अज्ञानी की दृष्टि बाह्य क्रिया पर है।

वह मानता है कि बाह्य क्रिया सुधरने से मेरे परिणाम सुधरेंगे और मुझे मंद कषाय के परिणाम से धर्म होता है।-ऐसे अभिप्राय की गंध का नाम मिथ्या वासना है। ऐसी वासना रखकर बाहर में पंच महाव्रतों का पालन तथा दया, दान, आदि कितनी ही क्रिया करे अथवा मंद कषाय करे तो भी उसको धर्म नहीं होता। मैं तो ज्ञायक हूँ-ऐसी अन्तर दृष्टि करने पर ही धर्म होता है।

मिथ्यादृष्टि मानता है कि सिद्धचक्र विधान किया इसलिये परिणाम सुधरे हैं। देव-शास्त्र-गुरु की मान्यता से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है-यह मिथ्यावासना है। जीव ने अनादिकाल से क्रियाकाण्ड में धर्म माना है। बाहर में शुद्ध क्रिया करूँ तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो जायेगा-ऐसी मान्यता मिथ्यावासना है।

जैसे कुम्हार के बिना घड़ा नहीं होता-यह बात मिथ्या है। इसी प्रकार देव-शास्त्र-गुरु की मान्यता के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता-ऐसी मान्यता में अन्दर ही अन्दर व्यवहार की वासना है, जो कि मिथ्यात्व है। आत्मा में होने वाले दया, दानादि के राग का आत्मा निश्चय से जानने वाला है-ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। वस्तुतः आत्मा निश्चय से अपनी ज्ञानपर्याय को जानने वाला है। रागादि परज्ञेय है; आत्मा उन्हें व्यवहार से जानता है, निश्चय से नही। राग से धर्म होता है, व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय रत्नत्रय प्रगट होता है-ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है।

वहाँ कितने ही जीव तो कुलक्रम से अथवा देखादेखी या क्रोध, मान, माया, लोभादिक से आचरण करते हैं; उनके तो धर्मबुद्धि ही नहीं है, सम्यक्चारित्र कहाँ से हो? उन जीवों में कोई तो भोले हैं व कोई कषायी हैं; सो अज्ञानभाव व कषाय होने पर सम्यक्चारित्र नहीं होता।

अब वहाँ कोई जीव तो कुलक्रम से अथवा देखा-देखी अथवा क्रोध,मान,माया,लोभादिक से आचरण आचरता है, उसको तो धर्मबुद्धि ही नहीं है। जो जीव समझे बिना कहता है कि हमें प्रतिमा तो लेनी ही पड़ेगी, प्रतिमा धारण किये बिना प्रतिष्ठा नहीं है; तो ऐसी मान्यता वाले को धर्म बुद्धि तो है ही नहीं, उसको अन्तर स्वभाव का उद्यम भी नहीं है।

त्यागी होकर पैसा मांगने वाले, तथा भोजन के लिये याचना करने वाले को तो धर्मबुद्धि ही नहीं है। आत्मा निवृत्तस्वरूप ही है-ऐसा जिसको पता नहीं है और बाहर में निवृत्त होकर आत्मा में शान्ति हुई मानता है; उसको कदाचित् मन्दकषाय हो; परन्तु सम्यग्दर्शन नहीं होता। निमित्त आवे तो आत्मा की परिणति सुधरे- ऐसी मान्यता जिसके अन्दर में पड़ी है वह मिथ्यादृष्टि है। उसको सम्यक्चारित्र नहीं होता।

....तथा कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि जानने में क्या है, कुछ करेगे तो फल लगेगा। ऐसा विचारकर व्रत-तप आदि क्रियाही के उद्यमी रहते हैं और तत्वज्ञान का उपाय नहीं करते। सो तत्वज्ञान के बिना महाव्रतादि का आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है, और तत्वज्ञान होने पर कुछ भी व्रतादिक नहीं है तथापि असंयतसम्यग्दृष्टि नाम पाता है। इसलिये पहले तत्वज्ञान का उपाय करना, पश्चात् कषाय घटाने के लिये बाह्यसाधन करना। यही योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचार में कहा है:-

''दसंणभूमिहं बाहिरा, जिय वयरुक्खं ण हुंति।''

अर्थ:- इस सम्यग्दर्शन भूमिका बिना हे जीव! व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते। अर्थात् जिन जीवों के तत्वज्ञान नहीं है वे यथार्थ आचरण नहीं आचरते....

अज्ञानी ऐसा मानता है कि अकेले ज्ञान-श्रद्धान से कुछ लाभ नहीं है, कुछ क्रिया करेंगे तो लाभ होगा- ऐसा मानकर वह व्रतादि क्रिया का ही उद्यमी रहता है; परन्तु तत्वज्ञान का उद्यम नहीं करता। जैसे हलुआ बनाना हो तो पहले आटे को घी में सेककर फिर शक्कर का पानी डालकर बनाना चाहिये। इसके बदले पहले आटे को शक्कर के पानी में सेके तो हलुआ नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञानी जीव पहले व्यवहार क्रिया में- शुद्ध आहार आदि की क्रिया करने का उद्यमी रहता है। वह मानता है कि जानने से अथवा मान्यता (श्रद्धा) से कुछ लाभ नहीं होता। वह कहता है कि जानने के बाद तो क्रिया करनी पड़ती है न? तो यह मान्यता मूढ़ जीव की है। उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है- इसका पता नहीं है। सम्यग्दर्शन में निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है; तत्पश्चात् स्वरूप में अन्तर्लीनता करना चारित्र है। सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता।

'करनी बंध्या नहीं है'। मजदूर को मजदूरी का फल मिलता है- ऐसा मानकर जो क्रिया करता है उसे उस क्रिया का फल चार गति में परिभ्रमण मिलता है।

वह कहता है कि बहुत ज्ञान हो गया हो तो चारित्र आना चाहिये; परन्तु चक्रवर्ती आदि सम्यग्दृष्टि हजारों वर्ष तक संसार में रहते हैं इस बात का उसको पता नहीं है। इसलिये वह मंद कषायादिरूप व्रतादि का उद्यमी रहता है; परन्तु आत्मा को समझने का पुरुषार्थ नहीं करता।

वह मानता है कि जो बहुत जानते हैं वे बहुत चिकने होते हैं; अतः बहुत नहीं जानना चाहिये। परन्तु प्रयोजनभूत सूक्ष्म बात को अच्छी तरह जानना चाहिये। भगवान तो दया, दान के परिणाम को भी स्थूल कहते हैं। समयसार गाथा-154 में कहते हैं कि- अज्ञानी की रुचि अत्यन्त स्थूल शुभ परिणामों में होती है। शरीरादि की क्रिया तो स्थूल है ही, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है; परन्तु अमृतचन्द्राचार्य तो आत्मा में होने वाले शुभ-परिणाम को भी 'अत्यन्त स्थूल' कहते हैं। कारण कि वे परिणाम बंध के कारण हैं।

यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का प्रकरण है। इसमें कहते हैं कि जिन शुभपरिणामों को भगवान अत्यन्त स्थूल कहते हैं अज्ञानी उनमें मग्न रहता है। आत्मा में सम्यग्दर्शनादिरूप निर्मल पर्याय होती है वह सूक्ष्म है और आत्मा का त्रिकाली शुद्ध स्वभाव परम सूक्ष्म है। ज्ञानी के शुभ परिणाम को व्यवहार कहते हैं और अज्ञानी को व्यवहार होता ही नहीं है।

अज्ञानी उपवासादि की बाह्य क्रिया को तप मानता है। आत्मा ज्ञायक है, उसकी रुचि नहीं करता और बाहर की क्रिया की रुचि करता है, अतः वह मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार वह तत्वज्ञान का उपाय नहीं करता और बाह्य क्रिया करता है, अतः उसको सम्यक्चारित्र नहीं है। जिसको सातों तत्वों की स्वतन्त्रता का यथार्थ ज्ञान हुआ उस जीव को कदाचित कोई व्रतादि नहीं हो तो भी वह असंयत सम्यग्दृष्टि नाम पाता है; इसलिये सर्वप्रथम तत्वज्ञान का उद्यम करना चाहिये।

आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, उसके आश्रय से ही रागादि का अभाव होता है- ऐसा माने तथा जो होना है वही होता है- ऐसा माने तो परद्रव्य के कर्तत्व का अभिमान छूटे बिना नहीं रहता। कोई ऐसा कहता है कि हम हैं तो तुम्हें ज्ञान होता है- तो यह बात मिथ्या है। प्रत्येक द्रव्य की जो पर्याय होना है वह होती है, उसको कोई दूसरा नहीं कर सकता- ऐसा मानने वाला सच्चा पण्डित है। सर्वज्ञ ने देखा है, इसलिये द्रव्य की पर्याय होती है ऐसा नहीं है; परन्तु जैसी पर्याय होती है ऐसी सर्वज्ञ ने देखी है। इस बात को नहीं जाने, तत्वज्ञान का उपाय नहीं करे और क्रियाकाण्ड करे तो वह मिथ्याचारित्र है। मैं ज्ञायक आत्मा हूँ, निमित्त पर है, आत्मा में विकार होता है उससे धर्म नहीं होता- ऐसे ज्ञायक की जिसको रुचि हुई है वह कदाचित व्रतादि नहीं पाले तो भी वह असंयत सम्यग्दृष्टि है। जबकि व्रतादि पालन से धर्म होता है- ऐसा मानने वाला बंधमार्गी है- इतना बड़ा अन्तर है।

श्री योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचार में कहा है कि- हे जीव! इस सम्यग्दर्शनरूपी भूमि के बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता। अर्थात् जिन जीवों को तत्वज्ञान नहीं है वे यथार्थ आचरण नहीं आचरते।

आत्मा पर पदार्थो का कर्ता-हर्ता नहीं है; परन्तु पर की क्रिया होती है उसमें निमित्त तो है न?- ऐसा निमित्त की दृष्टि वाला मिथ्यादृष्टि कहता है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि 'सर्ववस्तु असहाय है' अतः निमित्त आया इसलिये वस्तु में परिणमन हुआ- ऐसा है ही नहीं। अज्ञानी मानता है कि कषाय की मंदता से सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट होती है। जबकि योगीन्द्रदेव (योगसार-गाथा,71 में) कहते है' कि 'पुण्य भी पाप है।' पाप की तो सभी पाप कहते हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव तो पुण्य परिणाम को भी पाप कहता है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है, उसमें जितने अंश राग की उत्पत्ति होती है उसको भगवान हिंसा कहते हैं; इसलिये वह पाप है। जो दया के शुभ परिणाम होते हैं, उनको व्यवहार से अहिंसा कहते है और शुभपरिणाम निश्चय से हिंसा कहे जाते हैं। सम्यग्दृष्टि कषाय की मंदता के परिणाम को जहर मानता है।

सत् आचार अर्थात् भगवान आत्मा सत् है, उसका भान करके अन्तर आचरण करना सदाचार है। बाह्य क्रिया सदाचार नहीं है। एक अंगुली को हिलाना भी आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। अंगुली का हिलना, ऑख का झपकना आदि जड़ की क्रिया है, उसको आत्मा नहीं करता। शब्द भाषावर्गणा से होता है। आत्मा के विकल्प से भाषा होती है- ऐसा तो है ही नहीं; परन्तु ओंठ के हिलने से भाषा होती है ऐसा भी नहीं है। कारण कि शब्द भाषावर्गणा में से होता है और ओंठ आदि आहारवर्गणा से होते हैं। प्रत्येक वर्गणा भिन्न-भिन्न है। आहारवर्गणा के कारण भाषा नहीं है। ओंठ के हिलने से भाषा नहीं हुई। काल द्रव्य का लक्षण वर्तना हेतुत्व है और प्रत्येक द्रव्य का स्वकाल उसकी वर्तना है। प्रत्येक द्रव्य में वर्तना है उसमें काल निमित्त है। सभी द्रव्य प्रत्येक समय अपने स्वकाल में परिणमित हो रहे हैं। जिस समय द्रव्य की पर्याय अपने कारण होती है उस समय दूसरा पदार्थ निमित्तमात्र है।

कोई ऐसा कहता है कि हमको इच्छा हुई इसलिये हमारा शरीर यहाँ है; तो वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है। शरीर की जो पर्याय जिस काल में होना है वह होती ही है, उसमें इच्छा निमित्तमात्र है; परन्तु इच्छा के कारण शरीर की अवस्था हुई- ऐसा नहीं है।

तथा इच्छा हुई इसलिये आत्मा यहाँ आया- ऐसा भी नहीं है; क्योंकि इच्छा चारित्रगुण की पर्याय है और आत्मा का क्षेत्रातंर होना क्रियावती शक्ति के कारण से है। भगवान कहते हैं कि तेरी शुद्धता तो बड़ी, परन्तु अशुद्धता भी बड़ी है; उसे बदलने में तीर्थंकर भी समर्थ नहीं है।

जीव में इच्छा होती है; परन्तु शरीर में लकवा हुआ हो तो शरीर नहीं चलता; इसलिये ऐसा निर्णय करना कि इच्छा के कारण से आत्मा या शरीर का क्षेत्रातंर नहीं होता। सर्वगुण असहाय है। ज्ञान समझता है कि आत्मा बोलता नहीं है, आत्मा शरीर को चलाता नहीं है और होने वाले विकल्प का भी मैं जानने वाला हूँ। मैं एक समय में परिपूर्ण हूँ। जिसको राग और निमित्त बुद्धि छूट गई है उसको कदाचित बाह्य ब्रतादि नहीं हो तो भी वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। आत्मा का भान हुआ उस समय देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प होता है, उसको व्यवहार कहते हैं। ज्ञानी को भी कषाय की मंदता होती है; परन्तु वे उसे धर्म नहीं मानते। सदुपदेश मिलने से अच्छे परिणाम और असद्‌उपदेश मिलने से हल्के परिणाम होते हैं- ऐसा नहीं है। किसी के परिणाम उपदेश के कारण नहीं बदलते। इसलिये निश्चय का ऐसा उपदेश मिलेगा तो कोई व्यवहार शुभभाव भी नहीं करेंगे- ऐसी मान्यता भ्रम है।

आत्मा में सर्वज्ञदशा होती है, वह कहाँ से आती है? वह दशा निमित्त तथा राग में से नहीं होती। तथा वर्तमान अल्पज्ञदशा के आश्रय से भी सर्वज्ञदशा नहीं होती; परन्तु आत्मा चिदानन्द सर्वज्ञस्वभावी है, उसके आश्रय से सर्वज्ञदशा होती है।

'ब्रह्म विलास' में कहा है कि-

जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे,
अणहोनी होसी नहीं कबहुँ काहे होत अधीरा रे।

-जिसको ऐसा निर्णय हुआ है उसको सर्वज्ञ की प्रतीति वर्तती है। जो अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को अपने स्वभाव सन्मुख होकर जानता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व होता है- ऐसा प्रवचनसार गाथा-८० में कहा है।

इस जगत में एक समय में तीनकाल-तीनलोक को जानने वाले ऐसे अनन्त सर्वज्ञ हैं। अल्पज्ञता में से अथवा अल्पज्ञता के आधार से सर्वज्ञता नहीं होती। आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ है उसके आश्रय से अल्पज्ञ पर्याय में सर्वज्ञता की प्रतीति होती है।

जो भी सर्वज्ञ हुए हैं वे सभी सर्वज्ञ शक्ति का आश्रय करके हुए हैं- ऐसा निर्णय होना ही पुरुषार्थ है। इस निर्णय में सर्वज्ञ ने देखा होगा वैसा ही होगा और सब क्रमबद्ध होता है- इसका भी यथार्थ निर्णय होता है। सर्वज्ञता का निर्णय कहो, सम्यग्दर्शन कहो, क्रमबद्ध का निर्णय कहो, परम पारिणामिक का निर्णय कहो- यह सब एक ही है। गुणी (स्वभाव) सन्मुख होकर निर्णय करने वाले को सर्वज्ञ की यथार्थ प्रतीति होती है।- यह एक ही सत्य है।

अभी तो लोगों को सत्य वस्तु सुनना भी दुर्लभ हो गई है। असत् प्ररूपणा बढ़ गई है- परन्तु इस कारण सत् प्ररूपणा छोड़कर असत् प्ररूपणा नहीं हो सकती। यह एक ही सत् उपदेश है। आत्मसन्मुख होकर की जाने वाली सर्वज्ञ की प्रतीति ही यथार्थ कहलाती है। जिसको क्रमबद्ध का निर्णय हुआ उसको निमित्त और रागबुद्धि छूट गई। अर्थात् उसकी दिशा ही बदल गई है। यही सम्यग्दर्शन है और यही पुरुषार्थ है।

समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में कहा है कि 'शास्त्र किंचित मात्र भी नहीं जानता' और आत्मा में किंचितमात्र भी अज्ञान रहे- ऐसा नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो सर्वज्ञ अर्थात् समस्त को जानने का है। इसका स्वीकार नहीं करके राग और निमित्त का स्वीकार करने वाला मिथ्यादृष्टि है। शास्त्र में कथन तो अनेक प्रकार के आते हैं; परन्तु उनका यथार्थ आशय समझना चाहिये। व्यवहार अथवा निमित्त से कथन किया हो तो उसे भी भलीभांति समझना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि जिसको तत्वज्ञान नहीं है उसका आचरण भी यथार्थ नहीं है। जैन कुल में जन्म लेकर भी जिसको अन्तर मे विद्यमान चिदानन्द आत्मा के स्वरूप का पता नहीं है अर्थात् जिसको सम्यग्दर्शन नहीं है उसका समस्त आचरण मिथ्या होता है।

यहाँ तो जिसको व्यवहार श्रद्धान-ज्ञान है और जिसने शास्त्र का अभ्यास किया है- ऐसे जीव भी मिथ्यादृष्टि होते हैं उनकी बात चल रही है। इस प्रकार जिनको तत्वज्ञान नहीं है उसको यथार्थ आचरण भी नहीं है। यथार्थ आचरण नहीं होने पर भी माने कि हमें चारित्र है, तप है; तो इसे मिथ्यात्व कहते हैं।

देखो! यहाँ तत्वज्ञान अर्थात् भाव का भासन होना चाहिये- ऐसा कहा है; मात्र शास्त्रज्ञान की बात नहीं है। शास्त्र का ज्ञान होने पर भी तत्वज्ञान पूर्वक भाव-भासन बिना जैन में होने पर भी मिथ्यादृष्टि है।

....वहीं विशेष बतलाते हैं:-

कितने ही जीव पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं; परन्तु अन्तरंग में विषय-कषाय वासना मिटी नहीं है, इसलिये जैसे-तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। वहाँ उस प्रतिज्ञा से परिणाम दुःखी होते हैं। जैसे-कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ा से दुःखी हुआ रोगी की भांति काल गंवाता है, धर्म साधन नहीं करता; तो प्रथम ही सधती जाने उतनी ही प्रतिज्ञा क्यों न लें? दुःखी होनेमें आर्त्तध्यान हो, उसका फल अच्छा कैसे लगेगा? अथवा उस प्रतिज्ञा का दुःख नहीं सहा जाता तब उसके बदले विषय-पोषण के लिये अन्य उपाय करता है। जैसे-तृषा लगे तब पानी तो न पिये और अन्य शीतल उपचार अनेक प्रकार करे, व घृत तो छोड़े और अन्य स्निग्ध वस्तु का उपाय करके भक्षण करे। इसी प्रकार अन्य जानना।

यदि परीषह नहीं सहे जाते थे; विषय वासना नहीं छूटी थी; तो ऐसी प्रतिज्ञा किसलिये की? सुगम विषय छोड़कर पश्चात् विषम विषयों का उपाय करना पड़े ऐसा कार्य क्यों करे? वहाँ तो उल्टा रागभाव तीव्र होता है।

अथवा प्रतिज्ञा में दुःख हो तब परिणाम लगाने के लिये कोई आलम्बन विचारता है। जैसे-उपवास करके फिर क्रीड़ा करता है, कितने ही पापी जुआ आदि कुव्यसनों में लग जाते हैं, अथवा सो रहना चाहते हैं। ऐसा जानते हैं कि किसी प्रकार काल पूरा करना।-इसी प्रकार अन्य प्रतिज्ञा में जानना।

अथवा कितने ही पापी ऐसे भी हैं कि पहले प्रतिज्ञा करते हैं, बाद में उससे दुःखी हों तब प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। प्रतिज्ञा लेना-छोड़ना उनको खेलमात्र है; सो प्रतिज्ञा भंग करने का महापाप है; इससे तो प्रतिज्ञा न लेना ही भला है।

इस प्रकार पहले तो निर्विचार होकर प्रतिज्ञा करते हैं और पश्चात् ऐसी दशा होती हैं।

जैनधर्म में प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नहीं। जैनधर्म में तो ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्वज्ञानी हो; फिर जिसका त्याग करे उसका दोष पहिचाने; त्याग करने में जो गुण है उसे जाने; फिर अपने परिणामों को ठीक करे; वर्तमान परिणामोंही के भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे; भविष्य में निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे; तथा शरीर की शक्ति व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिक का विचार करे। इस प्रकार विचार करके फिर प्रतिज्ञा करनी। वह भी ऐसी करनी जिससे प्रतिज्ञा के प्रति निरादरभाव न हो, परिणाम चढ़ते रहें। ऐसी जैनधर्म की आम्नाय है।

यहाँ कोई कहे कि चांडालादिक ने प्रतिज्ञा की, उनके इतना विचार कहाँ होता है?

समाधानः- मरणपर्यन्त कष्ट हो तो हो परन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना-ऐसा विचार करके वे प्रतिज्ञा करते हैं; प्रतिज्ञा के प्रति निरादरपना नहीं होता।

और सम्यग्दृष्टि जो प्रतिज्ञा करते हैं सो तत्वज्ञानादिपूर्वक ही करते हैं।

तथा जिनके अन्तरंग विरक्तता नहीं और बाह्यप्रतिज्ञा धारण करते हैं, वे प्रतिज्ञा के पहले और बाद में जिसकी प्रतिज्ञा करें उसमे अति आसक्त होकर लगते हैं। जैसे उपवास के धारणे-पारणे के भोजन में अति लोभी होकर गरिष्ठादि भोजन करते हैं, शीघ्रता बहुत करते हैं। जैसे-जल को रोक रखा था, जब वह छूटा तभी बहुत प्रवाह चलने लगा; उसी प्रकार प्रतिज्ञा द्वारा विषयवृत्ति रोक रखी थी; अंतरंग आसक्ति बढ़ती गई, और प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही अत्यन्त विषयवृत्ति होने लगी; सो प्रतिज्ञा के काल में विषवासना मिटी नहीं,

आगे पीछे उसके बदले अधिक राग किया; सो फल तो रागभाव मिटने से होगा। इसलिये जितनी विरक्ति हुई हो उतनी प्रतिज्ञा करना। महामुनि भी थोड़ी प्रतिज्ञा करके फिर आहारादि में उछटि (कमी) करते हैं। और बड़ी प्रतिज्ञा करते हैं सो अपनी शक्ति देखकर करते हैं। जिस प्रकार परिणाम चढ़ते रहें वैसा करते हैं। प्रमाद भी न हो और आकुलता भी उत्पन्न न हो- ऐसी प्रवृत्ति कार्यकारी जानना।....

सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा करता है वह तो तत्वज्ञान पूर्वक करता है। ज्ञानी जीव मिथ्यादृष्टि की तरह उतावल करके प्रतिज्ञा नहीं लेते। स्वरूप के आचरण का कण-शान्ति का अंश प्रगट हुआ हो वह ज्ञानी द्रव्य-क्षेत्र-काल- भाव देखकर प्रतिज्ञा करता है। काल कैसा है? -यह देखता है, साथ ही हठ बिना, आक्षेप बिना, पर के दोष देखे बिना अपने परिणाम देखकर योग्यता दिखाई दे तदनुसार सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा लेता है।

कितने ही जीव प्रतिज्ञा लेकर बैठ जाते हैं; परन्तु अन्तर में तत्वज्ञान तो है नहीं, इसलिये उनके अन्दर में कषाय की वासना नहीं मिटती। स्वाभाविकरूप से ज्ञाता-दृष्टारूप रहने से राग का अभाव होने पर जितनी शान्ति प्रगट होती है वह प्रत्याख्यान और प्रतिज्ञा है। अज्ञानी बड़ी प्रतिज्ञा ले लेता है; परन्तु अन्दर के कषाय की वासना नहीं छूटती। हमने प्रतिज्ञा ली है, फिर भी हमारा सम्मान नहीं करते, हमे अच्छी तरह आहार-पानी नहीं देते- इस प्रकार जिसके कषाय की वासना नहीं छूटती वह मिथ्यादृष्टि है। उसका सम्पूर्ण आचरण मिथ्या है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि-

लहा स्वरूप न वृत्ति का, ग्रहा व्रत अभिमान,
ग्रहे नहीं परमार्थ को, लेने लौकिक मान।।

जिसको अन्तर में तत्वज्ञान नहीं हुआ है और बाहर में प्रतिज्ञा लेकर बैठ जाता है वह परमार्थ को प्राप्त नहीं करता। उसको, लोगों के द्वारा मान कैसे प्राप्त हो- ऐसी कषाय की वासना होती है। एक ही सिद्धान्त है कि **"तत्वज्ञान के बिना यथार्थ आचरण नहीं होता।"** तात्पर्य यह है कि तत्वज्ञान के अभाव में अन्तर में कषाय

हुए बिना नहीं रहती। जो प्रतिमा लेकर श्रावकों से मान तथा आहार पानी की याचना करता है, घमण्ड करता है वह कषाय की वासना वाला मिथ्यादृष्टि है। उसके यथार्थ व्रतादि नहीं होते। वह जीव ली हुई प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये आकुल-व्याकुल होता है।

कोई बहुत उपवास करने के पश्चात् पीड़ा से दुःखी होने वाले रोगी की भांति समय व्यतीत करते हैं; परन्तु धर्म साधन नहीं करते। तब फिर पहले से ही उतनी प्रतिज्ञा क्यों नहीं ली जाये जिसका पालन किया जा सके। पानी की प्यास लगी हो तो पानी और छाछ के पोते (गीले कपड़े) गले पर रखता है। घी नहीं खाने की प्रतिज्ञा लेकर उसके बदले अन्य स्निग्ध वस्तुओं का उपयोग करता है।- ऐसी प्रतिज्ञा यथार्थ नहीं है।

जो एक पदार्थ को छोड़कर दूसरे पदार्थ के प्रति लोलुपभाव करता है वह तो तीव्र कषायी है। अथवा प्रतिज्ञा का दुःख सहन नहीं हो तब उसके बदले विषय-पोषण के लिये अन्य उपाय करता है। जैसे कि- उपवास करके ताश, शतरंज आदि खेलने बैठ जाता है, कोई सो जाता है- इस प्रकार किसी तरह से समय व्यतीत करता है। इसी प्रकार अन्य प्रतिज्ञा में भी समझना। यह कोई यथार्थ आचरण नहीं है। स्वभाव दृष्टि करके आत्मा में लीन होना ही यथार्थ आचरण है।

अथवा कई पापी ऐसे भी हैं जो पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा कर लेते हैं; किन्तु जब दुःख होता है तो उसे छोड़ देते हैं। उनको तो प्रतिज्ञा लेना या छोड़ना खेलमात्र है; परन्तु यह तो महापाप है। इससे तो प्रतिज्ञा नहीं लेना ही ठीक है। पहले तो बिना विचार किये प्रतिज्ञा ले लेवे और बाद में छोड़ देवे, इसे प्रतिज्ञा नहीं कहा जा सकता। प्राण जाने पर भी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना चाहिये। पहले तो जिस-तिसको दीक्षा दे देते हैं और फिर वे छोड़ देते हैं। यह तो यह खेलमात्र प्रतिज्ञा है।- ऐसी प्रतिज्ञा लेने वाला तीव्र मिथ्यादृष्टि है।

व्रती सम्मेलन में त्यागी इकट्ठे हों और वहाँ जल्दबाजी में प्रतिमा धारण करके क्षुल्लक बन जाते हैं; तत्पश्चात् अन्तिम समय (मृत्यु के समय) लंगोटी छोड़कर

आचरण पूर्ण किया मानते हैं। उनको प्रतिज्ञाभंगरूप महापाप का तो पता ही नहीं है। यह बात अज्ञानियों के अन्दर में नहीं जमती है। उनको प्रतिज्ञाभंग का डर ही नहीं है।-ऐसे जीवों को भगवान ने महापापी कहा है।

कोई जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है, तथापि व्रत नहीं होते; कारण कि सम्यग्दर्शन होने के तुरन्त बाद ही सबको चारित्र आ जाये-ऐसा नियम नहीं है। सम्यग्दृष्टि अपने परिणामों को देखता है।

जब भगवान आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर होता है तो राग का नाश होता है। तब उसने राग को जीता-ऐसा कहा जाता है। इसलिये 'जैन' अर्थात् जीतना यह व्यवहार है। समयसार की 34 व 35 वीं गाथा मे कहा हैं कि-'राग का त्याग भी नाममात्र हैं। वस्तुतः त्याग प्रत्याख्यान नहीं, ज्ञान प्रत्याख्यान है-ऐसा कहते हैं।-यह तत्वदृष्टि से जैन की व्याख्या है। आत्मा राग को और विकार को जीतता है-ऐसा कहना भी नाममात्र है; क्योंकि आत्मा के ज्ञान में (स्वरूप में) लीन होने पर राग छूट जाता है; इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। आत्मा की पर्याय में संसार होता है, आत्मा उस संसार का अभाव करता है यह नाममात्र है। आत्मा शरीर, वस्त्रादिक पर वस्तुओं को तो छोड़ता हीं नहीं; परन्तु संसार की पर्याय को भी आत्मा नहीं छोड़ता; क्योंकि त्रिकाली स्वभाव में संसार की पर्याय त्रिकाल में भी ग्रहण नहीं हुई है कि वह उसे छोड़े। पर्याय दृष्टि से एक समय की संसार पर्याय का (आत्मा के साथ) अनित्य तादात्म्य सम्बन्ध है; परन्तु द्रव्यदृष्टि से अनित्य तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। कारण कि त्रिकाल में भी स्वभाव में विकार का प्रवेश नहीं हुआ है।

पहले निर्णय किया कि संसार मेरी पर्याय में मेरा कार्य है, कर्म के कारण संसार नहीं है। पश्चात् वह संसार मेरे स्वभाव में नहीं है। आत्मा ने द्रव्यदृष्टि से संसार का ग्रहण किया ही नहीं; अतः संसार को छोड़ने की बात भी नहीं रहती। आत्मा मे लीनता होने पर संसार छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता है। संसार में शुभाशुभभाव होते हैं उनमें अव्रत के भाव अशुभभाव हैं और वे अशुभभाव नहीं हो तब व्रत के शुभभाव होते हैं; परन्तु वह भी निश्चय चारित्र नहीं है; बल्कि आस्रव है।

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है और चारित्र धर्म है-इस कारण सम्यग्दर्शन की अपेक्षा भी चारित्र में अनन्त शान्ति अधिक होती है। चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता। तीर्थंकर को भी चारित्र ग्रहण करना पड़ता है; इसलिये धर्म तो चारित्र है और उसका मूल सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दृष्टि स्वयं समझता है कि यह अव्रत के परिणाम होते हैं वे करने योग्य नहीं है। ज्ञानी हजारो वर्ष तक पांचवे गुणस्थान में रहता है, मुनिपना नहीं होता। उस सयम उसे अव्रत के परिणाम होते हैं उनको वह निन्दता है; परन्तु हठ करके-आग्रह करके वह त्यागी नहीं हो जाता। (भाई!) मुनिपना महान दुर्लभ है। इस काल में भावलिंगी मुनि दिखना दुर्लभ है। इस जिन्दगी में तो भावलिंगी मुनि को देखा ही नहीं है। अभी तो द्रव्यलिंगी मुनि का भी ठिकाना नहीं है। यह किसी व्यक्ति की बात नहीं है। जिसको नुकसान होता है उसको अपने में होता है, अन्य को उसके नुकसान का फल नहीं होता; परन्तु अपने को तो यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। प्रतिज्ञा भंग करने की अपेक्षा तो प्रतिज्ञा नही लेने को भला कहा है। इसका यह आशय भी नहीं है कि आत्मा के भानपूर्वक प्रतिज्ञा नही लेनी चाहिये।

अव्रत के भाव को भला जानने वाला तो मिथ्यादृष्टि है। ***जिसने तीर्थंकर नामकर्म के भाव को भी भला नहीं माना वह अव्रत के भाव को भला कैसे जानेगा?*** जो आस्रव के परिणाम हैं वे तो जहर हैं। इनसे तो अमृत शान्ति की लूट होती है। आत्मस्वरूप तो अरागी है, इसमें राग नहीं है-ऐसा जानकर कषाय घटने पर प्रतिज्ञा करना प्रतिज्ञा है।

अब जैनधर्म में प्रतिज्ञा नहीं लेने का तो दण्ड है नहीं। जैनधर्म में तो ऐसा उपदेश है कि पहले तत्वज्ञानी हो, पश्चात् जिसको त्याग करना है उसके दोष को पहिचाने और त्याग होने से प्रगट होने वाले गुणों को भी जाने। पहले तत्वज्ञानी हो-यह बात ली है। दिगम्बर कुल में जन्मा है, इसलिये तत्वज्ञानी है-ऐसा नहीं है। पहले व्यवहार और फिर निश्चय मानने वाले को जन्मजात दिगम्बर कैसे माना जाये? क्योंकि यह मान्यता तो श्वेताम्बरमत की है। वे पहले व्यवहार और फिर निश्चय मानते हैं- यह मान्यता मिथ्यात्व है। ज्ञानी तो तत्वज्ञान पूर्वक अपने परिणाम पहिचानकर प्रतिज्ञा लेता है।

आत्मा परिपूर्ण शक्ति से भरा भण्डार है और वर्तमान पर्याय में शुभाशुभ परिणाम होते हैं वे विकार और संसार है, वह एक समय की पर्याय है। आत्मा का संसार आत्मा की पर्याय में होता है। शरीर, स्त्री आदि में आत्मा का संसार नहीं होता है। जिसको संसार और पर की रुचि नहीं है; परन्तु अखण्ड ज्ञायक स्वभाव की रुचि है वह जैन है। जिसे स्वभाव की रुचि नहीं है उसे संसार की रुचि है वह अजैन है।

आत्मा की वर्तमान अवस्था में शुभाशुभभावरूप विकार है-इस विकार की रुचि वाले को स्वभाव की रुचि नहीं है। यहाँ पर की रुचि की बात तो है ही नहीं; आत्मा में होने वाले राग की रुचि को जीतने वाले को यहाँ जैन कहते हैं। जैनधर्म में ऐसा उपदेश है कि पहले तत्वज्ञानी हो, पश्चात् जिसका त्याग करे उसके दोष को पहिचाने, त्याग करने से प्रगट होने वाले गुण को पहिचाने।

कोई प्राणी कहता है कि मुझे दोष टालना है; तो इसका अर्थ यह हुआ कि दोष टल सकता है और स्वयं निर्दोषरूप रह सकता है। अर्थात् दोष नित्य वस्तु नहीं है और निर्दोष स्वरूप कायम है-ऐसा निर्णय होता है। तथा विकार-दोष किसी पर ने नहीं कराया है, स्वयं ने किया है तो हुआ है-ऐसा माने तो विकार और दोष के अभाव का पुरुषार्थ हो सकता है। इसलिये ज्ञानी दोष को भी जानता है और आत्मा के निर्दोष स्वरूप को भी जानता है।

प्रश्नः- कोई कहता है कि आत्मा है और उसकी पर्याय में कर्म का निमित्त है। उस कर्म मे रस (अनुभाग) थोड़ा होता है और आत्मा की पर्याय में विभाव अधिक होता है, तो निमित्त मे अनुभाग कम होने पर भी उपादान में विकार अधिक कैसे हुआ? दृष्टान्तः- एकेन्द्रिय जीव को कर्म की स्थिति एक सागर की होती है और जब वह मनुष्यायु बांधकर मनुष्य होता है तब अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर की कर्म की स्थिति बांधता है-तो यह विशेषता कहाँ से हुई?

उत्तरः- कर्म के उदय के प्रमाण में आत्मा को विकार करना ही पड़ता है यह बात मिथ्या है-ऐसा इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है। देखो! यहाँ उस प्रकार का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है,इसका भी जिसे पता नहीं है, उसे आत्मतत्व का पता नहीं होता। कर्म और विकार दोनो स्वतन्त्र है। श्वेताम्बर और स्थानकवासियों

में तो यह मान्यता प्रचलित ही है कि कर्म के कारण विकार होता है; परन्तु दिगम्बर में भी अधिकांश लोग कर्म के कारण विकार होना मानते हैं। वस्तुतः इन दोनो की एक ही जाति है।

मनुष्य गति में कर्म की स्थिति अधिक होती है और जब निगोद में जाता है तो घट जाती है, तो वहाँ वह स्थिति कम कैसे की? इसलिये निश्चित होता है कि कर्म और विकार दोनो भिन्न-भिन्न स्वतन्त्ररूप से परिणम रहे हैं। कर्म के कारण तीनकाल में भी विकार नहीं होता। सातों तत्व स्वतन्त्र और भिन्न-भिन्न हैं-ऐसा निर्णय नहीं करने वाले को तीनकाल में भी आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा राग-द्वेष भ्रान्ति इत्यादि सब स्वयं के कारण करता है, वह विकार कर्म के निमित्त के कारण नहीं है-ऐसा प्रथम निर्णय करने वाले को तत्वज्ञान होता है।

कोई कहे कि यदि सभी को ऐसा तत्वज्ञान हो जाये तो कोई संसार में ही नहीं रहेगा-तो ऐसा कहने वाले को आत्मा की वास्तविक रुचि नहीं है। कारण कि स्वभाव की रुचि वाले की दृष्टि इस पर नहीं होती कि संसार में कौन रहेगा? जैसे धन के अर्थी को ऐसा विचार नहीं होता कि मैं धनवान होऊँगा, उसी प्रकार यदि सभी धनवान हो जायेंगे और गरीब नहीं रहेगें तो मेरा कार्य कौन करेगा? जिसकी जिसमें रुचि होती है वह अन्य के सन्मुख नहीं देखता।

यहाँ तो सच्चे जैन की बात है। दर्शनमोह का उदय तो अनादि काल से है। जिसकी दृष्टि कर्म पर पड़ी है और ऐसी मान्यता है कि कर्म क उदयानुसार विकार होता है, तो उसका मिथ्यात्व कभी दूर नहीं होता और न उसे तत्वज्ञान ही होता है। इसलिये प्रथम तो वह निर्णय करना चाहिये कि सातों तत्व भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र है। तत्पश्चात् ऐसे निर्णयवंत को राग का वास्तविक त्याग होता है। बाहर में वस्त्रादिक का त्याग किया होने से त्यागी है-ऐसा नहीं है। जिसको अन्तरंग में सातों तत्वों का भाव-भासन नहीं है वह जीव तो धर्म का त्यागी है। नियमसार-गाथा 126 में कहा है कि अज्ञानी स्वधर्म का त्यागी है। मोह का अर्थ ही स्वधर्म का त्याग है। आत्मा परिपूर्ण आनन्दकन्द है, जिसने उसकी रुचि छोड़ दी है वह आत्मा के धर्म का त्यागी है।

जिसको आत्मा का भान नहीं है उसने भले ही प्रतिमा, व्रतादि धारण किये हों, परन्तु उसने मिथ्यात्वरूप अधर्म का त्याग नहीं किया; इसलिये वह सच्चा त्यागी नहीं है। वस्तु-द्रव्य-गुण और पर्याय स्वतन्त्र है, इसका ज्ञान हुए बिना व्रत, प्रत्याख्यान ले लेने पर भी चारित्र नहीं है। जिसको दर्शन (सम्यग्दर्शन) का पता नहीं है उसके रत्नत्रयरूप व्रत नहीं होते। जिसको कर्म और विकार की भिन्नता भासित नहीं होती उसको सच्चे व्रत तीनकाल में भी नहीं होते। इसलिये सर्वप्रथम तत्वज्ञान होना चाहिये। इस तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिये पहले व्रत, प्रत्याख्यान आदि करे तो तत्वज्ञान हो जायेगा-ऐसा नहीं है; बल्कि यह तो विपरीत मान्यता है। इस विपरीत मान्यता का परित्याग होने पर ही तत्वज्ञान होता है और तत्वज्ञान होने के पश्चात् ज्ञानी अपने परिणामों को देखकार प्रतिज्ञा करता है।

ज्ञानी किसी के अंश को किसी में नहीं मिलाता। अर्थात् कर्म के अंश को विकार के अंश में नहीं मिलाता और विकार के अंश को स्वभाव में नही मिलाता।-ऐसा तत्वज्ञान होने के बाद अपनी पर्याय में होने वाले विकार को भलीभांति जानता है। अपने परिणाम के सुधरे बिना परवस्तु को छोड़े तो आकुलता हुए बिना नहीं रहती। इसलिये ज्ञानी अपनी पर्याय में दोष है, उसका नाश करके गुण प्रगट होता है-ऐसा जानता है; परन्तु पर वस्तु छूट गई इसलिये दोष का नाश होता है-ऐसा नहीं जानता। अतः वह आवेश में आकर प्रतिमा, व्रतादि नहीं लेता।

प्रतिमा, व्रत आदि बाहर से नहीं आता। अतः वर्तमान पुरुषार्थ देखकर और भविष्य में भी ऐसा ही भाव टिका रहेगा या नही इसका विचार करके प्रतिज्ञा लेता है। ज्ञानी शरीर की शक्ति तथा द्रव्य, क्षेत्र,काल, भाव का विचार करता है। इसी प्रकार प्रतिज्ञा लेना योग्य है। यदि अपने परिणामों का विचार करके पर खेद होता हो, आर्त्तध्यान होता हो अथवा बाद में वह प्रतिज्ञा नहीं पल सकती हो तो वैसी प्रतिज्ञा नहीं लेना चाहिये। यहाँ पहले उपादान अर्थात् परिणाम की बात की और बाद में निमित्त शरीरादि का भी ज्ञानी विचार करे-ऐसा कहा है।

इसी ग्रंथ के छठवें अधिकार में कहा है कि-'मुनिपद लेने का क्रम तो यह है कि पहले तत्वज्ञान हो, पश्चात् उदासीन परिणाम हो, परीषहादि सहन करने की शक्ति हो और वह स्वयमेव ही मुनि होना चाहे तब श्रीगुरु उसको मुनिधर्म अंगीकार कराते है। अभी तो तत्वज्ञान रहित विषयासक्त जीवों को माया द्वारा लोभ बताकर मुनिपना देते हैं; परन्तु यह उचित नहीं है।'

तथा और भी कहा है कि- 'जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत होते हैं। सो सम्यक्त्व तो स्व-पर के श्रद्धान होने पर होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है। इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना और पश्चात् चरणानुयोग अनुसार व्रतादि धारण करके व्रती होना। इस प्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है।'

भगवान की वाणी में ऐसा उपदेश आया है कि पहले आत्मज्ञान अर्थात् तत्वज्ञान होना चाहिये। पर से लाभ होता है, व्यवहार करते-करते निश्चय होता है ओर राग कर्म से होता है-ऐसा उपदेश भगवान ने नहीं दिया है।

राग का कारण कर्म और निश्चय रत्नत्रय का कारण व्यवहाररत्नत्रय है-ऐसा माने तो इसका अर्थ यह हुआ कि निश्चय रत्नत्रय भी कर्म के कारण होता है-ऐसी मान्यता वाला व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है, उसका समस्त आचारण मिथ्या होता है।

समयसार नाटक में कहा है कि आत्मा में विकार होता है, उस परिणाम में किसी की सहायता नहीं है। छहों द्रव्य किसी की सहायता बिना अपने अपने परिणाम कर रहे हैं ? कोई कर्म प्रेरक होकर आत्मा को विकार नहीं कराता। द्रव्य कर्म से भाव कर्म होता है-ऐसा नहीं है और राग से वीतरागता होती है- ऐसा भी नहीं है। इसलिये तत्वज्ञान बिना जो व्रत, तपादि करता है तो वह बालतप और बालव्रत है। अतः मात्र वर्तमान परिणाम के भरोसे प्रतिज्ञा नहीं लेना चाहिये; परन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर प्रतिज्ञा लेना योग्य है। आत्मा में मुनिपने का पुरुषार्थ न हो और न वैसी शरीर

की स्थिति हो, तथापि त्याग कर बैठे तो आर्त्तध्यान होता है। ज्ञानी अपनी शक्ति का विचार करके प्रतिज्ञा लेता है। प्रतिज्ञा के प्रति तिरस्कार के भाव न हों और परिणाम चढ़ते रहें-ऐसी प्रतिज्ञा लेता है। यही जैनधर्म का उपदेश और आम्नाय है।

प्रश्नः- चाण्डालादि ने प्रतिज्ञा की, तो उन्हें इतना अधिक विचार कहाँ होता है?

उत्तरः- मरण पर्यंत कष्ट होवे तो होओ; परन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना-ऐसे विचार से वे प्रतिज्ञा करते हैं। उनको प्रतिज्ञा के प्रति निरादरभाव नहीं है। कोई आत्मा के भान बिना भी प्रतिज्ञा ले; तथापि मरण पर्यंत कष्ट आने पर भी उसे नहीं छोड़ते और उनके प्रतिज्ञा का आदर नहीं छूटता। यह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि की प्रतिज्ञा की बात कही। कषाय की मंदतारूप चढ़ते परिणाम रहे तदनुसार वह प्रतिज्ञा लेता है और प्रतिज्ञा भंग नहीं होने देता।

अब सम्यग्दृष्टि की बात करते हैं। ज्ञानी जो प्रतिज्ञा लेते हैं वह तत्वज्ञान पूर्वक ही लेते हैं। वे अपने परिणाम देखकर प्रतिज्ञा लेते हैं। वे विचारते हैं कि मेरी पर्याय में वर्तमान तुच्छता वर्तती है, मेरी परिणामों में वृद्धि नहीं होती। द्रव्य से प्रभु; परन्तु पर्याय में पामर हूँ-इसका वे अच्छी तरह से ज्ञान करते हैं।

आत्मद्रव्य त्रिकाल शुद्ध है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनरूप शुद्ध पर्याय तो प्रगट हुई है; परन्तु अभी उग्र पुरुषार्थ पूर्वक राग का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है। अर्थात् निर्बलता है। द्रव्य का पूर्ण आश्रय नही हुआ है। पर्याय में पामरता है-इस कारण निमित्त का लक्ष्य सर्वथा छूटा नहीं है-इस प्रकार पर्याय का ज्ञान करके (ज्ञानी जीव) प्रतिज्ञा लेता है। यदि दृष्टि में द्रव्य का अवलम्बन छूट जाये तो मिथ्यादृष्टि हो जाये और पर्याय में निमित्त का अवलम्बन सर्वथा छूट जाये तो केवलज्ञान हो जाये। साधक को दृष्टि अपेक्षा से द्रव्य का अवलम्बन कभी नही छूटता और पर्याय में पामरता होने से सर्वथा निमित्त का अवलम्बन भी नहीं छूटता। इसलिये ज्ञानी तत्वज्ञान पूर्वक ही प्रतिज्ञा लेते है। पर द्रव्य कुछ करता है-यह बात तो है ही नहीं; यहाँ तो त्रिकाल द्रव्य और वर्तमान पर्याय इन दो की बात है। पर्याय में दया का राग आता है तो उस प्रकार के निमित्त पर लक्ष्य जाता है। पर का अवलम्बन नहीं छूटता-इसका अर्थ पर

निमित्त के कारण से राग होता है- ऐसा नहीं है। जिस-जिस प्रकार का राग होता है उस-उस प्रकार के निमित्तों पर लक्ष्य जाता है; परन्तु उन निमित्तों के कारण राग हुआ है- ऐसा नहीं है।

जैसे डुगडुगी की डोरी एक ही ओर होने पर भी वह दोनों ओर वजती है; उसी प्रकार ज्ञानी को दृष्टि की अपेक्षा से द्रव्य का अवलम्बन होता है और पर्याय की अपेक्षा से निमित्त का अवलम्बन लेता है। इस प्रकार साधक दशा में दो प्रकार पड़ते हैं। द्रव्य-पर्याय के ज्ञान बिना व्रत, प्रतिमादि लेना यथार्थ आचरण नहीं है। कोई ज्ञानी की निन्दा करता हो तो वह उसका भी ज्ञान करता है और अल्प राग-द्वेष होते हैं उन्हें भी वह जानता है। ज्ञानी सहज परिणाम हों-ऐसी प्रतिज्ञा लेता है।

अब कहतें हैं कि जिसे अन्तरंग विरक्तता नहीं हुई है और बाहर से प्रतिज्ञा धारण करता है, वह प्रतिज्ञा लेने के पूर्व और बाद में आसक्त रहता है। उपवास की प्रतिज्ञा के पूर्व धारणा में आसक्त होकर आहार लेता है और उपवास पूरा होने पर (पारणा में) मिष्ठान्न खाता है तथा शीघ्रता भी बहुत करता है। जैसे जल को रोक रखा था सो वह जब छूटा तथा अत्यन्त प्रवाह से बहने लगा। इसी प्रकार इसने प्रतिज्ञा से विषयवृत्ति रोक रखी थी; परन्तु अन्तरंग में आसक्तता बढ़ती गई और प्रतिज्ञा पूरी होते ही अत्यन्त विषय प्रवृत्ति होने लगी। अतः वास्तव में तो इसके प्रतिज्ञा के काल में भी विषय वासना नहीं छूटी और उल्टे आगे-पीछे और अधिक राग होता है; परन्तु फल तो राग भाव मिटने पर ही होता है। इसलिये जितना राग घटा हो उतनी ही प्रतिज्ञा करना योग्य है। महामुनि भी थोड़ी प्रतिज्ञा करके फिर आहारादि में कमी करते हैं और यदि बड़ी प्रतिज्ञा करते हैं तो अपनी शक्ति विचारकर करते हैं इसलिये परिणाम में चढ़ते भाव रहें और आकुलता न हो वैसा करना कार्यकारी है।

....तथा जिनकी धर्म पर दृष्टि नहीं है वे कभी तो बड़ा धर्म आचरते हैं, कभी अधिक स्वच्छन्द होकर प्रवर्तते हैं। जैसे-किसी धर्मपर्व में तो बहुत उपवासादि करते हैं, किसी धर्मपर्व में बारम्बार भोजनादि करते हैं। यदि धर्मबुद्धि हो तो यथायोग्य सर्व धर्मपर्वों में यथायोग्य संयमादि धारण करे। तथा

कभी तो किसी धर्मकार्य में बहुत धन खर्च करते हैं और कभी कोई धर्म कार्य आ पहुँचा हो तब भी वहाँ थोड़ा भी धन खर्च नहीं करते। सो धर्मबुद्धि हो तो यथाशक्ति सभी धर्मकार्यो में धन खर्चते रहें।-इसी प्रकार अन्य जानना।

तथा जिनके सच्चा धर्मसाधन नहीं हैं वे कोई क्रिया तो बहुत बड़ी अंगीकार करते हैं, तथा कोई हीन क्रिया करते हैं। जैसे-धनादिक का तो त्याग किया और अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र इत्यादि विषयों में विशेष प्रवर्तते हैं। तथा कोई जामा पहिनना, स्त्री-सेवन करना इत्यादि कार्यों का तो त्याग करके धर्मात्मापना प्रगट करते हैं; और पश्चात् खोटे व्यापारादि कार्य करते हैं, लोकनिंद्य पापक्रियाओं मे प्रवर्तते हैं।-इसी प्रकार कोई क्रिया अति उच्च तथा कोई क्रिया अति नीची करते है। वहाँ लोकनिंद्य होकर धर्म की हंसी कराते हैं कि देखो, अमुक धर्मात्मा ऐसे कार्य करता है। जैसे कोई पुरुष एक वस्त्र तो अति उत्तम पहिने और एक वस्त्र अति हीन पहिने तो हँसी ही होती है; उसी प्रकार यह भी हँसी को प्राप्त होता है।

सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है कि जितने अपने रागादि दूर हुए हों उसके अनुसार जिस पद में जो धर्मक्रिया सम्भव हो वह सब अंगीकार करे। यदि अल्प रागादि मिटे हों तो निचले पदमें ही प्रर्वतन करे; परन्तु उच्चपद धारण करके नीची क्रिया न करे।

यहाँ प्रश्न है कि स्त्री-सेवनादि त्याग ऊपर की प्रतिमा में कहा है; इसलिये निचली अवस्थावाला उनका त्याग करे या नहीं?

समाधानः- निचली अवस्थावाला उनका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, कोई दोष लगता है; इसलिये ऊपर की प्रतिमा में त्याग कहा है। निचली अवस्था में जिस प्रकार त्याग सम्भव हो; वैसा निचली अवस्थावाला भी करे; परन्तु जिस निचली अवस्था में जो कार्य सम्भव ही नहीं है, उसका करना तो कषायभावों से ही होता है। जैसे-कोई सप्तव्यसन का सेवन करता हो, और स्वस्त्री का त्याग करे; तो कैसे हो सकता है? यद्यपि स्व स्त्री का त्याग करना धर्म है; तथापि पहले सप्तव्यसन का त्याग हो, तभी स्वस्त्री का त्याग करना योग्य है।- इसी प्रकार अन्य जानना।....

जिसकी धर्म पर दृष्टि नहीं है वह किसी समय तो बड़ा धर्म आचरते हैं तथा किसी समय अत्यन्त स्वच्छन्द होकर प्रवर्तते हैं। जैसे दसलक्षण पर्व में दस दिन तक उपवास करते हैं और अन्य दिनों में एक भी उपवास नहीं करते। सो यदि धर्मबुद्धि हो तो सभी धर्म पर्वों में यथायोग्य संयमादि धारण करे; परन्तु मिथ्यादृष्टि को इसका विवेक नहीं होता। उसको व्रत, तप, दान भी सच्चे नहीं होते। यहाँ तो अज्ञानी को कैसा विकल्प आता है-यह बात करते हैं। जहाँ मान मिले वहाँ धन खर्च करता है। मकान (मन्दिरादि) में नाम की तख्ती लगा दो तो अधिक रूपये दे सकता हूँ-ऐसा कहने वाले जीव के धर्मबुद्धि नहीं है। उसका प्रयोजन राग घटाने का नही है।

किसी समय किसी धर्म कार्य में बहुतसा धन खर्च कर देता है और किसी समय कोई धर्म कार्य आ जाने पर थोड़ा सा भी धन नहीं देता। यदि इसको धर्मबुद्धि होतो यथाशक्ति समस्त धर्म कार्यो में यथायोग्य धन खर्च करे। इसी प्रकार अन्य भी जानना। अज्ञानी को धन खर्च करने का भी विवेक नहीं है; परन्तु यदि धर्म बुद्धि होवे तो अपनी शक्ति अनुसार सभी धर्म कार्यो में यथायोग्य धन दिये बिना नहीं रहे। जैसे लड़की का विवाह हो तो वहाँ चन्दा करने नहीं जाता, बल्कि अपने घर में से पैसा निकालता है, मकान बनवाता हो तो चन्दा नहीं करता; उसी प्रकार जिसको धर्म बुद्धि हो वह धर्म के सभी कार्यो में यथाशक्ति धन खर्च करता है-ऐसे उसके परिणाम होते हैं।

तत्वज्ञान पूर्वक व्रत,तप और दान होना चाहिये-ये तीन बातें की। इस प्रकार जिस-जिस काल में जिस-जिस प्रकार का राग होता है उस उस प्रकार से ज्ञानी को विवेक होता है। ऐसा समझना चाहिये।

जिसको सच्चे धर्म की दृष्टि नहीं है। उसके सच्चा साधन भी नहीं है। बाहर से लक्ष्मी का त्याग किया होने पर भी वस्त्रादि से मोह नहीं छूटता है। सुन्दर मखमली जूते और कोट पहिने तो वह त्याग मेल रहित है। बाहर से त्याग किया हो और सट्टे का धंधा करे, स्वयं तो त्यागी हो, किन्तु दूसरों को लक्ष्मी प्राप्त कराने के लिये फीचर में अंक बतलाये, तो वह धर्म में कलंकरूप है; वास्तव में उसने लक्ष्मी इत्यादि का त्याग नहीं किया; बल्कि लामान्तराय के कारण उसको लक्ष्मी प्राप्त ही नहीं हुई है। स्वयं त्यागी होकर अपने माता-पिता आदि के लिये चन्दा इकट्ठा कराने वाला भी त्यागी नहीं है।

किसी से चन्दे में अमुक रकम देने के लिये कहना अथवा आग्रह करना त्यागी के लिये शोभनीय नहीं है। सच्चा त्याग वाला तो अपने परिणामों को देखता है। साधु होकर रूपये मांगना धर्म की शोभा नहीं है।

कोई-कोई त्यागी ऐसे होते हैं कि यात्रा अथवा भोजनादि के लिये पैसों की याचना करते हैं और नहीं देने पर क्रोध करते हैं। प्रथम तो त्यागी को याचना करना ही योग्य नहीं है और फिर कषाय करना तो विशेष बुरा है; ऐसा होने पर भी अपने को त्यागी और तपस्वी मानना व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का अविवेक है।

तात्पर्य यह है कि त्याग निस्पृहरूप होना चाहिये। मुनि के याचना नहीं होती है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय श्लोक 200 वें में कहा है कि जितना आचरण मुनि को होता है उसका अंश श्रावक को भी होना चाहिये, तो धर्म शोभता है। ज्ञानी अपनी शक्ति अनुसार त्याग करता है।

यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का वर्णन चल रहा है। वह जीव कोई क्रिया अति निम्न करता है जिससे लोकनिंद्य होता है और धर्म की हंसी कराता है। जैसे कोई पुरुष एक वस्त्र तो अति उत्तम पहिने और एक वस्त्र अति हीन पहिने तो वह हास्य का ही पात्र होता है; इसी प्रकार यह जीव भी हंसी पाता है। व्यवहाराभासी जीव की क्रिया हंसी की पात्र होती है; क्योंकि वह किसी समय ऊँची तो किसी समय नीची क्रिया करता है-इस कारण लोकनिंद्य होता है। इसलिये सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है कि अपने जितने रागादिक दूर हुए हों उस अनुसार जिसपद में जो धर्मक्रिया संभव हो तो वह सब अंगीकार करे।

ज्ञानी चौथे पांचवें गुणस्थान में जिस प्रकार की क्रिया संभव हो उस अनुसार प्रवर्तता है। ज्ञानी समझता है कि वर्तमान पर्याय में जो राग है वह मेरी कमजोरी से हैं। कर्म के कारण राग होना वह नहीं मानता है। तथा अपने में जिस प्रकार का राग छूटा हो उस अनुसार क्रिया में प्रवर्तता है। वह हठ से त्याग नहीं करता है। यदि अपने में अल्पराग का ही अभाव हुआ हो तो नीचे पद में ही प्रवर्तता है; परन्तु उच्चपद

धारण करके नीची क्रिया नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि की भूमिका में मांसादि का आहार नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि को कदाचित युद्ध के परिणाम होते हैं; परन्तु अभक्ष्य आहार सम्यग्दृष्टि के नहीं होता। आसक्ति का अभाव नहीं होने से स्त्री सेवनादि होते हैं। पाँचवें गुणस्थान में उसकी भूमिकानुसार त्याग होता है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय में आता है कि जिसको मद्य-माँस का त्याग नहीं होता वह तो उपदेश सुनने का भी पात्र नहीं है।

प्रश्नः- स्त्री सेवनादि का त्याग ऊपर की प्रतिमाओं में कहा है तो निचली दशा वाला उसका त्याग करे या नहीं करे?

उत्तरः- निचली अवस्था वाला उसका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, कोई दोष लगता है; इसलिये ऊपर की प्रतिमा में उसका त्याग कहा है; परन्तु निचली अवस्था में जिसप्रकार का त्याग संभव है उसका त्याग निचली अवस्था वाला भी करे। चौथे गुणस्थान वाला प्रतिमा की प्रतिज्ञा नहीं करता; क्योंकि अभी अन्तर वासना नहीं छूटी है। अतः वह चौथे गुणस्थान की भूमिकानुसार नियम लेता है। जैसे कोई सात व्यसन का तो सेवन करे और स्वस्त्री का त्याग करे तो ऐसा कैसे संभव है? यद्यपि स्वस्त्री का त्याग करना धर्म है, तथापि पहले सात व्यसन का त्याग होने पर ही स्वस्त्री का त्याग करना योग्य है।

अज्ञानी जीव को संयोग में और शुभभाव में रुचि पड़ी है। फिर भले ही वह सर्वज्ञ की वाणी सुनता हो तो भी वह बंध कथा सुनता है; कारण के उसको वह वाणी बंध में निमित्त है। जीवों ने काम, भोग बंध की कथा तो अनन्तबार सुनी है; परन्तु आत्मा की बात एक क्षण भी नहीं सुनी है। संयोगदृष्टि, निमित्तदृष्टि व्यवहारदृष्टि, पर्यायदृष्टि पूर्वक वाणी सुनी है। इसलिये वाणी की सन्मुखता का जो राग है उसको काम-भोग कहा है। यह बात समझने योग्य है। जिसको इसका पता नहीं है वह भले ही बाहर से त्याग करे, तो भी व्यर्थ है। पहले स्वस्त्री को छोड़ने और सप्त व्यसनों को नहीं छोड़ने जैसी बात है। इसी प्रकार सर्वत्र ही समझ लेना चाहिये।

....तथा सर्व प्रकार से धर्म को न जानता हो-ऐसे जीव किसी धर्म के अंग को मुख्य करके अन्य धर्मो को गौण करता है। जैसे-कोई जीव दया-धर्मको मुख्य करके पूजा-प्रभावनादि कार्य का उत्थापन करते हैं; कितने ही पूजा-प्रभावनादि

धर्म को मुख्य करके हिंसादिक का भय नहीं रखते; कितने ही तप की मुख्यता से आर्त्तध्यानादिक करके भी उपवासादि करते हैं; तथा अपने को तपस्वी मानकर निःशंक क्रोधादि करते हैं; कितने ही दान की मुख्यता से बहुत पाप करके भी धन उपार्जन करके दान देते हैं; कितने ही आरम्भ-त्याग की मुख्यता से याचना आदि करते हैं; इत्यादि प्रकार से किसी धर्म को मुख्य करके अन्य धर्म को नहीं गिनते तथा उसके आश्रय से पाप का आचरण करते हैं।

उनका यह कार्य ऐसा हुआ जेसे अविवेकी व्यापारी को किसी व्यापार में नफे के अर्थ अन्य प्रकार से बहुत टोटा पड़ता है। चाहिये तो ऐसा कि जैसे व्यापारी का प्रयोजन नफा है, सर्व विचार कर जैसे नफा बहुत हो वैसा करे, उसी प्रकार ज्ञानी का प्रयोजन वीतरागभाव है, सर्व विचार कर जैसे वीतरागभाव बहुत हो वैसा करे, क्योंकि मूल धर्म वीतरागभाव है।

इसी प्रकार अविवेकी जीव अन्यथा धर्म अंगीकार करते हैं; उनके तो सम्यक्चारित्र का आभास भी नहीं होता।....

सर्वप्रकार के धर्म के स्वरूप को नहीं जानने वाले कितने ही जीव किसी धर्म के अंग को मुख्य करके अन्य धर्मो को गौण करते हैं। जैसे कोई जीवदयारूप धर्म को मुख्य करके पूजा-प्रभावना इत्यादि के कार्यो को उड़ाते हैं; वे व्यवहार धर्म को भी नहीं समझते। ज्ञानी को भी पूजा-प्रभावनादि का भाव आये बिना नहीं रहता। पर जीव की हिंसा-अहिंसा तो कोई नहीं कर सकता; परन्तु भाव की बात है। **पूजा-प्रभावना में शुभभाव होते हैं, उनको न तो उड़ाया जा सकता है और न धर्म ही माना जा सकता है** तथा कोई पूजा-प्रभावनादि धर्म को मुख्य करके हिंसादि का भी भय नहीं रखते। रात्रि के समय पूजन नहीं करना चाहिये, प्रतिमाजी पर दूध, दही आदि से अभिषेक नहीं करना चाहिये, शुद्धजल से ही अभिषेक होना चाहिये। जिसको इन बातों का पता नही है वह भी धर्म के अंग को नहीं जानता है।

यह बात न्याय से समझना चाहिये। भले ही मिथ्यादृष्टि हो, परन्तु सत्य बात आवे तो पहले स्वीकारना चाहिये।

अज्ञानी किसी तप की मुख्यता करके आर्त्तध्यानादि करके भी उपवासादि करता है। अथवा अपने को तपस्वी मानकर निःशंकरूप से क्रोधादि करता है। उपवास करके सोता है, आर्त्तध्यान करके दिन पूरा करता है। कारण कि तत्वज्ञान के बिना सच्चा तप नहीं होता है। ज्ञानी तो शान्त होता है। आत्मा की शान्ति से शोभित ही तपस्वी है। इसके बदले तपस्वी नाम रखकर उग्रप्रकृति रखना तो यथार्थ नहीं है। कोई वर्षीतप करे और उपवास का पारणा करते समय अच्छी सुविधा नहीं मिलने पर कषाय करे तो उसको तप नहीं कहा जा सकता।

कोई दान की मुख्यता से बहुत पाप उत्पन्न करके भी दान देता है। पहले तो पाप करके पैसा इकट्ठा करना और फिर दान देना न्याय नहीं है। जीव परोपकार के नाम पर भी पाप करता है। कोई आरम्भ त्याग की मुख्यता करके याचना करने लग जाता है। रांधने में पाप मानकर भिखारी की तरह मांगने जाये तो यह योग्य नहीं है। तथा कोई जीव अहिंसा की मुख्यता करके जल से स्नान, शौचादि नहीं करते और कोई लौकिक कार्य आने पर धर्म को छोड़ देते हैं अथवा उसके आश्रय से पापाचरण भी करते हैं।

धर्म की प्रभावना हेतु महान महोत्सव होता हो तो ज्ञानी शिथिलता नहीं रखते। वे लौकिक कार्य छोड़कर वहाँ उपस्थित हुए बिना नहीं रहते। पंचाध्यायी गाथा 739 में कहा है कि नित्य-नैमित्तिकरूप से होने वाले जिनबिम्ब महोत्सव में भी शिथिलता नहीं रखना चाहिये। तथा तत्वज्ञानियों को तो कभी और किसी भी प्रकार से शिथिलता नहीं करना चाहिये।

जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है वहाँ समझना वह-इसलिये विवेक करना चाहिये। अज्ञानी को विवेक नहीं होता। जैसे किसी अविवेकी व्यापारी को किसी व्यापार में लाभ के हेतु अन्य प्रकार से बड़ी हानि हो जाती है वैसा ही यह कार्य हुआ; परन्तु जिस प्रकार विवेकी व्यापारी का प्रयोजन लाभ है; इसलिये वह सारा विचार करके जिसमें लाभ हो वह करता है। इसी प्राकर ज्ञानी का प्रयोजन तो वीतरागभाव है, इसलिये वह सारा विचार करके वही करता है जिसमें वीतरागभाव हो।

चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। यही ज्ञानी का प्रयोजन हैं। ज्ञानी को दृष्टि में तो वीतरागता है और चारित्र में भी वीतरागता बढ़े-यही ज्ञानी का प्रयोजन होता है। ज्ञानी को राग का प्रयोजन नहीं होता। राग का अभाव तत्वज्ञान के बिना नहीं होता। बाहर का त्याग हुआ या नहीं हुआ-यह प्रयोजन ज्ञानी को नहीं है, शुभराग भी प्रयोजन नहीं है। ज्ञानी को राग, निमित्त और पर की उपेक्षा और स्वभाव की अपेक्षा होती है।

आत्मा चिदानन्द स्वरूप और पुण्य-पाप से रहित है। उसकी रुचि-प्रतीति करना धर्म है। जैन दर्शन का तात्पर्य क्या है? भगवान आत्मा महिमावंत शुद्ध चैतन्य है, उसको पुण्य-पाप तथा इन्द्रियों में सुख नहीं है। सुख तो अन्दर आत्मस्वरूप शुद्ध चैतन्य है उसमें है-ऐसी प्रतीति करना ही जैनदर्शन का तात्पर्य है। आत्मा निमित्त और संयोग से भिन्न है, आत्मा विकल्प जितना भी नहीं है; आत्मा तो वीतराग स्वरूप है। उसके आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक जितना वीतरागभाव होता है वह चारित्र है।

जीव दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा आदि का मंद कषायरूप भाव करे तो वह पुण्यभाव है; परन्तु यदि इसमें तीव्र आकुलता भाव होवे तो कषाय की मंदता भी नहीं होती; इस कारण पुण्य भी नहीं है। आत्मा में अन्तर्मुख हुए बिना जो कोई कषाय की मंदता होती है वह पुण्य है। परमार्थ से तो वह अधर्म है, धर्म नहीं है। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है वह सब अधर्मभाव है; क्योंकि जिस भाव से बंध होता है वह सब भाव अधर्मभाव है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध है, उसकी रुचि पूर्वक लीनता होना वीतरागभावरूप चारित्र है। आत्मा का मूल धर्म तो वीतरागभाव है। आत्मा राग से भिन्न है-ऐसी दृष्टि करना धर्म है। जिसको ऐसा विवेक नहीं है कि आत्मा निमित्त और राग से पार है, क्षाणिक पर्याय जितना मैं नहीं हूँ, वह व्रत, तप आदि की क्रिया करने पर भी उसको सम्यक्चारित्र का भास नहीं होता; कारण कि उसको भेदज्ञानरूप विवेक नहीं हुआ है।

जिसको भेदविज्ञान नहीं है वह वास्तविक धर्म को अंगीकार नहीं करता। आत्मा केवलज्ञान का कंद है। जिसमें से केवलज्ञान आता है वह मैं हूँ-ऐसा भान जिसको नहीं है वह पुण्य से धर्म मानता है। उसको चारित्र नहीं होता। चारित्र का मूल तो

सम्यग्दर्शन है। जिसको मूल का पता नहीं है उस मिथ्यादृष्टि को तो चारित्र का आभास भी नहीं होता। तत्वज्ञान के निर्णय बिना चारित्र नहीं होता। ज्ञानी गृहस्थाश्रम में होने पर भी उसको निःशंक तत्वज्ञान होता है; परन्तु अज्ञानी त्यागी होने पर भी उसको सम्यक्चारित्र नहीं होता।

....तथा कितने ही जीव अणुव्रत-महाव्रतादि का यथार्थ आचरण करते हैं- और आचरण के अनुसार ही परिणाम हैं, कोई माया-लोभादिकका अभिप्राय नहीं है; उन्हें धर्म जानकर मोक्ष के अर्थ उनका साधन करते हैं, किन्हीं स्वर्गादिक के भोगों की भी इच्छा नही रखते; परन्तु तत्वज्ञान पहले नही हुआ, इसलिये आप तो जानते हैं कि मैं मोक्ष का साधन कर रहा हूँ; परन्तु जो मोक्ष का साधन है उसे जानते भी नहीं, केवल स्वर्गादिक ही का साधन करते हैं। कोई मिसरी को अमृत जानकर भक्षण करे तो उससे अमृत का गुण तो नहीं होता; अपनी प्रतीति के अनुसार फल नहीं होता; फल तो जैसे साधन करे वैसा ही लगता है।....

पहले तो जो व्रतादि का यथार्थ पालन नहीं करता उसकी बात की थी। अब कहते हैं कि भगवान के द्वारा कथित व्रतादि को यथार्थ पालने पर भी उस क्रिया और शुभभाव से धर्म होता है, व्यवहार करते-करते धर्म हो जाता है-ऐसी मान्यता होने से उसके भी यथार्थ चारित्र नहीं है। जिस जीव को आत्मा का भान नहीं है तथा अणुव्रतादि का पालन भी यथार्थ नही करता वह मिथ्यादृष्टि तो है ही; परन्तु उसका चारित्र भी खोटा है-यह बात तो पूर्व में आगई है। अब तो कहते हैं कि व्रतादि का यथार्थ आचरण करने पर भी मिथ्यादृष्टि के चारित्र नहीं है।

भगवान के मार्ग में प्रतिज्ञा नहीं लेने का दण्ड नहीं है; परन्तु प्रतिज्ञा लेकर भंग करना तो महापाप है। सर्वप्रथम वस्तु का क्या स्वरूप है-यह बात जानना चाहिये। यह शास्त्र मोक्षमार्गप्रकाशक है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है। राग, विकार तथा जड़ की क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि कोई जीव 28 मूलगुणों का भलीभांति पालन करता है, मन-वचन-काय गुप्ति का पालन करता है, उद्दिष्ट आहार नहीं लेता, मासोपमास के उपवास करता है, तप करता है, व्यवहार क्रिया में दोष बिलकुल नहीं करता-ऐसा आचरण करता है और तदनुसार ही उसके कषाय की मंदता भी होती है; इन क्रियाओं में उसके माया और लोभ के परिणाम नहीं है; बल्कि इन्हें धर्म जानकर मोक्ष के लिये इनका साधन करता है। अर्थात् वह स्वर्गादिक के भोगों की इच्छा नहीं रखता; परन्तु प्रथम तत्वज्ञान नही हुआ होने से स्वयं तो जानता है कि मैं मोक्ष के लिये साधन करता हूँ; परन्तु मोक्ष का जो साधन है उसका जानता भी नहीं है। अतः केवल स्वर्गादिक का ही साधन करता है, वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। उसके तत्वज्ञानपूर्वक आचरण नहीं होने से सच्चा चारित्र नहीं है।

समयसार में भी कहा है कि तत्वज्ञान पूर्वक अधःकर्मी आहार नहीं लेने वाले मुनि के यथार्थ आचरण है। मिथ्यादृष्टि वीतराग की आज्ञा जैसी है वैसा आचरण करता है; परन्तु उसको धर्म का साधन मानता है; इस कारण वह आचरण मिथ्याचारित्र है। व्यवहार करते-करते धर्म का साधन हो जायेगा-यह मान्यता मिथ्या है। सर्वप्रथम अन्तर साधन प्रगट किये बिना मंदकषाय को व्यवहार से भी साधन नहीं कहा जा सकता। तीनों काल में एकमात्र आत्मसाधन से ही मोक्षमार्ग होता है। पाँचवां काल है, इसलिये शुभभावरूपी साधन से मोक्षमार्ग होता है- ऐसा नहीं है। जैसे कसार तो तीनोंकाल घी, शक्कर और आटा से ही बनता है; इसी प्रकार तीनों काल मोंक्ष का एक ही साधन होता है।

जिसको तत्वज्ञान नहीं है वह व्रतादि को 'मैं मोक्ष का साधन करता हूँ'-ऐसा मानता है; परन्तु वह जो मोक्ष का साधन है उसका जानता ही नहीं है। वह तो केवल स्वर्गादिक का ही साधन करता है। मोक्षपर्याय का साधन तो निर्विकल्प मोक्षमार्ग है और उस मोक्षमार्ग का कारण अन्दर शुद्धचैतन्य आत्मा है। इस बात को तो वह नहीं जानता है और त्याग करो, व्रत करो, भक्ति-पूजा करो तो स्वर्ग में जाओगे और तत्पश्चात् भगवान के पास जाकर सम्यग्दर्शन हो जायेगा-ऐसी जिसकी मान्यता हे वह मिथ्यादृष्टि है।

मिथ्यादृष्टि भगवान की आज्ञा का लोप करता है। कोई शक्कर को अमृत जानकर भक्षण करे तो इससे अमृत का गुण तो नहीं होता; कारण कि अपनी प्रतीति के अनुसार फल नहीं होता; परन्तु जैसा साधन करे वैसा ही फल लगता है। पुण्य को धर्म मानने से वह धर्म नहीं हो जाता। आक के फल का आम मान लेने से वह आम नहीं हो जाता। अतः अपनी प्रतीति के अनुसार फल नहीं होता। जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसी प्रतीति करे तो यथार्थ फल होता है।

...शास्त्र में ऐसा कहा है कि चारित्र में "सम्यक्पद" है; वह अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के अर्थ है; इसलिये प्रथम तत्वज्ञान हो और पश्चात् चारित्र हो सो सम्यक्चारित्र नाम पाता है। जैसे-कोई किसान बीज तो बोये नहीं और अन्य साधन करे तो अन्न प्राप्ति कैसे हो? घास-फूस ही होगा; उसी प्रकार अज्ञानी तत्वज्ञान का तो अभ्यास करे नहीं और अन्य साधन करे तो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो? देवपद आदि ही होंगे।

वहाँ कितने ही जीव ऐसे है जो तत्वादिक के भली-भाँति भी नाम नहीं जानते, केवल व्रतादिक में ही प्रवर्तते हैं। कितने ही जीव ऐसे हैं जो पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान का यथार्थ साधन करके व्रतादि में प्रवर्तते है। यद्यपि वे व्रतादिक का यथार्थ आचरण करते हैं तथापि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान बिना सर्व आचरण मिथ्याचारित्र ही है।

यही समयसार कलश मे कहा है:

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्षमिदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुण बिना कथमपि प्राप्त क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

अर्थः- मोक्षसे पराङ्मुख ऐसे अति दुस्तर पंचाग्नि तपनादि कार्यो द्वारा आप ही क्लेश करते हैं तो करो; तथा अन्य कितने ही जीव महाव्रत और तप के भार से चिरकालपर्यन्त क्षीण हुए क्लेश करते हैं तो करो; परन्तु यह साक्षात्

मोक्षस्वरूप सर्व रोगरहित पद, जो अपने आप अनुभव में आये ऐसा ज्ञानस्वभाव, वह तो ज्ञानगुण के बिना अन्य किसी भी प्रकार से प्राप्त करने में समर्थ नहीं है।

तथा पंचास्तिकाय में जहाँ अंत में व्यवहाराभासी का कथन किया है वहाँ तेरह प्रकार का चारित्र होने पर भी उसका मोक्षमार्ग में निषेध किया है।

तथा प्रवचनसार में आत्मज्ञानशून्य संयमभाव को अकार्यकारी कहा है।

तथा इन्हीं ग्रन्थों व अन्य परमात्मप्रकाशादि शास्त्रों में इस प्रयोजन के लिये जहाँ-तहाँ निरूपण है।

इसलिये पहले तत्वज्ञान होने पर ही आचरण कार्यकारी है।

शास्त्र में जो 'सम्यक्' पद है वह अज्ञान पूर्वक के आचरण की निवृत्ति के लिये है। इसलिये प्रथम तत्वज्ञान होने पर ही चारित्र होता है वही सम्यक्चारित्र नाम पाता है। जिसके अज्ञान का अभाव नहीं हुआ है उसके चारित्र नहीं होता है। तत्वज्ञान नहीं करने वाले को सम्यग्दर्शन नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्मा है इसलिये सम्यग्दृष्टि है-ऐसा नहीं है। दिगम्बर कोई सम्प्रदाय नहीं, परन्तु वस्तु का स्वरूप है। सातों तत्वों के भाव का भासन ही तत्वज्ञान है।

1. जीवतत्व तो परम पारिणामिक शुद्ध चैतन्य है वह है।

2. अजीव तत्व भी पारिणामिक भाव तथा औदयिकभावरूप है। (यहाँ अजीव तत्व में मुख्य रूप से कर्मादि पुद्गल तत्व लेना है।)

3. आस्रव- आत्मा में विकार भाव है वह औदयिकभाव आस्रव तत्व है।

4. संवर- सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र है वह क्षायोपशमिक, ओपशमिक तथा क्षायिकभाव है।

5. बंध- यह विकार भाव है, औदयिकभाव है; यह आत्मा की शुद्ध पर्याय नहीं है।

6. निर्जरा- क्षायोपशमिक भाव, ओपशमिकभाव तथा क्षायिकभाव है।

7. मोक्ष- क्षायिकभाव है।

इसप्रकार सात तत्वों के भाव समझना चाहिये।

आत्मा में तत्वज्ञान का भाव-भासित होने के पश्चात् चारित्र होता है। तत्वज्ञान के बिना यथार्थ सामायिक, व्रतादि नहीं होते। जब तत्वज्ञान के बिना दर्शनप्रतिमा भी नहीं होती तो मुनिपना तो हो ही कैसे सकता है? वर्तमान में तो दिगम्बर सम्प्रदाय में बहुभाग जीव 'देवादिक की श्रद्धा है तो सम्यग्दर्शन हैं- यह मानते हैं और अपने को श्रावक मानते हैं। वे मानते हैं कि श्रावककुल में जन्म होने से जन्मजात श्रावक हैं; परन्तु वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा चिदानन्द है-ऐसी दृष्टि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना अर्थात् तत्वज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता। जैसे कोई किसान बीज तो नहीं बोए और अन्य साधन किया करे तो उसको अन्न प्राप्ति कैसे होगी? घास-फूस ही होंगे। उसी प्रकार अज्ञानी जीव तत्वज्ञान का अभ्यास तो करे नहीं और अन्य साधन करे तो मोक्षप्राप्ति कहाँ से होगी? देव पद आदि ही होगें। कषाय मन्दता की क्रिया करने से स्वार्गदिक होते हैं; परन्तु धर्म नहीं होता। छढाला में कहा है कि जीव मुनिव्रतादि धारण करके अनन्तबार ग्रैवेयक में गया है; परन्तु आत्मज्ञान के बिना लेशमात्र भी सुख को प्राप्त नही किया।

कोई जीव तो ऐसे भी हैं जो कि तत्वादि के नाम भी ठीक से नहीं जानते और मात्र व्रतादि में ही प्रवर्तते हैं। निर्दोष व्रत पालते हैं; परन्तु तत्वज्ञान नहीं करते। तथा कितने ही जीव ऐसे हैं जो पूर्व में वर्णित सम्यग्दर्शन-ज्ञान का अयथार्थ साधन करके व्रतादि में प्रवर्तते हैं। यद्यपि वे बाह्य दोष रहित व्रतादि का पालन भलीभांति करते हैं; तथापि यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान के बिना उनका समस्त आचरण मिथ्याचारित्र ही है।

समयसार कलश में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि- जिसको आत्मा का भान नहीं है उसको व्रतादि भाररूप है। संसार एक समय की पर्याय में है; परन्तु वह मेरे स्वभाव में नहीं है- ऐसा भान जिसको नहीं है उसको तो व्रतादि बोझरूप है। चारित्र तो आनन्द स्वरूप है, कष्टस्वरूप नहीं। तत्वज्ञान के बिना जो आचरण है वह कष्टस्वरूप लगता है। चारित्र तो संवर है। दुःख की पर्याय का नाश करने वाला है। उसको कष्टदायक मानना मिथ्यात्व है। धर्म कष्टदायक होता ही नहीं। धर्मी आत्मा को आनन्द होता है। धर्मी को परीषह होने पर भी उसका ख्याल नहीं होता। देखो!

सुकौशल मुनि को बाघिन खा रही है उस समय भी आनन्द है। गजकुमार मुनि को भी (उपसर्ग के समय भी) आनन्द है। अविकारी आनन्दकन्द परिणाम ही चारित्र है।- ऐसा पता नहीं होने वाले की संवर तत्व में भूल है। अर्थात् विपरीत अभिनिवेश है। क्या करें, हमने महाव्रत ले लिये हैं इसलिये पालन करना चाहिये- ऐसी अरुचि लावे तो वह सत्य आचरण नहीं है। प्रथम भावभासनरूप तत्वज्ञान करो, जगत की चिन्ता छोड़ो! यह बात कभी नहीं सुनी है, इसलिये पहले अभ्यास करो।

यात्रा करने जाये और पहाड़ पर चढ़े-उतरे उस समय थक जाता है, भूख-प्यास सताने लगती है तो धर्मशाला के मुनीम से झगड़ पड़ता है, कषाय करता है यह यात्रा नहीं है। तत्वज्ञानपूर्वक आकुलता कम हो ऐसा शान्तिमय आचरण होना चाहिये। जीव मुनिपना, श्रावकपना ग्रहण करके शरीर को तो जीर्ण करता है; परन्तु मिथ्यात्व को जीर्ण नहीं करता। सर्वप्रथम भले ही यथार्थ प्रतीति करने में अधिकांश समय बीत जाये; परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य उपाय करने से आत्मा का कल्याण नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव व्रतादि पालता है; परन्तु साक्षात मोक्षस्वरूप सर्वरोग रहित पद स्वयमेव अनुभव में आवे-ऐसा ज्ञानस्वभाव तो ज्ञानगुण बिना अन्य किसीप्रकार से पाने में समर्थ नहीं है। वह व्यवहार, राग, चित्त-मन के आश्रय से प्राप्त हो ऐसा नहीं है। आत्मा की ज्ञानक्रिया के सिवाय अन्य किसी क्रिया से मोक्ष नहीं होता। ज्ञानक्रिया में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है। सर्वज्ञ पूर्णस्वभावी व्यक्त है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु राग, निमित्त आदि आत्मा में नहीं है- ऐसे तत्वज्ञान बिना किसी भी क्रिया से मोक्ष नहीं होता। मोक्षमार्ग की विधि को जाने बिना क्रिया करने लग जाने से मोक्षमार्ग नहीं होता। जैसे हलुआ बनाने की विधि नहीं जाने और हलुआ बनाने बैठ जाये तो हलुआ तो बनता ही नहीं, लेई बन जाती है। इसी प्रकार पहले मोक्षमार्ग की विधि नहीं जाने और क्रिया करने लग जाये तो मोक्षमार्गरूपी हलुआ नहीं बनता; परन्तु मिथ्यात्वरूपी लेई बन जायेगी और चारगति परिभ्रमण का साधन होगा। इसलिये सर्वप्रथम तत्वज्ञान करना चाहिये।

अन्तर्मुख दृष्टि किये बिना अन्य किसी प्रकार से आत्मा का अनुभव नहीं होता। करोड़ो उपवास करे, त्याग करे, ब्रह्मचर्य पाले; तो भी इससे धर्म नहीं हो जाता और न भव का अन्त आता है।

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र की 172 वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने व्यवहाराभासी का वर्णन किया है, उसमें कहा है कि- तेरह प्रकार के चारित्र को पालता होने पर भी उसका मोक्षमार्ग में निषेध किया हैं। बयालीस, छियालीस दोष रहित आहार लेना, पंच महाव्रत, पॉच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करना कषाय की मंदता है, उसको वह (व्यवहाराभासी) धर्म मानता है; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है, मोक्षमार्गी नहीं। व्यवहार चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है और न साधक ही है; बल्कि मोक्षमार्ग में बाधकरूप है। बंधमार्ग मोक्ष का कारण नहीं होता है। जहाँ व्यवहार साधन और निश्चय साध्य कहा है वहाँ निश्चय साधन से निश्चय साध्यदशा प्रगट करे तो व्यवहार को उपचार से साधन कहा जाता है।

श्री समयसार नाटक में कहा है कि जितना व्यवहार साधन कहा है वह सब साधक नहीं, बल्कि बाधक है।

श्री प्रवचनसार में भी आत्माज्ञान शून्य संयमभाव को अकार्यकारी कहा है। आत्मज्ञान शून्य पंच महाव्रतादि निरर्थक हैं, उन्हे तो आत्मा के कल्याण में निमित्त भी नहीं कहा जा सकता। देखो! यह चौथे गुणस्थान की अर्थात् सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो उसकी बात है। आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी निर्विकल्प वीतरागभाव कैसे प्रगट हो- यह कहते हैं-

मैं एक समय में ज्ञायक आत्मा हूँ, उसको लक्ष में लिया तो भान हो गया कि मैं राग या निमित्त नहीं हूँ- वह भान धर्म है। अपना काम विवेक पूर्वक परीक्षा करके विचार करना है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, राग विकार है, निमित्त पर है- ऐसा भेदज्ञान करना चाहिये। युक्ति पूर्वक विचार करके निर्णय करना आत्मभान का कारण है। धर्म तो आत्मा के आश्रय से होता है; इसलिये पहले तत्वज्ञान करना कार्यकारी है।

तथा परमात्मप्रकाशादि शास्त्रों में इसी प्रयोजन के लिये जगह-जगह निरूपण किया है कि तत्वज्ञान के बिना व्रतादि कार्यकारी नहीं है।

....यहाँ कोई जाने कि बाह्य में तो अणुव्रत-महाव्रतादि साधते हैं, अंतरंग परिणाम नहीं है, और स्वर्गादिक की वांछासे साधते हैं?-सो इस प्रकार साधने से तो पापबन्ध होता है। द्रव्यलिंगी मुनि अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं, और पंचपरावर्तनोंमें इकतीस सागर पर्यन्त देवायु की प्राप्ति अनन्तबार होना लिखा है; सो ऐसा उच्चपद तो तभी प्राप्त करें जब अन्तरंग परिणामपूर्वक महाव्रत पाले, महामन्दकषायी हो, इसलोक परलोक के भोगादिकी चाह न हो; केवलधर्मबुद्धि से मोक्षाभिलाषी हुआ साधन साधे। इसलिये द्रव्यलिंगी के स्थूल तो अन्यथापना है नहीं, सूक्ष्म अन्यथापना है; सो सम्यग्दृष्टि को भासित होता है।....

यहाँ कोई जानता है कि अन्तरंग भाव बिना बाह्य अणुव्रत-महाव्रतादि साधता है; परन्तु वहाँ अन्तरंग परिणाम नहीं है अथवा स्वर्गादिक की वांछा से साधता है, सो ऐसी साधना से तो पाप बंध होता है; परन्तु द्रव्यलिंगी तो अन्तिम ग्रैवेयक तक जाता है। कपट रहित मंदकषायरूप परिणाम हो तभी नौवें ग्रैवेयक तक जाता है। अनन्तबार कपट से (आचरण का) पालन किया है, इसलिये मोक्ष नहीं हुआ- ऐसा नहीं है। भगवान के कहे अनुसार व्रतादि पालने पर ही नौवे ग्रैवेयक तक जाता है। कपट से करे तो पाप बंध होता है। वह तो (द्रव्यलिंगी तो) महामंदकषायी होता है। जब वह मंद कषाय भी मोक्ष का कारण नहीं हुआ तो फिर वर्तमान का मंद कषाय अकषाय का साधन कैसे हो सकता है? इसलिये व्यवहार सच्चा साधन नहीं है। द्रव्यलिंगी इस लोक-परलोक के भोगादि की इच्छा से रहित होते हैं, तथा केवल धर्मबुद्धि से मोक्षाभिलाषी होकर व्यवहार की साधना करते हैं। इसलिये द्रव्यलिंगी के स्थूल अन्यथापना तो नहीं होता; परन्तु सूक्ष्म अन्यथापना है वह सम्यग्दृष्टि को भासित होता है।

द्रव्यलिंगी का मिथ्यापना सम्यग्दृष्टि को भासित होता है। उसके सूक्ष्म मिथ्यात्व होता है उसका भी पता पड़ता है। सामने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि इसका पता पड़ता है। द्रव्यलिंगी के स्थूल अन्यथापना नहीं है, सूक्ष्म अन्यथापना है, उसको सम्यग्दृष्टि जान लेता है। आत्मा अन्तर्मुख होकर साधन करे तो साध्य ऐसा

सम्यग्दर्शन प्रगट होता है- इसका मिथ्यादृष्टि को पता नहीं है। तत्वज्ञानी को तो उसकी प्ररूपणा से पता चल जाता है। उसकी भूल केवली के सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकता- ऐसा नहीं है।

जिसका आचरण आगम अनुसार हो, व्यवहार अच्छी तरह पालता हो, स्थूल प्ररूपणा में भी अन्यथापना न हो; तो भी अन्तरंग मे सूक्ष्म मिथ्यात्व है उसको ज्ञानी जानता है; परन्तु बाहर में नहीं कहता है; कारण कि इससे संघ में विरोध होता है। लोग बाहर से परीक्षा करते हैं, अतः स्थूल मिथ्यात्व हो तो बाहर में कहे; परन्तु लोग सूक्ष्म मिथ्यात्व को नहीं पकड़ सकते; अतः ज्ञानी बाहर में नहीं कहता। लोग पकड़ नहीं सकते इसलिये विरोध होता है। स्थूल प्ररूपणा करे कि व्यवहार हो तो निश्चय प्रगट होता है, निमित्त के कारण उपादान में कार्य होता है; तो ज्ञानी कहते हैं कि यह मिथ्यादृष्टि है; परन्तु यदि बाह्य में व्यवहार अच्छा हो और मिथ्यादृष्टि हो तो ज्ञानी स्वयं जानते है; तथापि बाहर प्रगट नहीं करते।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंग धारण करता है, मंदकषाय करता है; परन्तु अन्तर की गहराई में उसके व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता। अब ऐसा द्रव्यलिंगी धर्म साधन करता है वह कैसा है और उसमें अन्यथापना किस प्रकार है-वह कहते हैं।

द्रव्यलिंगी को कभी एक क्षणमात्र के लिये भी निश्चय का पक्ष नहीं आया है और व्यवहार का पक्ष कभी छूटा नहीं है। देखो! यह समझने योग्य है। लोग समझते नहीं हैं और कहते हैं कि व्यवहार नहीं करोगे तो धर्म का लोप हो जायेगा; परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। अशुभपरिणाम नहीं हो तब दया, दान, भक्ति, यात्रा आदि का शुभभाव होता है; परन्तु वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन तो जब ज्ञायक आत्मा की रुचि-दृष्टि होगी तभी होगा।

जातिस्मरण ज्ञान की ऐसी सामर्थ्य है कि-पूर्व में इस जीव के साथ हमारे सम्बन्ध था-ऐसा जान लेता है। वर्तमान में पूर्व का शरीर नहीं है तथा आत्मा को भी साक्षात नहीं जानता; तो भी वर्तमान जातिस्मरण ज्ञान की ऐसी ही सामर्थ्य है कि वह जान लेता है कि इस आत्मा के साथ पूर्व में सम्बन्ध था। यह निर्णय कहाँ से हुआ?

ऐसी ज्ञान की ताकत है। ऋषभदेव भगवान के और राजा श्रेयान्स के आठवें भव में सम्बन्ध था वह वर्तमान जातिस्मरण ज्ञान से ज्ञात हुआ। ज्ञान की पर्याय में न तो वह आत्मा दिखता है और न पूर्व का शरीर ही वर्तमान में दिखता है। किसी मिथ्यादृष्टि को भी जातिस्मरण ज्ञान होता है और वह जान लेता है कि तीसरे भव में इस जीव के साथ सम्बन्ध था-ऐसी ज्ञान की स्वतंत्र निरालम्बन सामर्थ्य है; तो फिर सम्यग्दृष्टि यह जान ले कि सामने वाला आत्मा सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि; तो इसमें क्या आश्चर्य है!- ऐसा ज्ञान सामर्थ्य है।

जो कोई ऐसा कहता है कि आत्मा को नहीं जाना जा सकता, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का पता नहीं पड़ता, भव-अभव्य का पता नहीं पड़ता-तो उसको ज्ञान की सामर्थ्य का ज्ञान नहीं है। ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। वह आत्मा और पर को नहीं जाने-ऐसा नहीं हो सकता। वस्तुतः ऐसा कहने वाले को अपनी आत्मसामर्थ्य का भरोसा नहीं है। लब्धि के अधिकार में कहा है कि जिन्हें चौदहपूर्व का ज्ञान है-ऐसे ज्ञानी जो न्याय निकालते हैं वैसा ही न्याय सम्यग्दृष्टि निकाल सकता है-ऐसी उसकी सामर्थ्य है।-ऐसे ज्ञानी को द्रव्यलिंगी का अन्यथापना भासित हो जाता है।

....अब इनके धर्मसाधन कैसे है और उसमें अन्यथापना कैसे है?

सो कहते हैं:-

प्रथम तो संसार में नरकादि के दुःख जानकर व स्वर्गादि में भी जन्म-मरणादि के दुःख जानकर, संसार में उदास होकर मोक्ष को चाहते हैं। सो इन दुःखों को तो दुःख सभी जानते हैं। इन्द्र-अहमिन्द्रादिक विषयानुराग से इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं, उसे भी दुःख जानकर निराकुल सुखअवस्था को पहिचानकर मोक्ष को चाहते हैं; वे ही सम्यग्दृष्टि जानना।

तथा विषयसुखादिक का फल नरकादिक है; शरीर अशुचि, विनाशीक है, पोषण योग्य नहीं हैं; कुटुम्बादिक स्वार्थ के सगे हैं; इत्यादि परद्रव्यों का दोष विचारकर उनका तो त्याग करते हैं-व्रतादिक का फल स्वर्ग-मोक्ष है; तपश्चरणादि

पवित्र अविनाशी फल के दाता हैं, उनके द्वारा शरीर का शोषण करने योग्य है; देव-गुरु-शास्त्रादि हितकारी है; इत्यादि परद्रव्यों गुणों का विचार करके उन्हीं को अंगीकार करते हैं। -इत्यादि प्रकार से किसी परद्रव्य को बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करते हैं, किसी परद्रव्य को भला जानकर इष्ट श्रद्धान करते हैं। सो परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान सो मिथ्या है।

तथा इसी श्रद्धान से इनके उदासीनता भी द्वेषबुद्धिरूप होती है; क्योंकि किसी को बुरा जानना उसी का नाम द्वेष है।....

वस्तुतः दुःख जन्म-मरण का नहीं है, संयोग का दुःख नहीं है; दुःख तो आकुलता से है। अज्ञानी की दृष्टि संयोग पर है। प्रतिकूल क्षेत्र का संयोग दुःख नहीं है। अतः जन्म-मरण का दुःख मानना मिथ्यात्व है। ऐसी मान्यता वाले को पता नहीं है कि आत्मा में निराकुलता सो सुख और आकुलता ही दुःख है।

आत्मा जन्मता नहीं और मरता भी नहीं। सुख-दुःख पर्याय में होते हैं। जो स्वर्ग के सुख की इच्छा से और नरक आदि के दुःख जानकर साधन करता है वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है। स्वर्ग में भी इन्द्रिय जनित विषय-भोग है वह भी दुःखरूप है-ऐसा जानना चाहिये। जिस भाव द्वारा अपनी पर्याय में तीर्थंकर नामकर्म बंधता है वह भाव भी आकुलता है। पंच महाव्रत के परिणाम भी आकुलता है। आत्मा में ही सुख है-ऐसा जानकर स्वानुभव के द्वारा निराकुल परिणाम हो वह मोक्ष का कारण है-ऐसा मानने वाला सम्यग्दृष्टि है।

सोलह कारण भावना भाने से तीर्थंकर नामकर्म बंध ही जायेगा-ऐसा नहीं है। जिस जीव की चारित्र गुण की पर्याय ही उस प्रकार की होती है उसको ही उस प्रकार की सहज भावना होती है, अन्य को नहीं होती। सम्यग्दृष्टि इन्द्रियजनित सुख को आकुलतारूप दुःख जानता है। अपने में शुभाशुभ वृत्तियों का उत्पन्न होना ही आकुलता और दुःख है। अज्ञानी को सुख-दुःख के इस तात्विक स्वरूप का पता नहीं है; इस कारण वह बाह्य संयोगो में सुख-दुःख मानकर बाह्य में उदासीन होता है-वह मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना।

नरक का दुःख और जन्म-मरण का दुःख है यह तो सभी लोग कहते हैं; परन्तु विकार परिणाम दुःखरूप है-ऐसा जानकर उनका त्यागी नहीं हुआ। जो आत्मा में निराकुल सुख है-ऐसा पहिचान कर मोक्ष का उपाय करता है, पुण्य-पापादि आत्मा का स्वभाव नहीं है-ऐसा जानता है वह तो सम्यग्दृष्टि है। द्रव्यलिंगी मुनि निरतिचाररूप से महाव्रतों का पालन करता है, महामन्दकषायी है; परन्तु इस साधन के करने से आत्मा का कल्याण होना मानता है; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

तथा विषय सुखादि का फल नरकादि है-ऐसा जानकर परद्रव्य को बुरा मानता है; परन्तु आत्मा में विषय-कषाय का परिणाम होता है वह दुःख है, इसे नहीं जानता। वह मानता है कि नरक में दुःख है; परन्तु नरक क्षेत्र में दुःख नहीं है; कारण कि केवली समुद्घात के समय केवली भगवान के आत्मा के प्रदेश सातवें नरक के क्षेत्र में भी जाते हैं; तो भी उस समय उनको अनन्त चतुष्टय के कारण अनन्तसुख होता है। इसलिये आत्मा को क्षेत्र का दुःख नही है। अज्ञानी परद्रव्यों को बुरा जानकर द्वेष करता है। शरीर अशुचिमय और विनाशीक है-इस प्रकार शरीर का दोष निकालता है। वस्तुतः शरीर तो ज्ञान का ज्ञेय है। वह दुःख का कारण नहीं है। ज्ञानी अशुचि भावना भाता है सो शरीर का ज्ञाता रहकर भाता है। जबकि मिथ्यादृष्टि शरीर को अनिष्ट मानकर द्वेष बुद्धि करता है। इस प्रकार दोनो के अभिप्राय में इतना अन्तर है।

अज्ञानी मानता है कि शरीर में से सार निकल लेना चाहिये। शरीर का पोषण नहीं करना चाहिये। शरीर को जीर्ण बनाकर सुखाकर फैंक देना चाहिये-इस प्रकार उसको शरीर के प्रति द्वेष बुद्धि है। कुटुम्बादि स्वार्थ के सगे है- इस प्रकार मानकर पर द्रव्यों का दोष निकालता है और उनका त्याग करता; परन्तु आत्मा में होने वाले राग-द्वेष का त्याग नहीं करता है। वह मानता है कि कंचन, कामिनी और कुटुम्ब को छोड़ो तो धर्म का लाभ होगा तथा व्रतादि का फल स्वर्ग-मोक्ष है। अभी व्रत पालन करके स्वर्ग में जायेगें और वहाँ से भगवान के पास जाकर धर्म प्राप्त करूँगा-यह सब मिथ्याबुद्धि है। तपश्चरण आदि पवित्र फल के देने वाले हैं, इनके द्वारा शरीर का शोषण योग्य है-ऐसा मानता है।

तथा देव-शास्त्र-गुरु हितकारी है-इत्यादि पर द्रव्यों के गुण विचारकर उन्हें ही अंगीकार करता है; परन्तु स्व-आत्मद्रव्य हितकारी है-ऐसा उसको पता नहीं है। वस्तुतः परद्रव्य हितकारी या अहितकारी है ही नहीं। अन्दर में शुद्ध उपादान शक्ति पड़ी है उसका आश्रय करना हितकारी है। आत्मा की पर्याय में शुभराग होता है तब निमित्त का आदर आये बिना नहीं रहता; परन्तु वह भाव अपनी कमजोरी से आया है, वह राग परद्रव्य के कारण नहीं आया है। भगवान को देखकर प्रमोदभाव आता है वह भगवान के कारण नहीं आता। यदि भगवान को देखकर राग आता हो तो सभी देखने वालों को आना चाहिये; परन्तु ऐसा तो नहीं होता। इसलिये जो परद्रव्य को हितकारी जानकर राग करता है वह मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी पर द्रव्य के गुण अथवा दोष विचारकर राग-द्वेष करता है;इसलिये उसका समस्त आचरण मिथ्या है।

वर्तमान में यहाँ मुनि दिखाई नहीं देते। अतः कदाचित कोई देव महाविदेहक्षेत्र में से किसी मुनि को यहाँ लाकर रख दे और वे यहाँ केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो उनको देखकर ज्ञानी को प्रमोद आये बिना नहीं रहता; परन्तु वह प्रमोदभाव उन मुनिराज अथवा केवली को देखने से अथवा उनके कारण नहीं हुआ है। वह शुभभाव परद्रव्य को इष्ट जानकर नहीं हुआ है। केवली तो ज्ञान का ज्ञेय है। वे हितकारी हैं- ऐसा ज्ञानी नहीं मानता है। तथा कोई अनिष्ट शब्द कहे तो कदाचित ज्ञानी को खेद होता है; परन्तु वह खेद शब्दों के कारण नहीं हुआ है। अज्ञानी परद्रव्यों को बुरा जानकर उन्हें छोड़ना चाहता है। वास्तव में गाली अनिष्ट नहीं है और भगवान इष्ट नहीं है-इस बात का अज्ञानी को पता नहीं है।

इस प्रकार अनेक प्रकार से अज्ञानी किन्ही पर द्रव्यों को बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है तथा किन्हीं पर द्रव्यों को भला जानकर इष्टरूप श्रद्धान करता है।

शरीर में रोग आया, इसलिये आर्त्तध्यान होता है-ऐसा नहीं है और शरीर मजबूत हो तो धर्म होता है-ऐसा भी नहीं है। शरीर धर्म का साधन नहीं है। आत्मा में होने वाला शुभभाव भी धर्म का साधन नहीं है, तो फिर शरीर साधन हो-ऐसा तो हो ही

नहीं सकता। श्री प्रवचनसार में आता है कि मुनियों को शरीर नहीं छोड़ना चाहिये, असमय में शरीर का त्याग करने से असंयमी हो जाते हैं। तो इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा शरीर को छोड़ सकता है; परन्तु वहाँ राग और वीतरागभाव का विवेक कराने के लिये निमित्त से कथन किया है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि परद्रव्य को बुरा नहीं जानता; बल्कि अपने राग भाव को बुरा जानता है।

....कोई कहेगा-सम्यग्दृष्टि भी तो बुरा जानकर परद्रव्य का त्याग करते हैं?

समाधानः- सम्यग्दृष्टि परद्रव्यों को बुरा नहीं जानते, अपने रागभाव को बुरा जानते हैं। आप रागभाव को छोड़ते हैं, इसलिये उसके कारण का भी त्याग होता है। वस्तु का विचार करने से कोई परद्रव्य तो बुरा-भला है नहीं।....

प्रश्नः- सम्यग्दृष्टि भी तो पर द्रव्यों को बुरा जानकर त्याग करता है न?

उत्तरः- सम्यग्दृष्टि पर द्रव्यों को बुरा नहीं जानता, अपने राग भाव को बुरा जानता है। स्वयं रागभाव को छोड़ता है इसलिये उसके कारण का भी त्याग होता है। वस्तु का विचार करने पर कोई भी पर द्रव्य भला-बुरा नहीं है। पर द्रव्य तो आत्मा का एकरूप ज्ञेय है। एकरूप में अनेकरूप कल्पना करके एक द्रव्य को इष्ट और एक द्रव्य को अनिष्ट मानना मिथ्याबुद्धि है। शुद्ध आहार आया इसलिये परिणाम सुधरते है-ऐसा नहीं है। वस्तु के स्वभाव से देखो तो परद्रव्य का दोष नहीं है, अपने परिणाम दोषरूप हैं-इसका विवेक होना चाहिये। जिसको तीव्र कषाय नहीं है उसको मांसादि के भक्षण का विकल्प नहीं आता-ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिय पर द्रव्यों को भला बुरा नहीं मानना चाहिये।

....कोई कहेगा-निमित्तमात्र तो है?

उत्तरः- परद्रव्य कोई जबरन् तो बिगाड़ता नहीं है, अपने भाव बिगड़े तब वह भी बाह्य निमित्त है। तथा इसके निमित्त बिना भी भाव बिगड़ते हैं, इसलिये नियमरूप निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार परद्रव्य का तो दोष देखना मिथ्याभाव है। रागादिभाव ही बुरे हैं, परन्तु इसके ऐसी समझ नहीं है; यह परद्रव्यों का

दोष देखकर उनमें द्वेषरूप उदासीनता करता है। सच्ची उदासीनता तो इसका नाम है कि किसी भी द्रव्य का दोष या गुण नहीं भासित हो, इसलिये किसी को बुरा-भला न जाने; स्व को स्व जाने, पर को पर जाने, पर से कुछ भी प्रयोजन मेरा नहीं है ऐसा मानकर साक्षीभूत रहे। सो ऐसी उदासीनता ज्ञानी के ही होती है।....

प्रश्नः- पर द्रव्य निमित्तमात्र तो है?

उत्तरः- पर द्रव्य बलजोरी से तो कुछ बिगाड़ता नहीं है; परन्तु वह जीव अपने भावों को बिगड़ता है तो वह भी बाह्य निमित्त है। यदि परद्रव्य से अपने परिणाम बिगड़े तब तो द्रव्य की परिणति स्वतन्त्र नहीं रहती। स्वयं परिणाम बिगाड़े तो पर द्रव्य को निमित्त कहते हैं। तथा भाव तो निमित्त बिना भी बिगड़ते हैं; अतः वह नियमरूप निमित्त भी नहीं है। समयसार में आता है कि अरतिभाव से मदिरापान वाले के पागलपन नहीं आता; परन्तु आत्मा स्वयं भाव बिगाड़े तो पर द्रव्य को निमित्त कहा जाता है।

देखो! आत्मा स्वयं विकार करता है और दोष पर द्रव्य पर डालता है-यह भूल है। कर्म के कारण अथवा स्त्री-पुत्रादि के कारण राग नहीं होता। निमित्त का असर या प्रभाव नहीं पड़ता। अज्ञानी मानता है कि भगवान की प्रतिमा के समीप शुभभाव होता है, इतना निमित्त का असर है। यहाँ तो कहते हैं कि निमित्त के बिना भी भाव बिगड़ते हैं।

इस प्रकार यहाँ तीन बातें की है किः-

1. पर द्रव्य बलजोरी से भाव नहीं बिगाड़ता।
2. स्वयं भाव बिगाड़े तो पर द्रव्य को निमित्त कहते हैं।
3. निमित्त के बिना भी आत्मा के भाव बिगड़ते हैं; इसलिये वह नियमरूप निमित्त भी नहीं है।

यह बात पण्डितजी ने अपने घर की नहीं की है। उन्होंने कहा है कि मोती तो हैं, उन्हें जिसप्रकार माला में लगाते हैं; उसी प्रकार हम शास्त्र में कही हुई बात को लगाते हैं। अपने घर की बात नहीं करते हैं।

देखो! यह मूल मुद्दे की बात है। मूढ जीवों की मान्यता है कि निमित्त से आत्मा में लाभ-हानि होती है। कर्म से, शरीर से, पैसे से, परिवार से आत्मा में विकार होता है-यह मान्यता मिथ्या है। निमित्त परवस्तु है अवश्य; परन्तु उसके कारण विकार नहीं होता। आत्मा स्वयं जैसा भाव करता है निमित्त पर वैसा आरोप आता है। आत्मा स्वयं अपने भाव बिगाड़ता है तो वह बिगाड़ने में निमित्त कहलाता है और अपने भाव सुधारता है तो सुधरने में निमित्त कहलाता है। परद्रव्य को व्यवहारनय से कारण कहा है। अज्ञानी उसको निश्चय कारण मानकर परद्रव्य के कारण विकार होना मानता है। अतः वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

निमित्त बिना भी भाव होते हैं। देखो! कोई तीर्थंकर का जीव तीसरे नरक से निकलता है तब क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि है और मनुष्य मे उसको क्षायिक सम्यक्त्व होता है तब कोई निमित्त नहीं होता। अर्थात् वहाँ निमित्त के बिना क्षायिक सम्यक्त्व होता है। तथा कोई जीव स्वयं श्रुतकेवली होता है तो उसको स्वयं के कारण क्षायिक सम्यक्त्व होता है, किसी केवली या श्रुतकेवली का निमित्त भी नहीं होता। इसलिये निमित्त बिना भी भाव सुधरते अथवा बिगड़ते हैं। इसलिये पर द्रव्य नियमरूप निमित्त भी नही है। पर द्रव्य का गुण-दोष देखना मिथ्यात्व भाव है। वस्तुतः कोई पर द्रव्य बुरा नहीं है, राग-द्वेष बुरे हैं-ऐसी समझ मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी के नहीं है।

द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि तो पर द्रव्य का दोष देखकर उनसे द्वेषरूप उदासीनता करता है, उसको सच्ची उदासीनता नहीं होती। पर द्रव्य दोष के कारण नहीं है। यह बात पूजा में भी आती है कि-कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई। तो भी इसका विचार भी नहीं करता। अज्ञानी की उदासीनता में अकेला शोक ही होता है। एक पदार्थ की पर्याय में दूसरे पदार्थ की पर्याय अकिंचित्कर है-इस बात का उसको पता नहीं है; इस कारण वह परद्रव्य की पर्याय को बुरा जानकर द्वेष पूर्वक उदासीन भाव करता है। सच्ची उदासीनता तो यह है कि पर द्रव्य के गुण-दोष भासिन न हो। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पर द्रव्य को गुण या दोष का कारण नहीं मानते। अपने को अपनेरूप और पर को पररूप जानना ही सच्ची उदासीनता है।

पर पदार्थ सुख-दुःख का कारण नहीं है। आकुलता के परिणाम दुःख का कारण है। परद्रव्य को पररूप जानना और आत्मा ज्ञाता है, पर का कर्ता नही है-ऐसा जानकर आत्मा की रुचि करना लाभ का कारण है। अर्थात् स्वभाव लाभ का कारण है और विभाव नुकसान का कारण है-ऐसा मानना सम्यक्त्व है।

अज्ञानी को सच्ची उदासीनता नहीं होती। पर द्रव्य का गुण-दोष भासित नहीं होने पर सच्ची उदासीनता होती है। वह जीव पर द्रव्य के गुण को और दोष का बराबर जानता है; परन्तु पर द्रव्य मुझे हितकर अथवा अहितकर है-ऐसा नहीं मानता-इसका नाम पर द्रव्य के गुण-दोष भासित नहीं होना है। शुभाशुभ भाव नुकसान कारक है और त्रिकाली स्वभाव लाभकारक है। इसके अतिरिक्त जगत का कोई भी पदार्थ आत्मा को लाभ-नुकसान का कारण नहीं है-ऐसा समझना सच्ची उदासीनता है।

कोई भी परवस्तु आत्मा के परिणाम बिगाड़ते में समर्थ नहीं है। भगवान के कारण गुण नहीं होता और अधःकर्मी आहार आया इसलिये परिणाम बिगड़े-ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं परिणाम बिगाड़ता है तो उसको निमित्त कहते हैं और स्वयं परिणाम सुधारे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है। दुश्मन आया इसलिये द्वेष हुआ-ऐसा नहीं है। शरीर में बुखार आया इसलिये दुःख हुआ-ऐसा नहीं है। इसके कारण मुझको आर्त्तध्यान हुआ-ऐसा मानना मिथ्यात्व हैं। शरीर की निरोगता हो तो मैं ध्यान कर सकता हूँ, निर्जन गुफा में अच्छा ध्यान होता है-यह मान्यता मिथ्या है। ऐसी मान्यता वाले ने पर पदार्थ को भला बुरा माना है। आत्मा का अनुभव करना गिरिगुफा है। परक्षेत्र आत्मा को गुणकारी नहीं है। परद्रव्य के कारण आत्मा में शान्ति मानना मूढता है। अन्तर आत्मा में डूब जाना ध्यान है। बाहर के कारण ध्यान और शान्ति नहीं है। सोनगढ़ क्षेत्र के कारण आत्मा को शान्ति होती है-यह बात भी मिथ्या है।

पर पदार्थ तो पर है। स्व में पर का अभाव है, इसलिये पर को भला-बुरा नहीं मानना चाहिये। ज्ञानी सुदेवादिक को हितकारी और कुदेवादिक को अहितकारी नहीं मानता। अधःकर्मी आहार से आत्मा में दोष होता है-ऐसा मुनिराज नहीं मानते। मुनि

अधःकर्मी आहार नहीं लेते-यह व्यवहार का कथन है। वस्तुतः तो ऐसा विकल्प ही मुनि के नहीं होता। मुनिराज को आगम विधि अनुसार शुद्ध आहार-पानी ग्रहण करने का विकल्प होता है; परन्तु यह आहार पानी अपने लिये बना है- ऐसा ख्याल में आने पर भी उसको लेने का विकल्प करने वाला महापापी है। उसका तो व्यवहार भी सच्चा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि बाहर में शुद्ध क्रिया होने पर भी जो उस पर द्रव्य को अपने लिये लाभ का कारण मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी तो उसको जानता है; परन्तु उससे लाभ-नुकसान नहीं मानता। वह तो मानता है कि मेरा पर के साथ कुछ भी प्रयोजन नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ और पर पदार्थ तो ज्ञेय हैं।

निर्दोष आहार-पानी मिलना या नहीं मिलना यह सब ज्ञाता का ज्ञेय है; इस प्रकार ज्ञानी साक्षीभूत रहते हैं। पर से आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि नहीं है, प्रयोजन तो आत्मा से सिद्ध होता है।-ऐसी साक्षीभावरूप उदासीनता अज्ञानी के नहीं होती, ज्ञानी के ही होती है। मात्र बाहर से उदासीन आश्रम में बैठ जाना सच्ची उदासीनता नहीं है। तीनलोक के नाथ भगवान भी मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं और कुदेवादिक हों तो वह भी मेरा ज्ञेय है। पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है; परन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है-ऐसा ज्ञानी जानता है।

....तथा यह उदासीन होकर शास्त्र में जो अणुव्रत-महाव्रतरूप व्यवहार चारित्र कहा है उसे अंगीकार करता है, एकदेश अथवा सर्वदेश हिंसादि पापों को छोड़ता है, उनके स्थान पर अहिंसादि पुण्यरूप कार्यो में प्रवर्तता है। तथा जिस प्रकार पर्यायाश्रित पापकार्यो में अपना कर्त्तापना मानता था; उसी प्रकार अब पर्यायाश्रित पुण्यकार्यो में अपना कर्त्तापना मानने लगा।-इस प्रकार पर्यायाश्रित कार्यो में अहंबुद्धि मानने की समानता हुई। जैसे-मैं जीवों को मारता हूँ, मैं परिग्रहधारी हूँ-इत्यादिरूप मान्यता थी; उसी प्रकार मैं जीवों की रक्षा करता हूँ, मै नग्न, परिग्रहरहित हूँ-ऐसी मान्यता हुई। सो पर्यायाश्रित कार्यो में अहंबुद्धि वही मिथ्यादृष्टि है।

यही समयसार कलश मे कहा है:-

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा ततः।
सामान्यजनवतेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षतां॥

अर्थः- जो जीव मिथ्या अंधकार व्याप्त होते हुए अपने को पर्यायाश्रित क्रिया का कर्ता मानते हैं वे जीव मोक्षाभिलाषी होने पर भी जैसे अन्यमती सामान्य मनुष्यों को मोक्ष नहीं होता; उसी प्रकार उनको मोक्ष नहीं होता; क्योंकि कर्तापने के श्रद्धान की समानता है।

तथा इस प्रकार आप कर्ता होकर श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म की क्रियाओं में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति निरन्तर रखता है, जैसे उन क्रियाओं में भंग न हो वैसे प्रवर्तता है; परन्तु ऐसे भाव तो सराग है; चारित्र है वह वीतरागभावरूप है। इसलिये ऐसे साधन को मोक्षमार्ग मानना मिथ्याबुद्धि है।....

द्रव्यलिंगी उदासीन होकर शास्त्र कथित अणुव्रत, महाव्रतादिरूप व्यवहार चारित्र को अंगीकार करता है। एकदेश अथवा सर्वदेश हिंसादि पापों को छोड़ता है और उसके स्थान पर अहिंसादि पुण्यरूप कार्यो में प्रवर्तता है। मैं पर की हिंसा कर सकता हूँ अथवा दया, पाल सकता हूँ-यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। बचाने का भाव हुआ इसलिये जीव बच गया-ऐसा नहीं है। जब आत्मा की इच्छा के कारण अपने शरीर की क्रिया ही नहीं होती, तो फिर इसके कारण पर जीव बच जाये-ऐसा तो तीनकाल में भी नहीं होता। शरीर में शरीर के कारण क्रमबद्ध क्रिया होती है और जीव के बचने की क्रिया भी क्रमबद्ध उसके कारण होनी थी सो हुई है। अज्ञानी मेरे कारण वह क्रिया हुई है-ऐसा मानकर अंहबुद्धि करता है यह मिथ्या मान्यता है।

मुनि के शरीर के नीचें पैर के निमित्त से कदाचित् कोई जीव मर जाये; तो भी प्रमाद नहीं होने से मुनि को दोष नहीं लगता। शरीर के निमित्त से पर जीव बचे या मरे वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। मैंने पींछी ऊँची की और उस क्रिया से जीव बच गया-यह मान्यता विष्णु को जगतकर्ता मानने जैसी है। मिथ्यादृष्टि को पता नहीं है कि हाथ के कारण पींछी ऊँची नहीं होती और पींछी ऊँची हुई इसलिये

जीव बचा-ऐसा भी नहीं है। हाथ और पींछी की क्रिया उनके स्वयं के कारण हुई है, तो भी अज्ञानी जड़ की क्रिया का अभिमान करता है।

मेरी इच्छा के कारण रूपये रहे हैं, इसलिये मैं परिग्रह धारी हूँ-यह मान्यता जैसे पर्यायाश्रित अहंबुद्धि है; इसी प्रकार मैंने परिग्रह को छोड़ा-यह भी पुण्याश्रित अहंबुद्धि है। मैं परिग्रह रहित नग्न हूँ, मैंने परिग्रह को छोड़ा है-यह मान्यता भ्रम है।

वस्तुतः तो आत्मा राग को भी नहीं छोड़ता, तब आत्मा परिग्रह को छोड़े-यह मान्यता तो भ्रमरूप (ही) है।

श्रीसमयसार कलश में भी कहा है कि-जो जीव मिथ्या अंधकार से व्याप्त होकर अपने को पर्यायाश्रित क्रिया का कर्ता मानता है, वह जीव मोक्षाभिलाषी होने पर भी जैसे अन्यमती सामान्य मनुष्यों को मोक्ष नहीं होता, वैसे ही इसको भी मोक्ष नहीं होता। कारण कि कर्त्तापने की अपेक्षा से दोनो समान हैं।

जगत में जो भी पदार्थ हैं उनका कर्ता कोई नहीं है और जो पदार्थ नहीं है उनका कर्ता भी नहीं है। जो पदार्थ हैं उनकी पर्याय नई होती है उसका कर्ता अन्य कोई पदार्थ नहीं है। यदि दूसरा पदार्थ उसका कर्ता होवे तो उस पदार्थ का अस्ति नहीं रहती। इसलिये जो कोई शरीरादि पर द्रव्यों का कर्ता होता है वह जगतकर्ता ईश्वर की मान्यता वाले के समान हुआ। मुनि अथवा श्रावक नाम धराकर यह माने कि मेरी इच्छा से हाथ चलता है, तो अन्यमती की तरह उसका भी मोक्ष नही होता।

मैं किसी पर द्रव्य की पर्याय का कर्ता नहीं हूँ। समस्त पदार्थो की स्वतन्त्र क्रमबद्ध क्रिया उनके स्वयं के कारण होती है-ऐसा माने तो सम्यक् नियतवाद होता है और आत्मा में सम्यग्दर्शन होता है-यही सार है। परन्तु अज्ञानी बाह्य क्रिया में मग्न है। वह पर में अहंबुद्धि करता है। स्वयं श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म की क्रिया में निरन्तर मन-वचन-काया की प्रवृत्ति रखता है। उस क्रिया में भंग न हो तदनुसार वर्तता है; परन्तु ऐसे भाव तो सराग है और चारित्र तो वीतरागभाव स्वरूप है। इसलिये ऐसे साधन को मोक्ष मानना मिथ्याबुद्धि है।

....प्रश्नः- सराग-वीतराग भेद से दो प्रकार का चारित्र कहा है सो किस प्रकार है?

उत्तरः- जैसे चावल दो प्रकार के हैं-एक तुषसहित हैं और एक तुषरहित हैं। वहाँ ऐसा जानना कि तुष है वह चावल का स्वरूप नहीं है, चावल में दोष है। कोई समझदार तुषसहित चावल का संग्रह करता था; उसे देखकर कोई भोला तुषों को ही चावल मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा। वैसे चारित्र दो प्रकार का है-एक सराग है, एक वीतराग है। वहाँ ऐसा जानना कि जो राग है वह चारित्र का स्वरूप नही है; चारित्र में दोष है। तथा कितने ही ज्ञानी प्रशस्तरागसहित चारित्र धारण करते हैं; उन्हें देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्तराग को ही चारित्र मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा।....

प्रश्नः- तब फिर सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार का चारित्र कहा है वह कैसे.....?

उत्तरः- जैसे चावल दो प्रकार के हैं, एक तो छिलके सहित और दूसरे छिलके रहित। वहाँ ऐसा जानना चाहिये कि छिलका है वह चावल का स्वरूप नहीं है, बल्कि चावल में दोष है। अब कोई चतुर मनुष्य छिलके सहित चावलों को संग्रह करता था उसे देखकर कोई भोला मनुष्य छिलकों को ही चावल मानकर संग्रह करे तो वह निरर्थक खेद खिन्न ही होता है। इसी प्रकार चारित्र दो प्रकार के हैं। एक सराग और दूसरा वीतराग। वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि राग है वह चारित्र का स्वरूप नहीं है। अर्थात् पंच महाव्रत या बाहर की नग्नदशा वह चारित्र नहीं है। अज्ञानी जीव लंगोटी छोड़कर छठवाँ गुणस्थान होना मानता है; परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा का चारित्र पर में तो होता ही नहीं; परन्तु नग्न दशा का भाव भी चारित्र नहीं है। वह तो चारित्र में दोष है।

अब कोई ज्ञानी प्रशस्त राग सहित चारित्र धारण करता है उसको देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त राग को ही चारित्र मानकर संग्रह करे तो व्यर्थ खेद खिन्न ही होगा।

देखादेखी व्रत लेना कोई चारित्र नहीं है। ज्ञानी तो जितना वीतरागभाव होता है उतना ही चारित्र मानता है। अज्ञानी व्रत (शुभभाव या शरीर की क्रिया) को चारित्र मानता है; परन्तु वह वास्तविक चारित्र नहीं है।

कितने ही जीव तत्वज्ञान बिना बाहर से आचरण करते हैं; परन्तु वह सब आचरण मिथ्या है। उससे कुछ लाभ नहीं है। ज्ञानी के मंदकषायरूप आचरण होता है, मुनि के महाव्रतादि होते हैं; उन्हें देखकर अज्ञानी मंदकषाय रूप आचरण को ही धर्म मानकर उनके जैसा आचरण करता है; परन्तु वह मिथ्या है। उससे अज्ञानी को शान्ति नहीं मिलती।

....यहाँ कोई कहेगा कि पापक्रिया करने से तीव्र रागादिक होते थे, अब इन क्रियाओं को करने पर मन्द राग हुआ; इसलिये जितने अंश में रागभाव कम हुआ उतने अंशों मे चारित्र कहो, जितने अंशों में राग रहा उतने अंशों में राग कहो। इस प्रकार उसके सराग चारित्र सम्भव है।

समाधानः- यदि तत्वज्ञानपूर्वक ऐसा हो, तब तो तुम कहते हो उसी प्रकार है। तत्वज्ञान के बिना उत्कृष्ट (उग्र) आचरण होनेपर भी असंयम नाम ही पाता है, क्योंकि रागभाव करने का अभिप्राय नहीं मिटता।....

अब यहाँ **प्रश्न** करता है कि-पाप क्रिया करने से तो तीव्र कषाय होती है और शुभ क्रिया में मंदकषाय होती है; इसलिये जितना राग घटा उतना तो चारित्र कहो? और इस प्रकार उसको सम्यक्चारित्र संभव है।

समाधानः- यदि तत्वज्ञान पूर्वक ऐसा हो तब तो जैसा तुम कहते हो वैसा ही है; परन्तु तत्वज्ञान तो हुआ नहीं है। जिसको यह पता नहीं है कि मैं पर की दया नहीं पाल सकता, क्योंकि पर से तो मैं भिन्न हूँ और राग मेरा स्वभाव नहीं है; उसको चारित्र नहीं होता। आत्मा चिदानन्द है-ऐसा पता नहीं होने वाले जीव को तत्वज्ञान नहीं है; इसकारण उसकें पंचमहाव्रतादिरूप मंदकषारूप आचरण है वह चारित्र नहीं है।

सात तत्वों का भाव भासन होना सम्यग्दर्शन है। प्रथम मिथ्या अभिप्राय रहित निर्विकल्प स्वसंवेदन सहित सात तत्वों के भाव का भासन होना चाहिये। मंदकषायरूप शुभभाव भी विष है; क्योंकि वह आत्मा के अमृतमय स्वाद को लूटने वाला है। आत्मा सहजानन्द स्वरूप है। उस आनन्द से विपरीत अवस्था विषरूप है-ऐसा भान जिस जीव को वर्तता है उसको अणुव्रत-महाव्रतादि का शुभभाव हो उसे व्यवहार से चारित्र कहते हैं। स्वभाव के आश्रय से राग घटा है उतना तो चारित्र है और जो राग रहा वह दोष है-ऐसा ज्ञानी जानता है।

अज्ञानी सात तत्वों के स्वरूप को नहीं जानता । वह तो सात तत्वों की धारणा करता है। वह तोते की तरह मुखपाठी है।जैसे तोता राम बोलता है; परन्तु राम कौन है-यह उसे पता नहीं है। आत्मा में रमण करे वह राम है। ज्ञानी ने ज्ञान के बल से सात तत्वों का निर्णय किया है वह सम्यग्दर्शन है। जो तत्वज्ञान के बिना आचरण करता है उसको 'मुझे मंदकषाय से लाभ होता है'- यह वासना नहीं छूटती। अज्ञानी के रागभाव करने का अभिप्राय नहीं छूटता। उसके अन्तर मे यह वासना रहती है कि व्यवहार में लगे रहो तो निश्चय प्रगट हो जायेगा-यह बात अब कहते हैं।

....वही बतलाते हैं:- द्रव्यलिंगी मुनि राज्यादिकको छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता है, उग्रसे उग्र अनशनादि बहुत तप करता है, क्षुधादिक बाईस परीषह सहता है, शरीर के खंड-खंड होने पर भी व्यग्र नहीं होता, व्रतभंग के अनेक कारण मिलने पर भी दृढ़ रहता है, किसी से क्रोध नहीं करता, ऐसे साधनों का मान नहीं करता, ऐसे साधनों में कोई कपट नहीं है, इन साधनों द्वारा इस लोक-परलोक के विषयसुख को नहीं चाहता; ऐसी उसकी दशा हुई। यदि ऐसी दशा न हो तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे? परन्तु उसे मिथ्यादृष्टि असंयमी ही शास्त्र में कहा है। उसका कारण यह है कि उसके तत्वों का श्रद्धान-ज्ञान सच्चा नहीं हुआ है। पहले वर्णन किया उस प्रकार तत्वों का श्रद्धान-ज्ञान हुआ है; उसी अभिप्राय से सर्वसाधन करता है; परन्तु उन साधनों के अभिप्राय की परम्परा का विचार करने पर कषायों का अभिप्राय आता है।

किस प्रकार? सो सुनोः- यह पाप के कारण रागादिक को हेय जानकर छोड़ता है; परन्तु पुण्य के कारण प्रशस्तराग को उपादेय मानता है, उसकी वृद्धि का उपाय करता है, सो प्रशस्त रागभी तो कषाय है। कषाय को उपादेय माना तब कषाय करने का ही श्रद्धान रहा। अप्रशस्त परद्रव्यों से द्वेष करके प्रशस्त परद्रव्यों में राग करने का अभिप्राय हुआ, कुछ परद्रव्यों में साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं हुआ....।

द्रव्यलिंगी मुनि राज्यादिक छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है। हजारों रानियां छोड़कर त्यागी होता है। 28 मूलगुणों का पालन करता है। अपने लिये बनाया हुआ आहार-पानी ग्रहण नहीं करता। उग्र तपश्चर्या करता है। अपने लिये बनाया हुआ अहार-पानी लेने वाले के तो द्रव्यलिंग का भी ठिकाना नहीं है। देखो! यहाँ किसी व्यक्ति की बात नहीं है। जिसके शास्त्र कथित व्यवहार भी नही हो और हम व्यवहार पालते हैं-ऐसा माने वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो जो 28 मूलगुण अच्छी तरह पालन करता है उसकी बात हैं; परन्तु उसके गहराई से यह वासना होती है कि इस मंदकषाय से आत्मा का कल्याण हो जायेगा- यह अभिप्राय उसके नहीं छूटता है।

जैन मार्ग में प्रतिज्ञा नहीं लेने का दंड नही है; परन्तु प्रतिज्ञा लेकर भंग करना तो महापाप है। द्रव्यलिंगी मुनि छह-छह महीने के उपवास करता है, क्षुधादि बाईस परीषह सहन करता है, शरीर के खण्ड-खण्ड अर्थात् दुकड़े करने पर भी कषाय नहीं करता; परन्तु कषाय की मंदता शान्ति का कारण है-ऐसी वासना उसके नहीं छूटती। परीषह के समय मानता है कि मेरे पाप का उदय है इसलिये ये प्रतिकूल संयोग प्राप्त हुए हैं-ऐसी कौमलता करता है; परन्तु इस कौमलता में ही धर्म मानता है। व्रत भंग अनेक कारण मिलने पर भी दृढ़ रहता है। दूसरे देवलोक की इन्द्रानी डिगाने आने पर भी ब्रह्मचर्य से नहीं डिगता है। किसी पर क्रोध नही करता। मेरे कर्म के उदय से यह हुआ है-ऐसा मानकर क्रोध नहीं करता। मंद कषाय का अभिमान नहीं है। कपट से ये साधन नहीं करता तथा इन साधनो द्वारा इसलोक-परलोक के विषय-सुख की आकांक्षा भी नहीं है-ऐसी दशा द्रव्यलिंगी की होती है। यदि ऐसी दशा नहीं होवे तो

नौवें ग्रैवेयक तक कैसे पहुँचे ? तथापि उसको शास्त्र मे असंयमी मिथ्यादृष्टि ही कहा है; कारण कि उसके तत्व का सच्चा श्रद्धान ही नहीं है। अर्थात् तत्वज्ञान पूर्वक जो श्रद्धान होना चाहिये वह इसके नहीं है। यह सात तत्वों को भिन्न-भिन्न न जानकर एक का अंश दूसरे में मिलाता है। जैसा पूर्व में वर्णन किया वैसा इसके तत्वों का श्रद्धान-ज्ञान हुआ है और वह इसी अभिप्राय से सर्व साधन करता है। अब इन साधनों की परम्परा का विचार करने पर उसके कषायों का ही अभिप्राय होता है। ज्ञानी के पर द्रव्य की क्रिया करने की बात तो है ही नहीं, परन्तु अपनी पर्याय में अशुभ का शुभ करने का भी उसका अभिप्राय नही है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टापने रहे-यही अभिप्राय है। ऐसे निर्णय बिना द्रव्यलिंगी जो कुछ भी साधन करता है उनमें मात्र कषाय का ही पोषण है।

द्रव्यलिंगी मुनि की बाह्य क्रिया ऐसी होती है कि जगत को तो ऐसा लगता है कि यह तारणहार है। भारतवर्ष इस प्रकार त्याग के नाम पर ठगा गया है; परन्तु यथार्थ तत्वज्ञान क्या वस्तु है उसका पता जगत को नहीं है। तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। अतः स्थान-स्थान पर ऐसा कहा है कि द्रव्यलिंगी को तत्व का ज्ञान नहीं है।

द्रव्यलिंगी पाप के कारण अप्रशस्तराग को हेय जानकर छोड़ता है; परन्तु पुण्य के कारण प्रशस्त राग को उपादेय मानता है तथा उसके बढ़ने का उपाय भी करता है। अब प्रशस्तराग भी तो कषाय ही है। जिसने कषाय को उपादेय माना उसको कषाय करने का ही श्रद्धान हुआ। वह तो शुभराग बढ़ाने में ही रुक गया है। यहाँ तो जिसका व्यवहार सच्चा है, तथापि उस व्यवहार से धर्म होना मानता है उस सूक्ष्म मिथ्यादृष्टि की बात की है। जो जीव अन्यमत के साथ जैनधर्म को मिलाता है वह तो व्यवहार से भी जैनधर्म को नही मानता है। वह तो रेशमी कपड़े के साथ टाट की तुलना करने जैसा है, सूझते के साथ अंध की होड़ करने जैसा है। सर्वज्ञ के मार्ग के साथ किसी भी धर्म का समन्वय है ही नहीं। जैन तो स्वतन्त्र वस्तु स्वभाव का कथन करने वाला है। कहा भी है कि-

'एक होय तीनकाल में परमारथ का पंथ।'

यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्यलिंगी का अभिप्राय अप्रशस्त द्रव्यों से द्वेष करके प्रशस्त द्रव्यों में राग करने का है; परन्तु उसके परद्रव्यों में साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं होता

ज्ञानी किसी भी पर पदार्थ को इष्ट-अनिष्ट नही मानता। चक्रवर्ती द्वारा वंदना करने पर भी अन्तर में मान नहीं होता-ऐसे तत्वज्ञान पूर्वक ज्ञानी के साम्यभाव होता है।

श्रीमद्राजचन्द्रजी ने अपूर्व अवसर काव्य में कहा है कि:-

उपसर्गों में क्रोध न तिलभर, चक्री वंदे मान नहीं;
देह जाए किंचित् नहीं माया, सिद्धि का लोभ-निदान नहीं।

(ब्र.रवीन्द्र कृत हिन्दी पद्यानुवाद)

....यहाँ प्रश्न है कि सम्यग्दृष्टि तो भी प्रशस्तराग का उपाय रखता है?

उत्तर:- जैसे किसी का बहुत दण्ड होता था, वह थोड़ा दण्ड देने का उपाय रखता है, थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धान में दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के पापरूप बहुत कषाय होती थी, सो वह पुण्यरूप थोड़ी कषाय करने का उपाय रखता है, थोड़ी कषाय होने पर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धान में कषाय को हेय ही मानता है। तथा जैसे-कोई कमाई का कारण जानकर व्यापारादि का उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है; उसी प्रकार द्रव्यलिंगी मोक्ष का कारण जानकर प्रशस्तराग का उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है। - इस प्रकार प्रशस्त राग के उपाय में और हर्ष में समानता होने पर भी सम्यग्दृष्टि के तो दण्ड समान और मिथ्यादृष्टि के व्यापार समान श्रद्धान पाया जाता है। इसलिये अभिप्राय में विशेष हुआ।....

प्रश्न:- सम्यग्दृष्टि भी तो प्रशस्त राग का उपाय रखता है?

उत्तर:- जैसे किसी को बहुत दण्ड होता था, वह थोडा दण्ड देने का उपाय रखता है तथा थोड़ा दण्ड देकर हर्ष मानता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी मंदकषाय का उद्यम

रखता है-यह उपदेश का कथन है। सिद्धान्त ऐसा नहीं है। जिसको स्वभाव दृष्टि हुई है उसको मंद कषाय सहज होती है। सम्यग्दृष्टि के पापरूप बहुत कषाय होती थी वह अब पुण्यरूप थोड़ी कषाय करने का उद्यम रखता है-ऐसा कहा है। तथा थोड़ी कषाय होने पर हर्ष भी मानता है; परन्तु श्रद्धान में तो कषाय हेयरूप ही मानता है।

यहाँ तो जो अट्ठाईस मूलगुणों का सही पालन करता है उसको द्रव्यलिंगी मुनि कहा है। जो वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना मनाता है वह तो द्रव्यलिंगी है ही नहीं; परन्तु नग्न होकर अट्ठाईस मूलगुणों का सही पालन नहीं करे तो वह भी द्रव्यलिंगी नही है। द्रव्यलिंगी तो व्यवहार का पालन अच्छी तरह करता है। वह तो मोक्ष का कारण जानकर प्रशस्त राग का उपाय रखता है और उपाय बन जाने पर हर्ष भी मानता है। इस प्रकार प्रशस्त राग के उपाय में अथवा हर्ष में समानता होने पर भी सम्यग्दृष्टि को तो वह दण्ड के समान है और मिथ्यादृष्टि को व्यापार के समान श्रद्धान है।

देखो! यहाँ पंडितजी ने घर की बात नहीं की है, यथार्थ बात कही है। किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष बुद्धि नहीं है। (ज्ञानी को तो) पापी के प्रति भी द्वेष नहीं होता; परन्तु पाप कैसा होता है, उसका ज्ञानी वर्णन करते हैं। सम्यग्दृष्टि अट्ठाईस मूलगुणों के राग का दण्ड मानता है और अज्ञानी उसे लाभ मानता है। इस कारण दोनो के अभिप्राय में पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है।

....तथा इसके परीषह-तपश्चरणादिक के निमित्त से दुःख हो उसका इलाज तो नहीं करता; परन्तु दुःख का वेदन करता है; सो दुःख का वेदन करना कषाय ही है। जहाँ वीतरागता होती है वहाँ तो जैसे अन्य ज्ञेय को जानता है उसी प्रकार दुःख के कारण ज्ञेय को जानता है; सो ऐसी दशा इसकी होती नहीं है। तथा उनको सहता है वह भी कषाय के अभिप्रायरूप विचार से सहता है। यह विचार ऐसा होता है कि परवशता से नरकादि गति में बहुत दुःख सहन किये, यह परीषहादि का दुःख तो थोड़ा है। इसको स्ववश सहने से स्वर्ग-मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। यदि इनको न सहें और विषय सुख का सेवन करें तो नरकादि की प्राप्ति होगी, वहाँ बहुत दुःख होगा- इत्यादि विचार से परीषहोमें अनिष्ट बुद्धि रहती है। केवल नरकादिक के भय से तथा सुखके लोभ से उन्हें सहन करता है; सो यह सब कषायभाव ही है। तथा ऐसा विचार

होता है कि जो कर्म बांधे थे वे भोगे बिना नहीं छूटते; इसलिये मूझे सहने पड़े। सो ऐसे विचार से कर्मफलचेतनारूप प्रवर्तता है। तथा पर्याय दृष्टि से जो परीषहादिरूप अवस्था होती है उसे अपने को हुई मानता है; द्रव्यदृष्टि से अपनी और शरीरादिक की अवस्था को भिन्न नहीं पहिचानता। इसी प्रकार नाना प्रकार के व्यवहार विचार से परीषहादिक सहन करता है।

तथा उसके राज्यादिक विषयसामग्री का त्याग है और इष्ट भोजनादि का त्याग करता रहता है। वह तो जैसे कोई दाहज्वरवाला वायु होने के भय से शीतलवस्तु सेवन का त्याग करता है; परन्तु जब तक शीतलवस्तु का सेवन रुचता है तब तक उसके दाहका अभाव नहीं कहा जाता; उसी प्रकार रागसहित जीव नरकादिकभय से विषयसेवन का त्याग करता है, परन्तु जब तक विषय सेवन रुचता है तब तक उसके राग का अभाव नहीं कहा जाता। तथा जैसे-अमृत के आस्वादी देव को अन्य भोजन स्वयंमेव नहीं रुचता; उसी प्रकार स्वरस का आस्वादन करके विषय सेवन की अरुचि इसके नहीं हुई है। इस प्रकार फलादिकी अपेक्षा परीषह सहनादि को सुख का कारण जानता है और विषयसेवनादि को दुःख का कारण जानता है।

तथा तत्काल परीषह सहनादिक से दुःख होना मानता है, और विषयसेवनादिक से सुख मानता है; तथा जिनसे सुख-दुःख का होना माना जाये उनमें इष्ट-अनिष्टबुद्धि से राग-द्वेष रूप अभिप्राय का अभाव नहीं होता; और जहाँ राग-द्वेष है वहाँ चारित्र नहीं होता। इसलिये द्रव्यलिंगी विषयसेवन छोड़कर तपश्चरणादि करता है तथापि असंयमी ही है। सिद्धान्त में असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से भी इसे हीन कहा है; क्योंकि उनके चौथा-पाँचवा गुणस्थान है ओर इसके पहला ही गुणस्थान है।....

तथा द्रव्यलिंगी मुनि परीषह, तपश्चरणादिक के निमित्त दुःख होता है उसका तो इलाज नही करता। सो दुःख को वेदना भी तो कषाय ही है। जहाँ वीतरागता होती है वहाँ तो जैसे अन्य ज्ञेय को जानता है उसी प्रकार दुःख के कारण ज्ञेय को भी जानता है। अब ऐसी दशा तो इसके हुई नहीं है। ज्ञानी को परीषह आया हो उसे देखकर वह (ज्ञानी) दुःखी है-ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। मुनिराज तो परीषह के

समय भी अन्तर में शान्ति में रमते हैं। मन से छूटकर अन्तर में लीन होते हैं-ऐसी मुनिदशा होती है।

मिथ्यादृष्टि के ऐसी अन्तर शान्ति-निर्विकल्प दशा कभी नहीं होती। जिसकी दृष्टि इष्ट-अनिष्ट सामग्री पर है उसको तो आर्त्तध्यान होता है; अतः उसको मंद कषाय भी नहीं होती। वीतराग भाव होवे तो वह जैसे अन्य ज्ञेय को जानता है उसी प्रकार परीषह का भी ज्ञाता रहे; परन्तु ऐसी दशा द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि के नहीं होती है।

अज्ञानी जीव मानता है कि मैंने परवशपने नरकादि गति में बहुत दुःख सहे हैं, यह परीषहादि का दुःख तो थोड़ा है। अतः यदि इसे स्ववशपने सहन किया जायेगा तो स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। यदि परीषह सहन नहीं करेंगे और विषयसुख भोगेंगे तो बहुत दुःख होगा। अब जिसने परीषह में दुःख माना उसने तो परद्रव्य को दुःख का कारण माना है-इसकारण उसको परीषह में अनिष्ट बुद्धि हुए बिना नहीं रहती। परीषह तो ज्ञान का ज्ञेय है, वह इष्ट अनिष्ट नहीं है; तो भी उसमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करना तो कषाय ही है।

तथा द्रव्यलिंगी के ऐसा विचार होता है कि जो कर्म बांधे हैं वे भोगे बिना नहीं छूटते। वह कर्म और आत्मा को भिन्न नहीं मानता है। वह कर्म का फल आत्मा मे मानता है और आत्मा कर्म को भोगता है-ऐसा मानता है। कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं है; इसलिये मुझे सहन करना चाहिये।- ऐसे विचार से कर्मफलचेतनारूप प्रवर्तता है। श्रेणिक राजा को भी कर्म के कारण नरक में जाना पड़ा। वे तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, उनको नरक में जाने का भाव नहीं था, तो भी कर्म के कारण जाना पड़ा-ऐसा वह मानता है। परन्तु वस्तुतः तो वे अपनी योग्यता के कारण नरक में गये हैं, आयुकर्म के कारण नहीं। आत्मा कर्म को भोगता है-ऐसा मानकर अज्ञानी हर्ष-शोक में एकाकर होता है। आत्मा ज्ञायक चैतन्यमूर्ति है, उसमें तो शान्ति भरी है। जिसको उसकी दृष्टि नहीं है वह कर्मफलचेतनारूप परिणमा है।

तथा वह उपवास करके शरीर को जीर्ण करता है और उसे आत्मा की अवस्था मानता है। अज्ञानी जीव की दृष्टि जड़ की पर्याय पर है। आत्मा में कषाय की मंदता

होने से शरीर की जीर्ण अवस्था हुई-ऐसा भी नहीं है। अपनी और शरीरादि की अवस्था भिन्न है, इसको वह नहीं पहिचानता। आत्मा ज्ञाता है और शरीरादि की अवस्था उसके कारण होती है-इस बात को वह नहीं जानता। इसी प्रकार नाना प्रकार के व्यवहाररूप विचारों से परीषहादि सहन करता है।

तथा वह राज्यादिक विषय सामग्री का त्याग करता है। श्रेष्ठ मिष्ठान्न आदि का भी त्याग करता है; परन्तु वह तो जैसे कोई दाहज्वर वाला वायु होने के भय से शीतल वस्तु के सेवन का त्याग करता है उसके समान हुआ; परन्तु जहाँ तक उसको शीतल वस्तु का सेवन रुचता है वहाँ तक उसके दाह का अभाव नहीं कहते। इसी प्रकार राग सहित जीव नरकादि के भय से विषय सेवन का त्याग करता है; परन्तु जहाँ तक उसको विषय सेवन रुचता है वहाँ तक उसके राग का अभाव नहीं कहते। अर्थात् उसको अन्तर में विषय के प्रति प्रीति नहीं छूटती। आत्मा के आनन्द के प्रति रुचि होवे तो विषय की रुचि छुटे बिना नही रहती।

जिसने बाहर में त्याग किया है; परन्तु अन्तरंग में विषय की मिठास नहीं छूटती; इसलिये उसके राग का अभाव नहीं हुआ है। जैसे अमृत के आस्वादी देव को अन्य भोजन स्वयं ही नहीं रुचता; उसी प्रकार आत्मा के आस्वादी ज्ञानी के विषय सेवन की रुचि नहीं होती। स्वर्ग के देव मिठाई आदि भोजन नहीं खाते है; इसी प्रकार धर्मी को आत्मा के आनन्द का रस होने से वास्तव में विषय सेवन की रुचि नहीं होती। इस प्रकार वह फलादि की अपेक्षा परीषहादि सहने को सुख का कारण जानता है और विषय सेवनादिक को दुःख का कारण जानता है; परन्तु परद्रव्य सुख-दुःख का कारण नहीं है, बल्कि ज्ञाता का ज्ञेय है-ऐसा वह नहीं मानता। विषय सेवन छोड़ने से दुःख छूटता है-ऐसा नहीं है। द्रव्यलिंगी राज्यादिक को छोड़ता है; परन्तु उसको दुःख का अभाव नहीं होता है। कारण कि ज्ञायकमूर्ति आत्मा पर से और राग से भिन्न अमृतमय है, उसकी रुचि नहीं है-इस कारण उसको कषायरूपी दुःख का अभाव नहीं होता है।

प्रत्येक पदार्थ की पर्याय क्रमबद्ध होती है-ऐसा नहीं मानने वाला जैन नही है; क्योंकि उसने सर्वज्ञ को भी नहीं माना है। परद्रव्य की पर्याय बदली नहीं जा सकती,

जब तक ऐसी बुद्धि नहीं हो तब तक पर की रुचि नहीं छूटती। अज्ञानी वर्तमान में विषय सेवनादिक से सुख मानता है और उसके फल में दुःख मानता है तथा परीषह सहन करने में दुःख और उसके फल में सुख मानता है।अतः जिनसे सुख-दुःख मानता है उसमें इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि से राग-द्वेष का अभाव नहीं होता।

योगीन्द्र देव कहते हैं कि अज्ञानी चार गति में स्वयं के कारण दुःखी हो रहा है। अज्ञानी को पर द्रव्य में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि है-इस कारण उसके चारित्र नहीं होता। द्रव्यलिंगी विषय सेवन छोड़कर तपश्चरणादि करता है, तो भी वह असंयमी है। सिद्धान्त में असंयत अर्थात अविरत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत अर्थात पांचवे गुणस्थान वाले श्रावक से भी द्रव्यलिंगी मुनि को हीन कहा है; कारण कि उसका पहला गुणस्थान है। द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु नवकोटि से ब्रह्मचर्य का पालन करता है, मंदकषाय करता है; परन्तु आत्मा का भान नहीं होने से उसको चौथे-पांचवे गुणस्थान वाले ज्ञानी से भी हीन कहा है।

....यहाँ कोई कहे कि असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों कि प्रवृत्ति विशेष है और द्रव्यलिंगी मुनि के थोड़ी है; इसीसे असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि तो सोलहवें स्वर्गपर्यन्त ही जाते हैं और द्रव्यलिंगी अन्तिम ग्रैवेयकपर्यन्त जाता है। इसलिये भावलिंगी मुनि से तो द्रव्यलिंगी को हीन कहो, उसे असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से हीन कैसे कहा जाय?

समाधानः- असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति तो है; परन्तु श्रद्धान में किसी भी कषाय के करने का अभिप्राय नहीं है। तथा द्रव्यलिंगी के शुभकषाय करने का अभिप्राय पाया जाता है, श्रद्धान में उन्हें भला जानता है; इसलिये श्रद्धान की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि से भी इसके अधिक कषाय है।...

प्रश्नः- असंयत-देशसंयत ज्ञानी को कषायों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानी को राजपाट होते हैं, कदाचित ये युद्धादि में भी प्रवर्तित होते हैं- ऐसी कषाय की प्रवृत्ति होती है और द्रव्यलिंगी को ऐसी कषाय की प्रवृत्ति नहीं दिखती। द्रव्यलिंगी मुनि ग्रैवेयक तक जाता है और चौथे-पांचवे गुणस्थान वाले ज्ञानी सौलह स्वर्ग तक जाते हैं; इसलिये

उनसे द्रव्यलिंगी को हीन कैसे कहते हो? द्रव्यलिंगी को भावलिंगी से हीन भले ही कहो; परन्तु चौथे गुणस्थान वाले से हीन कैसे कहते हो?

समाधानः- असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि को कषायों की प्रवृत्ति तो है; परन्तु उनके श्रद्धान में किसी भी कषाय को करने का अभिप्राय नहीं है। पर्याय में कषाय होने पर भी वे उसे हेय मानते हैं। जबकि द्रव्यलिंगी को तो शुभ कषाय करने का अभिप्राय होता है और श्रद्धान में उसे भली ही जानता है। ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में महान अन्तर है। अज्ञानी मंदकषाय को उपादेय मानता है, उसके एक भी भव का नाश नहीं होता। सम्यग्दृष्टि कषाय को हेय मानता है, इसलिये उसने अनन्त भवों का अभाव किया है। अतः अभिप्राय की अपेक्षा चौथे और पॉचवें गुणस्थान वाले ज्ञानी की अपेक्षा द्रव्यलिंगी को हीन कहा है। द्रव्यलिंगी को वैराग्य भी बहुत होता है; परन्तु अभ्यंतर में दृष्टि कषाय पर है। उसको अकषाय स्वभाव की दृष्टि नहीं है; इसलिये वह मंद कषायरूप परिणाम को उपादेय मानता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है। अतः ज्ञानी की अपेक्षा द्रव्यलिंगी मुनि को अधिक कषाय है- ऐसा कहा है।

....तथा द्रव्यलिंगी के योगों की प्रवृत्ति शुभरूप बहुत होती है और अघातिकर्मोंमें पुण्य-पाप बंध का विशेष शुभ-अशुभ योगों के अनुसार है, इसलिये वह अन्तिम ग्रैवेयकपर्यन्त पहुँचता है; परन्तु वह कुछ कार्यकारी नहीं है; क्योंकि अघातिया कर्म आत्मगुण के घातक नहीं हैं, उनके उदय से उच्च-नीचपद प्राप्त किये तो क्या हुआ? वे तो बाह्य संयोगमात्र संसारदशा के स्वांग है; आप तो आत्मा है; इसलिये आत्मगुण के घातक जो घातियाकर्म है उनकी हीनता कार्यकारी है।

उन घातिया कर्मो का बन्ध बाह्यप्रवृत्ति के अनुसार नहीं है, अंतरंग कषायशक्ति के अनुसार है; इसीलिये द्रव्यलिंगी की अपेक्षा असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के घातिकर्मो का बन्ध थोड़ा है। द्रव्यलिंगी के तो सर्व घातिकर्मो का बन्ध बहुत स्थिति-अनुभाग सहित होता है, और असंयत व देशसंयत

सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी आदि कर्मो का तो बन्ध है ही नहीं, अवशेषों का बन्ध होता है वह अल्प स्थिति-अनुभाग सहित होता है। तथा द्रव्यलिंगी के कदापि गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती, सम्यग्दृष्टि के कदाचित् होती है और देश व सकल संयम होने पर निरन्तर होती है। इसीसे यह मोक्षमार्गी हुआ है। इसलिये द्रव्यलिंगी मुनि को शास्त्र में असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से हीन कहा है।....

वह कषाय की मंदता पूर्वक योगप्रवृत्ति करता है। उसके द्वारा अघाति में पुण्य बंध बांधता है; परन्तु उसको घातिकर्मो का बंध तो ऐसा का ऐसा होता है। अतः बाहर के संयोग में अन्तर पड़ता है; परन्तु अन्तरंग शान्ति नहीं होती; इसलिये उसके आत्मा को लाभ नहीं है। जिसको सत्य वस्तु समझने में भी डर लगता है उसके सच्चा अभिप्राय नहीं हो सकता। जिसको ऐसा भय है कि सत्य समझने से मुझे समाज से बाहर कर देंगे, आहार-पानी नहीं मिलेगा उसको सच्चा अभिप्राय नहीं होता।

यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्यलिंगी पॉच महाव्रतों का पालन करके अन्तिम ग्रैवेयक तक जाये और सम्यग्दृष्टि कदाचित पहले स्वर्ग में जाये; परन्तु यह तो बाहर के संयोगो की बात है। सम्यग्दर्शन पूर्वक कदाचित नरक में जाना भी अच्छा है और मिथ्यात्व सहित अन्तिम ग्रैवेयक में जाना भी बुरा है। क्षेत्र से ऊँचा जाना तो जैसे मक्खी ऊपर उड़ती है उसके समान है।

यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान पूर्वक घाति कर्मो का अभाव करना कार्यकारी है। अघाति में पड़ने वाला अन्तर कोई कार्यकारी नहीं है। आत्मा के गुणों का घात न होना लाभकारी है अघाति कर्मो का उदय आत्मा के गुणों के घात में निमित्त नहीं है, वह तो मात्र बाहर के संयोग देता है। इसलिये घाति कर्मो का नाश जिस भाव से हो वह कार्य करना उत्तम है।

अभी तो निमित्त-उपादान की इतनी अधिक स्पष्ट बात आई है कि पण्डित अपनी मान्यता का आग्रह रखकर कुतर्क करके भी स्वयं की बात को सिद्ध करना चाहते हैं। अष्टसहस्त्री आदि में आत्मा को पर्याय निमित्त से होती है- ऐसा आता है; इस प्रकार वे कहते हैं; परन्तु यह बात मिथ्या है। आत्मा की पर्याय में स्वयं के कारण हीनदशा

होती है अर्थात् घात होता है तब घाति कर्मो को निमित्त कहते हैं; परन्तु घाति कर्मो के कारण आत्मा के गुणों का घात होता है- ऐसा नहीं है। नैमित्तिक पर्याय स्वयं से होती है तो निमित्त पर आरोप आता है। यदि अपनी ज्ञानादि पर्याय में सर्वथा घात नहीं होता हो तब तो केवलज्ञान हो; परन्तु हीन पर्याय है तो उसमें कर्म निमित्त है; यह बात यथार्थ है। निमित्त है अवश्य; परन्तु वह उपादान में प्रवेश नहीं पाता, न ही उसमें कोई कार्य करता है- इस बात का प्रथम ज्ञान करना चाहिये।

अब घाति कर्मो का बंध बाह्य प्रवृति अनुसार नहीं, परन्तु अन्तरंग कषाय अनुसार होता है। इसलिये ही द्रव्यलिंगी से असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि के घाति कर्मो का थोड़ा बंध है। ज्ञानी के मिथ्यात्व नहीं है इतना तो घाति कर्मो का बंध नहीं है और अज्ञानी के घाति कर्मो का पूरा बंध होता है। इसलिये द्रव्यलिंगी को हीन कहा है।

देखो! यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप चल रहा है। जिसको व्यवहार क्रियाकाण्ड करने पर भी आत्मा के स्वरूप का पता नहीं है वैसे द्रव्यलिंगी की तुलना में असंयत सम्यग्दृष्टि ऊँचा है- ऐसा यहाँ कहा है। कारण कि द्रव्यलिंगी मोक्षमार्ग में नहीं है जबकि सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग में है। द्रव्यलिंगी बाहर में व्रतादि पालता है तथापि वह बंधमार्ग में है, कारण कि उसके अन्तरंग में मिथ्यात्वभाव पड़ा है। जबकि सम्यग्दृष्टि के अन्तरंग में मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव हुआ है।

द्रव्यलिंगी के समस्त घाति कर्मो का बहुत स्थिति- अनुभाग सहित बंधन होता है; कारण कि उसके अन्तरंग में संयोगदृष्टि नहीं छूटी है। जबकि सम्यग्दृष्टि के घाति कर्मो में दर्शनमोह का तो बंध ही नहीं होता, अनन्तानुबंधी का भी बंध नहीं होता; क्योंकि उसको अन्तरंग में आत्मा का भान वर्तता है। तथा पॉचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणी का भी बंध नहीं होता। अन्य जो बंध है उसमें अल्प स्थिति और अल्प अनुभाग पड़ता है। द्रव्यलिंगी के कभी भी गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती। सम्यग्दृष्टि को किसी समय गुणश्रेणी निर्जरा होती है और देश तथा सकल संयम होने पर निरंतर होती है। इसलिये उनको मोक्षमार्ग हुआ है। अतः इसीकारण शास्त्र में द्रव्यलिंगी मुनि को असंयत व देशविरत सम्यग्दृष्टि से हीन कहा कहा है।

द्रव्यलिंगी मुनि पंच महाव्रत पालता है; परन्तु उसको आत्मा में अभ्यंतर दृष्टि नहीं होने से गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती। उसको अंशमात्र भी आत्मा का गुण (निर्मलता) प्रगट नहीं हुआ है। प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र होती है। एक सत् के अंश से दूसरे सत् का अंश होता है- ऐसा नहीं होता। इसलिये निमित्त के कारण नैमित्तिक पर्याय होती है- ऐसा तीनकाल में भी नहीं होता। निमित्त भी उसकी स्वयं की अपेक्षा से उपादान है- इस कारण वह अपना कार्य करता है। - जिसको ऐसी दृष्टि नहीं हुई उसको तीनकाल में भी धर्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टि हुए बिना गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती। संयोगदृष्टि और स्वभावदृष्टि से दोनो में पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है। द्रव्यलिंगी को संयोगदृष्टि है; अतः उसको कदापि धर्म नहीं होता।

आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है। वह किसी भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में होने पर भी स्वतन्त्र है- ऐसी दृष्टि जिसको नहीं हुई है उसको किसी भी काल में धर्म नहीं होता। मैं निमित्त होऊँ तो अन्य जीव धर्म प्राप्त करे और अन्य निमित्त हो तो मेरे में धर्म हो- यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है।

आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है। उसकी पर्याय में होने वाला व्रतादि का शुभराग आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है- ऐसी दृष्टि पूर्वक जिनको अन्तर में लीनता है वे भावलिंगी मुनि हैं और उनको बाहर से द्रव्यलिंग होता है।

ज्ञान की क्रिया आत्मा की है, राग की क्रिया आत्मा की नहीं है। अज्ञानी कहता हैं कि राग की क्रिया करना पड़ता है, उसको राग की रुचि नहीं छूटी है। आत्मा के भान पूर्वक ज्ञानी को भी दया इत्यादि का शुभभाव आ जाता है; परन्तु उनको करना नहीं पड़ता। द्रव्यलिंगी को राग की रुचि होती है- इस कारण शास्त्र में उसको सम्यग्ज्ञानी से हीन कहा है।

....समयसार शास्त्र में द्रव्यलिंगी मुनि की हीनता गाथा, टीका और कलशों में प्रगट की है। तथा पंचास्तिकाय टीका में जहाँ केवल व्यवहारावलम्बी का कथन किया है वहाँ व्यवहार पंचाचार होने पर भी उसकी हीनता ही प्रगट की है। तथा प्रवचनसार में संसारतत्व द्रव्यलिंगी को कहा है। परमात्मप्रकाशादि अन्य शास्त्रों में भी इस व्याख्यान को स्पष्ट किया है। द्रव्यलिंगी के जो जप, तप, शील, संयमादि क्रियाऐं पायी जाती हैं उन्हें भी इन शास्त्रों में जहाँ-तहाँ

अकार्यकारी बतलाया है, सो वहाँ देख लेना। यहाँ ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से नहीं लिखते हैं।

इसप्रकार केवल व्यवहाराभास के अवलम्बी मिथ्यादृष्टियों का निरूपण किया।....

श्री समयसार में द्रव्यलिंगी मुनि का हीनपना गाथा, टीका और कलशों में प्रगट किया है। कारण कि वह बाहर की क्रिया में सावधान रहता है। पंचास्तिकाय की टीका में भी जहाँ केवल व्यवहारावलम्बियों का कथन किया है वहाँ वह व्यवहार पंचाचार पालता होने पर भी उसका हीनपना ही प्रगट किया है। जिसके निमित्त से आत्मा की यथार्थ बात सुनी हो, जिसके पास से न्याय मिला हो उसकी विनय नहीं करने वाला तो व्यवहार से भी चोर है; परन्तु यहाँ तो पंचाचाररूप व्यवहार में विनय भी करता है; तथापि उसने आत्मा की विनय को नहीं जाना होने से उसे हीन कहा है।

श्री प्रवचनसार गाथा-271 में भी द्रव्यलिंगी को 'संसारतत्व' कहा है। उसने राग से धर्म और पर से लाभ-हानि मानी होने से 'संसारतत्व' है। वह जीव त्रस की दो हजार सागर की उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण करके निगोद में चला जाता है। मुनिपना पालने पर भी उसको संसारतत्व कहा है। जिसको आत्मा परिपूर्ण है- ऐसी दृष्टि नहीं हुई है वह द्रव्यलिंगी नग्न मुनि हो, अथवा (द्रव्यलिंगी श्रावक हो) मुनिपना अथवा श्रावकपना पालता हो, शुभभाव करता हो, परन्तु अन्तरदृष्टि नहीं होने से वह संसारतत्व है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमि बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता। मिथ्यादृष्टि का क्रियाकाण्ड 'रण में पीठ दिखाने' के समान व्यर्थ है। उसको आत्मा का कुछ भी लाभ नहीं होता। यही बात परमात्म प्रकाश आदि ग्रन्थों में भी स्पष्ट की है।

आत्मा के भान बिना जप, तप, शील, संयमादि क्रियाओं को अकार्यकारी बताया है। मिथ्यादृष्टि की मान्यता है कि व्यवहार करते-करते निश्चय सम्यग्दर्शन होता है।

इसप्रकार केवल व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टियों का वर्णन किया।

उभयाभासी मिथ्यादृष्टि

....अब, जो निश्चय-व्यवहार दोनो नयों के आभास का अवलम्बन लेते हैं-ऐसे मिथ्यादृष्टियों निरूपण करते हैं।

जो जीव ऐसा मानते हैं कि जिनमत में निश्चय-व्यवहार दोनो नय कहते हैं, इसलिये हमें उन दोनो का अंगीकार करना चाहिये-ऐसा विचारकर जैसा केवल निश्चयाभास के अवलम्बियों का कथन किया था, वैसे तो निश्चय का अंगीकार करते हैं और जैसे केवल व्यवहाराभास के अवलम्बियों का कथन किया था वैसे व्यवहार का अंगीकार करते है।

यद्यपि इस प्रकार अंगीकार करने में दोनों नयों के परस्पर विरोध है, तथापि करें क्या? सच्चा तो दोनों नयों का स्वरूप भासित हुआ नहीं, और जिनमत में दो नय कहे हैं उनमें से किसी को छोड़ा भी नहीं जाता; इसलिये भ्रमसहित दोनों का साधन साधते है; वे जीव मिथ्यादृष्टि जानना।....

अब जो निश्चय-व्यवहार दोनो नयों के आभास का अवलम्बन लेते हैं-ऐसे मिथ्यादृष्टियों का निरूपण करते हैं।

जो जीव ऐसा मानता है कि जिनमत में निश्चय-व्यवहार दो नय कहे हैं, इसलिये हमे उन दोनो नयों का अंगीकार करना चाहिये, तो उसकी यह मान्यता मिथ्यात्व है।

मिथ्यादृष्टि मानता है कि भगवान ने दो नय कहे हैं। कभी निश्चयनय और कभी व्यवहारनय-इस प्रकार हमें दोनों नयों को अंगीकार करना चाहिये; कारण कि भगवान का मार्ग अनेकान्तरूप है; अतः एकान्त नहीं करना चाहिये। परन्तु वह व्यवहारनय के अंगीकार का अर्थ नहीं समझता है। आत्मा की पर्याय में राग होता है उसको जानना व्यवहारनय का अंगीकार है। आत्मा में अल्पज्ञानरूप पर्याय है उसे जानना कि मेरी पर्याय अल्पज्ञानरूप है वह व्यवहारनय है। अज्ञानी तो राग के आदर को व्यवहारनय कहता है। वस्तुतः उसने तो राग और वीतरागभाव दोनो से लाभ माना है, जो कि एकान्त है।

जो यह मानता है कि निश्चय को तो लक्ष्य में रखना चाहिये और साधन व्यवहार का करना चाहिये, तो उसे निश्चय और व्यवहार का- एक का भी पता नही है। मिथ्यादृष्टि जीव दोनो नयों को आदरणीय मानता है। पूर्व में जिसप्रकार निश्चयाभासावलम्बियों का कथन किया था उस अनुसार तो वह निश्चय को अंगीकार करता है; तथा जिस प्रकार मात्र व्यवहाराभासावलम्बियों का कथन किया था उस अनुसार व्यवहार को अंगीकार करता है; परन्तु इसमें तो परस्पर विरोध आता है। कारण कि निश्चयनय अंगीकार करने योग्य है और व्यवहारनय हेय है-यह बात उसके ख्याल में नही है। उसको दोनो नयों का सही स्वरूप भासित नहीं हुआ है और जैनमत में दो नय कहे हैं उनमें से किसी को छोड़ा भी नही जाता; इसलिये वह जीव भ्रमपूर्वक दोनों नयों का साधन करता है-ऐसे जीव को भी मिथ्यादृष्टि जानना।

अब उस अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति कैसी होती है, उसको विशेषता से कहते हैं।

दो प्रकार मोक्षमार्ग माननेरूप मिथ्या मान्यता और उसका स्पष्टीकरण

....अब इनकी प्रवृत्ति का विशेष बतलाते है।

अंतरंग में आपने तो निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को पहिचाना नहीं, जिनआज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते है। सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय तो 'निश्चय मोक्षमार्ग' है। और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग में निमित्त है व सहचारी है उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है। क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार; इसलिये निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। (किन्तु) एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है-इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।....

अन्तरंग में स्वयं तो निर्धार करके यथावत निश्चय- व्यवहार मोक्षमार्ग को नहीं पहिचानता है; परन्तु जिनआज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकार का मोक्षमार्ग

मानता है। अब, कहीं मोक्षमार्ग दो नहीं है; किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। आत्मा में निर्विकल्प दशा-वीतरागभाव का होना मोक्षमार्ग है; दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है; परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है उसको व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है।

पंच महाव्रतादि मोक्षमार्ग नहीं है; परन्तु निर्विकल्प मोक्षमार्ग प्रगट करे तो उन्हें निमित्त कहा जाता है। यदि निश्चय मोक्षमार्ग नहीं हो तो पंच महाव्रतादि को व्यवहार भी नही कहा जाता। अर्थात् उनमें निमित्तपने का आरोप भी नही आता। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप है।

मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से किया है। उसमें वीतरागी निर्विकल्प दशा निश्चय मोक्षमार्ग और राग-व्रतादिक की दशा व्यवहार मोक्षमार्ग है। एक सच्चा मोक्षमार्ग है और दूसरा निमित्त, उपचार, सहकारी अथवा मिथ्या (अभूतार्थ) मोक्षमार्ग है। -इसप्रकार दो प्रकार से मोक्षमार्ग का कथन किया है। अखण्ड आत्मस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ वह निश्चय मोक्षमार्ग है और उससमय राग-विकल्प है वह मोक्षमार्ग नहीं है; परन्तु उसको उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। अर्थात् निमित्त, सहचार, उपचार व व्यवहार-ऐसे चार प्रकार से मोक्षमार्ग का निरूपण किया है।

आत्मा में निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ उसको सच्चा, अनुपचार, शुद्ध, उपादान और यथार्थ मोक्षमार्ग कहा है। उस समय राग को उपचार, निमित्त, सहचारी और व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार (मोक्षमार्ग का) स्वरूप है।

यहाँ मोक्षमार्ग का कथन चलता है, इसलिये आत्मा की शुद्ध पर्याय को उपादेय कहा है और व्यवहार-राग को हेय कहा है; परन्तु द्रव्यदृष्टि के विषय में तो आत्मा की शुद्ध पर्याय को भी हेय कहा है।

यहाँ व्यवहार को सहचारी-निमित्त कहा है; क्योंकि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ है और राग भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का ही होता है, कुदेवादिक का नहीं होता; इसलिये उस राग का सहचारी कहा है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी मे पण्डितजी ने कहा है कि सम्यक्त्वी के व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चय सम्यक्त्व गर्मित है। व्यवहार के समय भी निश्चयरूप परिणति हो रही है, इसलिये व्यवहार में निश्चय परिणति गर्मित कही है; परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि व्यवहार सम्यक्त्व के कारण निश्चय सम्यक्त्व होता है; किन्तु निश्चय मोक्षमार्गरूप परिणति के साथ सच्चे देवादिक की श्रद्धारूप राग होता है-इसका ज्ञान करने को व्यवहार कहा है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप समझना चाहिये।

जिसको निश्चय और व्यवहारनय का पता नहीं है वह भ्रम से दोनो नयों का साधन साधता है वह मिथ्यादृष्टि है। हम तो निश्चय-व्यवहार दोनो नयों का साधन करते हैं- ऐसा मानने वाले की बात मिथ्या है। क्योंकि वह अन्तरंग में 'स्वयं कौन है' इसका निर्णय नहीं करता। वह निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का भी नहीं जानता। इसलिये दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानता है; परन्तु मोक्षमार्ग दो नहीं, उसका निरूपण दो प्रकार से है।

अज्ञानी मानता है कि 'निश्चय से तो आत्मा शुद्ध है, इसलिये उसमें तो कुछ करना नहीं है, व्यवहार में दया, दान, भक्ति, आदि करना है और व्यवहार करते-करते आत्मा में धर्म हो जायेगा।' (परन्तु यह मान्यता भ्रमरूप है)

अपनी पर्याय में दया, दान, भक्ति, व्रतादि का शुभभाव होता है वह उपचार से मोक्षमार्ग है और राग का अभाव हुआ है वह निश्चय मोक्षमार्ग है। उसमे यह शुभभाव निमित्त है, इसलिये उपचार से मोक्षमार्ग है- ऐसा कहा है; परन्तु वस्तुतः शुभराग मोक्षमार्ग नहीं है। शरीरादि की क्रिया तो व्यवहार से भी मोक्षमार्ग नहीं है। जगत को अनादि से वीतरागमार्ग का पता नहीं है।

मोक्षमार्ग का स्वरूप जाने बिना मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। व्यवहार रत्नत्रय मोक्षमार्ग नहीं है; परन्तु उसको मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है। इस वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ अज्ञानी मानता है कि हमको तो दोनो नयों का साधन साधना है।

ज्ञानी एक स्वभाव का ही साधन करता है, दूसरा साधन वास्तव में है ही नहीं। ज्ञानी मानता है कि निश्चय मोक्षमार्ग एक ही है। मिथ्यादृष्टि दो नयों का साधन साधता है, दो मोक्षमार्ग मानता है और दोनो नयों को उपादेय मानता है-ऐसे तीन प्रकार से भूल करता है। वस्तुतः शुभराग मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग में निमित्त-सहचारी है। इसलिये जिसके निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है उसकी मंद कषाय को उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है।- ऐसा निश्चय व्यवहार (मोक्षमार्ग का) स्वरूप है कि सच्चा निरूपण सो निश्चय और उपचार निरूपण सो व्यवहार है।

आत्मा की रुचि पूर्वक उसमें लीनता करने को मोक्षमार्ग कहना निश्चय है और उस साधक की भूमिका में आने वाले राग (शुभराग) को मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है। इसलिये मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से जानना; परन्तु एक निश्चय मोक्षमार्ग है और दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग है-इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।

देखो! यहाँ यह स्पष्ट कहा है कि निश्चय और व्यवहार-ऐसे दो प्रकार से जो मोक्षमार्ग का निरूपण है उसमें वास्तविक निश्चय मोक्षमार्ग वह एक ही मोक्षमार्ग है। इसी प्रकार उपादान और निमित्त ऐसे दो कारणों का जो निरूपण है उसमें भी उपादान कारण वह एक ही वास्तविक कारण है, निमित्त को कारण कहना तो उपचार है। अर्थात् वह वास्तव में कारण है ही नही। कार्य का वास्तविक कारण तो उपादान ही है, निमित्त तो वहाँ मात्र सहचारी है।

जैसे उपादान-निमित्त ऐसे दो कारण कहने पर भी वहाँ वास्तविक कारण एक ही है-इसी प्रकार निश्चय-व्यवहार ऐसे दो मोक्षमार्ग कहने पर भी वास्तविक मोक्षमार्ग तो निश्चय रत्नत्रयरूप वीतराग भाव ही है। राग तो बंधमार्ग ही है। राग मोक्षमार्ग है ही नहीं। तीनों काल में मुक्ति का एक ही मार्ग है। मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है; परन्तु मोक्षमार्ग का जो भाव है वह तो एक ही प्रकार का है। अर्थात् वीतरागभावरूप एक ही प्रकार का मोक्षमार्ग है और जो राग भाव है वह बंधमार्ग है, मोक्षमार्ग नही। इसप्रकार निश्चय मोक्षमार्ग को एक को ही सच्चा मोक्षमार्ग जानना चाहिये।

1. जिसको अन्तरंग में शुद्ध उपादान से मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है वहाँ व्यवहार रत्नत्रय के भाव को मोक्षमार्ग का निमित्त कहा जाता है।

2. मोक्षमार्ग के सहचारी अपेक्षा से व्यवहार को मोक्षमार्ग कहा; परन्तु वह सहचारी कब कहलाता है? कि जब साथ ही अंतर में निश्चय मोक्षमार्ग प्रगटा है तब साथ के व्यवहार को सहचारी कहा जाता है।

3. अंतर मे अनारोप वीतराग मोक्षमार्ग प्रगट हुआ तब राग में उसका उपचार करके व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है।

4. अंतर में निश्चय रत्नत्रयरूप भाव प्रगट हुआ है वह निश्चय मोक्षमार्ग है और वहाँ व्यवहार रत्नत्रय को व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा है।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार के स्वरूप को समझना चाहिये; परन्तु निश्चय और व्यवहार दोनो को समान ही मानने वाले को निश्चय-व्यवहार के स्वरूप का पता नहीं है।

निश्चय-व्यवहार दोनो का उपादेय माननेरूप मिथ्या मान्यता एवम् उसका समाधान

तथा निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है वह भी भ्रम है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है। कारण कि समयसार में ऐसा कहा है:-

"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिऊण सुद्धणउ।"

अर्थः- व्यवहार अभूतार्थ है, सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता, किसी अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है। तथा शुद्धनय जो निश्चय है, वह भूतार्थ है,जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा निरूपण करता है।

इस प्रकार इन दोनों का स्वरूप तो विरुद्धतासहित है।

वह निश्चय-व्यवहार दोनो को उपादेय मानता है सो यह भी भ्रम है; कारण कि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरूद्धता सहित है।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञाता है। उसकी रुचि हुई उस समय राग होता है वह निमित्त है; परन्तु उससे वीतरागता नहीं होती। साधकदशा में राग है ही नही-ऐसा नहीं है। अर्थात् निमित्त है ही नहीं-ऐसा नहीं है। निमित्त को बदलना नही है। निमित्त को आगे-पीछे करना स्वभाव में है ही नहीं। बाहर की क्रिया तो आत्मा के हाथ की बात है ही नहीं; परन्तु अशुभभाव छोड़कर शुभभाव करना भी पर्यायबुद्धि है-भ्रमबुद्धि है। वह आत्मवस्तु ज्ञायकस्वरूप है इस बात को नहीं मानता है।

निश्चय से सामायिक तो आत्मा में दृष्टिपूर्वक- तत्वज्ञान पूर्वक लीनता होना ही है, उस समय विकल्प- राग को व्यवहार सामायिक कहा जाता है। कोई कहे कि क्या तब सामायिक छोड़ देना चाहिये। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जिसको वस्तु के स्वभाव का पता नहीं है उसको सामायिक होती ही नहीं, तब सामायिक छोड़ देना क्या-यह बात ही नहीं रहती। इसलिये सर्वप्रथम सामायिक का स्वरूप समझना चाहिये।

सत् वस्तु को तो समझें नहीं और अन्य रास्ता पकड़ले तो धर्म नहीं होता है। ज्ञानी के पास निर्मानता पूर्वक स्वीकार करे कि हमारी अब तक की मानी हुई बात विपरीत थी, तभी यह बात समझ में आने योग्य है;

एक सेठ के यहाँ नोकरी के लिये कोई व्यक्ति गया, सेठ ने उससे पूछा कि तुमको व्यापार का सारा काम आता है? लेन-देन करना आता है और लेन-देन करके रूपये वसूल करना आता है अर्थात् हिसाब चुकाना आता है? यह जानने पर ही सब जाना कहलायेगा। उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि तुझे अभी तक की की हुई धारणा को रद्द करना आता हो, भूल स्वीकार करना आता हो तो नई वस्तु अन्दर में प्रविष्ट हो अर्थात् समझ में आये। अभी तक व्रतादि करके उन्हें धर्म मानकर मिथ्यात्व को घोंटता था वह श्रद्धान की भूल थी। सर्वप्रथम उस भूल को त्यागना चाहिये।

कर्म के कारण विकार होता है-यह मान्यता भी भूल थी ऐसा स्वीकार करना चाहिये। समयसार पढ़कर कहता है कि हम निश्चय को मानते हैं; परन्तु साथ ही साथ कर्म के कारण राग और राग से निश्चय रत्नत्रय होना मानते हैं तो ऐसी मान्यता वाले

को आत्मा शुद्ध ज्ञायक है ऐसी रुचि और स्वसन्मुखता कहाँ रही? मात्र धारणा की थी, जो कि भूलरूप है। जब तक अपनी ऐसी भूल को स्वीकार नहीं करे तब तक पात्रता भी नहीं है।

जिसको जन्म-मरण का अन्त करना हो उसको आत्मस्वरूप समझना चाहिये। जैसे ककड़ी की एक बेल में से अनेक बेलें फूटती हैं और सारे ही खेत में फैल जाती है। अब यदि उन बेलो का नाश करना हो तो सारी बेंलो की एक ही जड़ होती है उसको औजार से काट देने पर सारी बेलें सूख जाती है और यदि ऊपर से डाल या पत्ते काटे तो वे पुनः हरी-भरी हो जाती हैं। इसी प्रकार संसार का मूल एक मिथ्यादर्शन है। उसका अभाव करने पर संसाररूपी वृक्ष का अभाव हो जाता है। संसार का अभाव दया, दान, भक्ति, आदि के शुभभाव से नहीं होता; कारण कि शुभभाव तो स्वयं आस्रव और बंधतत्व है।

'पद्मनंदिपंचाविशंति' में आता है कि निश्चय रत्नत्रय का साधन शरीर है और शरीर आहार के निमित्त से टिकता है तथा आहार श्रावक देते हैं; इसलिये उपचार से ऐसा कथन करते हैं कि श्रावकों ने मोक्षमार्ग दिया। श्रावक को ऐसा भान होता है कि जो मुनि शुद्धात्मा की साधना कर रहे हैं उन्हें मैं कब आहारदान दूँ! धन्य भाग्य! हमारे आँगन में कल्पवृक्ष आया!!-इस प्रकार भक्ति से कहता है; तथापि वह समझता है कि आहार रत्नत्रय का साधन नहीं है; परन्तु व्यवहार से साधन कहा जाता है। ज्ञानी को भक्तिरूप राग और भाषा होते अवश्य है; परन्तु वे उसके कर्ता नही है; उस समय भी ज्ञानी को (यथार्थ वस्तुस्थिति का-आत्मा का) भान होता है। व्यवहार करना नही पड़ता, वह तो भूमिकानुसार आ जाता है। भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे; किन्तु वे भी भगवान आदिनाथ के निर्वाण के समय रूदन करते हुए कहते हैं कि हे नाथ आज भरतक्षेत्र का सूर्य अस्त हो गया! तब इन्द्र कहता है कि भरतजी! आप तो सम्यग्दृष्टि हो, फिर यह क्या? उन्हे तो आत्मा का भान है, तो भी कहते है कि प्रभो! आपका विरह हुआ; अब आपका उपदेश कहाँ से प्राप्त हो होगा? (ज्ञानी को राग की भूमिका मे ऐसा भाव सहज आ जाता है।)

श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव भी कहते हैं कि हे सीमंधर भगवान! इस भरतक्षेत्र में आपका विरह हुआ है! हे प्रभो! महाविदेहक्षेत्र में तो लाखों केवली विराजमान हैं; परन्तु इस भरतक्षेत्र में आपका विरह है। इस प्रकार आचार्यश्री को भगवान के विरह का दुःख लगता है। यह सब सहज ही होता है। ऐसा राग लाना नहीं पड़ता और न यह राग मोक्षमार्ग है-उपादेय है; उपादेय तो एक निश्चय ही है।

देखो! यहाँ पंचकल्याणक महोत्सव में नेमिनाथ भगवान के वैराग्य का वैराग्य प्रेरक दृश्य था। राजुल कहती है-हे नाथ! आप स्वरूप की साधना के लिये निकले हैं, मैं भी स्वरूप की साधना के लिये निकलती हूँ।-ऐसे दृश्य देखकर ज्ञानी को भी रोना आ जाता है; परन्तु वे समझते हैं कि ऐसा शुभराग भी अंगीकार करने योग्य नहीं है। कमजोरीवश होने वाला राग भी उपादेय नहीं है।

अनन्तबार जैन सम्प्रदाय में जन्मने पर भी निश्चय-व्यवहार की दो प्रकार की जिन आज्ञा है, उसके अर्थ के परिज्ञान बिना हम तो दोनो को मानते हैं- ऐसा मानकर अज्ञानी भ्रम में पड़ा हुआ है। (कारण कि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोध सहित है- इसका उसे पता नहीं है।

अज्ञानी राग रहित आत्मा के सिद्ध समान शुद्ध अनुभव को आदरणीय मानता है और जो राग-व्रत, तप, जप, पुण्यरूप है उसे भी आदरणीय मानता है वह भ्रम है। विकार आदरणीय नहीं हो सकता। दोनो ने विरोधता है। निश्चय से व्यवहार और व्यवहार से निश्चय का स्वरूप विरोध सहित है। रागादि परिणाम शुद्धता से विरूद्ध है और शुद्ध चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि और रमणता निश्चय मोक्षमार्ग है वह रागादि परिणामों से विरूद्ध है। इस प्रकार दोनो के स्वरूप में परस्पर विरोधता होने पर भी दोनो को अंगीकार करना भ्रम है।

जहाँ आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए वहाँ उत्पन्न होने वाले अनुकूल शुभराग के विकल्प को निमित्त की अपेक्षा से अनुकूल कहा जाता है; तथापि वह स्वरूप की अपेक्षा से तो विरूद्ध ही है। पुण्य-पाप से रहित (वीतरागी) दशा को

धर्म कहते हैं। अर्थात् मंद कषाय के परिणाम मुझे हितकर है-ऐसी प्रतीति-श्रद्धा अधर्म है और शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप की प्रतीति और स्थिरता धर्म है। राग रहित दशा धर्म है-मोक्षमार्ग है। राग उत्पन्न हुआ वह मोक्षमार्ग से विरूद्ध है। इस प्रकार दोनो विरोधी भावों को उपादेय मानना भ्रम है। मोक्षमार्ग अबंधभाव है और रागादि बंध भाव है-इस प्रकार दोनो में विरोध होने पर भी दोनो को आदरणीय-उपादेय मानना भ्रम है।

* स्वभाव के अवलम्बन से मोक्षमार्ग की दशा प्रगटने के काल में साधक के साथ ही साथ रागादि परिणाम सहचररूप होते हैं। इस कारण उनको अनुकूल कहा जाता है। वे निमित्त की अपेक्षा से अनुकूल है; क्योंकि साधक को अपनी भूमिका के योग्य राग होता है।

* आत्मा के आश्रय से प्रगट होने वाले निर्मल परिणाम को निश्चय मोक्षमार्ग और व्रतादि के राग को व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं।

* तथापि स्वरूप की अपेक्षा से दोनो के विरोधता ही है।

चतुर्थ गुणस्थान में जितना वीतरागभाव है वह आनन्द मार्ग है और जितने भक्ति आदि के परिणाम होते हैं वह आकुलता मार्ग है-बंध मार्ग है।

जो दो नयों के विषयों की खिचड़ी करता है उसका तो व्यवहार ज्ञान भी सच्चा नहीं है। अनन्तकाल बीत गया, अनन्त बार मनुष्य होकर द्रव्यलिंग धारण करके साधु हुआ; परन्तु कभी विवेक नहीं किया। भाई! अपूर्व पात्रता के बिना सत् समझमें नहीं आता। अभिप्राय में क्या अन्तर है-इसकी समझ नहीं की, निश्चय और व्यवहार किसको कहना यह पता नहीं है और विरूद्ध होने पर भी दोनो को उपादेय मानता है। (यही भ्रम है) श्री समयसार में भी ऐसा कहा है कि:

व्यवहारनय अभूतार्थ है, सत्य स्वरूप का निरूपण नहीं करता, किन्तु किसी अपेक्षा से उपचार से निरूपण करता है। तथा निश्चय-शुद्धनय है-भूतार्थ है; क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप का यथावत निरूपण करता है। व्यवहार सत् वस्तु का निरूपण

नहीं करता; परन्तु जैसा वस्तु का स्वरूप है उससे भिन्न निरूपण करता है। इसलिये व्यवहार उपादेय नहीं है। अज्ञानी व्यवहार को अंगीकार करने योग्य मानता है-इस कारण वह मूढ़ है।

व्यवहार अन्यथा कहता है। अर्थात् वह बंधमार्ग को मोक्षमार्ग कहता है। जो वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है उसको मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय तो जैसा स्वरूप है वैसा कहता है। जैसे भगवान ने मुझे तार दिया-यह व्यवहारनय का कथन है; वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। इसलिये व्यवहार को उपादेय मानना मिथ्यात्व है। ज्ञानी तो एकमात्र निश्चय को ही उपादेय मानते हैं।

अज्ञानी निश्चय और व्यवहार दोनो के स्वरूप को नहीं जानता होने से दोनो को उपादेय मानता है। आत्मा की शुद्ध पर्याय आत्मा के अवलम्बन से होती है वह मोक्षमार्ग है; परन्तु व्रत, तपादि (शुभराग) मोक्षमार्ग नहीं है-यह बात पूर्व में आ चुकी है।

समयसार में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है, अतः व्यवहार-राग-निमित्त है ही नहीं ऐसा नहीं है; परन्तु व्यवहार अभूतार्थ इसलिये है कि वह सत्य स्वरूप का कथन नहीं करता। व्रत, नियमादि (शुभभाव) मोक्षमार्ग नहीं होने पर भी व्यवहार उन्हें मोक्षमार्ग कहता है। जब तक अन्तर में राग क्या है, आत्मा क्या है, निमित्त क्या है-इत्यादि का यथार्थ ज्ञान नहीं किया जाता तब तक मोक्षमार्ग नहीं हो सकता है।

श्रीनियमसार श्लोक 194 में कहा है कि आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है-ऐसे भेद की जिसको दृष्टि है उसका मोक्ष होता है या नहीं यह कौन जाने ? अर्थात् उसका मोक्ष नहीं होता। अपूर्ण दशा में भेद-अभेद का विचार करने पर राग उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। केवली के पूर्ण ज्ञान है, इसलिये भेद-अभेद के ज्ञान मे राग नहीं होता। निचलीदशा में भी भेद का ज्ञान करना राग का कारण नहीं है; परन्तु भेद का विचार करने पर रागी को राग होता है। भेद के कारण राग होता हो तो केवली के भी राग हो; परन्तु ऐसा नहीं है। इसी ग्रन्थ में आगे कहा जायेगा कि अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि के भेद किये सो उसे भेदरूप ही नहीं मान लेना, भेद तो समझाने के

लिए है; परन्तु निश्चय से आत्मा तो अभेद ही है उसे जीव वस्तु मानना। वहाँ जो संज्ञा, संख्यादि से भेद कहे हैं वे कथनमात्र ही है, परमार्थ से भिन्न-भिन्न है नहीं-ऐसा ही श्रद्धान करना।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। उसमें गुण-पर्याय का भेद है अवश्य, परन्तु अभेद चैतन्य वस्तु की दृष्टि कराने के लिए ऐसा कहा है कि वस्तु को अभेद मानना चाहिये। इसलिये अरहन्त के मत में भेद से मुक्ति नहीं होती-ऐसा कहा है। भेद से मुक्ति होती है-ऐसा तो अज्ञानी मानता है। आत्मा असंख्य प्रदेशी, अनन्त गुणधाम है-उसी के अवलम्बन से मुक्ति होती है; परन्तु गुणभेद के आश्रय से मुक्ति नहीं होती है। इसलिये व्यवहार अभूतार्थ है अर्थात् आश्रय करने योग्य नहीं है-ऐसा कहा है।

निश्चय-व्यवहार परस्पर विरूद्ध प्रतिपादन करते हैं। व्यवहार झूठ (आरेपित) कथन करता है और निश्चय सत्य कथन करता है-इसलिये दोनो विरूद्ध हैं।

....तथा तू ऐसा मानता है कि सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभवन सो निश्चय और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति सो व्यवहार; सो तेरा ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि किसी द्रव्यभाव का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार-ऐसा नहीं है। एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है, उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्यद्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है। जैसे-मिट्टी के घड़े को मिट्टी घड़ा निरूपित किया जाय सो निश्चय और घृतसंयोग के उपचार से उसी को घृत का घड़ा कहा जाय सो व्यवहार। ऐसे ही अन्यत्र जानना।

इसलिये तू किसी को निश्चय माने और किसी को व्यवहार माने वह भ्रम है।....

अब कहते हैं कि तू ऐसा मानता है कि सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभव वह निश्चय और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति सो व्यवहार; परन्तु तेरी यह मान्यता ठीक नहीं है।

आत्मा की वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र वह निश्चय मोक्षमार्ग है। जब पर्याय पूर्ण शुद्ध होगी तब सिद्धदशा का अनुभव होगा। संसारी को सिद्ध समान अनुभव नहीं होता; तो भी वर्तमान में सिद्ध समान अनुभव को अज्ञानी निश्चय कहता है; परन्तु ऐसा नहीं है। और वह व्रत, तप आदि प्रवृत्ति का व्यवहार कहता है; परन्तुं कोई प्रवृत्ति व्यवहार नहीं है। व्रतादि के परिणामों को मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है; जबकि अज्ञानी प्रवृत्ति को व्यवहार मानता है; परन्तु ऐसा नहीं है।

निश्चय मोक्षमार्ग तो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता है तथा उस भूमिका में होने वाले शुभराग को मोक्षमार्ग मानना (कहना) व्यवहार है। दया, दान, भक्ति का राग तो मोक्षमार्ग से विरूद्ध बंधमार्ग है; परन्तु वह (निश्चय मोक्षमार्ग में) निमित्त है इसलिये उसे उपचार से मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है-ऐसा कहा है; परन्तु अज्ञानी तो बाहर की प्रवृत्ति और राग को व्यवहार कहता है; इसलिये उसको व्यवहार का पता नहीं है।

देखो! वर्तमान वीतरागी पर्याय प्रगटी हो उसे निश्चय कहते हैं। उसके बदले अज्ञानी सिद्ध समान शुद्ध पर्याय के अनुभव को निश्चय कहता है; परन्तु संसार दशा में सिद्धपना है नहीं; इसलिये यह बात तो मिथ्या हुई; अतः उसको निश्चय का भी पता नहीं है। उसने तो मात्र शास्त्र के दो शब्दों को पकड़ लिया है, परन्तु भाव को नही समझता है। इसलिये वह निश्चयाभासी है। तथा अज्ञानी व्रतादि की प्रवृत्ति को व्यवहार मानता है; परन्तु वह व्यवहार नहीं है; कारण कि किसी द्रव्य भाव का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार-ऐसा नहीं है; परन्तु एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना निश्चयनय है तथा उसी द्रव्य के भाव को उपचार से अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप निरूपित करना व्यवहारनय है।

अज्ञानी निश्चय-व्यवहार दो द्रव्यों में कहता है; परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। दृष्टान्त इस प्रकार है कि जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना निश्चय है और घी के संयोग से उपचार से उसी को घी का घड़ा कहना व्यवहार है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना।

इस प्रकार किसी को निश्चय मानना और किसी को व्यवहार मानना भ्रम है।

...तथा मेरे मानने में भी निश्चय-व्यवहार को परस्पर विरोध आया। यदि तू अपने को सिद्धसमान शुद्ध मानता है तो व्रतादिक किसलिये करता है? यदि व्रतादिक के साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमान में शुद्ध आत्मा का अनुभव मिथ्या हुआ।

इस प्रकार दोनो नयों के परस्पर विरोध है; इसलिये दोनों नयों का उपादेयपना नहीं बनता।...

तेरी मान्यता में भी निश्चय-व्यवहार के परस्पर विरोध आया। यदि तू अपने को वर्तमान पर्याय में सिद्ध मानता है तो व्रतादि का भाव किसलिये करता है; यदि वर्तमान में सिद्ध हो गया है तो फिर व्रत-तप का विकल्प क्यों आता है? सिद्ध को न तो एकाग्रता बढ़ाना है और न उन्हें व्रतादि विकल्प निमित्त होता है; इसलिये यदि तुझे वर्तमान में सिद्धदशा होवे तो व्रतादि किसलिये करता है? और यदि तू व्रतादि साधन से सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमान में सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभव मिथ्या सिद्ध हुआ। अर्थात् तू वर्तमान पर्याय में सिद्ध समान है-इस बात में विरोध आया। इस प्रकार दोनो नयों के परस्पर विरोध है। इसलिये दोनो नयों का उपादेयपना नहीं बनता।

....यहाँ प्रश्न है कि समयसारादि में शुद्धआत्मा के अनुभव को निश्चय कहा है; व्रत, तप, संयमादि को व्यवहार कहा है; उस प्रकार ही हम मानतेहैं?

समाधानः- शुद्ध आत्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है, इसलिये उसे निश्चय कहा। यहाँ स्वभाव से अभिन्न, परभाव से भिन्न-ऐसा 'शुद्ध' शब्द का अर्थ जानना। संसारी को सिद्ध मानना-ऐसा भ्रमरूप अर्थ 'शुद्ध' शब्द का नहीं जानना।

तथा व्रत, तप आदि मोक्षमार्ग है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार से इनको मोक्षमार्ग कहते हैं, इसलिये इन्हें व्यवहार कहा है।-इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपने से इनको निश्चय व्यवहार कहा है; सो ऐसा ही मानना। परन्तु यह

दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनो को उपादेय मानना; वह तो मिथ्याबुद्धि ही है।....

प्रश्नः- श्री समयसारादि शास्त्रों में शुद्ध आत्मा के अनुभव को निश्चय कहा है और व्रत,तप, संयमादि को व्यवहार कहा है और हम भी ऐसा ही मानते है?

उत्तरः- शुद्ध आत्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है-इस कारण उसको निश्चय कहा है; परन्तु वर्तमान (पर्याय) में सिद्धसमान अनुभव करना निश्चय नहीं है। (आत्मा) अकेला ज्ञायक चिदानन्द शुद्ध सामान्य है। उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता ही मोक्षमार्ग है-यह निश्चय बराबर है। वीतरागी अंश हुआ वह शुद्ध है और उसी को निश्चय कहा है। उस समय वर्तते राग को मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है। राग को-अशुद्धता को मोक्षमार्ग कहा, इसलिये अशुद्धता कहीं शुद्धता नहीं हो जाती, वह तो बंधमार्ग ही है; परन्तु व्यवहार से उसको मोक्षमार्ग कहा है।

तात्पर्य यह है कि शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूपी आत्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है; परन्तु मैं वर्तमान में सिद्धसमान शुद्ध हूँ-ऐसा अनुभव करना निश्चय नहीं है। इसलिये तू वर्तमान पर्याय में सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभव मानता है-ऐसा नहीं है।

अब कहते हैं कि शुद्ध आत्मा किसको कहना? शुद्ध शब्द का अर्थ यह है कि स्व भाव से अभिन्न और पर भाव से भिन्न। अर्थात् अपने गुण-पर्याय से अभिन्न और शरीर, कर्म, आदि पर द्रव्य और उनके भावों से भिन्न आत्मा है-इसका नाम शुद्ध है; परन्तु संसारी आत्मा को सिद्ध समान शुद्ध मानना ऐसा अर्थ शुद्ध शब्द का नहीं है।

शरीरादि की क्रिया तो मोक्षमार्ग नहीं है; परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, के परिणाम भी मोक्षमार्ग नहीं है; वे तो बंधमार्ग है। निश्चय से तो शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता होना मोक्षमार्ग है।

संसारी को सिद्ध मानने का नाम न तो शुद्ध आत्मा का अनुभव है और न निश्चय है।

इसी प्रकार व्रत, तपादि कोई मोक्षमार्ग नहीं है; परन्तु उनको निमित्तादि की अपेक्षा उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं; इस कारण उनको व्यवहार कहा है। इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपने द्वारा उनको निश्चय-व्यवहार नय कहा है-ऐसा न

मानकर दोनो सच्चे हैं और दोनो उपादेय हैं ऐसा नहीं मानना। जब आत्मा में शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है उस समय व्रत, तपादि के शुभपरिणाम भी होते हैं वह वस्तुतः तो बंधमार्ग है; परन्तु वह निश्चय मोक्षमार्ग में निमित्त होने से उसको मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है। **सिद्ध का अनुभव नहीं, शुद्ध का अनुभव निश्चय है** और व्रत, तपादि बंधमार्ग पर मोक्षमार्ग का उपचार करना व्यवहार है- ऐसा निश्चय- व्यवहार का स्वरूप है। जैसे मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना व्यवहार है। अर्थात् जो नहीं है वैसा कहना व्यवहार है। इसी प्रकार राग वास्तव में तो बंधमार्ग है; मोक्षमार्ग नहीं; परन्तु मोक्षमार्ग में निमित्त है इसलिये उसको मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है।

शरीरादि की क्रिया तो आत्मा की नही है; परन्तु आत्मा में होने वाली विकार की क्रिया भी वास्तव में आत्मा की क्रिया नहीं है। शुद्ध चैतन्य की रुचि, ज्ञान और रमणतारूप क्रिया ही आत्मा की शुद्ध क्रिया है। वह निश्चय मोक्षमार्ग की क्रिया है-इस प्रकार तीन प्रकार की क्रिया है।

देखो! लोगो ने निश्चय-व्यवहार की बात सुनी ही नहीं है, तो सुने बिना यथार्थ निर्णय कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। व्रत, तपादि की क्रिया बंधमार्ग है-यह बात भी लोगों ने सुनी नहीं है; तो फिर उस बंधमार्ग से भिन्न निश्चय मोक्षमार्ग की क्रिया की बात तो दुर्लभ हो गई है। वह निश्चय मोक्षमार्ग की क्रिया बंधमार्ग की क्रिया में से नहीं होती। आत्मा में शक्तिरूप शुद्धस्वभाव पड़ा है उसमें जो धर्म की क्रिया होती है-यह निश्चय है।

आत्मा में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत आनंद अनंतवीर्य आदि अनंत शक्तियां विद्यमान हैं, उसमें से पूर्ण ज्ञानानन्द प्रगट होता है। शक्ति में से व्यक्तरूप अवस्था होती है। शक्ति विद्यमान है उसको भजो! पर्याय की नहीं, राग की नहीं, निमित्त की नहीं; परन्तु शक्तिरूप आत्मा की भक्ति (श्रद्धा-ज्ञान-लीनता) करना मोक्षमार्ग है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने एक ब्राह्मण का दृष्टान्त दिया है कि एक ब्राह्मण ने निश्चय किया कि मुझे शक्ति को पूजना है; इसलिये वह किसमें अधिक शक्ति है यह विचार करने के लिये बैठा। चूहा कपड़े को काटता है इसलिये चूहे में अधिक शक्ति है, बिल्ली

चूहे का मार डालती है इसलिये इसकी शक्ति अधिक है, बिल्ली को कुत्ता मार देता है इसलिये इसकी शक्ति अधिक है, मेरी स्त्री कुत्ते को लकड़ी से मारकर भगा देती है, इसलिये स्त्री की शक्ति अधिक है और मेरी स्त्री से भी अधिक मेरी शक्ति है। अतः इसका ही पूजन होना चाहिये। इसी प्रकार शरीर, मन, वचन-वाणी में आत्मा की शक्ति नहीं है; क्योंकि वे तो पर हैं और आत्मा की पर्याय में पुण्य-पाप के भाव होते हैं उनमें भी केवलज्ञान प्रगट हो ऐसी शक्ति नहीं है और वर्तमान अपूर्ण पर्याय है उसमें भी पूर्ण होने की शक्ति नहीं है; परन्तु आत्मा त्रिकाल ध्रुव अनंत शक्तियों से परिपूर्ण है उसकी प्रतीति-ज्ञान और लीनता करने पर उसमें से केवलज्ञान प्रगट होता है। उसकी मान्यता (श्रद्धा) ज्ञान और लीनता निश्चय है। उस समय व्यवहार रत्नत्रय का परिणाम निमित्त है; उसको मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है।

अब कारण-कार्य में निश्चय व्यवहार कहते हैं:- आत्मा द्रव्य है वह निश्चय कारण है, इसमें से मोक्ष प्रगट होता है इसलिये निश्चय कारण तो द्रव्य है और मोक्ष कार्य है। इस प्रकार निश्चय कारण-कार्य है।

मोक्ष का यथार्थ कारण तो द्रव्य है और मोक्षमार्ग की पर्याय है उसको मोक्ष का कारण कहना व्यवहार है। उसको व्यवहार कारण क्यों कहा? मोक्षमार्ग का अभाव मोक्ष का कारण है और द्रव्य तो भावरूप कारण है। अतः अभावरूप कारण को भावरूप कारण कहना व्यवहार है और (भावरूप) आत्मा शुद्ध चिदानन्द ध्रुव है उसको मोक्ष का कारण कहना निश्चय है।

आत्मा क्या वस्तु है-यह निर्णय सर्वप्रथम करना चाहिये। जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी होने पर भी उसको पता नहीं है-विश्वास नहीं है; इसी प्रकार अज्ञानी को आत्मा में भरी हुई अनंत शक्तियों का विश्वास नहीं है। सर्वज्ञ परमात्मा नें तेरी आत्मा को अनन्त शक्ति से परिपूर्ण देखा है। उस शक्ति मे से मोक्ष की पर्याय होती है। इस कारण मोक्ष का निश्चय कारण तो द्रव्यस्वभाव है और आत्मा की रुचि, ज्ञान और रमणतारूप मोक्षमार्ग को मोक्ष का कारण कहना व्यवहार है। मोक्ष का यथार्थ कारण

मोक्षमार्ग नहीं; बल्कि द्रव्यस्वभाव मोक्ष का यथार्थ कारण है-ऐसा निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सर्वत्र समझना चाहिये।

अज्ञानी तो शरीर की क्रिया और शुभराग को मोक्षमार्ग मानता है; परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है।

आहार नही लिया, इसलिये शरीर सूख गया वह बंध की अथवा मोक्ष की क्रिया नहीं है; बल्कि जड़ की क्रिया है। आत्मा मे राग की क्रिया होती है वह बंधमार्ग है और राग रहित क्रिया मोक्षमार्ग की क्रिया है। बंधमार्ग है वह मोक्षमार्ग नहीं है; परन्तु उसमें मोक्षमार्ग का उपचार करना व्यवहार है। इसलिये किसी (द्रव्यभाव) को निश्चय मानना और किसी (द्रव्यभाव) को व्यवहार मानना भ्रम है।

लोक में भी लोग सोने की कीमत देते हैं; परन्तु उसमें रहे हुए तांबे की कीमत नही देते। उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा की रुचिपूर्वक जितना वीतराग शुद्धभाव हुआ है उसकी कीमत देते हैं; परन्तु जो व्रतादि का शुभराग होता है उसकी कीमत नहीं देते। शुभराग तो कथीर-तांबे के समान है, वह सोना नही है। सोना तो राग रहित शुद्ध चैतन्य की अवस्था हुई वह है। राग मोक्षमार्ग की क्रिया नहीं है वह तो कथीर-तांबा है।

जैसे निम्बौली (नीम का फल) कहीं नीलमणि नहीं है। बालकों के निम्बौली को नीलमणि मानने से वह नीलमणि नही हो जाती। अर्थात् कोई उसका मूल्य नहीं देगा। इसी प्रकार आत्मा में होने वाली राग पर्याय निम्बौली के समान है; अज्ञानी द्वारा उसे मोक्षमार्गरूप नीलमणि मान लेने से वह मोक्षमार्ग नहीं हो जाती। अर्थात् ज्ञानी उसका मूल्य नहीं देते-उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते। तात्पर्य यह है कि व्यवहार मोक्षमार्ग वस्तुतः बंधमार्ग है।

यहाँ पर बात चल रही है कि मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, एक ही है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता निश्चय मोक्षमार्ग है, उसमें बीच में (साधकदशा में) शुभभाव निमित्त है उसको व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा; परन्तु वह वास्तव में मोक्षमार्ग नही है।

निश्चय का श्रद्धान और व्यवहार की प्रवृत्तिरूप मिथ्यामान्यता और उसका समाधान

....वहाँ वह कहता है कि श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहार रूप रखते है; इस प्रकार हम दोनो को अंगीकार करते हैं।

सो ऐसा भी नहीं बनता; क्योंकि निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। एक ही नयका श्रद्धान होने से एकान्त मिथ्यात्व होता है। तथा प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है; वहाँ जिस द्रव्यकी परिणति हो उसको उसकी प्ररूपित करे सो निश्चयनय और उसही को अन्य द्रव्य की प्ररूपित करे सो व्यवहारनय;-ऐसे अभिप्रायानुसार प्ररूपण से उस प्रवृत्ति में दोनों नय बनते है; कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप है नही। इसलिये इस प्रकार भी दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।....

प्रश्नः- श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखते हैं-इस प्रकार हम दोनो नयों को अंगीकार करते हैं ?

उत्तरः- ऐसा भी नहीं बनता। कारण कि निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। इसलिये अज्ञानी निश्चय की श्रद्धा और व्यवहार की प्रवृत्ति को दोनो नयों का ग्रहण करना कहता है यह बात मिथ्या है। आत्मा की शुद्ध प्रतीति, उसका वेदन और लीनता-यह एक ही मोक्षमार्ग है। व्रतादि के शुभराग को मोक्षमार्ग मानना मिथ्यात्व है। तब अज्ञानी कहता है कि हम एक की (निश्चय की) श्रद्धा करते हैं और एक की (व्यवहार की) प्रवृत्ति करते हैं; तो उसकी यह बात मिथ्या है; क्योंकि श्रद्धा तो दोनो नयों की करना चाहिये। अर्थात् दोनो नय है ऐसा जानना चाहिये; परन्तु आदरणीय तो एक निश्चयनय ही है।

आत्मा में वीतराग परिणति होती है वह निश्चय है और रागादि की पर्याय है वह व्यवहार है। निश्चय की निश्चयरूप और व्यवहार की व्यवहाररूप श्रद्धा करना ही दोनो नयों का ग्रहण है; परन्तु एक नय को माने और एक नय को नहीं माने वह

तो एकान्त मिथ्यादृष्टि है। और व्यवहार से निश्चय में कुछ लाभ होता है-ऐसा मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि है।

अब कहते हैं कि प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन नहीं है; कारण कि प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है। सो वहाँ जिस द्रव्य की परिणति हो उसे उसी की प्ररूपित करे वह निश्चयनय है तथा उसे ही अन्य द्रव्य की प्ररूपित करे वह व्यवहारनय है। इस प्रकार अभिप्राय अनुसार प्ररूपण से उस प्रवृत्ति में दोनो नय बनते हैं; परन्तु कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप नहीं है।

जड़ की और राग की क्रिया को जानना व्यवहारनय है। मुनिराज के मोर पींछी आदि की क्रिया होती है वह जड़ की स्वतंत्र परिणति है। आत्मा उसे करता है यह कहना व्यवहारनय है; वस्तुतः आत्मा उसको नहीं कर सकता। मुनि निर्दोष आहार लेते हैं और सदोष आहार का त्याग करते हैं- ऐसा कहना व्यवहार है; परन्तु आत्मा व्यवहार से निर्दोष आहार को ग्रहण करता है और सदोष आहार को छोड़ता है-ऐसा नहीं हैं; मात्र ऐसा राग आता है। आत्मा कर्मो का बंध करता है और अभाव करता है-ऐसा कहना व्यवहारनय का कथन है; परन्तु वस्तुतः तो कर्म का बंध या अभाव जड़ की पर्याय है, आत्मा की नहीं। आत्मा उसको नहीं कर सकता; तो भी यह मानना कि आत्मा जड़ की प्रवृत्ति कर सकता है-यह तो एकान्त मिथ्यात्व है।

आत्मा में रुचिपूर्वक लीनता होने पर छठवें गुणस्थान में मंद कषायरूप परिणति होती है, उसमें समिति आदि के परिणाम होते हैं और उस समय शरीरादि की बाह्य क्रिया भी वैसी ही होती है वह जड़ द्रव्य की परिणति है। आत्मा उसको करता है- ऐसा कहना व्यवहारनय का कथन है, परन्तु आत्मा के भाव के कारण वह प्रवृत्ति होती है-ऐसा नहीं है। ज्ञानी स्वभाव की मुख्यता में राग और शरीरादि पर द्रव्य की परिणति का कर्ता नहीं है। वह तो ज्ञायक स्वभाव का (निर्मल भाव का) कर्ता है। जिसको ज्ञायक स्वभाव की मुख्यता वर्तती है उसको रागादि की मुख्यता नहीं होती।

शरीर के चलने, खाने, बोलने आदि की परिणति जड़ की परिणति है, आत्मा की नहीं। उस प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन नहीं है; परन्तु उस प्रवृत्ति को जड़ की होने

पर भी प्रयोजनवश आत्मा की कहना व्यवहारनय है और उसे जड़ की प्रवृत्ति कहना निश्चय है। प्रवृति करना व्यवहारनय से नहीं है, (प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है।) जो एक द्रव्य की क्रिया को दूसरे द्रव्य की क्रिया में मिलाता है उसको तो भिन्न-भिन्न द्रव्य की श्रद्धा भी नहीं है। अज्ञानी को इस बात का पता नहीं है; इसलिये यह बात सुनते ही उसको ऐसा लगता है कि हम सीधे रास्ते चले जाते थे, उसमें तुमने एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता-यह कहकर अड़चन डाल दी। अज्ञानी मानता है कि जड़ की प्रवृत्ति आत्मा से होती है; इसलिये वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा ने आहार किया अथवा आहार छोड़ा-यह व्यवहारनय का कथन है। भोजन के आने अथवा जाने को आत्मा नहीं कर सकता। वस्तुतः तो उस समय जड़ द्रव्य की उस प्रकार की क्रिया होना थी वही हुई है। आहार आना था किन्तु आत्मा के भाव के कारण नहीं आया-ऐसा भी नहीं है। पुद्गल द्रव्य की परिणति उसके अपने कारण से होती है-ऐसा जानना निश्चयनय है और उसे आत्मा ने कर दिया-ऐसा कहना व्यवहानय है। इस प्रकार अभिप्राय अनुसार प्ररूपण में दोनो नय बनते हैं; परन्तु कोई प्रवृत्ति ही तो नयरूप नहीं है।

समयसार में कहा है किः- निश्चय नयाश्रित मुनिवरों, प्राप्ति करे निर्वाण की।

वहाँ तो आत्मा की शुद्ध परिणति को अभेद करके कहा है; परन्तु यहाँ तो ऐसा कहना है कि भिन्न-भिन्न द्रव्यों की परिणति भिन्न-भिन्न ही है; तथापि एक की परिणति को अन्य की परिणति कहना व्यवहारनय है। पर की परिणति को आत्मा नहीं रखता; परन्तु आत्मा पर की परिणति को रखता है-ऐसा कहना व्यवहारनय है। इसलिये जैसा है वैसा समझना चाहिये। कथन करना व्यवहारनय है; परन्तु परिणाति व्यवहानय नहीं है-इस बात को यहाँ सिद्ध किया है। आत्मा जड़ की प्रवृत्ति में प्रवर्तता है-ऐसा कथन चरणानुयोग में आता है वह व्यवहारनय का कथन है; परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है।

कथन की पद्धति ऐसी होती है कि जड़ की परिणति से आत्मा की परिणति सुधरती है; क्योंकि किसी के ऐसी प्रवृत्ति में आत्मा की परिणति मंदकषायरूप होती है; इसलिये निमित्त का कथन है कि आत्मा वह प्रवृत्ति करता है। निश्चय से बाह्य

प्रवृत्ति तो जड़ की है और राग की परिणति आत्मा की है। अतः कथन में दो नय होते हैं; परन्तु प्रवृत्ति में नय नहीं है।

आत्मा के द्रव्य-गुण में तो विकार नहीं है और पर्याय में विकार है, तो वह कहाँ से आया ? तब कहते हैं कि कर्मो के कारण से आया है। अब यदि वहाँ ऐसा ही सत्य मान ले तो वह नय को नहीं समझता। कर्म की अवस्था पुद्गल की है-ऐसा कहना निश्चय है और उसे आत्मा ने की है-ऐसा कहना व्यवहारनय है। इस प्रकार दोनो नयों को जानना व्यवहारनय है। इस प्रकार दोनो नयों को जानना यथार्थ है; परन्तु दोनो नयों को आदरणीय मानना भ्रम है।

अज्ञानी कहता है कि हम तो दोनो नयों को मानते हैं; परन्तु उसे नयों के स्वरूप का पता नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति करनी पड़ती है, उसे रखते हैं वह व्यवहार है और आत्मा का लक्ष्य रखते हैं वह निश्चय है; परन्तु यह भ्रम है। शरीर, मन, वाणी की अवस्था जड़ की है, भगवान की प्रतिमा का आना-जाना जड़ की अवस्था है। वह अवस्था जड़ से होती है-ऐसा कहना निश्चय है। समकिती धर्मी जीव को साधकदशा में भगवान के प्रति राग आता है, वह राग जीव का है-यह निश्चय है और भगवान के कारण राग हुआ-यह कहना व्यवहार है। शास्त्र में कथन आता है कि जिसको शुद्धात्मा का प्रेम है उसको भगवान और प्रतिमा के प्रति राग आये बिना नही रहता; परन्तु उस राग का होना भगवान या प्रतिमा के कारण मानना मिथ्या है। वह परिणाम निज परिणति है। राग निश्चय से अपना है और भगवान से हुआ कहना व्यवहार है।

पर जीव बचता है वह पर की परिणति है और जीव के बचाने के राग से वह बचा-ऐसा कहना व्यवहार है; परन्तु शुभराग के कारण ही जीव बचा है-ऐसा मानना मिथ्यात्व है। ऐसी मान्यता वाले को जैन के व्यवहार का पता नही हैं। वह कहता है कि हमें दया का भाव आता है, इसलिये हम देखकर पैर धरते हैं। वहाँ पैर तो जड़ की पर्याय है वह निश्चय से जड़ परमाणुओं की अवस्था है; परन्तु अनुकंपा के

भाव के कारण पैर की अवस्था हुई और उसके कारण पर जीव बचा-ऐसा ही मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। वह निश्चय अथवा व्यवहार को नहीं जानता।

जीव को राग आया, इसलिये जड़ की अवस्था हुई यह व्यवहार का कथन है और जड़ की अवस्था जड़ के कारण होती है यह निश्चय है; परन्तु आत्मा के कारण जड़ की अवस्था हुई मानना मिथ्याभाव है।

यह शरीर परमाणुओं का पिण्ड है। इसकी दशा जड़ से होती है यह निश्चय है इस निश्चय का लक्ष्य रखकर निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कहा जाता है कि आत्मा के कारण शरीर चलता है।

भाई! किसको सत्य कहना और किसको असत्य कहना-यह बात तो सुन! आत्मा शरीर के साथ होने पर भी लकवा होने पर शरीर नहीं चलता है। किसी समय भाषा ठीक से नहीं बोली जा सकती है। भाषा, भाषा के कारण निकलती है-यह निश्चय है; परन्तु आत्मा की इच्छा का निमित्त है, इसलिये आत्मा के कारण भाषा बोली गई-ऐसा कथन किया जाता है। (यह व्यवहार है।) इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य की परिणति नहीं होती; तथापि ज्ञानी जीव को भगवान की पूजा, भक्ति का राग आये बिना नहीं रहता। ज्ञानी को राग आता ही नहीं-ऐसा मानने वाला भी अज्ञानी है और भगवान के कारण राग हुआ मानने वाला भी अज्ञानी है। तथा राग होने से धर्म होना मानना भी अज्ञान है।

पुस्तक के कारण ज्ञान हुआ-यह निमित्त का कथन है। मेरे राग के कारण पुस्तक ऊँची हुई-यह व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं, बल्कि कथनमात्र है। पुस्तक की क्रिया पुस्तक से हुई है यह निश्चय है और राग के कारण हुई कहना व्यवहार है।

हम निश्चय की श्रद्धा रखते हैं और व्यवहार से जड़ की प्रवृत्ति रखते हैं; इस प्रकार दोनो नयों का ग्रहण करते हैं-ऐसा अज्ञानी मानता है; इस प्रकार दोनो नयों का ग्रहण माननां मिथ्यात्व है।

....तो क्या करें? सो कहते हैं:-

निश्चयनय से जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।....

प्रश्न:- तो फिर क्या करना? अर्थात् नय मे किसप्रकार समझना?

उत्तर:- निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना। आत्मा खा सकता है, आत्मा कर्म बांधता है, आत्मा शरीर को चला सकता है-इत्यादि प्रकार की श्रद्धा को छोड़ना। पहले दोनो नयों का श्रद्धान करने के लिये कहा था, वहाँ तो दोनो नय है उन्हें जानना-यह आशय था। तथा यहाँ निश्चय को उपादेय और व्यवहार को हेय मानना, यह दोनो नयों का श्रद्धान है-ऐसा समझना, परन्तु निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो आदरणीय है-ऐसा नहीं है।

निश्चयनय से प्ररूपण किया हो कि आत्मा की पर्याय आत्मा से होती है और जड़ की पर्याय जड़ से होती है, तो ऐसा श्रद्धान करना और आत्मा जड़ की परिणति को करता है-ऐसा व्यवहारनय से कहा गया हो उसका श्रद्धान छोड़ना-यही दोनो नयों का श्रद्धान है।

शास्त्र में कथन आया हो कि मुनिराज को खड़े-खड़े करपात्र मे भोजन लेना चाहिये, भूमिशयन करना चाहिये, जमीन देखकर पैर रखना चाहिये-यह सब कथन व्यवहारनय का है। वस्तुतः आत्मा चल नहीं सकता, शरीर की नग्नदशा का कर्ता आत्मा नहीं है, न आत्मा पैर को धर सकता है; शरीरादि की जो क्रिया होती है उसको जानना व्यवहारनय है। इसलिये व्यवहारनय द्वारा किये गये कथन को मिथ्या जानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये।

वर्तमान में तत्व का लोप हो गया है। एक सम्प्रदाय ने व्यवहार को उड़ाया है। पूजा, भक्ति, जिनप्रतिमा को उड़ाया है और एक ने पूजा, भक्ति में धर्म मनाया है।

इस प्रकार दोनो मिथ्यादृष्टि है। 'गुरु बिना ज्ञान नहीं होता'- इस कथन का आशय यह समझना चाहिये कि जब अपनी पात्रता से ज्ञान होता है तब सच्चे गुरु का निमित्त होता है, यह बताने के लिये ऐसा कथन है; परन्तु गुरु के कारण ही ज्ञान मानना तो भ्रान्ति है। चारो अनुयोगों में जो कथन आता है वहाँ जिस द्रव्य की पर्याय हो उसे उस द्रव्य की कहना निश्चय है और अन्य के कारण हुई कहना व्यवहार है।

प्रश्नः- तो फिर निमित्त को जानने की आवश्यकता क्या है?

उत्तरः- ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। जगत में एक (ही) वस्तु नहीं है। जब जीव ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) प्राप्त करता है तब सच्चे गुरु निमित्तरूप होते हैं। स्व-पर प्रकाशक स्वभाव अपना है, पर के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान स्व को जानते हुए पर को जान लेता है।

आत्मा स्वयं से (अपनी क्रियावती शक्ति से) गति करता है यह निश्चय निरूपण है और धर्मास्तिकाय के कारण गति करता है यह व्यवहार निरूपण है। वस्तुतः धर्म द्रव्य के कारण आत्मा गति करता है-ऐसा मान ले तो यह भ्रान्ति है। व्यवहार के कथन का भरोसा-श्रद्धान छोड़ना चाहिये। व्यवहार के भरोसे आत्मा का जहाज तिरने वाला नहीं है।

....यही समयसार कलश में कहा है:-

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्त जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एवं निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यड् निश्चयमेकमेव परमं निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानधने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तों धृतिम् ॥१७३॥

अर्थः- क्योंकि सर्व ही हिंसादि व अहिंसादिमें अध्यवसाय है सो समस्त ही छोड़ना-ऐसा जिनदेवों ने कहा है। इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है सो सर्व ही छुड़ाया है। सन्त पुरुष एक परम् निश्चय ही को भले प्रकार निष्कम्परूप से अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनरूप निजमहिमा में स्थिति क्यों नही करते?....

भावार्थः- यहाँ व्यवहार का तो त्याग कराया है, इसलिये निश्चय को अंगीकार करके निजमहिमारूप प्रवर्तना युक्त है।

समयसार कलश 173 में भी यही कहा है कि-

जिससे समस्त हिंसादि व अहिंसादि में अध्यवसाय है वे समस्त ही छोड़ना-ऐसा श्री जिनदेव ने कहा है। इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह समस्त ही छुड़ाया है। तो सत्पुरुष एक निश्चय को ही भले प्रकार निष्कम्पपने अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनरूप अपनी महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते ?

मैंने परजीव की रक्षा की, मैंने भाषादि की क्रिया की, तथा वस्त्र, स्त्री, धनादिक के ग्रहण त्यागरूप क्रिया, जो कि जड़ की परिणति है उसे आत्मा करता है-ऐसे अध्यवसान को छोड़ना चाहिये।

मैंने पर की दया पालन की, सत्य बोला, ब्रह्मचर्य का पालन किया-यह सब अध्यवसान त्यागने योग्य है; क्योंकि यह सब जड़ की परिणति है, आत्मा की परिणति नहीं है। आत्मा जड़ परिग्रहादिक को नहीं छोड़ सकता। मेरे आत्मा से पर की हिंसा हुई, मैंने पर की दया का पालन किया इत्यादि मान्यता मिथ्यात्व है-पर में एकत्वबुद्धि है। निमित्त की परिणति पर से हुई है, ऐसा न मानकर अपने से हुई मानना मिथ्यात्वरूप अध्यवसान है और त्यागने योग्य है।

निमित्त के प्रति एकत्वबुद्धि छोड़ना चाहिये-ऐसा जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि में आया है। भगवान ने कहा है कि आत्मा को परद्रव्य में अर्थात् किसी भी पर आत्मा या पुद्गल में एकत्वबुद्धि नहीं करना चाहिये। इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सम्पूर्ण ही छुड़ाया है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार की रुचि ही मिथ्यात्व है। इसलिये सत्पुरुष को एक निश्चयनय को ही आदरणीय मानना चाहिये।

शास्त्र में व्यवहार का कथन किया हो वहाँ 'वास्तव में ऐसा नहीं हैं- ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की पर क्रिया आत्मा के शुभभाव के कारण हुई है-यह मान्यता भी छोड़ने योग्य है। कारण

कि आत्मा के सत् के कारण पर सत् नहीं है। मंद कषाय के कारण वस्त्र छूट गया यह मान्यता मिथ्यात्व है। तीव्र राग के कारण वस्त्र रहा यह मान्यता पर में एकत्वबुद्धि हैं। यह मिथ्यात्वरूपी अध्यवसान है। इसलिये त्रिलोकनाथ भगवान ने यह सब अध्यवसान छोडने योग्य कहें हैं।

देखो! इस श्लोक का अर्थ समयसार नाटक में इस प्रकार है-

असंख्यात लोक परवान जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहारभव केवली-उकत है।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक् दरस भायौ,
ते नियत-लीन विवहार सो मुकत है।।
निरविकल्प निरुपाधि आतमसमाधि,
साधि जे सुगुन मोखयपंथकौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप ह्वैकै,
धरम मैं धुके न करमसौं रुकत हैं।।

अर्थात्- असंख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्व भाव हैं वह सब व्यवहारभाव है। उनको आदरणीय मानने वाले को केवली भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है।

यहाँ तो व्यवहारभाव को ही मिथ्यात्व कहा है। अस्थिरता का भाव गौण है। अर्थात् व्यवहार का आग्रह है, व्यवहार की रुचि है वह मिथ्यात्व है। पर की जो भी पर्याय होती है वह मैं था तो हुई-ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। जहाँ व्यवहारभाव वहाँ मिथ्यात्वभाव और जहाँ मिथ्यात्वभाव वहाँ व्यवहारभाव-ऐसा कहा है। ज्ञानी को व्यवहारभाव नहीं है। देखो तो सही! यहाँ कड़क बात-परमसत्य बात लिखी है। ग्रंथकार ने व्यवहारभाव को मिथ्यात्व कहा है वह एकता बुद्धि का व्यवहार है। ज्ञानी को एकताबुद्धि का व्यवहार नहीं होता। वस्तुतः व्यवहार में एकत्वबुद्धि मानना ही मिथ्यात्व है। जिनेश्वर देव ने उस एकत्वबुद्धि को छुड़ाया है।

हिंसा-अहिंसादि में एकत्वबुद्धि करना मिथ्यात्व है। इसलिये मैं जानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह समस्त ही छुड़ाया है। तब सत्पुरुष एक निश्चय ही को

भले प्रकार निष्कंपपने अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनरूप अपनी महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते ? देखो! यहाँ पराश्रित व्यवहार सब ही छुडाया है इसमें सब आ जाता है। किसी भी पर में एकत्वबुद्धि करने योग्य नहीं है। भगवान है इसलिये ॐ ध्वनि है-ऐसा नहीं है। ॐ ध्वनि के कारण जीव समझते हैं- ऐसा नहीं है। भगवान है इसलिये शुभभाव होते हैं-ऐसा नहीं है। इसलिये धर्मात्मा तो निश्चयनय को अंगीकार करके एक शुद्ध आत्मा की ही महिमा करते हैं। अज्ञानी, जिसको कि व्यवहार बुद्धि है वह तो इस बात को नहीं समझते; परन्तु अहो सत्पुरुषों! तुम तो निश्चयनय को अंगीकार करो और स्वभाव की महिमा करो! क्योंकि भगवान ने व्यवहार को छुडाया है। जितना व्यवहार है उस सबकी एकत्वबुद्धि करने योग्य नहीं है। तथा निश्चय की मात्र बात ही करना-ऐसा भी नही है; परन्तु निश्चय को ज्यों का त्यों सम्यक्रीति से समझकर अंगीकार करना सम्यक्त्व है।

आठवें अधिकार में आता है कि भगवान ने मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है और हम भी उपदेश देते हैं-यह तो निमित्त का कथन है; परन्तु इसी प्रकार मानना नहीं चाहिये। यह मान्यता छोड़ने योग्य है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय नहीं कर सकता-यह बात रखकर शास्त्र के कथन का अर्थ करना चाहिये।-ऐसा निर्णय किये बिना इसके लिये व्यवहार के कथन भी सम्यक्प्रकार से लागू नहीं पड़ते।

आत्मा शुद्धज्ञानघन है-ऐसे स्वभाव की महिमा होने पर राग की महिमा नहीं रहती। निश्चय से तो राग अपना है; परन्तु पर की महिमा छूटने पर स्वभाव दृष्टि हुई तब राग मेरा स्वभाव नहीं है-ऐसा निर्णय हुआ-इस कारण राग नहीं रहता।

भाई! यह बात सरस है। स्वयं पात्र होकर समझे तो काम बनता है। भगवान की कृपा से भला होता है-ऐसा नहीं है।

इस प्रकार व्यवहार सब ही छुडाया है तो सत्पुरुष एक वास्तविक स्वरूप को ही भलीप्रकार अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनरूप अपनी महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते।

ऐसा कहकर आचार्य भगवान ने आश्चर्य व्यक्त किया है।

....तथा षटपाहुड़ में कहा है-

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥ (मोक्षपाहुड़)

अर्थः- व्यवहार में सोता है वह योगी अपने कार्य मे जागता है। तथा जो व्यवहार में जागता है वह अपने कार्य में सोता है।

इसलिये व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।....

संस्था की स्थापना करो, बाहर में प्रचार करो, शरीरादिक की क्रिया करो-इस प्रकार जो व्यवहार में जागृत हैं वे स्वभाव में सोते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव पर के कार्य में रुका है, वह अपने कार्य में सोता है। यहाँ के श्री जिनमन्दिर, समवसरण, स्वाध्याय मन्दिर, प्रवचन मंडप, मानस्तम्भ, ब्रह्मचर्याश्रम आदि को देखकर लोगो को ऐसा लगता है-ऐसे सब अपने यहाँ बनायें और बाहर में प्रभावना करें-इस प्रकार जिनकी बुद्धि बाह्य में हैं वे व्यवहार मे जागृत हैं और अपने कार्य में सोते हैं।

ज्ञानी तो समझते हैं कि पर की महिमा से आत्मा की महिमा नहीं है। आचार्य समन्तभद्र कहतें हैं कि अहो भगवान! आपकी महिमा इन समवसरणादि से नहीं है। आत्मा में प्रगट अनन्त चतुष्टय से आपकी महिमा है। इस प्रकार जो आत्मा की महिमा में जागृत हैं वे व्यवहार मे सोते हैं और अपने कार्य में जागृत है। अज्ञानी को पर को महिमा आती है; वस्तुतः उसको धर्म की महिमा नहीं है।

देखो! पण्डित टोडरमलजी ने शास्त्रानुसार अर्थ स्पष्ट किया है। व्यवहार में सोने का अर्थ क्या? चौथे, पांचवे, छठवें, गुणस्थान में भूमिकानुसार राग आता है, राग के निमित्त होते हैं; परन्तु उस ओर रुचि का झुकाव नहीं है, रुचि का झुकाव तो स्वभाव सन्मुख है-यही व्यवहार में सोना अथवा स्वरूप में जागना है। धर्मात्मा को भगवान के प्रति और जिनप्रतिमा के प्रति प्रेम होता है, जहाँ तक वीतरागभाव न हो

वहाँ तक शुभराग आता है; परन्तु उनको निमित्त अथवा शुभराग के प्रति उत्साह नहीं होता है, अपने स्वभाव के प्रति ही उत्साह होता है-इस कारण वे व्यवहार में होते हैं। तथा जो पुण्य परिणाम में और निमित्त में जागृत हैं अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय में एकाकार हो गये हैं वे अपने कार्य मे सोते हैं।

इसलिये व्यवहार का श्रद्धान छोड़कर निश्चय का श्रद्धान करना योग्य है।

....व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारणकार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिये उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नही मिलाता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिये उसका श्रद्धान करना।....

देखो! अब सिद्धान्त कहते हैं कि व्यवहारनय 1 स्वद्रव्य-परद्रव्य को 2 उनके भावों को, अथवा 3 कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये उसका श्रद्धान मिथ्या ही है। शरीर आत्मा का है, आत्मा के आठ कर्म है-इस प्रकार व्यवहारनय दो द्रव्यों को मिलाकर कथन करता है; परन्तु ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। इस कारण ऐसी श्रद्धा से मिथ्यात्व होता है; इसलिये व्यवहारनय का श्रद्धान करना योग्य नहीं है। दस प्राण आत्मा के ही होते हैं, जड़ के नहीं होते-ऐसे व्यवहार के कथन को सत्य मान लेना मिथ्यात्व है।

पुरूषार्थसिद्धि उपाय में कहा है कि पदार्थ का जैसा स्वभाव है उसका उसी प्रकार निरूपण करना निश्चय हैऔर जिस प्रकार असत्यवादी मनुष्य अनेक कल्पनायें करके अपने असत्य को तादृश कर दिखाता है; उसी प्रकार व्यवहारनय निमित्त का छल पाकर बढ़ा चढ़ा कर कथन करता है इसलिये वह छोडने योग्य है।

समयसार गाथा-12 में भी आया था कि जिस जिस काल में जो-जो राग आता है उसको जानना प्रयोजनवान है। पूर्णदशा न हो वहाँ तक राग आता है, उसक जानना व्यवहार है; परन्तु उसको आदरणीय मानना व्यवहार नहीं है। निश्चय एक अंश है और व्यवहार भी एक अंश है। इन दोनो का ज्ञान करना प्रमाण है। व्यवहारनय

को जानना प्रयोजनवान है; परन्तु उससे लाभ होता है-ऐसी श्रद्धा छोड़ना चाहिये। व्यवहार है ही नहीं-ऐसा माने तो एकान्त मिथ्यात्व होता है। व्यवहारनय स्वद्रव्य और परद्रव्य को मिलाकर कथन करता है, तदनुसार ही मान लेना मिथ्यात्व है। आलापपद्धति में नौ प्रकार के आरोप को व्यवहार कहा है।

1. द्रव्य में द्रव्य का आरोप।
2. गुण में गुण का आरोप।
3. पर्याय में पर्याय का आरोप।
4. द्रव्य में गुण का आरोप।
5. द्रव्य में पर्याय का आरोप।
6. गुण में द्रव्य का आरोप।
7. गुण में पर्याय का आरोप।
8. पर्याय में द्रव्य का आरोप।
9. पर्याय में गुण का अरोप करना यह सब व्यवहार है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:-

1. जीव को एकेन्द्रिय आदि शरीर वाला कहना द्रव्य में द्रव्य का आरोप है।
2. इन्द्रियों के निमित्त से ज्ञान होता है इसलिये ज्ञान को मूर्तिक कहना गुण का गुण में आरोप है।
3. शुद्ध जीव की पर्याय को जीव की पर्याय कहना पर्याय मे पर्याय का आरोप है।
4. ज्ञान में अजीव द्रव्य ज्ञात होता है, इसलिये उस द्रव्य में ज्ञान का आरोप करना अन्य द्रव्य में गुण का आरोप है। जैसे लकड़ी ज्ञान में ज्ञात होती है, इसलिये लकड़ी को ज्ञान कहना पर द्रव्य में गुण का आरोप है।
5. एक प्रदेशी पुद्गल परमाणु को द्वि-अणुकादि स्कंधो के सम्बन्ध से बहुप्रदेशी कहना द्रव्य में पर्याय का आरोप है।
6. ज्ञान को आत्मा कहना गुण में द्रव्य का आरोप है।

7. ज्ञानगुण को परिणमनशील ज्ञानगुण की पर्याय कहना गुण में पर्याय का आरोप है।
8. स्थूल स्कंध को पुद्गल द्रव्य कहना पर्याय मे द्रव्य का आरोप है तथा
9. उपयोगरूप पर्याय को ज्ञान कहना पर्याय में गुण का आरोप है।

इस प्रकार उपरोक्त नौ बोल में व्यवहार के समस्त बोल समाहित हो जाते हैं। यह व्यवहारनय के कथन हैं, इन्हे इसी अनुसार नहीं मानना चाहिये। विकार के कारण कर्म बंधन हुआ-यह व्यवहारनय का कथन है; परन्तु इसी प्रकार मान लेना मिथ्यात्व है।

देखो! यहाँ पण्डितजी ने व्यवहार की बहुत स्पष्टता की है। हमने पाठशाला खोलकर विद्यार्थियों को तैयार किया, जिनमन्दिरों का निर्माण कराया-यह सब व्यवहारनय का कथन है; परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। निमित्त की उपस्थिति का ज्ञान कराने के लिये शास्त्रों में ऐसे कथन किये जाते हैं। व्यवहारनय पदार्थों का असत्य कथन करता है, इसलिये वैसा ही नहीं मान लेना चाहिये। मानतुंगाचार्य ने भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से ताले तोड़ डाले, सीताजी के ब्रह्मचर्य से अग्नि जलरूप परिणमित हो गई, श्रीपालजी का कोढ़ गंधोदक से मिट गया, शान्तिनाथ भगवान शान्ति के कर्ता हैं-इत्यादि मानना मिथ्यात्व है; कारण कि कोई किसी की पर्याय को नहीं कर सकता; परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिए व्यवहारनय से ऐसे कथन किये जाते हैं।

तीर्थंकर भगवान ने अनन्त जीवों को तार दिया, यज्ञों में होने वाली पशु हिंसा को भगवान ने बंद करा दिया, भगवान ने धर्म तीर्थ की स्थापना की-यह सब कथन निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के हैं। इनको इसी प्रकार मान लेना मिथ्यात्व है। सत्य बात यह है कि भगवान ने तीर्थ की स्थापना नहीं की, न भगवान ने हिंसा बंद कराई और न अनन्त जीवों को तारा है; क्योंकि कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता।

शास्त्र में आता है कि संज्वलन कषाय का तीव्र उदय होने पर छठवां और मन्द उदय होने पर सातवां गुणस्थान होता है। यह निमित्त का कथन है; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। ज्ञानावरण कर्म ने ज्ञान को रोका-इस प्रकार व्यवहारनय किसी के

कारण-कार्य किसी में एकमेक करता है। पानी पीने से प्यास मिटी, भोजन करने से भूख शांत हुई और उससे आत्मा में शान्ति हुई-ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

शास्त्र में जहाँ-जहाँ व्यवहारनय का कथन आता है। अर्थात् द्रव्य में पर्याय का, द्रव्य में गुण का, द्रव्य में द्रव्य का आरोप इत्यादि का कथन आता है तो उस अनुसार ही श्रद्धा नहीं करना चाहिये। संसार की बातों में तो जीव बहुत चतुराई बताता है और यहाँ यह बात आने पर कहता है कि हमारी समझमें नहीं आता; तो इसका अर्थ यह है कि ऐसे जीव को धर्म की रुचि ही नहीं है। यदि सच्ची रुचि होतो यह बात समझमें आये बिना नहीं रहे। भाई! यह बात समझे बिना धर्म और शान्ति नहीं हो सकती। आत्मा को समझे बिना णमोकार मंत्र पढ़ते-पढ़ते देह छूट जाने पर भी उसको समाधिमरण नहीं कहा जा सकता। कदाचित शुभभाव हो तो पुण्य बंध होता है।

ऊँगलियों से लकड़ी ऊँची हुई-यह किसी का कारण-कार्य किसी में मिलाकर व्यवहारनय से कथन किया है; परन्तु वस्तुतः ऊँगलियों से लकड़ी ऊँची नहीं होती। ऊँगलियों से मुख में ग्रास जाता है-यह व्यवहारनय का कथन है। यथार्थ बात यह है कि आत्मा ऊँगलियों को हिला- चला नहीं सकता, चबाकर भोजन नहीं खा सकता, कारण कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु का स्पर्श ही नहीं कर सकती। आत्मा पुद्गल का स्पर्श ही नहीं करता। अतः आत्मा के कारण भोजन लिया जाता है-यह व्यवहारनय का कथन है। चक्की से आटा पिसता है-ऐसा मानना मिथ्यात्व है; क्योंकि चक्की और गेंहूँ में अन्योन्याभाव है। एक द्रव्य के कारण दूसरे द्रव्य का कार्य मानना मिथ्यात्व है।

शिक्षकों की सुन्दर व्यवस्था के कारण विद्यार्थी होशियार है, कवि सुन्दर काव्य बनाता है-ऐसा मानना मिथ्यात्व है। अज्ञानी लोग तो ऐसा ही मानते है, परन्तु ज्ञानी ऐसा नहीं मानते। निश्चयनय एक-दूसरे के अंश को एक-दूसरे में नहीं मिलाता-इस कारण ज्ञानी उसकी श्रद्धा करते हैं। निश्चयनय किसी को किसी में नहीं मिलाता; इसलिये ऐसा कहा है कि निश्चय की श्रद्धा करना चाहिये और व्यवहार की श्रद्धा छोड़ना चाहिये।

....यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनो नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

समाधानः- जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसे ही है"- ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे "ऐसे है नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है"-ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर "ऐसे भी है, ऐसे भी है"- इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनो नयों का ग्रहण करना नही कहा है।....

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनो नयों का ग्रहण करना किसलिये कहा है?

उत्तरः- जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' ऐसा जानना। द्रव्य-गुण-पर्याय स्वयं सिद्ध है उसे तो ऐसा ही सत्य है-ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहार की मुख्यता सहित व्याख्यान है उसको 'ऐसा है नहीं; परन्तु निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है- ऐसा जानना। कर्म से विकार हुआ (यह निमित्त की अपेक्षा किया गया उपचरित कथन है।)-ऐसा है ही नहीं। आगे आयेगा कि दर्शनमोह से मिथ्यात्व होता है, यह व्यवहार का कथन है; अतः इसको सत्य नहीं मान लेना चाहिये। शास्त्र में दो नयों से कथन आता है। एक नय (निश्चयनय) तो जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही कहता है और दूसरा नय (व्यवहारनय) जैसा स्वरूप है वैसा नहीं कहता; परन्तु निमित्तादि की अपेक्षा कथन करता है-ऐसा जानना।

जैसे घी का घड़ा कहा जाता है; परन्तु घड़ा घी का नहीं है। घी का संयोग बतलाने के लिये घी का घड़ा कहा जाता है। यह व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है; परन्तु यथार्थरूप से ऐसा नहीं है। ऐसा जानने का नाम ही दोनो नयों का ग्रहण हैं। राग होता है उसे जानना चाहिये, लेकिन राग मेरा है और वह आदरणीय है-ऐसा नहीं मानना चाहिये। शास्त्र में कथन आता है कि भगवान के दर्शन से अथवा देवऋद्धि

से सम्यग्दर्शन होता है, तो ऐसा मान नहीं लेना चाहिये। इस कथन के संदर्भ में यह जानना चाहिये कि यह निमित्त का कथन है-ऐसा जानना ही व्यवहारनय का ग्रहण है। निश्चयनय उपादेय है और व्यवहारनय हेय है- ऐसा जानना ही दोनों नयों का ग्रहण है; परन्तु दोनो अंगीकार करने योग्य है, इसका नाम दोनो नयों का ग्रहण नहीं है। यहाँ तो जानने का नाम ही ग्रहण कहा है।

आत्मा शुद्ध आनन्दकंद है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और लीनता को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। इस प्रकार जिनमार्ग में कही तो निश्चय की मुख्यता से व्याख्यान है उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है'- ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहार की मुख्यता से जप,व्रतादि को व्यवहार धर्म कहा हो तो उसका यह अर्थ समझना चाहिये कि जप, तपादि धर्म नहीं है; परन्तु उन्हें व्यवहार से धर्म कहा जाता है-इस प्रकार जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनो नयों का ग्रहण है। व्रत, तपादि परिणाम को व्यवहार से धर्म कहते हैं; परन्तु वस्तुतः वे परिणाम धर्म नहीं है। वहाँ अशुभ राग छूटता है और निमित्तादि छूटते हैं- इस अपेक्षा से व्यवहार धर्म कहा है; परन्तु वह वास्तविक धर्म नहीं है। शुद्ध चिदानन्द आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता ही एक मोक्षमार्ग है। व्रत, तपादि को व्यवहार धर्म कहने में आता है; परन्तु वस्तुतः वह पुण्य है-विकार है-अधर्म है। ***जिसको दृष्टि में व्यवहार का निषेध वर्तता है और शुद्ध स्वभाव की दृष्टि हुई है उसके पुण्य परिणाम को व्यवहार धर्म कहा जाता है।***

जिस प्रकार लौकिक में ननिहाल के किसी व्यक्ति विशेष को कहने मात्र के लिये मामा कहते हैं; परन्तु वह सच्चा मामा नहीं है, कहने मात्र को है। इसी प्रकार आत्मा की पर्याय मे होने वाले दया, दानादि के परिणाम को कहने मात्र के लिये धर्म कहा जाता है। जिस जीव को आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप निश्चय धर्म प्रगट हुआ हो उस जीव के शुभराग को व्यवहार धर्म कहा जाता है। इस प्रकार दोनो पक्षों को जानने का नाम दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है। व्यवहारनय को अंगीकार करने की बात नहीं है। जैसे घड़ा घी का नहीं, किन्तु मिट्टी का है; उसी प्रकार रागादिपरिणाम धर्म नहीं है, कथन मात्र के लिये है। इस प्रकार जानने का नाम

व्यवहारनय का ग्रहण करना कहा है। जहाँ व्यवहार की मुख्यता सहित व्याख्यान होता है वहाँ ऐसे है नहीं, परन्तु निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है-ऐसा जानना चाहिए। दोनो नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ मानकर भ्रमरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिये।

कोई कहे कि निश्चय से धर्म होता है और व्यवहार से भी धर्म होता है। अथवा निश्चय से निश्चय धर्म है और व्यवहार से व्यवहार धर्म है। अथवा किसी समय उपादान से कार्य होता है और किसी समय निमित्त से कार्य होता है। अथवा किसी समय ज्ञानावरणी कर्म से ज्ञान रुकता है और किसी समय अपने कारण से ज्ञान रुकता है, तो ऐसा मानना भ्रम है। वस्तुतः ज्ञानावरणी कर्म से ज्ञान नहीं रुकता, अन्तराय कर्म से वीर्य नहीं रुकता, मोहनीय कर्म से चारित्र नहीं रुकता। कर्म से ज्ञान इत्यादि रुकने के कथन सब निमित्त के कथन हैं।

गोम्मटसार में लिखा है कि घी-दूध रहित रूखे-सूखे आहार से वीर्य का घात होता है, तो यह निमित्त सापेक्ष कथन है। यदि बादाम-पिस्ता खिलाने से बुद्धि का विकास होता है तो भेंस का बादाम-पिस्ता खिलाने से उसकी बुद्धि का भी विकास होना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। निमित्त के कथनों का अर्थ समझना चाहिये। आत्मा में अपने कारण भावकर्म है उसमें द्रव्यकर्म निमित्त है और बाह्य पदार्थ नोकर्म हैं। इन सबका सम्बन्ध बतलाने के लिये ऐसा कथन किया जाता है।

जीव को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह-ऐसी चार संज्ञाये उत्पन्न होती हैं, उनमें कर्म निमित्त है। तथा शास्त्र में बाह्य नोकर्म को भी निमित्त बताते हैं। आहार देखने से अथवा पेट खाली हो तब आहार संज्ञा होती है-श्मशान के स्थान से भय संज्ञा होती है-ऐसा कथन आता है वह नोकर्म बताने के लिये है। वस्तुतः तो आहारादि संज्ञा स्वयं के कारण होती है तो अन्य पदार्थ को निमित्त कहा जाता है।

देखों! श्मशान में कोई व्यक्ति अकेला जाये तो बहुत भय लगता है, दो व्यक्ति साथ जायें तो कम भय लगता है और तीन-चार व्यक्ति हथियार सहित जायें तो

अत्यन्त कम भय लगता है; इसलिये वहाँ निमित्त का प्रभाव पड़ता है-ऐसा अज्ञानी कहते हैं; परन्तु ये सब बातें मिथ्या हैं। भय के परिणाम कम-ज्यादा होते हैं वे अपने कारण होते हैं। हथियार आदि के कारण भय कम नहीं होता-ऐसा जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि परिणाम अपनी योग्यता के अनुसार होते हैं, उन पर निमित्त का प्रभाव बिलकुल नहीं होता।

आत्मा में राग की उत्पत्ति नहीं होना ही सच्ची अहिंसा है और राग की मंदता को अहिंसा कहना कथन मात्र अहिंसा हैं। पाँच महाव्रतों में पहिला अहिंसा महाव्रत है वह कथन मात्र है। वस्तुतः ये (महाव्रतादि) सब राग के परिणाम हैं। निश्चय से तो वह (रागादि परिणाम) हिंसा है; तथापि उसकी अहिंसा कहना उपचार मात्र है।

राग रहित दशा को निश्चय महाव्रत कहते हैं। मंद रागादि परिणाम 'कथन मात्र' महाव्रत है। अज्ञानी तो जड़ की क्रिया में महाव्रत मानता है और समझे बिना दीक्षा ले लेता है। उससे अनन्त संसार की वृद्धि होती है।

इसलिये दोनो नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है'-ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तने को तो दोनो नयों का ग्रहण करना कहा नहीं है।

....फिर प्रश्न है कि यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिये दिया? एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था।

समाधानः- ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है:-

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं॥८॥

अर्थः- जिस प्रकार अनार्य म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिये व्यवहार का उपदेश है।

तथा इसी सूत्र की व्याख्या मे ऐसा कहा है कि ''व्यवहारनयों नानुसर्त्तव्य"।

इसका अर्थ है:- इस निश्चय को अंगीकार करने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते है; परन्तु व्यवहारनय है सो अंगीकार करने योग्य नहीं है।....

अब शिष्य **प्रश्न** करता है कि यदि व्यवहारनय असत्य है तो वीतरागमार्ग में उसका निरूपण किसलिये किया? एकमात्र निश्चय का ही निरूपण करना था। व्यवहारनय एक द्रव्य के भाव को दूसरे में मिलाकर निरूपण करता है, तो ऐसे कथन का प्रयोजन क्या है?

समाधान:- ऐसा तर्क समयसार गाथा-8 में किया है। वहाँ उत्तर दिया है कि जैसे अनार्य अर्थात् म्लेच्छजन को अनार्य भाषा के बिना कोई भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने में समर्थ नहीं है; उसी प्रकार कोई भी व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करनें में समर्थ नहीं है।

देखो, पंडित टोडरमलजी इस मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ में मुनियों के सूत्रों (गाथाओं) का आधार देते हैं। वे कहते हैं कि हम हमारे घर की बात नहीं कहते; परन्तु वीतरागी भावलिंगी संत भी ऐसा ही कहते हैं। पंडित टोडरमलजी, बनारसीदासजी आदि सत्य वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं।

चौथे, पांचवें, छठवें और तेरहवें गुणस्थान वाले जीवों की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है, चारित्र में अन्तर, है। अतः पण्डितजी आवश्यकतानुसार समयसार, तत्वार्थ सूत्र, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्रों का आधार देते हैं।

निश्चय मोक्षमार्ग सच्चा है। वीतरागी पर्याय सच्चा धर्म है। देखकर चलना, मृदु भाषा बोलना इत्यादि वास्तविक समिति नहीं है। शास्त्र में कथन आता है कि मुनियों को ईर्या समिति के अनुसार देखकर चलना चाहिये। तो ऐसा उपदेश क्यों दिया? इसका समाधान यह है कि व्यवहार के बिना परमार्थ को नहीं समझाया जा सकता।

जैसे अनार्य 'स्वास्ति' शब्द का अर्थ नहीं समझ सकता; परन्तु यदि उसकी भाषा में स्वस्ति का अर्थ समझावो कि 'तेरा अविनाशी कल्याण हो'- तो वह जीव समझ सकता है। इसी प्रकार व्यवहार का उपदेश है। जैसे म्लेच्छ भाषा में समझना चाहिये;

परन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिये। इसी प्रकार व्यवहार से समझाया जाता है; परन्तु व्यवहार को निश्चय नहीं मानना चाहिये। आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र-ऐसे भेद करके समझाते हैं; परन्तु वे कथनमात्र हैं। वास्तव में आत्मा में ऐसे भेद नहीं है, वह तो अभेद है। अज्ञानी के मन में व्यवहार रम रहा है; इसलिये व्यवहार की भाषा में आत्मा का स्वरूप कहते हैं; परन्तु वैसा वस्तु का स्वरूप नहीं हैं।

आशय यह है कि व्यवहार का उपदेश उसको अंगीकार कराने के लिये नहीं करते हैं; परन्तु व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिये व्यवहार का उपदेश है। इसी गाथा की व्याख्या मे ऐसा कहा है कि-इस प्रकार निश्चय को अंगीकार कराने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं। पांच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुणादि व्यवहारनय का विषय है; किन्तु वह अंगीकार करने योग्य नहीं है। (अर्थात् उसे वास्तविक धर्म मानने योग्य नहीं है।)

...प्रश्नः- व्यवहार बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता? और व्यवहारनय कैसे अंगीकार नहीं करना? सो कहिए।

समाधानः- निश्चय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावो से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; जो उसे नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें तब तो वे समझ नहीं पायें। इसलिये उनको व्यवहारनय से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीव के विशेष किये-तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीव की पहिचान हुई।

अथवा अभेद वस्तुमें भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के विशेष किये, तब जानने वाला जीव है, देखने वाला जीव है;-इत्यादि प्रकार सहित उनको जीव की पहिचान हुई।

तथा निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है; उसे जो नहीं पहिचानते उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नही पायें। तब उनको व्यवहारनय से, तत्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील,

संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये; तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई।

इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहार बिना निश्चय के उपदेश का न होना जानना।....

प्रश्नः- व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश नहीं हो सकता; तो व्यवहारनय को अंगीकार क्यों नहीं करना वह कहो?

उत्तरः- यहाँ दूसरे प्रकार से कथन है। समयसार में आत्मवस्तु को अभेदरूप परमार्थ कहा है और उसके पर्यायादि भेदों को व्यवहार कहा है। (समयसार मे) एकरूप अभेद आत्मा की दृष्टि कराने के लिये अपनी पर्याय के भेद को गौण करके व्यवहार कहा है। जबकि यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक में पर द्रव्यों से भिन्न और स्वभावों से अभिन्न वस्तु कहा है। यहाँ अपनी पर्याय अपने में ली है। (वस्तु) अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न है-ऐसा यहाँ कहा हैं।

यहाँ स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय को निश्चय कहा है और शरीर, कर्म, निमित्त, आदि को व्यवहार कहा है। वस्तु है वह पर द्रव्य से भिन्न है और अपने स्वभाव से अभिन्न है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय अपने कारण स्वयं सिद्ध है- विकारी या अविकारी पर्याय स्वयं- सिद्ध है। यहाँ विकारी पर्याय सहित द्रव्य को निश्चय कहा है और जड़ की पर्याय को व्यवहार कहा है।

श्री समयसार की गाथा-14 में व्यंजनपर्याय तथा अर्थपर्याय को भी व्यवहार कहा है। यहाँ उसको अभिन्न वस्तु में लिया है।-इस प्रकार कथन की अपेक्षा समझनी चाहिये।

1. जो आत्मा को नहीं पहिचानता हो उसे ऐसे ही कहते रहें (कि आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयं सिद्ध वस्तु है) तो वह समझ नहीं सकता। तब उसको समझाने के लिये व्यवहारनय से शरीरादि पर्याय की सापेक्षता से बतलाते हैं। अर्थात् यह एकेन्द्रिय जीव है, यह मनुष्य जीव

है-ऐसा कहते हैं। पंचेन्द्रिय जीव के दस प्राण हैं-इस प्रकार शरीरादि पर द्रव्यों की सापेक्षता से नर, नारकी, पृथ्वीकायादि जीव के भेद किये हैं। जड़ की अपेक्षा लेकर जीव की पहिचान कराने के लिये शरीर को जीव कह देते हैं।

*जो आत्मा को नहीं समझता और जिसने निमित्त से सम्बन्ध रहित आत्मा को नहीं देखा, दस प्राण के सम्बन्ध रहित, इन्द्रियों के सम्बन्ध रहित आत्मा को नहीं देखा उसको शरीरादि सहित जीव की पहिचान कराते हैं।

2. अब अन्दर के व्यवहार से जीव की पहिचान कराते हैं। अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के भेद किये। यह जानने वाला जीव है, यह देखने वाला जीव है, यह वीर्यवाला जीव है। इस प्रकार भेद से जीव की पहिचान कराते हैं।

*समयसार, गाथा -7 में कहा है कि पर्याय में भेद है, परन्तु वस्तु को मुख्य कराने के लिये पर्याय के भेदो को गौण करके व्यवहार कहते हैं। इसलिये भेद अवस्तु है। अपनी पर्याय में भेद है; परन्तु रागी जीव को भेद के लक्ष्य से राग होता है-इस कारण भेद को गौण करके अभेद को मुख्य करके भेद को अवस्तु कहा है।

यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक में भेद को स्वयंसिद्ध वस्तु मे गिना है और भेद से समझाते है।

अब तीसरा बोल बताते हैं:-

3. राग रहित स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र मोक्षमार्ग है, पंचमहाव्रतादि के परिणाम मोक्षमार्ग नहीं है। लाखों रूपये दान में देने से धर्म नहीं है; परन्तु यदि उसमें कषाय की मंदता हो तो पुण्य है, धर्म नहीं। पैसा पाप नहीं

है; परन्तु पैसे को अपना मानना पाप है। पैसा जानेरूप क्रिया पुण्य नहीं है; परन्तुं कषाय की मंदता के परिणाम पुण्य है। वह पुण्य परिणाम मोक्षमार्ग नहीं है। वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। परन्तु अज्ञानी जीव वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है'इतना कहने से नहीं समझता है-इस कारण उसको व्यवहारनय से समझाते हैं।

यहाँ लिखा हुआ 'व्यवहारनय'शब्द तत्वार्थ श्रद्धान-ज्ञान पूर्वक के साथ लागु नहीं पड़ता। तत्वार्थ श्रद्धान- ज्ञान तो निश्चय है, व्यवहार नही। जिसको तत्वार्थ श्रद्धान-ज्ञानरूप निश्चय प्रगट होता है उसको व्यवहारनय से परद्रव्य का निमित्त से मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रतादि के भेद बताते हैं। वीतरागी चारित्र मोक्षमार्ग है-ऐसा अज्ञानी नहीं समझता, इसलिये व्यवहार से समझाते हैं। अपने में अशुभराग मिटता है और शुभराग होता है। उस शुभराग के व्रत, शील आदि भेद बताकर वीतरागभाव की पहिचान कराते हैं। जिसको निश्चय तत्वार्थ श्रद्धान-ज्ञान हुआ है, उसको जो वीतरागभाव प्रगट होता है उस वीतरागभाव को व्रत, शील, संयमादि के भेदों द्वारा समझाते हैं; क्योंकि अज्ञानी वीतरागभाव इतना कहने मात्र से नहीं समझता है।

यह मोक्षमार्गप्रकाशक है। मोक्षमार्ग माने क्या? आत्मा की पर्याय में राग-द्वेष-अज्ञानभावरूप विकार है वह संसार है और उस विकार से रहित पूर्ण निर्मल ज्ञानानन्दशा का प्रगट होना मोक्ष है और उस मोक्ष का कारण मोक्षमार्ग है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता मोक्षमार्ग हैं। आत्मा पर जीव का जीवन अथवा मरण नहीं कर सकता और दया आदि का शुभभाव होता है वह भी वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनो वीतरागभावरूप हैं। मेरा आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूपी है-ऐसी वीतरागी श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। मैं पर का भला-बुरा कर सकता हूँ-ऐसी मान्यता अज्ञान है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। उसको जो नहीं पहिचानता उसे व्यवहारनय से व्रत आदि के भेद करके समझाया है। व्यवहार श्रद्धा वह कोई मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतराग रत्नत्रय ही है; परन्तु उसे भेद करके समझाया है।

जीवादि सातों तत्व भिन्न-भिन्न जैसे है वैसे उनकी श्रद्धा करना, सातों तत्वों के भाव का यथार्थ भासन होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। यथार्थ तत्वश्रद्धा और ज्ञानपूर्वक जो वीतरागभाव हुआ वह मोक्षमार्ग है। ज्ञानानन्द स्वरूप का भान हुआ और विकार होता है वह मेरे स्वभाव के लिए व्यर्थ है तथा जड़ की क्रिया मेरे लिये साधक या बाधक नहीं है-ऐसे श्रद्धा-ज्ञान सहित होने वाला वीतरागभाव मोक्षमार्ग है; परन्तु जो जीव ऐसे भाव को नहीं पहिचानता उसको व्रतादि भेद करके समझाने का नाम व्यवहार है।

मोक्षमार्गरूप वीतरागभाव तो एक ही प्रकार का है; तथापि अनेक प्रकारो से उसका कथन करना व्यवहार है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र भी मोक्षमार्ग है। व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है; परन्तु जो निश्चय मोक्षमार्ग है उसका स्वरूप समझाने के लिये व्यवहार से भेद करके कहा है।

रागादि मोक्षमार्ग नही है। पैसा खर्च करने से धर्म नहीं हो जाता, न पैसे से पुण्य ही होता है। पैसा खर्च करने में मंद कषाय हो तो पुण्य है। धर्म तो अलग ही चीज़ है।

मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। आत्मा की परमआनन्द दशा प्रगट होना मोक्ष है। मोक्ष आत्मा में होता है और उसका उपाय भी आत्मा का वीतरागभाव है तथा वह वीतरागभाव एक ही प्रकार का है; परन्तु जो उसको नहीं समझता उसको निमित्त से व्रतादिक के अनेक भेद करके समझाया है। पहले स्त्री, व्यापारादिक को अशुभ परिणामों का निमित्त बनाता था, परन्तु आत्मा के भान पूर्वक आंशिक वीतरागता होने से हिंसा आदि के अमुक निमित्त छूट गये; वहाँ निमित्त छूटने की अपेक्षा से अहिंसा, सत्यादि भेद करके समझाया है। तथापि वहाँ जो व्रत का शुभराग है वह कहीं वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है; मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। हिंसाभाव छूटा वहां हिंसा के निमित्त भी छूट गये। राग-द्वेष के समय स्त्री आदि निमित्त थे, वीतरागभाव होने पर वे निमित्त

छूट गये; इसलिये उन निमितों के छूटने की अपेक्षा से ब्रह्मचर्यादि व्रतों को उपचार से मोक्षमार्ग कहकर वीतरागभाव की पहिचान कराई है; परन्तु वास्तव में व्रतादिक का शुभभाव वह कहीं वीतरागभाव नहीं है।

अज्ञानी लोग कहते हैं कि अनासक्तिभाव से जगत के कार्य करना चाहिये; परन्तु यह बात मिथ्या है। वस्तुतः आत्मा पर का कार्य कर ही नहीं सकता; तथापि में उन्हें करता हूँ-ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है। अज्ञानी मानता है कि जड़ इन्द्रियों को जीतना चाहिये; परन्तु उसकी यह बात झूठ है। इन्द्रियां जड़ है उन्हें क्या जीतना? परन्तु अन्दर में आत्मा का भान होने पर इन्द्रियों की ओर का झुकाव छूटा वहाँ इन्द्रियों का निमित्त भी छूट गया; इस कारण इन्द्रियों को जीता-ऐसा कहा जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-पूर्वक भूमिकानुसार वीतरागभाव हुआ वह मोक्षमार्ग है और उस भूमिका में व्रतादि का शुभभाव भी होता है। जहाँ वीतरागभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है वहाँ व्रतादि भेदों को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है; परन्तु जिसको वीतराग मोक्षमार्ग ही प्रगट नहीं हुआ है उसके अकेले राग को तो उपचार से भी मोक्षमार्ग नहीं कहते। यहाँ तो जिसको तत्व की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुए उस जीव की बात है। निश्चय श्रद्धा-ज्ञान के बिना तो मोक्षमार्ग का अंश भी नहीं होता।

मुनि को चैतन्य की निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-पूर्वक उसमें लीनता से ऐसा वीतरागभाव हुआ कि हिंसा, चोरी, परिग्रहादि का अशुभभाव होता ही नहीं, वहाँ अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, आदि भेद करके उसे समझाया है; परन्तु वहाँ मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। वह वीतरागभाव एक ही प्रकार का है। राग और निमित्त छूटने की अपेक्षा से पांचव्रत आदि भेदो से मोक्षमार्ग का-वीतरागभाव का कथन करके समझाया है। इसलिये यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है वह समझना चाहिये। शरीर की क्रिया बराबर होवे तो धर्म होता है-ऐसा अज्ञानी मानता हैं; परन्तु शरीर की क्रिया में कहीं धर्म नहीं है। कोई महा वीतरागी मुनिराज हो और शरीर में लकवा हो गया हो तो, वहाँ शरीर से वंदनादि की क्रिया नही होने पर भी अन्तर में आत्मा के अवलम्बन से निश्चयश्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव विद्यमान है वह मोक्षमार्ग है। मुनि की दशा दिगम्बर होती है उनको वस्त्र

का राग होता ही नहीं। यद्यपि उनके 28 मूलगुण होते हैं, परन्तु 28 मूलगुणों का शुभराग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो अन्तर स्वरूप के आश्रय से हुआ वीतरागभाग है। पंचमहाव्रत के विकल्पों के समय उसमें भूमिका के योग्य वीतराग भाव है वही मोक्षमार्ग है।

जड़ पदार्थ जगत के स्वतन्त्र तत्व हैं। आहार आना या नहीं आना जड़ की क्रिया है, आत्मा की क्रिया नहीं। अज्ञानी जीव आत्मा के भान के बिना जड़ की क्रिया का अभिमान करता है, उसको मोक्षमार्ग का पता नहीं है।

निश्चय का उपदेश करते हुए बीच में भेदरूप व्यवहार से कथन आये बिना नहीं रहता। निश्चय मोक्षमार्ग तो एक ही प्रकार का है; परन्तु उसको समझाने के लिये भेद करके समझाया है। 'बोले उसको दो मिले'-इसी प्रकार निश्चय का उपदेश करते समय व्यवहार बीच में आये बिना नहीं रहता। इस संदर्भ में एक दृष्टान्त आता है कि चाचा और भतीजे के बीच में पांच लड्डू थे। वहाँ दोनो झगड़ पड़े और दोनो ने निर्णय किया कि जो बोलेगा उसे दो और नहीं बोलने वाले को तीन लड्डू मिलेंगे।

फिर दोनो चुप होकर लेट गये। लोगों ने समझा कि ये दोनो मर गये हैं, इसलिये उन्हें जलाने के लिये श्मशान में ले गये और जलाने की तैयारी करने लगे। यह सब देखकर भतीजे से नहीं रहा गया और वह बोला कि-काका उठो! तीन तुम्हारे और दो मेरे। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव चिदानन्द है। उसमें निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता करना मोक्षमार्ग है। उस भूमिका में उत्पन्न होने वाला विकल्प राग है। उपदेश का विकल्प उत्पन्न हुआ वहाँ निश्चय श्रद्धा और ज्ञानरूप दो लड्डू रहे; परन्तु निर्विकल्प रमणतारूप तीसरा लड्डू गंवा दिया इसलिये कहा है कि 'बोले उसके दो'...। और निर्विकल्परूप से चैतन्य में एकाग्र हुआ वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो की एकतारूप मुक्तिमार्ग है। शास्त्र में जहाँ व्यवहार से कथन किया हो वहाँ उसी से चिपटा रहे और उसका परमार्थ नहीं समझे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है।

(अब कहते हैं कि व्यवहारनय को क्यों अंगीकार नहीं करना चाहिये।)

....तथा यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्यायही को जीव कहा, सो पर्यायही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसहीको जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं-ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हे भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उसही को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं,- ऐसा ही श्रद्धान करना है।

तथा परद्रव्य का निमित्त मिटाने की अपेक्षा व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्त्ता हो जाये। परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के अधीन है नहीं; इसलिये आत्मा अपने भाव रागादिक हैं उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिये निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है, इसलिये व्रतादि को मोक्षमार्ग कहे सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है-ऐसा ही श्रद्धान करना।

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय का अंगीकार नहीं करना ऐसा जान लेना।....

1. (व्यवहारनय) से नर, नारकादि शरीर को जीव कहा है कि नरक का जीव, देव का जीव-इत्यादि। वहाँ वस्तुतः शरीर जीव नहीं है;परन्तु अज्ञानी शरीर रहित अकेले जीव को नहीं पहिचानता-इस कारण उसको समझाने के लिये शरीर के निमित्त से कथन करके जीव की पहिचान कराते हैं; परन्तु वहाँ शरीर को ही जीव नहीं मान लेना। शरीर तो जड़ है। शरीर और जीव के संयोग की अपेक्षा से यह कथन किया है कि यह एकेन्द्रिय जीव, यह नरक का जीव इत्यादि; परन्तु वास्तव में वहाँ जीव

तो एकेन्द्रिय आदि शरीर से भिन्न ही है। जिसको प्रथक् जीव का लक्ष्य नहीं है उसको समझाने के लिये संयोग की अपेक्षा से कथन करके जीव की पहिचान कराई है। यद्यपि शरीर की सापेक्षता से जीव का कथन किया है, तथापि शरीर जीव नहीं हो जाता है। अज्ञानी ने कभी शरीर से रहित अकेला आत्मा देखा नहीं है-इस कारण उसको समझाने के लिये (शरीर की सापेक्षता के) उपचार से कथन किया है वह व्यवहार है। चींटी के शरीर की अपेक्षा से 'चींटी जीव'- ऐसा कहा जाता है; परन्तु यह कथनमात्र है। वस्तुतः चींटी का शरीर जीव नहीं है, जीव शरीर से भिन्न है। जीव का शरीर तो ज्ञान है। 'ज्ञान विग्रह' वह आत्मा का शरीर है। भगवान आत्मा चैतन्य चमत्कार स्वरूप है; परन्तु वह इस मृतक कलेवर स्वरूप जड़ शरीर में मूर्छित हो गया है। जीवित दशा में भी शरीर तो मृतक कलेवर ही है। श्री समयसार की गाथा-96 में कहा है कि भगवान आत्मा तो परम अमृतरूप विज्ञानघन है और शरीर तो जड़ मृतक कलेवर है; परन्तु भिन्न चैतन्य को चूककर 'मैं शरीर ही हूँ, मेरे से शरीर की क्रिया होती है'-ऐसी मान्यता से मृतक कलेवर में मूर्छित हुआ है। उस अज्ञानी को आत्मा शरीर से भिन्न भासित नहीं होता।

निश्चय से आत्मा तो विज्ञानघन है। शरीर के संयोग से जीव का कथन किया वह व्यवहार है; परन्तु वहाँ जीव को शरीर वाला ही मान लेने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है।

अरे जीव! शरीर तो मुर्दा है और तू तो चैतन्यघन है। इसलिये मैं शरीर को चलाता हूँ-ऐसा मृतक कलेवर में अपनेपन का अभिमान छोड़ दे! शरीर तो मृतक कलेवर है, अतः वह तेरे धर्म का साधन नहीं है। तेरा आत्मा अमृत पिंड विज्ञानघन है वही तेरे धर्म का साधन है। व्यवहारनय से शरीर को जीव कहा है, वहाँ यह समझना कि जीव तो विज्ञानघन है और शरीर जड़ है। जीव शरीर से भिन्न है।

2. व्यवहारनय का दूसरा प्रकार यह है कि वह अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि के भेद करके कथन करता है। परन्तु वहाँ वास्तव में आत्मा तो अभेद-एक है। जानता है वह आत्मा, श्रद्धा करता है वह आत्मा, आनन्द वह आत्मा-इस प्रकार भिन्न-भिन्न

गुणों के माध्यम से आत्मा की पहिचान कराई है; परन्तु वहाँ आत्मा कोई अलग-अलग नहीं है। आत्मा तो समस्त गुणों का अभेद पिण्ड है। समझाने के लिये अनेक भेद करके कहा है; परन्तु निश्चय से आत्मा अभेद है वही जीव वस्तु है-ऐसा समझना। विश्वास करने वाला कौन है? शरीर, पैसा, स्त्री इत्यादि का विश्वास करता है वह कौन है? कि आत्मा अपने श्रद्धा गुण से विश्वास करता है; इसलिये श्रद्धा करता है वह आत्मा है। तो हे भाई! जैसे तू अपने श्रद्धा गुण से पर का विश्वास करता है, उसी प्रकार श्रद्धा को अन्तर्मुख करके अपने आत्मा की श्रद्धा कर!-इस प्रकार समझाया है; परन्तु वहाँ कोई श्रद्धा और आत्मा में भेद नहीं है; तो भी समझानें के लिये कथन में भेद आता है।

पहले तो ऐसा कहा कि शरीरादि परवस्तु को जीव कहना यह उपचार मात्र है। वस्तुतः जीव वैसा नहीं है, जीव तो शरीर से भिन्न है। इसी प्रकार गुणभेद से समझाया है; परन्तु वस्तु तो गुण-पर्यायों का एक पिण्ड है। इसलिये भेद से ही वस्तु की श्रद्धा नहीं करना; परन्तु अभेद वस्तु की श्रद्धा करना। पर से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न-इस प्रकार जीव की पहिचान कराई है। अब व्यवहार का तीसरा प्रकार कहते हैं। व्रतादि भेदों को मोक्षमार्ग कहा, वहाँ वास्तव में वे मोक्षमार्ग नहीं है। वास्तविक मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है-यह बात अब कहते हैं।

यहाँ यह बात चल रही है कि शास्त्रों में व्यवहारनय से जो कथन किये हैं उनका क्या अर्थ है।

3 जैसे शरीर को जीव कहना उपचार से ही है; वैसे ही मोक्षमार्ग को अनेक भेदों से समझाया है; वहाँ भी वास्तविक मोक्षमार्ग तो एक ही प्रकार का है। पांच महाव्रत, शील, संयमादि भेदो को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ उन्हें वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं मानना। वीतरागभाव होने पर वस्त्रादि निमित्त और राग छूटा है-इस अपेक्षा से मोक्षमार्ग को अनेक भेदो से समझाया है। व्रतादि का शुभभाव मोक्षमार्ग नहीं होने पर भी उसे मोक्षमार्ग कहना कथनमात्र है। मुनि वन-जंगल में गये और वस्त्र इत्यादि को छोड़ा, छह काय की हिंसा का त्याग किया-ऐसा कथन भी उपचार से है; कारण कि

आत्मा पर द्रव्य को कहाँ छोड़ सकता है? राग छूटने पर वस्त्रादि छोड़े-ऐसा कहा जाता है-यह कथन निमित्त की अपेक्षा से है।

आत्मा कभी एक परमाणु मात्र को भी नहीं छोड़ सकता। ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा की दृष्टि और उसमें एकाग्रता होने पर वीतराग भाव प्रगट हुआ वह तो निश्चय से मोक्षमार्ग है और वहाँ हिंसादि का निमित्त छूटा-इस अपेक्षा से अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत कहे हैं वे निश्चय से मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो एक (वीतराग भाव) ही है, तो भी समझाने के लिये उसका अनेक भेदों से निरूपण किया वह व्यवहार है। निश्चय तो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है और व्यवहार तो आरोप है अर्थात् यथार्थ स्वरूप वैसा नहीं है। चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबन्धी का अभाव है। अतः वहाँ उसको मद्य, माँस, मधु आदि के ग्रहण का भाव होता ही नहीं है; अतः वैसा निमित्त भी नहीं होता है। इस कारण वहाँ जीव ने माँस भक्षण आदि अभक्ष्य का त्याग किया-ऐसा कथन व्यवहार से है; कारण कि पर द्रव्य तो भिन्न ही है; परन्तु उस जाति का भाव छूटने पर निमित्त भी छूट जाता है।

ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य द्रव्य के आश्रय से ही मोक्षमार्ग होता है। मेरा मोक्षमार्ग राग के अथवा निमित्त के आधार से नहीं है-ऐसी प्रतीति जिसको नहीं है वह जीव वास्तव में दिगम्बर श्रद्धा वाला नहीं है। व्यवहार करते-करते निश्चय हो जायेगा-ऐसी मान्यता वाला दिगम्बरमत की श्रद्धा वाला नहीं, परन्तु मिथ्यादृष्टि है। आत्मा पर द्रव्य को छोड़ता है-ऐसा कहना कथन मात्र है। वीतरागभाव होने पर राग के निमित्त छूटने की अपेक्षा से अहिंसादि व्रतों को मोक्षमार्ग कहा है।

आत्मा ने सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को ग्रहण किया और कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को छोड़ा-यह भी उपचार से है। वस्तुतः तो आत्मा की पहिचान होने पर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का शुभभाव आया और कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु के सेवन का मिथ्यात्व छूट गया। अतः आत्मा ने उसे छोड़ा-ऐसा कहना व्यवहार मात्र है। पर को कौन छोड़ सकता है और कौन ग्रहण कर सकता है?

जब स्वरूप में लीन हुआ और सच्चे देव-शास्त्र और गुरु का लक्ष्य भी छूट गया तो वहाँ निमित्त का लक्ष्य छूटने की अपेक्षा से देव-शास्त्र-गुरु को भी छोड़ा-ऐसा कहा जाता है। पर द्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा कथन किया है कि हिंसा को छोड़कर पर जीव की अहिंसा को ग्रहण किया; असत्य छोड़ा और सत्य को ग्रहण किया; चोरी छोड़कर अचौर्य को ग्रहण किया; परिग्रह को छोड़कर दिगम्बर दशा ग्रहण की; अब्रह्म छोड़कर ब्रह्मचर्य को ग्रहण किया; परन्तु वहाँ ऐसा समझना कि आत्मा के स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागभाव होने पर उस-उस प्रकार का राग छूट गया। वस्तुतः तो राग को छोड़ना-यह भी व्यवहार से है; क्योंकि जो राग हुआ है उसको उसी समय छोड़ना क्या ? और दूसरे समय तो उस राग का व्यय हो ही जाता है। इसलिये वास्तव में तो (आत्मा के) राग का भी ग्रहण-त्याग नहीं है; परन्तु स्वभाव में एकाग्रता द्वारा वीतरागभाव प्रगट होने पर राग को छोड़ा-ऐसा कहा जाता है और राग छूटने पर हिंसादि के निमित्त छोड़े-ऐसा भी उपचार से कहा जाता है। पंच महाव्रतादि का शुभराग होने पर हिंसादिरूप अशुभभाव छूटा है; परन्तु वहाँ वह शुभरागरूप संयमादि अथवा व्रत वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है। छह काय के जीवों की दया का भाव वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है। इस वीतरागभाव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र समाहित हो जाते हैं।

पर द्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से व्रत, तप आदि को मोक्षमार्ग कहा है सो वहाँ उसे ही मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; परन्तु यह तो व्यवहार से कथन है-ऐसा समझना। कारण कि यदि पर द्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तब तो आत्मा पर द्रव्य का कर्ता-हर्ता हो; परन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। किसी द्रव्य की क्रिया किसी अन्य द्रव्य के आधीन नहीं है। जो यह मानता है कि मैं शरीर को चलाता हूँ वह मिथ्यादृष्टि है। शरीर की ऊँगली चलना या भाषा बोला जाना जीव की क्रिया नहीं है, न जीव ने वह क्रिया की है; तो भी जो यह मानता है कि वह क्रिया मेरे से हुई है तो ऐसी मान्यता वाला जैन नहीं है। उसको नौ तत्वों की श्रद्धा नहीं है। ऊँगली की क्रिया आत्मा के आधीन नहीं है। सिर के बालों के केशलोंच की क्रिया

ऊँगली के आधीन नहीं है और आत्मा के आधीन ऊँगली की क्रिया नहीं है। किसी द्रव्य की क्रिया किसी अन्य द्रव्य के आधीन नहीं है। बाहर का त्याग तो मोक्षमार्ग नहीं है और अन्दर में व्रतादि का शुभभाव भी मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। (आत्मा) स्वभाव सन्मुख हुआ वहाँ राग छूटा और वीतराग हुआ; इसलिये स्वभाव सन्मुख होना ही मोक्षमार्ग है। आत्मा ने न तो पहले पर द्रव्य का ग्रहण किया था और न वीतराग होने पर उसने पर द्रव्य का त्याग किया है। पर द्रव्य तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं।

अज्ञानी को सच्ची समझ कठिन लगती है और मुनिपना सरल लगता है; परन्तु अरे भाई! आत्मा के भान बिना मुनिपना हो ही कैसे सकता है? यह जीव सम्यग्दर्शन के बिना अनन्तबार मुनिपना धारण करके स्वर्ग में गया है; परन्तु यथार्थ मोक्षमार्ग क्या है-इसकी समझ अन्तर में नहीं की है।

आत्मा में जो अशुद्धता है उसे मिटाने का उपाय बाह्य क्रिया है तथा शुद्ध पर्याय की उत्पत्ति का कारण देव-गुरु आदि निमित्त है-इस प्रकार अज्ञानी जीव अशुद्धता और शुद्धता दोनो पर्यायें पर से मानता है। शुद्धता का उत्पाद भी पर से और अशुद्धता का व्यय भी पर से माना, इसलिये आत्मा तो उत्पाद, व्यय रहित मात्र ध्रुव रह गया; परन्तु यह श्रद्धा ही मिथ्या है। चिदानन्द ध्रुव स्वभाव की दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन का उत्पाद और मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। यही शुद्धता प्रगट करने और अशुद्धता के अभाव करने की क्रिया है। अशुद्धता न तो बाह्य क्रिया से मिटती है और न शुभभाव अशुद्धता मिटाने का कारण है। शुभराग तो पुण्य बंध का कारण है। उस भाव से आत्मा बंधता है। वहाँ अज्ञानी उसे मोक्ष का कारण मानता है। शुभराग से हमको पुण्य बंध तो होगा न!-इस प्रकार जिसको पुण्य बंध की रुचि है उसको अबंध आत्मस्वभाव का अनादर है। निश्चय से आत्मा का वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है और व्रतादि को मोक्षमार्ग कहना तो उपचार ही है।

वीतरागभाव के तथा व्रतादिक के 'कदाचित्' कार्य- कारणपना है। वीतरागभाव वर्तता हो, प्रमादभाव न हो और कदाचित् शरीर के निमित्त से किसी जीव की हिंसा

हो जाए, वहाँ कार्य कारणपना नहीं है; इसलिये वीतरागभाव और बाह्य व्रतादिक में कदाचित् सम्बन्ध कहा है। मुनि छठवें गुणस्थान में हो और कोई उन्हें उठाकर पानी में डुबों दे, तो वहाँ शरीर के निमित्त से पानी के जीवों की हिंसा होगी; परन्तु मुनिराज उसके निमित्त नहीं हैं, वे तो निर्मल ध्यान की श्रेणी मांडकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। तथा वीतरागभाव में एकाग्र हुआ वहाँ व्रतादिक का शुभ विकल्प भी नहीं है। ज्ञानी को पूजा- भक्ति का भाव आवे, पैरों में घूंघरू बांधकर ताण्डव नृत्य करे; परन्तु वह समझता है कि यह भक्ति का भाव आया है वह मेरे कारण है और नृत्य रूप शरीर की क्रिया जड़ की है, उसमें मेरा मोक्षमार्ग नहीं है। मेरा मोक्षमार्ग तो मेरे स्वभाव के अवलम्बन से ही है।

इन्द्र ने राजा ऋषभदेव की सभा में नीलांजना देवी का नृत्य कराया और नृत्य करते-करते उसकी आयु पूर्ण हो गई। इस प्रसंग को देखकर भगवान (राज अवस्था में) ऋषभदेव वैराग्य को प्राप्त हुए; परन्तु वे वैराग्य को स्वयं के कारण प्राप्त हुए हैं। यदि निमित्त के कारण वैराग्य को प्राप्त हुए होते तो नृत्य देखने वाले अन्य सब वैराग्य को प्राप्त क्यों नहीं हुए?

तथा हनुमानजी खिरते हुए तारे को देखकर वैराग्य को प्राप्त हुए। वहाँ तारा खिरना तो निमित्तमात्र है; वास्तव में स्वयं ने अन्तर में वैसा वीतरागभाव प्रगट किया तब बाह्य वस्तु को निमित्त कारण कहा। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में व्रतादिक को निमित्त कारण कहना भी निमित्त से है, वह नियमरूप नहीं है; परन्तु कभी-कभी व्रतादिक के और मोक्षमार्ग के निमित्त-नैमित्तिकपना होता है।

अज्ञानी जीव आत्मा के भान बिना व्रतादिक के शुभभाव के प्रवर्तता हो और उसके बाह्य व्रतादिक की क्रिया हो; परन्तु वे कोई उसको मोक्षमार्ग के कारण नहीं होते। इसका कारण यह है कि जहाँ मोक्षमार्ग हो वहाँ व्रतादिक हो उनको निमित्त-व्यवहारनय से मोक्षमार्ग कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहना कथन मात्र है। इस प्रकारः-

1. नर-नारकादि शरीर को जीव कहना संयोग का कथन है।
2. आत्मवस्तु अभेद है, उसमें ज्ञान-दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणों का भेद करके कथन करना भी उपचार कथन है, वस्तु तो एक ही है।
3. वीतरागभाव मोक्षमार्ग है, उसके बदले व्रतादि शुभराग को मोक्षमार्ग कहना उपचार से कथन मात्र है।

इस प्रकार व्यवहार कथन के तीन दृष्टान्त दिये है। तदनुसार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

'धर्मास्तिकाय अभावात्' अलोकाकाश में धर्म द्रव्य का अभाव होने से सिद्ध जीव लोक के आगे नहीं जाते-यह कथन भी उपचार मात्र है। वस्तुतः तो सिद्ध भगवान की क्रियावती शक्ति की पर्याय की उतनी ही गमनरूप योग्यता है- ऐसा समझना चाहिये।

गुरु के निमित्त से ज्ञान हुआ, वहाँ अहो गुरु! आपके चरण कमल के प्रसाद से मैं भव सागर से पार हो गया-ऐसा महामुनि भी विनय से कहते हैं; परन्तु यह भी उपचार कथन है। स्वयं स्वलक्ष्य से पार हुआ तब विनय पूर्वक गुरु से कहता है कि "हे नाथ! आपने मुझे तार दिया! मैं आपके प्रताप से भवसागर से पार हो गया!"-इस प्रकार शास्त्र में जहाँ-जहाँ व्यवहारनय के कथन आवें वहाँ-वहाँ उनका यथार्थ आशय समझना चाहिये, परन्तु व्यवहार कथन को ही सत्य नहीं मान लेना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय पर द्रव्य के संयोग और निमित्तादि की अपेक्षा से वर्णन करता है, इसलिये व्यवहारनय को अंगीकार नहीं करना चाहिये।

....यहाँ प्रश्न है कि व्यवहारनय पर को उपदेश में ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है?

समाधानः- आप भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचाने तब तक व्यवहारमार्ग से वस्तु का निश्चय करे; इसलिये निचली दशा में अपने

को भी व्यवहारनय कार्यकारी है; परन्तु व्यवहारको उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी हो; परन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर वस्तु इस प्रकार ही है-ऐसा श्रद्धान करे तो उलटा अकार्यकारी हो जाये।

यही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है:-

अबुधस्य बोधतार्थ मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हिं तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

अर्थः- मुनिराज अज्ञानी को समझाने के लिये असत्यार्थ जो व्यवहारनय उसका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहारही को जानता है, उसे उपदेश ही देना योग्य नहीं है। तथा जैसे कोई सच्चे सिंह को न जाने उसे बिलाव ही सिंह है; उसी प्रकार जो निश्चयको नहीं जाने उसके व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता है।....

यहाँ प्रश्न पूछा है कि व्यवहारनय पर को उपदेश देने में ही कार्यकारी है या अपना भी कुछ प्रयोजन साधता है?

उत्तरः- पर को उपदेश देने में व्यवहारनय आता है यह बात तो की, अब अपने लिये भी वह कार्यकारी है या नहीं यह बात करते हैं।

चैतन्यवस्तु देहादिक से भिन्न है और अपने गुणों से अभेद है; परन्तु देह के संयोग से एकेन्द्रिय जीव, पंचेन्द्रिय जीव इत्यादि कहकर व्यवहारनय से जीव की पहिचान कराते हैं। जीव चैतन्य स्वरूप है, देह से भिन्न है-ऐसा कहने पर कोई अज्ञानी जीव ऐसा समझ जावे कि ऐसे तो सिद्ध भगवान ही हैं, इसलिये वे ही जीव हैं और मैं तो शरीरवान हूँ; तो वह परमार्थ को नहीं समझता। व्यवहार से कथन करके भी लक्ष्य तो जीव का कराना था। अतः व्यवहार कथन के अनुसार ही वस्तु स्वरूप नहीं समझलेना चाहिये।

अब अपने में भी जब तक स्वयं परमार्थ वस्तु को नहीं समझे वहाँ तक 'मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ'-ऐसे व्यवहारमार्ग से वस्तु का निर्णय करना। व्यवहारमार्ग माने क्या? बाहर का क्रियाकाण्ड वह व्यवहारमार्ग नहीं; परन्तु अन्दर में 'मैं ज्ञान हूँ' इत्यादि भेद का विकल्प उत्पन्न होता है उसको व्यवहारमार्ग कहा है। अभेद वस्तु का अनुभव नहीं है, इसलिये भेद का विकल्प आता है; परन्तु अभेद का निर्णय करना चाहता है इसलिये उस भेद के विचार को व्यवहार कहा है। 'मनुष्य जीव'-ऐसा पहले विचारकर, तत्पश्चात् मैं देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ-इस प्रकार जीव को लक्ष्य में ले तो वहाँ गुण-गुणी के भेद से जीव को लक्ष्य में लेना व्यवहार है। उस व्यवहार मार्ग से अभेद जीव का निर्णय करना चाहिये तब भेद का विचार निमित्त है। जो जीव उसका अवलम्बन छोड़कर अभेदरूप जीव को लक्ष्य में लेता है उसका वह भेद का विचार व्यवहारमार्ग कहा जाता है। ऐसे जीव का निर्णय करना सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की क्रिया है। सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि यथार्थ स्वरूप क्या है और उपचार क्या है! वीतराग भाव सच्चा मोक्षमार्ग है और बाहर के व्रत, तपादि भेदों को मोक्षमार्ग कहना उपचार मात्र है। वे वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है।

1. जहाँ मनुष्य जीव, देव जीव इत्यादि को जीव कहा हो वहाँ ऐसा निर्णय करना कि मनुष्य, देव आदि में जो शरीर है वह जीव नहीं है; जीव तो उनसे भिन्न चैतन्यमय है।

2. जहाँ गुण-गुणी के भेद से कथन किया हो कि ज्ञान वाला जीव, दर्शन वाला जीव; तो वहाँ ऐसा निर्णय करना चाहिये कि जीव वस्तु तो अनन्त गुणों से अभेद है।

3. जहाँ व्रतादि भेदों को मोक्षमार्ग कहा हो वहाँ ऐसा निर्णय करना कि व्रतादि का राग अथवा बाह्य क्रिया वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है। वास्तविक मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है।

इस प्रकार सर्वत्र ही व्यवहारनय के कथन हो वहाँ परमार्थ का निर्णय करना चाहिये; परन्तु व्यवहार कथन को ही नहीं पकड़ लेना चाहिये; परमार्थ वस्तु का निर्णय करना ही प्रयोजन है और व्यवहारनय का कथन उसमें निमित्त है। इस निमित्तपने की अपेक्षा व्यवहार को कार्यकारी कहा है। परन्तु जो जीव परमार्थ का निर्णय करता है उसको व्यवहार निमित्त कहा जाता है। जीव ने अनादि से परमार्थ तत्व को नहीं समझा है-इस कारण उस परमार्थ का निर्णय करने में बीच में भेद का विचार आये बिना नहीं रहता; परन्तु उस भेद को-व्यवहार को उपचार मात्र मानकर परमार्थ वस्तु का निर्णय करे तो उसको व्यवहार कार्यकारी अर्थात् निमित्त कहलाता है; परन्तु यदि व्यवहार कथन को ही निश्चय के समान सत्यभूत मान ले और वैसा ही श्रद्धान कर ले तो उसको तो व्यवहारनय उल्टा अकार्यकारी हो जाता है। जैसे 'मनुष्यजीव'-ऐसा कहने पर जीव को तो समझे नहीं और मनुष्य शरीर को ही जीव मान ले तो उसको मिथ्याश्रद्धा ही दृढ़ होती है। इसी प्रकार व्रतादि शुभभाव को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ यदि उस राग को ही वास्तविक मोक्षमार्ग मान ले और वीतरागभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को नहीं पहिचाने तो उसके मिथ्याश्रद्धा ही होती है। इस कारण उसके लिये व्यवहारनय अकार्यकारी ही हुआ।

इसी प्रकार अभेद आत्मा को गुण-गुणी के भेद से कथन करके समझाया है, वहाँ उस भेद के लक्ष्य में ही रुक जाये और अभेद का लक्ष्य नहीं करे तो उसको भी व्यवहारनय कार्यकारी नहीं हुआ। इसलिये जो निश्चय का अवलम्बन लेकर जीव का परमार्थ स्वरूप समझता है उसके लिये ही भेद कथन को व्यवहार कहा जाता है। परमार्थ नहीं समझने वाले को तो व्यवहार भी नहीं है; क्योंकि ऐसा व्यवहार तो अनादि से किया है।

जो जीव परमार्थ को नही समझता और व्यवहार को ही सत्यभूत मान लेता है उसके तो व्यवहार कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय में कहा है कि-मुनिराज अज्ञानी को समझाने के लिये असत्यार्थ जो व्यवहारनय उसका उपदेश देते हैं; परन्तु जो केवल व्यवहार को ही

जानता है उसको तो उपदेश देना ही योग्य नहीं है। जैसे कोई सच्चे सिंह को नहीं जानता हो उसके तो बिलाव ही सिंह है; उसी प्रकार जो निश्चय को नहीं जानता उसके तो व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता है।

देखो! वास्तव में तो द्रव्य के आश्रय से ही निर्णय होता हे। व्यवहार द्वारा कही परमार्थ का निर्णय नहीं होता; परन्तु निर्णय करने वाले का वैसा निमित्त होता है और उपदेश में व्यवहार आये बिना रहता नहीं है; इस कारण व्यवहार द्वारा निर्णय करना-ऐसा उपचार से कहा है; परन्तु जो व्यवहार की ही पकड़ रखता है उसको तो उपदेश देना ही योग्य नहीं है।

जैसे वचनगुप्ति का उपदेश चलता हो कि 'वचन गुप्ति रखना चाहिये'-वहाँ कोई जीव ऐसा कहे कि तुम वचनगुप्ति रखने को कहते हो तो स्वयं वचन क्यों बोलते हो ?-तो ऐसा कहने वाला जीव स्वच्छन्दी है, उसको व्यवहार और परमार्थ दोनो का पता नहीं है। वह जीव उपदेश के योग्य नहीं है। इसी प्रकार उपदेश में परमार्थ को समझाते हुए बीच में व्यवहार कथन आ जाते हैं, वहाँ जो जीव व्यवहार को ही सत्यभूत मानकर उसकी श्रद्धा करता है और परमार्थ को नही समझता वह जीव उपदेश के योग्य नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को धर्म करने में पहले व्यवहार और फिर निश्चय-ऐसा जो मानता है वह जीव व्यवहार मूढ़, मिथ्यादृष्टि श्वेताम्बर जैसा है। जब जीव ने परमार्थ स्वभाव का आश्रय करके निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट किया तब राग पर व्यवहार का आरोप किया जाता है; परन्तु परमार्थ रहित अकेला शुभभाव तो अनादि से किया है; उसको तो व्यवहार भी नहीं कहा जाता। पहले व्यवहार होता है-ऐसा मानने वाला जीव तो उपदेश के योग्य भी नहीं है। अरे भाई! हमने परमार्थ को बताने के लिये व्यवहार से कथन किया था। उसके बदले जो व्यवहार के अवलम्बन से ही लाभ मान ले वह जीव न तो परमार्थ समझनें के योग्य है और न उपदेश के ही योग्य है। अहो! मुनिराज कहते हैं कि हमारे उपदेश में जो परमार्थ वस्तु समझाई गई थी वह तो समझा नहीं और अनादि की व्यवहार दृष्टि छोड़ी नहीं, तो उस जीव

ने हमारा उपदेश ही नहीं सुना। उपदेश में व्यवहार आता है वहाँ कहे कि "देखो! हमारा व्यवहार आया या नहीं"-ऐसा कहकर जो व्यवहार के आश्रय से लाभ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। अभव्य के अभिप्राय में और उसके अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है।

श्री समयसार में कहा है अभव्य को व्यवहार के पक्ष का सूक्ष्म आशय रह जाता है। अर्थात् वह परमार्थ की दृष्टि नहीं करता और व्यवहार के आश्रय से लाभ मानता है; अतः वह जीव उपदेश के योग्य नहीं है। हमें तो उपदेश देकर अभेद की दृष्टि करानी है, भेद का अवलम्बन नहीं कराना है; परन्तु उपदेश में व्यवहार आये बिना नहीं रहता हैं। क्योंकिः-

"उपादान विधि निर्वचन है निमित्त उपदेश"

इसी प्रकार

"निश्चय विधि निर्वचन है व्यवहार उपदेश"

निर्विकल्प तत्व का निर्णय करने के लिये पहले विकल्प उत्पन्न होता है; परन्तु क्या उस विकल्प से निर्विकल्प निर्णय होता है? नहीं होता। परन्तु उस विकल्प का अभाव करके निर्विकल्प अनुभव होता है। वहाँ व्यवहार द्वारा निर्णय किया-ऐसा कहना उपचार मात्र है। अर्थात् कथन मात्र है। वह उपचार भी कब हो? जब अनुपचार अर्थात् परमार्थ का निर्णय किया तब राग और भेद को उपचार कहा। निर्विकल्प तत्व का निर्णय राग के अवलम्बन से नहीं हुआ है; परमार्थ तत्व के अनुभव में झुकाने पर राग तो एक ओर रह गया है। भले ही उस समय अबुद्धि पूर्वक राग हो; परन्तु उस राग के द्वारा निर्णय नहीं हुआ है। राग रहित परिणति ने अन्तर में परमार्थ द्रव्य के सन्मुख होकर निर्णय किया है। अर्थात् वस्तुतः राग रहित उपयोग परिणति द्वारा ही निर्णय हुआ है। राग अथवा व्यवहार द्वारा निर्णय नहीं हुआ है। राग और व्यवहार को वास्तविक साधन मान लेने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है। वह देशना का पात्र नहीं है।

परमार्थ वस्तु तो सत्य है और व्यवहार असत्य है। सत्य वस्तु के निर्णय में बीच मे असत्यरूप व्यवहार आता है; परन्तु परमार्थ का निर्णय उस व्यवहार को छोड़कर

होता है। व्यवहार से सत्य का- परमार्थ का निर्णय नहीं होता; क्योंकि व्यवहार तो असत्यार्थ वस्तु को कहने वाला है। जो उस व्यवहार को ही जानता है अर्थात् व्यवहार ने उपचार से जो झूठा कथन किया उस झूठ को ही यथार्थ मान लेता है वह जीव सत्य समझने का पात्र नहीं है-उपदेश के योग्य नहीं है। सत्य-परमार्थभूत वस्तु का उपदेश करते हुए बीच में भेद आदि का कथन आ जाता है; परन्तु वह भेद और विकल्प स्वयं ही परमार्थ वस्तु नहीं है; इसलिये वह असत्यार्थ है। निर्विकल्प वस्तु को वचनों से कहने पर भेद आये बिना नहीं रहता। जो जीव भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर भी भेद के आश्रय से लाभ मानता है उस जीव ने वास्तव में धर्म कथा-भगवान की वाणी सुनी ही नहीं है; परन्तु बंध कथा ही सुनी है।

इसी प्रकार परमार्थ को समझाने के लिये मुनिराज उपदेश देते हैं, वहाँ जो परमार्थ को नहीं समझता और उपदेश में आने वाले व्यवहार कथन को ही परमार्थ समझता है उस जीव ने वस्तुतः उपदेश सुना ही नहीं है।

'उपदेश से लाभ नहीं है'-ऐसा कहे, वहाँ अज्ञानी कहता है कि यदि हमको उपदेश से लाभ नहीं होता है तो आप उपदेश क्यों देते हो? तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे मूढ़! तेरे लिये हमारा उपदेश नहीं है; क्योंकि तू हमारे उपदेश के रहस्य को नहीं समझता है।

आत्मा स्वयं- सिद्ध ज्ञानानन्द वस्तु है। उसका निर्णय करते हुए बीच में आने वाला विकल्प असत्यार्थ है-झूठा है। उस विकल्प में पदार्थ का निर्णय करने की सामर्थ्य नहीं है। अज्ञानी उस विकल्प और राग को ही व्यवहार कहता है और 'पहले व्यवहार चाहिये'-ऐसा कहकर उसके आश्रय से लाभ मानता है। इसी प्रकार व्यवहार के पक्ष से तो सारा श्वेताम्बर पंथ निकला है।

दिगम्बर जैन परमेश्वर का सिद्धान्त तो यह है कि परमार्थ के बिना व्यवहार नहीं होता है। परमार्थ के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है और परमार्थ हुआ तब राग को व्यवहार कहा जाता है। पहले व्यवहार और फिर निश्चय- ऐसा नहीं है। इस मान्यता

का विरोध करके श्वेताम्बर मानते है कि पहले व्यवहार और फिर निश्चय होता है।'-यह महान भूल है। व्यवहार करते-करते लाभ होगा-ऐसी मान्यता वाले के और श्वेताम्बर के अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है।

व्यवहार तो असत्यार्थ है-उपचारमात्र है। उपदेश में व्यवहार आता है; परन्तु उसके आश्रय से लाभ नहीं होता है- ऐसा नहीं मानकर व्यवहार से लाभ मानने वाला जीव देशना का पात्र नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द वस्तु है। उसको पकड़ने-अनुभव करने पर राग पर व्यवहार का आरोप आता है। अन्तर में परमार्थ वस्तु के अनुभव बिना व्यवहार किसका ?

यहाँ तो कहते हैं कि जो जीव व्यवहार का पक्ष छोड़कर परमार्थ का निर्णय नहीं करता वह हमारा उपदेश सुनने का पात्र नहीं है। सिंह की पहिचान कराने के लिये कहते हैं कि देख! यह बिलाव जैसा सिंह होता है। वहाँ बिलाव को ही सिंह मान लेने वाला सच्चे सिंह को नहीं जानता। इसी प्रकार जो परमार्थ को नहीं जानता और परमार्थ को समझाने के लिये व्यवहार से उपदेश किया वहाँ व्यवहार को ही परमार्थ मानकर श्रद्धा करता है वह जीव परमार्थ को नहीं समझता। जो असत्यार्थ व्यवहार को ही सत्यार्थ मानता है उसको तो असत्यार्थ ही सत्यार्थपने को प्राप्त होता है। अर्थात् वह जीव असत्यार्थ श्रद्धान करता है।

....यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि तुम व्यवहार को असत्यार्थ-हेय कहते हो; तो हम व्रत,शील, संयमादिक व्यवहारकार्य किसलिये करें? सबको छोड़ देगें।

उससे कहते हैं कि कुछ व्रत, शील, संयमादि का नाम व्यवहार नहीं है; इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दे; और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, यह तो परद्रव्याश्रित है; तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है।-इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ-हेय जानना। व्रतादि का छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना होता नहीं है।

फिर हम पूछते हैं कि व्रतादिक को छोड़कर क्या करेगा? यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का उपचार भी सम्भव नहीं है; वहाँ प्रवर्तने से क्या भला होगा? नरकादि प्राप्त करेगा। इसलिये ऐसा करना तो निर्विचारीपना है। तथा व्रतादिकरूप परिणति को मिटाकर केवल वीतराग उदासीनभावस्वरूप होना बने तो अच्छा ही है; वह निचली दशा में हो नही सकता; इसलिये व्रतादि साधन छोड़कर स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है। इस प्रकार श्रद्धान में निश्चय को, प्रवृत्ति में व्यवहार को उपादेय मानना वह भी मिथ्याभाव ही है।....

यहाँ कोई निर्विचारी अज्ञानी ऐसा प्रश्न करता है कि आप व्यवहार को असत्य और हेय कहते हो तो हम व्रत, तप, संयम आदि व्यवहार कार्य किसलिये करें ? उन सबको छोड़ देंगे।

उत्तरः- अरे भाई! हमने व्रतादि को व्यवहार कहाँ कहा है ? व्रतादि तो व्यवहार नहीं है; परन्तु उनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है; इसलिये उसकी श्रद्धा छोड़ दे! व्रतादि को व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा है; परन्तु वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है-ऐसी श्रद्धा करने का नाम व्यवहार का हेयपना है। इसलिये तू व्रतादि को मोक्षमार्ग मानन छोड़ दे; परन्तु यदि तू व्रतादि को छोड़कर अशुभभाव करेगा तो पाप होगा और उससे नरकादि गति को प्राप्त करेगा। व्रत पर्याय स्वयं कहीं व्यवहार नहीं है; परन्तु उस पर्याय में मोक्षमार्ग का आरोप करना व्यवहार है; इसलिये उसे मोक्षमार्ग मानने की श्रद्धा छोड़ दे! मोक्षमार्ग के साधक को भगवान की भक्ति, निःशंकता आदि आठ आचार और व्रत-तपादि के शुभभाव आते हैं, वे निचली भूमिका में नहीं छूटेंगे। वह शुभभाव तो शुद्धोपयोग उग्र होने पर ही छूटता है। इसलिये वह परिणति हो वहाँ तक उसे निश्चय से अपनी जान; परन्तु उसको मोक्षमार्ग मत जान।

व्यवहार को छोड़ना माने क्या ? कि व्रत-तप आदि के राग को मोक्षमार्ग नहीं मानना। व्रतादि को मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है और उन व्रतादि को मोक्षमार्ग नहीं मानकर व्रत को व्रतरूप ही जानना निश्चय है। वह आत्मा की ही अशुद्ध परिणति है।

यहाँ तो निश्चय-व्यवहार की ऐसी शैली है कि अपने भाव को अपना कहना निश्चय है और अपने भाव को अन्य का कहना व्यवहार है। व्रतादि का रागभाव

वास्तव में मोक्षमार्ग का भाव नहीं है; परन्तु बंधमार्ग का भाव है; तथापि उस भाव को मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है। अतः इस मान्यता को छोड़कर वीतराग भावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को पहिचान। जहाँ स्वभाव के आश्रय से वीतरागी मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है वहाँ रागादि को बाह्य सहचारी जानकर उन्हें उपचार से मोक्षमार्ग कहा है; क्योंकि मोक्षमार्ग में वे सहचररूप से होते हैं। वस्तुतः तो अन्दर में स्वद्रव्य के आश्रय से प्रगट निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही निश्चय से मोक्षमार्ग है और उसके साथ व्रत, तप, त्याग आदि तो पर द्रव्याश्रित है। अर्थात् सच्चा मोक्षमार्ग जो कि वीतरागभाव है वह स्वद्रव्याश्रित है और व्यवहार मोक्षमार्ग परद्रव्याश्रित है। इस कारण स्वद्रव्याश्रित भाव को मोक्षमार्ग कहना निश्चय है और परद्रव्याश्रित व्रतादिरूप भाव को मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है। अर्थात् वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है, वास्तविक मोक्षमार्ग तो अन्य (वीतरागभाव) है-ऐसा समझने का नाम व्यवहार का हेयपना है। निश्चय मोक्षमार्ग के साथ निमित्तरूप व्रतादि होते हैं-यह जानने से इन्कार नहीं है; परन्तु उन्हें ही मोक्षमार्ग मानना छोड़ दे।

व्रतादि के परिणाम तो बीच में आये बिना रहेंगे नहीं। पूर्ण वीतरागता हुए बिना शुभभाव नहीं छूटेगा। शुद्धोपयोग न हो वहाँ शुभ या अशुभ उपयोग होता है। अतः शुभ परिणाम होना अलग बात है; परन्तु उस शुभभाव को मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। अतः शुभ को मोक्षमार्ग मानना छोड़ दे। यह व्यवहार की हेयता का अर्थ है।

निश्चय स्वभाव की दृष्टि रख और बीच में व्रत-तप के परिणाम आवें उन्हें भी अपने ही परिणाम जान; परन्तु उनको मोक्षमार्ग मत मान। राग और व्यवहार साधकदशा में आना अलग बात है; परन्तु उसे ही मोक्षमार्ग मान लेना तो मिथ्यात्व है। ऐसी मान्यता वाले के शुभभाव पर तो मोक्षमार्ग का उपचार भी नहीं आता। उपचार तो तब कहलाता है कि जब यह समझे कि राग वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है और वीतरागभावरूप सच्चे मोक्षमार्ग को जाने। धर्मी की ऐसी मान्यता हुई होने पर भी कि शुभराग वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है; जहाँ तक शुद्धोपयोग नहीं होता वहाँ तक भक्ति, पूजा, व्रतादि का शुभभाव आता है। यदि शुभ परिणाम को भी छोड़ दे और

अशुभ परिणामों मे प्रवर्ते, तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का निमित्त भी नहीं है। जो अशुभ को मोक्षमार्ग का निमित्त मानता है वहाँ तो निश्चय की दृष्टि भी नहीं रहती। अर्थात् वहाँ तो मोक्षमार्ग का आरोप भी संभव नहीं है। मोक्षमार्ग का निमित्त शुभभाव को कहा जाता है, अशुभभाव को नहीं। जहाँ ज्ञायक स्वभाव पर दृष्टि होती है वहाँ शुभभाव में मोक्षमार्ग का आरोप आता है; परन्तु जहाँ दृष्टि ही मिथ्या है। अर्थात् यथार्थ मोक्षमार्ग प्रगट ही नहीं हुआ है वहाँ तो शुभ में मोक्षमार्ग का उपचार भी नहीं आता। तथा शुभ छोड़कर अशुभ करे तो उस अशुभ में तो मोक्षमार्ग के निमित्त का उपचार भी संभव नहीं है। शुद्धोपयोग तो हुआ नहीं और शुभ को छोड़ा तो अशुभ होकर नरकादि में जायेगा।

देखो! यह मिथ्यादृष्टि की बात है -इस कारण नरक की बात ली है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी ज्ञानी को विषय-कषाय के कोई अशुभभाव आ जाते हैं; परन्तु वे भाव ज्ञानी को नरकादि के कारण नहीं होते और न वे अशुभभाव मोक्षमार्ग के निमित्त हैं। मोक्षमार्ग का उपचार व्रतादि के शुभभाव पर आता हैं; परन्तु हिंसादि के परिणामों पर तो वैसा उपचार भी नहीं आता हैं। मिथ्यादृष्टि शुभ छोड़कर अशुभ में वर्तेगा तो पाप बांधकर नरक में जायेगा। धर्मी का अशुभभाव आवे; परन्तु उसको अशुभ के समय नरकादि आयु का बंध नहीं होता। परन्तु अभी जिसको धर्म की दृष्टि भी नहीं है और शुभराग को व्यवहार कहकर छोड़ता है तो उसको तो मोक्षमार्ग की अथवा उसके उपचार की भी दृष्टि नहीं रही, उसकी तो दृष्टि ही मिथ्या है। इसलिये शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवर्तना तो निर्विचारीपना है। हाँ, यदि सम्यग्दर्शन के पश्चात् व्रतादि का शुभभाव छोड़कर केवल वीतराग उदासीनभावरूप रहना बने तो वैसा कर; परन्तु वह तो शुद्धोपयोग बिना होता नहीं और निचली दशा में चौथे, पांचवे, छठवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग रहता नहीं है-इस कारण वहाँ शुभराग आता है और व्रतादि का भाव भी आता है; परन्तु उसको मोक्षमार्ग नहीं मानना।

यदि निचली दशा में शुभ को छोड़कर अशुभ में वर्तेगा तब तो वह स्वच्छन्दी होगा।

इसलिये श्रद्धा में तो निश्चय को और प्रवृत्ति में व्यवहार को उपादेय माननेरूप मान्यता भी मिथ्याभाव ही है। वस्तुस्थिति यह है कि निश्चय को तो यथार्थ वस्तुस्वरूप जानकर अंगीकार करना और व्यवहार को आरोपित जानकर उसका श्रद्धान छोड़ना। इस प्रकार दोनो नयों के संदर्भ में समझना चाहिये।

....तथा यह जीव दोनो नयों का अंगीकार करने के अर्थ कदाचित् अपने को शुद्ध सिद्ध-समान रागादि रहित केवलज्ञानादि सहित आत्मा अनुभवता है, ध्यानमुद्रा धारण करके ऐसे विचारों में लगता है; सो ऐसा आप नहीं है, परन्तु भ्रम से निश्चयसे मैं ऐसा ही हूँ-ऐसा मानकर सन्तुष्ट होता है। तथा कदाचित् वचन द्वारा निरूपण ऐसा ही करता है। परन्तु निश्चय तो यथावत् वस्तु को प्ररूपित करता है। प्रत्यक्ष आप जैसा नहीं है वैसा अपने को माने तो निश्चय नाम कैसे पाये? जैसा केवल निश्चयाभास वाले जीव के अयथार्थपना पहले कहा था उसी प्रकार इसके जानना।

अथवा यह ऐसा मानता है कि इस नयसे आत्मा ऐसा है, इस नय से ऐसा है। सो आत्मा तो जैसा है वैसा ही है; परन्तु उसमें नय द्वारा निरूपण करने का जो अभिप्राय है उसे नहीं पहिचानता। जैसे-आत्मा निश्चय से तो सिद्धसमान केवलज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म रहित है, और व्यवहारनय से संसारी मतिज्ञानादि सहित तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म सहित है-ऐसा मानता है; सो एक आत्मा के ऐसे दो स्वरूप तो होते नहीं है; जिस भावहीका सहितपना उस भावहीका रहितपना एक वस्तु में कैसे सम्भव हो? इसलिये ऐसा मानना भ्रम है।

तो किस प्रकार है? जैसे-राजा और रंक मनुष्यपने की अपेक्षा समान है; उसी प्रकार सिद्ध और संसारी को जीवत्वपने की अपेक्षा समान कहा है। केवलज्ञानादिकी अपेक्षा समानता मानी जाय, सो तो है नहीं; संसारी के निश्चय से मतिज्ञानादिक ही है, सिद्ध के केवलज्ञान है। इतना विशेष है कि संसारी के मतिज्ञानादिक कर्म के निमित्त से हैं, इसलिये स्वभाव अपेक्षा संसारी में केवलज्ञान की शक्ति कही जाये तो दोष नही है। जैसे-रंक मनुष्य में राजा होने की शक्ति पायी जाती है, उसी प्रकार यह शक्ति जानना। तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म

पुद्गलसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये निश्चय से संसारी के भी इनका भिन्नपना है, परन्तु सिद्ध की भाँति इनका कारण कार्य अपेक्षा सम्बन्ध भी न माने तो भ्रम ही है। तथा भावकर्म आत्मा का भाव है सो निश्चय से आत्माहीका है, परन्तु कर्म के निमित्त से होता है, इसलिये व्यवहार से कर्म का कहा जाता है। तथा सिद्ध की भाँति संसारी के भी रागादिक न मानना, उन्हें कर्महीका मानना वह भी भ्रम है।

इस प्रकार नयों द्वारा एक ही वस्तु को एक भाव अपेक्षा ऐसा भी मानना और ऐसा भी मानना, वह तो मिथ्याबुद्धि है; परन्तु भिन्न-भिन्न भावों की अपेक्षा नयों की प्ररूपणा है- ऐसा मानकर यथासम्भव वस्तु को मानना सो सच्चा श्रद्धान है। इसलिये मिथ्यादृष्टि अनेकान्त रूप वस्तु को मानता है परन्तु यथार्थ भाव को पहिचानकर नहीं मान सकता-ऐसा जानना।....

अब यह जीव दोनो नयों का अंगीकार करने के लिये किसी समय अपने को शुद्ध सिद्ध समान, रागादि रहित और केवलज्ञानादि सहित आत्मा मानता है तथा ध्यान मुद्रा धारण करके ऐसे विचारो में लीन होता है। स्वयं ऐसा नहीं होने पर भी भ्रम से निश्चय से 'मैं ऐसा ही हूँ'- ऐसा मानकर सन्तुष्ट होता है और किसी समय वचन द्वारा ऐसा ही निरूपण भी करता है; परन्तु स्वयं प्रत्यक्ष जैसा नहीं है वैसा अपने को मानना निश्चय नाम कैसे प्राप्त कर सकता है ? कारण कि निश्चय तो उसका नाम है कि जो वस्तु को यथावत प्ररूपित करे। इसलिये जैसे पूर्व में निश्चयाभासी जीव का अयथार्थपना कहा था उसी प्रकार इसे भी जानना।

द्रव्यदृष्टि से आत्मा को सिद्धसमान कहा है; परन्तु अज्ञानी अपने को पर्याय में भी सिद्ध समान मानकर सन्तुष्ट होता है। पर्याय मे राग और अल्पज्ञता होने पर भी अपने को वीतरागी, केवलज्ञान सहित सिद्ध जैसा मानता है; परन्तु पर्याय में सिद्धपना तो है नहीं, तो भी सिद्धपना मानता है और उसको अज्ञानी जीव निश्चय मानता है; परन्तु यह निश्चय नहीं है, यह तो मिथ्याश्रद्धा है। पर्याय में जैसा है वैसा जानना चाहिये।

अथवा वह ऐसा मानता है कि 'इस नय से आत्मा ऐसा है, इस नय से ऐसा है'; परन्तु आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। वहाँ नय द्वारा निरूपण करने का जो अभिप्राय है उसे यह नहीं पहिचानता। जैसे आत्मा निश्चयनय से तो सिद्ध समान, केवलज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रहित है तथा व्यवहारनय से संसारी, मतिज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म सहित है-ऐसा वह मानता है। अब एक आत्मा में ऐसे दो स्वरूप तो होते नहीं; कारण कि जिस भाव का सहितपना मानना उसी भाव का रहितपना एक ही वस्तु मे किस प्रकार संभव है? इसलिये ऐसा मानना भ्रम है।

अज्ञानी एक ही पर्याय में दो प्रकार मानता है। एक ही पर्याय में सिद्धपना और उसी पर्याय में संसारीपना-ऐसा अज्ञानी मानता है। पर्याय में निश्चय से सिद्धपना है और उसी पर्याय में व्यवहार से संसारीपना है- ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु वह वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं करता।

एक ही पर्याय में मतिज्ञान और केवलज्ञान दोनो प्रकार कैसे संभव है? अज्ञानी मानता है कि वर्तमान पर्याय में मैं व्यवहार से मतिज्ञानादि सहित हूँ और निश्चय से वर्तमान पर्याय में केवलज्ञानी हूँ; परन्तु इस प्रकार निश्चय-व्यवहार है ही नहीं। एक ही पर्याय में सिद्धपना और संसारीपना दोनो नहीं हो सकता। एक ही पर्याय में मतिज्ञान और केवलज्ञान दोनो कैसे हो सकते हैं? एक ही पर्याय में राग और वीतरागता किस प्रकार हो सकती है? हाँ, वस्तु में द्रव्यदृष्टि से सिद्ध शक्ति है और पर्याय में संसार है। द्रव्य में केवलज्ञान की शक्ति है और पर्याय में मतिज्ञान आदि अल्पज्ञान है- ऐसा जानना यथार्थ है; परन्तु एक में ही दो भाव मानना- यह कोई निश्चय व्यवहार नहीं है, यह तो मिथ्याश्रद्धा है।

तो किस प्रकार है?

जैसे राजा और रंक मनुष्यपने की अपेक्षा समान है; उसी प्रकार सिद्ध और संसारी को जीवपने की अपेक्षा समान कहा है। केवलज्ञानादि की अपेक्षा समानता माने, तो वैसा नहीं है; क्योंकि संसारी के निश्चय से मतिज्ञानादि ही है और सिद्ध को

केवलज्ञानादि है। यहाँ इतना विशेष है कि संसारी के मतिज्ञानादि हैं वे कर्म के निमित्त से हैं, इस कारण स्वभाव अपेक्षा से संसारी के केवलज्ञानादि की शक्ति कहने में दोष नहीं है। जैसे रंक मनुष्य में राजा होने की शक्ति है वैसे ही यह शक्ति भी जानना।

पर्याय अपेक्षा से तो छद्मस्थ के मतिज्ञानादि हैं वे निश्चय से हैं। निश्चय से केवलज्ञान की शक्ति कहना तो द्रव्य की अपेक्षा से है; परन्तु निश्चय से पर्याय में केवलज्ञान नहीं है, पर्याय में तो निश्चय से मति-श्रुतज्ञान ही है।

तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म तो पुद्गल की पर्याय है; इसलिये निश्चय से तो वह संसारी जीव से भी भिन्न ही है; परन्तु संसार पर्याय के समय उन द्रव्यकर्म-नोकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है वह जानना चाहिये। सिद्ध भगवान के समान ही संसारी के भी कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं मानना तो भ्रम है। हाँ, धर्मी जीव की दृष्टि में कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध छूट गया है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में जो भावकर्म-राग-द्वेषादि होते हैं वे तो आत्मा का उदयभाव है और वह भाव निश्चय से आत्मा का है; तथा उसमें कर्म-नोकर्म निमित्त होने से उसको उपचार से- व्यवहार से कर्म का कहा जाता है। राग-द्वेषादि उदयभाव आत्मा की पर्याय में होते हैं; अतः वे निश्चय से आत्मा के हैं। तथा कर्म, शरीरादि निश्चय से जड़ की परिणति है, उसके साथ जीव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

दृष्टि के विषय में तो ऐसा कहा जाता है कि रागादि आत्मा के है ही नहीं, वे निश्चय से जड़ के हैं; परन्तु वहाँ द्रव्यदृष्टि की बात है और यहाँ तो दो द्रव्यों की प्रथकता बताते हैं। जिस द्रव्य का जो भाव हो उसे उसीका कहना सो निश्चय है। राग निश्चय से आत्मा का है। कर्म से राग हुआ-ऐसा मानना भ्रम है। रागादि भाव संसारी जीव के ही हैं, कर्म के नहीं। रागादि भावो को कर्म का मानना भ्रम है।

इसलिये निश्चय से ऐसा है और व्यवहार से ऐसा है-इस प्रकार एक ही वस्तु में दो भाव मानना भ्रम है; परन्तु भिन्न-भिन्न भावों की अपेक्षा से प्ररूपणा (कथन) है। इसलिये जिस अपेक्षा से जिस भाव का कथन हो तदनुसार यथार्थ समझना चाहिये। यही सत्य श्रद्धा है।

मिथ्यादृष्टि भी अनेकान्तरूप वस्तु को मानता है। पर्याय को निश्चय से सिद्धरूप मानता है और व्यवहार से संसारी मानता है-इस प्रकार 'मिथ्या अनेकान्त' रूप मानता है; परन्तु वह यथार्थ भाव को पहिचानकर नहीं मान सकता-ऐसा जानना।

अज्ञानी मानता है कि अपने में रागादि होते हैं वह निश्चय और शरीर की क्रिया करना वह व्यवहार है; इस प्रकार उसको निश्चय-व्यवहार के स्वरूप का पता नहीं है। वस्तुतः आत्मा जड़ की क्रिया करता ही नहीं।

प्रवचनसार में कहा है कि संसार पर्याय के समय भी आत्मा ही कर्ता, कर्म, करण आदि छह कारकरूप परिणमता है और सिद्धपर्याय के समय भी कर्ता, कर्म, करण आदि रूप आत्मा ही परिणमता है। निश्चय से राग आत्मा का और व्यवहार से कर्म का-ऐसे दो प्रकार नहीं है। राग तो आत्मा की पर्याय में ही है, जड़ में नहीं; तथापि राग को दोनो का मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

जैसे 'घी का घड़ा' कहना संयोगरूप निमित्त से कथन है; वैसे ही राग को जड़ कर्म का कहना निमित्त की अपेक्षा से व्यवहार कथन है। निश्चय से संसार पर्याय भी आत्मा की है और संसार पर्याय का कर्ता भी आत्मा स्वयं है तथा उसका फल भी आत्मा में ही है-ऐसा नहीं जानकर विकार को वास्तव में जड़ का मान ले अथवा जड़ के कारण मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि है।

देखो! अज्ञानी कहता है कि जड़ कर्म के कारण राग होता है और व्यवहार रत्नत्रय का राग करते-करते निश्चय रत्नत्रय प्रगट होता है। अतः ऐसी मान्यता वाले के अभिप्राय में तो जड़कर्म से ही मोक्ष हुआ। व्यवहार रत्नत्रय का राग करते-करते निश्चय मोक्षमार्ग होता है और जड़ कर्म के कारण राग होता है-अतः उसके मोक्ष का कर्ता जड़ कर्म ही सिद्ध हुआ; परन्तु उसकी दोनो बातें मिथ्या है। जड़ कर्म आत्मा के विकार में निमित्त है- यह बताने के लिये गोम्मटसार आदि में निमित्त से कथन किया है। जबकि समयसारादि में जीव के शुद्ध स्वभाव की दृष्टि कराने के लिये पर्याय को गौण करके विकार को कर्म का कहा है; परन्तु वस्तुतः तो विकार आत्मा की पर्याय

है-इस अपेक्षा से निश्चय से विकार आत्मा का है और विकार को कर्म का कहना मात्र आरोपित कथन हैं।

....तथा इस जीव के व्रत, शील, संयमादिक का अंगीकार पाया जाता है, सो व्यवहार से ये भी मोक्ष के कारण हैं- ऐसा मानकर उन्हें उपादेय मानता है; सो जैसे पहले केवल व्यवहारावलम्बी जीव के अयथार्थपना कहा था वैसा ही इसके भी अययार्थपना जानना।

तथा यह ऐसा भी मानता है कि यथायोग्य व्रतादि क्रिया तो करने योग्य है; परन्तु इसमें ममत्व नहीं करना। सो जिसका आप कर्ता हो, उसमें ममत्व कैसे नहीं किया जाय? आप कर्ता नही है तो मुझको करने योग्य है-ऐसा भाव कैसे किया? और यदि कर्ता है तो वह अपना कर्म हुआ, तब कर्ता-कर्म सम्बन्ध स्वयमेव ही हुआ; सो ऐसी मान्यता तो भ्रम है।

तो कैसे है? बाह्य व्रतादिक हैं वे तो शरीरादि परद्रव्य के आश्रित हैं, परद्रव्य का आप कर्ता है नहीं; इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं करना और वहाँ ममत्व भी नही करना। तथा व्रतादिक में ग्रहण-त्यागरूप अपना शुभोपयोग हो, वह अपने आश्रित है, उसका आप कर्ता है; इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी मानना और वहाँ ममत्व भी करना। परन्तु इस शुभोपयोग को बन्ध का ही कारण जानना, मोक्ष का कारण नही जानना, क्योंकि बन्ध और मोक्ष के तो प्रतिपक्षीपना है; इसलिये एक ही भाव पुण्यबन्ध का भी कारण हो और मोक्ष का भी कारण हो-ऐसा मानना भ्रम है।....

इस जीव के व्रत, शील, संयमादि का अंगीकार होता है, उन्हें 'व्यवहार से ये भी मोक्ष के कारण हैं'-ऐसा मानकर उपादेय मानता है। सो वह तो पूर्व में जैसे व्यवहाराभासी जीव का अयथार्थपना कहा था वैसा ही अयथार्थपना इसके भी जानना।

यह जीव मानता है कि 'यथायोग्य व्रतादि क्रिया तो करने योग्य है; परन्तु उनमें ममत्व नहीं करना'। अब जिसका आप कर्ता हो उसमें ममत्व किस प्रकार नहीं करे? और यदि स्वयं कर्ता नहीं है तो मुझे करने योग्य है-ऐसा भाव किस प्रकार किया? तथा स्वयं कर्ता है तो वह क्रिया अपना कर्म हुई; इसलिये कर्ता-कर्म सम्बन्ध स्वयं सिद्ध हुआ। इसलिये इसकी यह मान्यता तो भ्रम है।

शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, निर्दोष आहार लेना, शरीर से (पर जीव की) हिंसा नहीं होना इत्यादि बाह्य व्रतादि की क्रिया को अज्ञानी मोक्ष का साधन मानता है। अज्ञानी कहता है कि अल्प आहार, शरीर का आसन लगाकर स्थिर रखना इत्यादि क्रियायें तो करना, परन्तु उनमें ममत्व नहीं करना; परन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। पहले तो कर्ता हुआ वहाँ ही ममत्व आया। कर्ता होना और ममत्व नहीं करना-यह किस प्रकार संभव है? वस्तुतः आत्मा जड़ की क्रिया कर ही नहीं सकता होने पर भी मैं करता हूँ-ऐसा मानना महा मिथ्यात्वरूप ममत्व है। जिसने यह माना कि मैं जड़ शरीर की क्रिया कर सकता हूँ वह जीव जड़ का कर्ता हुआ और जड़ उसका कार्य हुआ। वहाँ तो जड़ के साथ ही कर्ता-कर्म हुआ; परन्तु यह मान्यता मिथ्या है।

बाह्य व्रतादि तो शरीरादि पर द्रव्य से आश्रित हैं और स्वयं पर द्रव्य का कर्ता है नहीं; इसलिये उनमें कर्तत्वबुद्धि भी नहीं करना और वहाँ ममत्व भी नहीं करना। इन व्रतादिक में ग्रहण-त्यागरूप अपना शुभोपयोग होता है वह अपने आश्रित है और स्वयं उसका कर्ता है; इसलिये उसमें कर्तत्वबुद्धि भी मानना और वहाँ ममत्व भी करना।

आत्मा पर के ग्रहण-त्याग का कर्ता तो नहीं है; परन्तु उस समय शुभोपयोग होता है वह आत्मा के आश्रित है। मैं हिंसा नहीं करूँ, दया पालन करूँ-ऐसा शुभभाव हुआ उसका कर्ता आत्मा है। उस समय बाह्य क्रिया में हिंसा नहीं हो और दया पले वह तो पर द्रव्य की क्रिया है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है; परन्तु उस समय आत्मा की पर्याय में शुभभाव हुआ उसका कर्ता आत्मा है। पर्याय अपेक्षा से उस राग का कर्ता निश्चय से आत्मा है। न तो वह राग जड़ के कारण हुआ है और न आत्मा के कारण जड़ की क्रिया हुई है।

यहाँ जिसको निश्चय-व्यवहार का पता नहीं है-ऐसे अज्ञानी को समझाते हैं कि भाई! देख, रागादि भाव तेरी पर्याय में ही होते हैं, वे कोई जड़ में नहीं होते; इसलिये निश्चय से राग का कर्ता तू है और राग तेरा है। परन्तु जब शुद्ध द्रव्य की दृष्टि करानी

हो तब ऐसा कहते हैं कि निश्चय से आत्मा राग का कर्ता नहीं है। जो शुद्ध द्रव्य को भी राग का कर्ता मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। शुद्ध द्रव्य को भूलकर मात्र राग का कर्ता होता है वह भी अज्ञानी है। उसको शुद्ध निश्चय का पता नहीं है। तथा पर्याय में राग होता है वह निश्चय से अपनी पर्याय का है-ऐसा नही जाने तो उसको पर्याय का भान नहीं है।

सम्यग्दृष्टि राग का कर्ता नहीं है-ऐसा कहा है वह तो उसकी दृष्टि की अपेक्षा से कहा है; परन्तु सम्यग्दृष्टि को भी पर्याय में जितना राग होता है, उसका कर्ता पर्याय अपेक्षा से वह आत्मा ही है, कोई जड़ उसका कर्ता नहीं है। इसलिये पर्याय में राग होता है उसको अपना जानना; परन्तु उस शुभराग को मोक्ष का कारण नहीं मानना। शुभराग को मोक्ष का कारण मनना भ्रम है। धर्म का कारण तो राग रहित शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग और शुभोपयोग के प्रतिपक्षीपना है। शुभभाव तो पुण्य बंध का कारण है और मोक्ष का कारण तो शुद्धोपयोग ही है। शुभराग से पुण्य बंध भी हो और वह ही मोक्ष का कारण भी हो-इस प्रकार एक ही भाव को बंध और मोक्ष दोनो का कारण मानना भ्रम है। इसलिये व्रतादिरूप शुभराग को बंध का ही कारण जानना; परन्तु उसको मोक्ष का कारण नहीं मानना।

....इसलिये व्रत-अव्रत दोनों विकल्परहित जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ प्रयोजन नही है-ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग वही मोक्षमार्ग है। तथा निचली दशा में कितने ही जीवों के शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाया जाता है; इसलिये उपचार से व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है; वस्तु का विचार करने पर शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है; क्योंकि बन्ध का कारण वह ही मोक्ष का घातक है-ऐसा श्रद्धान करना।

इसप्रकार शुद्धोपयोगहीको उपादेय मानकर उसका उपाय करना और शुभोपयोग अशुभोपयोग को हेय जानकर उनके त्याग का उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके वहाँ अशुभोपयोग को छोड़कर शुभ मे ही प्रवर्तन करना....,

क्योंकि शुभोपयोग की अपेक्षा अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है। तथा शुद्धोपयोग हो तब तो परद्रव्य का साक्षीभूत ही रहता है, वहाँ तो कुछ परद्रव्य का प्रयोजन ही नहीं है। शुभोपयोग हो वहाँ बाह्य व्रतादिक की प्रवृत्ति होती है, और अशुभोपयोग हो वहाँ बाह्य अव्रतादिक की प्रवृत्ति होती है; क्योंकि अशुद्धोपयोग और परद्रव्य की प्रवृत्ति के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। तथा पहले अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग हो, फिर शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग हो-ऐसी क्रम परिपाटी है।....

व्रत-अव्रत दोनो विकल्प रहित जहाँ पर द्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ प्रयोजन नहीं है-ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है।

निचली दशा में अर्थात् चौथे, पांचवे, छठवें गुणस्थान में आत्मा का भान होता है और साथ ही दया, दानादि का भाव भी है। इस प्रकार वहाँ एक समय में दो भाव वर्तते हैं। वहाँ दया, दानादि के भाव बंध का कारण है और आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता अबंध का कारण है। जितनी शुद्ध परिणति वर्तती है वह धर्म का कारण है। साधक को शुद्धोपयोग के समय बुद्धि पूर्वक शुभोपयोग नहीं होता; परन्तु अबुद्धि पूर्वक राग है और उतना वहाँ बंधन है। तथा शुद्धोपयोग न हो उस समय चौथे, पांचवे, छठवें गुणस्थान में श्रद्धा-ज्ञान सहित शुद्ध परिणति सदा होती है उतना धर्म है और जितना शुभराग वर्तता है उतना अधर्म है। इस प्रकार ज्ञानी को भूमिकानुसार शुभराग होता है (उतना बंध है।) और जितनी वीतराग दशा है उतना धर्म है।

मुनि के अन्तर में वीतरागदशा होती है और बाह्य नग्नदशा होती है। वे जंगल में बसते हैं, उनके वस्त्र-पात्र नहीं होते। वस्त्र-पात्र सहित मुनिदशा नहीं होती है। जब वे मुनि अन्तर स्वरूप में लीन नहीं होते तब खड़े-खड़े आहार लेने का विकल्प होता है, इसलिये उस व्रतादि शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। मैं ज्ञान हूँ, कोई भी पर पदार्थ मेरे नहीं है, स्त्री-धनादि मेरे नहीं है, अन्य वस्तुयें मेरे कारण नहीं आती है, मेरे में होने वाता राग कर्म अथवा निमित्त के कारण नहीं होता, दया, दानादि का शुभभाव आता है वह दोष है-ऐसा ज्ञानी मानता है। पाप में कषाय अधिक है और

पुण्य में कषाय कम है। साधक को इन दोनो का आदर नहीं है। ऐसे धर्मात्मा को शुभराग सहचर होता है, इसलिये उपचार से उसको मोक्षमार्ग कहा है; परन्तु वस्तु का विचार करने पर शुभोपयोग तो मोक्ष का घातक ही है। जितने भी व्रत, तप, दया, दानादि के भाव आते हैं वे आत्मा की शुद्धि में सहायक नहीं है। उपचार से मोक्षमार्ग कहा इसका अर्थ यह है कि साधक को आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता वर्तती है तब शुभभाव सहचारीपने है-इस कारण उसको मोक्षमार्ग कहा है; परन्तु वस्तुतः शुभराग तो मोक्षमार्ग का घातक ही है। जहाँ तक आत्मा में (पूर्ण) वीतराग दशा न हो वहाँ तक शुभराग आता है; परन्तु वह बंध का कारण है। यह सच्चे श्रावक व मुनि के शुभभाव की बात है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के भानपूर्वक अन्तर लीनता करने के उपयोग को उपादेय मानना और शुभ-अशुभ के त्याग का उद्यम करना चाहिये।

जिसको कुदेवादिक का आदर नहीं छूटा और सुदेवादिक का आदर नहीं आया, तो भी कहे कि हमें चैतन्य के अभेद स्वभाव का बहुमान आया है; तो ऐसा कहने वाला महाचोर है। उसे निश्चय या व्यवहार एक का भी पता नहीं है।

प्रश्नः- सुदेवादिक या कुदेवादि में माध्यस्थभाव रखे तो?

उत्तरः- जैसे पत्नी, बहिन और स्त्री में माध्यस्थभाव हो सकता है या नहीं? तीनों में स्त्रीपना सामान्य होने पर भी पत्नी को पत्नीरूप जानना और बहिन-पुत्री को बहिन-पुत्रीरूप से जानना-इस प्रकार विशेष में अन्तर है। इसी प्रकार सुदेवादिक और कुदेवादिक ज्ञेयरूप से समान है; तथापि सत्निमित्त और असत्निमित्त के रूप में उनमें भेद है। आत्मा का भान होने पर सत् निमित्त का बहुमान आये बिना नहीं रहता-यही वास्तविक विवेक है।

सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग भी वास्तव में बंध का ही कारण है; परन्तु उस समय साथ ही निश्चय श्रद्धा-ज्ञानरूप मोक्षमार्ग है-इस कारण उपचार से उसके शुभ को मोक्ष का कारण कहा है; परन्तु वास्तविक साधन तो विकल्प रहित श्रद्धा-ज्ञान और

वीतरागी चारित्र ही है। राग मोक्ष का साधन है ही नहीं-ऐसा श्रद्धान करना। मोक्ष का कारण तो राग रहित ज्ञानानन्द स्वभाव में एकाग्रतारूप शुद्धोपयोग ही है। इस प्रकार शुद्धोपयोग को मोक्ष का कारण जानकर उसका उद्यम करना और शुभाशुभ उपयोग को हेय जानना।

मोक्ष का कारण होने से शुद्धोपयोग ही आदरणीय है-ऐसी श्रद्धा तो हुई है; परन्तु जहाँ शुद्धोपयोग नही हो सके वहाँ शुभोपयोग होता है। अतः उपदेश में कहा जाता है कि अशुभ को छोड़कर शुभभाव करना; परन्तु वहाँ अशुभ आता है और उसको छोड़ा-ऐसा नहीं है। शुभ का काल है वहाँ अशुभराग आता ही नहीं। राग हुआ और उसको छोड़ा-ऐसा नहीं है। अशुभ हुआ ही नहीं तो उसको छोड़ना क्या? और अशुभ हुआ उसे छोड़ना किस प्रकार? हुआ वह तो हुआ ही है और दूसरे समय तो वह छूट ही जाता है। इसी प्रकार शुद्धोपयोग हुआ वहाँ शुभोपयोग भी छूट जाता है। अर्थात् वहाँ शुभ की उत्पत्ति ही नहीं होती है। शुभ-अशुभ परिणति तो अपनी है; परन्तु यहाँ तो ऐसा कहा है कि शुभोपयोग हो उस समय अशुभोपयोग नहीं होता-इस कारण अशुभोपयोग छोड़ा-ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आत्मा के पर का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं; परन्तु अशुभ का छोड़ना और शुभ का ग्रहण करना भी उपचार से है। शुभ के समय शुभ का ही काल है और उस समय अशुभ का काल ही नहीं है-इस कारण अशुभ को छोड़ा कहा जाता है।

क्रमबद्ध पर्याय में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता; परन्तु उपदेश में तो ऐसा ही कथन आता है कि पाप छोड़ो-अशुभ छोड़ो। शुभ और अशुभ दोनो उपयोग अशुद्ध ही हैं; परन्तु उनमें शुभ की अपेक्षा अशुभ में अधिक अशुद्धता है। जहाँ शुद्धोपयोग है वहाँ तो बाहर में लक्ष्य ही नहीं है, वहाँ तो चैतन्य के अनुभव में ही एकाग्रता वर्तती है। अर्थात् वह जीव परद्रव्य का तो साक्षी ही है, इसलिये वहाँ पर द्रव्य का तो कुछ प्रयोजन ही नहीं है; परन्तु शुभोपयोग के समय बाहर में अहिंसा पालन, देखकर चलने की प्रवृत्ति इत्यादि व्रतादि की प्रवृत्ति होती है। तथा अशुभोपयोग के समय हिंसा आदि अव्रत की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार शुभ और अशुभभावरूप अशुद्ध उपयोग के समय

पर द्रव्य की प्रवृत्ति के साथ निमित्त-नैमित्तिकपना होता है; परन्तु जहाँ शुद्धोपयोग है वहाँ तो पर द्रव्य के साथ सम्बन्ध ही नहीं है। शुद्धोपयोग में तो 'यह ग्रहण करूँ और यह छोड़ूँ'-इत्यादि ग्रहण-त्यागरूप विकल्प ही नहीं होते। जब शुद्धोपयोग नहीं होता तब अशुद्ध उपयोग में शुभ-अशुभराग होता है। वहाँ व्रतादिरूप शुभभाव के साथ शरीर की ब्रह्मचर्यादि क्रिया का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। पंच महाव्रत की वृत्ति का शुभराग हो तब शरीर की दशा नग्न दिगम्बर ही होती है-ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। शुभोपयोग के समय शरीर की क्रिया हिंसा, मैथूनादिरूप नहीं होती। पंच महाव्रत का शुभराग हो और शरीर पर वस्त्रादिक का ग्रहण हो-ऐसा नहीं होता। व्रत के शुभभाव के समय उसके योग्य बाह्य क्रिया के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; परन्तु हाथ में चाकू लेकर सब्जी काटता हो और पंच महाव्रत के परिणाम वर्तते हो-ऐसा नहीं होता। यद्यपि हाथ की क्रिया तो जड़ की है; परन्तु राग के और बाह्य क्रिया के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। और जहाँ शुद्धोपयोग में स्थिर हुआ वहाँ तो पर द्रव्य पर लक्ष्य ही नहीं है। इस प्रकार जीव के राग के और पर द्रव्य के ग्रहण-त्याग के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; परन्तु शुद्धोपयोग में ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है।

पंच महाव्रत की वृत्ति हुई इसलिये वस्त्र छोड़ना पड़ता है-ऐसा मानने वाला वस्त्र छोड़ने की क्रिया का कर्ता होता है-यह मिथ्यात्व है और पंच महाव्रत होने पर भी शरीर पर वस्त्र होते हैं-ऐसा मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि है। पंच महाव्रत के और वस्त्र के त्याग के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; परन्तु वहाँ जीव ने तो पंच महाव्रत का शुभराग किया है, वस्त्र छोड़ने की क्रिया का कर्ता जीव नहीं है। शुभ परिणाम कारण और वस्त्र छूटना उसका कार्य-ऐसा नहीं है। अशुभ परिणाम कारण और बाहर में हिंसादिक की क्रिया होना उसका कार्य-ऐसा नहीं है। यहाँ (भाव और क्रिया में) निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी तो आत्मा के परिणाम के कारण जड़ की क्रिया हुई मानकर जड़ की क्रिया का स्वामी होता है; अतः वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ उसको समझाया है कि भाई! तेरी पर्याय में शुभाशुभभाव होते हैं वे तेरे हैं, परन्तु जड़ की क्रिया तेरी नहीं है। पर्याय में चौदहवें गुणस्थान तक अशुद्धता है वह जीव

का भाव है-ऐसा जाने और शुद्ध द्रव्य-स्वभाव को भी जाने और पर द्रव्य की क्रिया को अपनी नही माने तब निश्चय-व्यवहार का यथार्थ ज्ञान होता है।

सम्यग्दृष्टि शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानता है; परन्तु शुद्धोपयोग नही हो तब पहले अशुभ छोड़कर शुभ होता है; तत्पश्चात् शुभ छोड़कर शुद्धोपयोग होता है वह मोक्ष का कारण है।

....तथा कोई ऐसा माने कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग का कारण है; सो जैसे अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है, वैसे शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है। ऐसा ही कार्यकारणपना हो, तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरे। अथवा द्रव्यलिंगी के शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है, शुद्धोपयोग होता ही नही; इसलिये परमार्थ से इनके कारण-कार्यपना है नहीं। जैसे-रोगी को बहुत रोग था, पश्चात् अल्प रोग रहा, तो वह अल्प रोग तो निरोग होने का कारण है नहीं। इतना है कि अल्प रोग रहने पर निरोग होने का उपाय करे तो हो जाये; परन्तु यदि अल्प रोग को ही भला जानकर उसको रखने का यत्न करे तो निरोग कैसे हो? उसी प्रकार कषायी के तीव्रकषायरूप अशुभोपयोग था, पश्चात् मन्दकषायरूप शुभोपयोग हुआ, तो वह शुभोपयोग तो निःकषाय शुद्धोपयोग होने का कारण है नही। इतना है कि शुभोपयोग होने पर शुद्धोपयोगका यत्न करे तो हो जाये; परन्तु यदि शुभोपयोगकोही भला जानकर उसका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे हो? इसलिये मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कारण है नहीं, सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होने पर निकट शुद्धोपयोग प्राप्त हो-ऐसी मुख्यतासे कहीं शुभोपयोगको शुद्धोपयोग का कारण भी कहा है- ऐसा जानना।....

किसी को भी अशुभ में से सीधा शुद्धोपयोग नहीं होता। अशुभ मिटकर शुभ होता है और फिर शुभ भी मिटकर शुद्धं (शुद्धोपयोग) होता है। यद्यपि व्रत के परिणाम भी छोंड़ने योग्य है; तथापि सम्यग्दृष्टि को पहले अव्रत का विकल्प छूटकर व्रत के विकल्प होते हैं और तत्पश्चात् शुद्धोपयोग होने पर व्रत के विकल्प भी छूट जाते हैं। शुभ छूटकर शुद्ध हुआ-इस कारण कभी उपचार से उसको शुद्ध का कारण भी कहा

जाता है; परन्तु वास्तविक रूप से तो शुभ शुद्ध का कारण नहीं है। यदि शुभ शुद्ध का कारण हो तो अशुभ शुभ का कारण होगा; परन्तु ऐसा नहीं है।

तथा यदि शुभ शुद्ध का कारण होवे तो द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट शुभभाव करके नौवे ग्रैवेयक जाता है; तथापि उसको वह शुभ किंचित् भी शुद्धि का कारण नहीं होता। इसलिये शुभभाव शुद्धभाव का कारण नहीं है। किसी समय भावलिंगी मुनि पहले स्वर्ग जाते हैं और द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि शुभ से ठेठ नौवे ग्रैवेयक तक चला जाता है; परन्तु उसको उस शुभभाव के किंचित् भी शुद्धता नहीं होती। इसलिये शुभ और शुद्ध भाव में वास्तव में कारण-कार्यपना नहीं है।

द्रव्यलिंगी मुनि के उत्कृष्ट शुभोपयोग है। उसके शुक्ल लैश्या के परिणाम होते है; परन्तु वह अन्दर ही अन्दर शुभ से कल्याण मानता है, अन्तर में राग से कल्याण मानता है। 'मैं चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव हूँ'-ऐसी दृष्टि नहीं करके वह अन्तर में राग से कल्याण होने की श्रद्धा वाला है। जिसके अट्ठाईस मूलगुण ही सही नहीं है वह तो द्रव्यलिंगी भी नहीं है, यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो जिसको आगमानुसार व्यवहार श्रद्धा है उसकी बात है। यदि शुभ के कारण शुद्ध दशा होती हो तो द्रव्यलिंगी ने बहुत शुभभाव किये होने से उसके शुद्धदशा होनी चाहिये; परन्तु यह बात सत्य नहीं है। पुण्य परिणाम कारण और सम्यग्दर्शन कार्य नहीं हो सकता।

जैसे किसी रोगी को 105 डिग्री बुखार हो और बाद में वह 99 डिग्री हो जाये तो वह बुखार की न्यूनता निरोगता का कारण नहीं है। यदि 99 डिग्री बुखार 6 माह तक रह जाये तो क्षय रोग की शंका हो जाती है। इसलिये वह निरोगता का कारण नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि अल्परोग के समय निरोगता का उपाय करे तो निरोग हो जाये; और यदि अल्प रोग-99 डिग्री बुखार को भला जाने तो क्षयरोग (टीबी) हो जायेगा। इसी प्रकार अज्ञानी के हिंसा, झूठ, चोरी, के अशुभभाव थे वह तीव्र रोग था; तत्पश्चात् कषाय की मंदता की, वहाँ शुभभाव हुआ, परन्तु वह शुभराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण नहीं है। पुण्य परिणाम रोग है। अज्ञानी उसको रोग

नहीं मानता-इस कारण उसको मिथ्यात्व का क्षय लागू पड़ा है। पुण्य परिणाम सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि शुभराग का लक्ष्य छोड़कर चिदानन्द आत्मा का लक्ष्य करे तो धर्म होता है; परन्तु सच्चे देवादिक से अथवा सामायिकादि के शुभराग से कल्याण होना माने तो उसे मिथ्यात्वरूपी क्षयरोग लागू पड़ता है।

भाई! शान्त हो!! अपनी बात सुन! शुभ के लक्ष्य से आत्मा का भान नहीं होता। दया, दानादि के परिणाम किये, इसलिये कल्याण होगा-ऐसा नहीं है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होने वाला शुभभाव भी (संसार से) तारने में समर्थ नहीं है, उससे भी आत्मा का भान नहीं होता। अनन्त सिद्ध भगवान हुए वे कहाँ से हुए? अन्तर शक्ति है उसके आश्रय से परिणमकर सिद्ध हुए हैं, शुभराग से नहीं।

मिथ्यादृष्टि का शुभ उपयोग तो शुद्धोपयोग का उपचार कारण भी नहीं है; परन्तु धर्मात्मा शुभ को हेय मानता है-इस कारण उसको छोड़कर शुद्धोपयोग प्रगट करेगा। इसलिये उसके शुभोपयोग को उपचार से शुद्धोपयोग का कारण कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि को भान है कि आत्मा आनन्दकंद है, राग और पुण्य से आत्मकल्याण नहीं है। अतः वह राग को छोड़कर स्वरूप में स्थिरता करेगा-इस कारण उसके शुभ को उपचार से शुद्ध का कारण कहा जाता है।

शुद्धोपयोग तो स्वभाव में एकाग्र होने पर ही होता है। शुभ तो पर के लक्ष्य से होता है। सम्पूर्ण दृष्टि बदल जावे तब शुद्धोपयोग होता है। मिथ्यादृष्टि के तो शुद्धोपयोग होता ही नहीं है; इसलिये उसका शुभोपयोग तो उपचार से भी शुद्ध का कारण नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को स्वभाव की दृष्टि तो वर्त रही है और उसको निकट ही शुभ को छोड़कर शुद्धोपयोग की प्राप्ति होगी-इस अपेक्षा से कहीं-कहीं सम्यग्दृष्टि के लिये शुभ को शुद्ध का कारण कहते हैं।

....तथा यह जीव अपने को निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का साधक मानता है। वहाँ पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा को शुद्ध माना सो तो सम्यग्दर्शन

हुआ; वैसा ही जाना सो सम्यग्ज्ञान हुआ; वैसा ही विचारमें प्रवर्तन किया सो सम्यक्चारित्र हुआ। इस प्रकार तो अपने को निश्चयरत्नत्रय हुआ मानता है; परन्तु मैं प्रत्यक्ष अशुद्ध; सो शुद्ध कैसे मानता-जानता-विचारता हूँ-इत्यादि विवेकरहित भ्रम से संतुष्ट होता है।....

आत्मा को 'शुद्ध-शुद्ध'कहता है; परन्तु किस प्रकार शुद्ध है इसका उसे पता नहीं है। द्रव्यदृष्टि के बिना वैसे ही कहता है कि आत्मा तो सिद्धसमान शुद्ध है; परन्तु पर्याय में अशुद्धता होने पर भी शुद्धता मानना तो भ्रम है। वस्तु को समझे बिना शुद्ध आत्मा की मान्यता किस प्रकार की ? यदि शुद्ध द्रव्य की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता करे तो पर्याय में शुद्धता होना चाहिये; परन्तु पर्याय का तो उसे पता ही नहीं है। वह तो 'मैं शुद्ध हूँ'-ऐसा कल्पना से मानता है, जानता है और उस रागमिश्रित विचार में लीन होता है-उसी को वह निश्चय रत्नत्रय मानता है। उसको निश्चय रत्नत्रय के सच्चे स्वरूप का पता नहीं है।

अब अज्ञानी व्यवहार रत्नत्रय को भी अन्यथा प्रकार से मानता है वह कहते हैं।

....तथा अरहंतादिक के सिवा अन्य देवादिक को नहीं मानता व जैनशास्त्रानुसार जीवादिक के भेद सीख लिये हैं उन्हीं को मानता है, औरों को नही मानता, वह तो सम्यग्दर्शन हुआ; तथा जैनशास्त्र के अभ्यास में बहुत प्रवर्तता है सो सम्यग्ज्ञान हुआ; तथा व्रतादिरूप क्रियाओं में प्रवर्तता है सो सम्यक्चारित्र हुआ।-इस प्रकार अपने को व्यवहाररत्नत्रय हुआ मानता है। परन्तु व्यवहार तो उपचार का नाम है; सो उपचार भी तो तब बनता है जब सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय के कारणादिक हों। जिस प्रकार निश्चयरत्नत्रय सध जाये उसी प्रकार इन्हें साधे तो व्यवहारपना भी सम्भव हो; परन्तु इसे तो सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय की पहिचान ही हुई नहीं; तो यह इस प्रकार कैसे साध सकेगा? आज्ञानुसार हुआ देखा-देखी साधन करता है। इसलिये इसके निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं हुआ।

निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग का आगे निरूपण करेगे, उसका साधन होने पर ही मोक्षमार्ग होगा।....

वह जीव अरिहन्त कथित वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु को मानता है, इनके अतिरिक्त अन्य को नहीं मानता। जिनके आहार नहीं होता, रोग नहीं होता-ऐसे देव को मानता है, निर्ग्रन्थ गुरु के सिवाय अन्य को नहीं मानता तथा भगवान द्वारा कथित शास्त्रों को ही मानता है और इस प्रकार अपने को व्यवहार सम्यक्त्व हुआ मानता है। शास्त्रानुसार जीवादि के भेद सीख लेता है और अन्य तत्वों को नहीं मानता इससे अपने को व्यवहार सम्यग्दर्शन हुआ मानता है। जैन शास्त्रों के अभ्यास में प्रवृत्ति होने को सम्यग्ज्ञान हुआ मानता है। तथा हम दया पालते हैं, उपयोग ठीक रखते हैं इत्यादि को व्यवहार सम्यक्चारित्र मानता है। इस प्रकार अपने को व्यवहार रत्नत्रय हुआ मानता है; परन्तु यह भ्रम है।

अब अज्ञानी ने निश्चय का साधन तो किया नहीं है,इसलिये उसका तो व्यवहार भी मिथ्या है। जहाँ निश्चय स्वरूप में भूल है वहाँ व्यवहार उपचार होगा कैसे? वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु को मानना, जानना और रागादि को मंदता करना व्यवहार कब कहलायेगा? यदि आत्मा का अनुभव हो अथवा यदि सत्यभूत निश्चय रत्नत्रय का निमित्तरूप कारण हो तो (उपचार कहलायेगा)। अज्ञानी को तो उपचार और अनुपचार का पता नहीं है। हम व्यवहार करते हैं और राग करते-करते धर्म हो जायेगा-ऐसी विपरीत श्रद्धा होने से अज्ञानी के व्यवहार को उपचार नहीं कहा जाता। आत्मा स्वभाव से अखण्ड ज्ञानानन्द और राग से रहित है-ऐसी श्रद्धा और स्वसंवेदन ज्ञान सहित अन्तर रमणता करने वाले के व्यवहार रत्नत्रय सहचरूप होने से उपचार से कारण कहा जाता है; परन्तु अज्ञानी जीव को नौ तत्व, उपादान-निमित्त आदि का पता नहीं है; आत्मा के आश्रय से प्रगटने वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पता नहीं है; राग विकल्प है और आत्मा विकल्प रहित है-ऐसा भेदज्ञान नहीं है; अतः उसके शुभराग में शुद्धता के कारणपने का उपचार भी संभव नहीं होता। अखण्ड द्रव्य स्वभाव एक स्वरूप है। जिसने उसका आश्रय नहीं लिया और भेद को धर्म का कारण मानता है उसके व्यवहार संभव नहीं है।

....इस प्रकार यह जीव निश्चयाभास को मानता-जानता है; परन्तु व्यवहार- साधन को भी भला जानता है; इसलिये स्वच्छन्द होकर अशुभरूप नहीं प्रवर्तता है; व्रतादिक शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है; इसलिये अंतिम ग्रैवेयक

पर्यन्त पद को प्राप्त करता है। तथा यदि निश्चयाभास की प्रबलता से अशुभरूप प्रवृत्ति हो जाये तो कुगति में भी गमन होता है। परिणामों के अनुसार फल प्राप्त करता है, परन्तु संसार का ही भोक्ता रहता है; सच्चा मोक्षमार्ग पाए बिना सिद्धपद को नहीं प्राप्त करता है।

इसप्रकार निश्चयाभास-व्यवहाराभास दोनों के अवलम्बी मिथ्यादृष्टियों का निरूपण किया।....

इस प्रकार यह जीव निश्चयाभास को मानता है और जानता है। अपने को पर्याय में सिद्ध समान मानता है। तथा वह कहता है कि अपन व्रत, तप करो, ये भले साधन हैं। दया, कौमलता, ब्रह्मचर्य का भाव करते-करते परम्परा से धर्म हो जायेगा-इस प्रकार व्यवहार को भला मानता है। अतः स्वच्छन्दी बनकर अशुभरूप नहीं प्रवर्तता; व्रतादि शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है। वह ऐसे शुभ परिणामों से अन्तिम ग्रैवेयक तक के पद प्राप्त करता है; परन्तु आत्मा के भान बिना एक भी भव कम नहीं होता। तथा यदि उसके निश्चयाभास की प्रबलता हो जाये तो स्वच्छन्दरूप पाप प्रवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टिपने सहित अशुभ परिणाम करे तो कुगति में जाता है। आत्मा शुद्ध है, जड़ की क्रिया जड़ करता है, खाना-पीना और मौज करना, आत्मा निर्लेप है-ऐसा कहकर पाप के भाव, लंपटीपने के भाव, मद्य-मांसादि भक्षण के भाव करे तो नरक में जाता है। अर्थात् स्वयं जैसे परिणाम करे वैसा फल प्राप्त करता है। शुभ या अशुभ परिणाम करे तो दोनो से संसार में परिभ्रमण करता है। शुभ से धनादि धूल का संयोग मिलता है और अशुभ से दरिद्रता-रोगादि होते है। दोनो में कुछ लाभ नहीं है।

यहाँ तो कहते है कि शुभभाव करे तो स्वर्ग में जाता है, अशुभ भाव करे तो नरक में जाता है; परन्तु सच्चा मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना सिद्ध पद को प्राप्त नहीं कर सकता।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहाराभास के अवलम्बियों का कथन किया।

सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि

....अब, सम्यक्त्व के सन्मुख जो मिथ्यादृष्टि हैं उनका निरूपण करते हैं:-

कोई मन्दकषायादि का कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हुआ, जिससे तत्वविचार करने की शक्ति हुई; तथा मोह मन्द हुआ, जिससे तत्वविचार में उद्यम हुआ, और बाह्यनिमित्त देव-गुरु-शास्त्रादि का हुआ, उनसे सच्चे उपदेश का लाभ हुआ।

वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरु-धर्मादिक के, जीवादितत्वों के, तथा निज-पर के और अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के-इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि अहो! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है; तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले है, इसलिये मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिये, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचारकर जो उपदेश सुना उसके निर्धार करने का उद्यम किया।

वहाँ, उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षा द्वारा उनका निर्धार होता है। इसलिये पहले तो उनके नाम, सीखे, वह उद्देश हुआ। फिर उनके लक्षण जाने। फिर ऐसा सम्भवित है कि नहीं-ऐसे विचार सहित परीक्षा करने लगे।

वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना यह दोनों तो उपदेश के अनुसार होते हैं- जैसा उपदेश दिया हो वैसा याद कर लेना। तथा परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिये। सो विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे कि जैसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है? वहाँ अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे। अथवा उपदेश तो ऐसा है, और ऐसा न मानें तो ऐसा होगा; सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है? जो प्रवल भासित हो उसे सत्य जाने। तथा यदि उपदेश में अन्यथा सत्य भासित हो, अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो; तो जो विशेषज्ञ हो उनसे पूछे, और वे उत्तर दें उसका विचार करे। इसी प्रकार जब तक निर्धार न हो तब तक प्रश्न-उत्तर करे। अथवा समानबुद्धि के धारक हों उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा

कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे; तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो उसका एकान्त में विचार करे। इसी प्रकार जब तक अपने अंतरंग में-जैसा उपदेश दिया था वैसा ही निर्णय होकर-भाव भासित न हो तब तक इसी प्रकार उद्यम किया करे।

तथा अन्यमतियों द्वारा जो कल्पित तत्वों का उपदेश दिया गया है, उससे जैन उपदेश अन्यथा भासित हो व सन्देह हो-तब भी पूर्वोक्त प्रकार से उद्यम करे।

ऐसा उद्यम करने पर जैसा जिनदेव का उपदेश है वैसा ही सत्य है, मुझे भी इसी प्रकार भासित होता है-ऐसा निर्णय होता है; क्योंकि जिनदेव अन्यथावादी हैं नहीं।....

अब सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों का निरूपण करते हैं। किन्ही मन्द कषायादि का कारण पाकर ज्ञानावरणी आदि कर्मो का क्षयोपशम होने से तत्व विचार करने की शक्ति प्रगट होती है। पूर्व में कुदेवादि को मानता था वह तीव्र कषाय थी। अब सुदेवादिक की मान्यता वाला हुआ-इस कारण कषाय मंद हुई; इसलिये उसके ज्ञान का उघाड हुआ और तत्व विचार करने की शक्ति प्रगट हुई। तथा मिथ्यात्व मंद हुआ होने से देव-शास्त्र-गुरु, नवतत्व, छह द्रव्य आदि तत्वों का विचार करने में उद्यमी हुआ-ऐसा होने पर बाह्य निमित्त सच्चे देव-शास्त्र-गुरु योग का मिला और उनके सच्चे उपदेश के श्रवण का योग बना। उस उपदेश में अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के देव-शास्त्र-गुरु आदि के, जीवादि सात तत्वों के, स्व-पर के तथा अपने को हितकारी-अहितकारी भावों इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर उसने ऐसा विचार किया कि अहो! मुझे तो इन बातों का पता ही नहीं था; मैं तो भ्रम से भूलकर पर्याय में-शरीर में तन्मय हो रहा था; परन्तु यह शरीर तो अल्पकाल रहने वाला है। इस प्रकार बैरागी होता है। तथा निर्णय करता है कि मुझे पूर्वोक्त तत्वों का पता नहीं था। "मैं तो जानता हूँ" भ्रम से ऐसा मान बैठने वाला तो पात्र ही नहीं है; क्योंकि वह अपनी पूर्व और वर्तमान की मान्यता में कोई अन्तर नहीं करता।

देखो! अज्ञानी के कठोर कर्मोदय है इसलिये तत्व समझने का उघाड़ (क्षयोपशम) नहीं है-ऐसा नहीं है। वह विपरीत पुरुषार्थ करता है इसलिये ज्ञान का उघाड़ नहीं है। संज्ञी जीव ने बहुत प्रकार की मंद कषाय में से किसी मंद कषाय का कारण किया है, इस कारण उसको ज्ञान का उघाड़ है तथा तत्वज्ञान के विचार करने की शक्ति प्राप्त हुई है।

यहाँ जो जिज्ञासु सम्यग्दर्शन के लिये प्रयत्न करता है उसकी बात चलती है। वह वीतराग देव कथित मार्ग को समझना चाहता है। अनन्तबार मुनिपना अंगीकार करने पर भी आत्मा का भान नहीं हुआ-इस कारण यह जीव समझना चाहता है कि सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है। इस जीव को पूर्व में कषाय की मंदता होने पर मनुष्य हुआ है। इसको कर्म के स्थिति-अनुभाग घट गये हैं और ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम हुआ है। जिसको ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी आदि अल्प बंधे है-ऐसे जीव की बात करते है। उसको भगवान कथित तत्व के विचार करने की शक्ति प्रगट हुई है। तथा उसके तीव्र अनंतानुबंधी और तीव्र गृहीत मिथ्यात्व के परिणामों का नाश हुआ है। वह कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को नहीं मानता-इस प्रकार मोह मंद होने से जीवादि सात तत्व क्या है, इस प्रकार सात तत्वों के विचार में उद्यमवंत हुआ है। वह स्वयं प्रयत्न करता है और बाह्य में सच्चे अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थगुरु अथवा सम्यग्ज्ञानी श्रावक मिले हैं और त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि से निकले हुए रहस्यों के प्ररूपक शास्त्र मिले हैं, इनके द्वारा सत्य उपदेश का लाभ हुआ है। सर्वज्ञ क्या कहते हैं, देव-शास्त्र-गुरु और नवतत्व किसको कहना ? यह बात जिसके कान में पड़ी है वह जीव सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के आंगन में आया है।

अब उस जीव को सच्चा उपदेश मिलने पर वह विचारता है कि अहो! मुझे तो इस बात का पता ही नहीं था। जो जीव प्रथम सत्य उपदेश मिलने पर कहता है कि हम तो पहले से ही यह बात जानते थे-हमें इस बात का पता था, तो वह जीव मायावी (कपटी) है, वह अपने को ठग रहा है। जिसके कान में वीतराग की बात पड़ी नहीं है, तत्व की पहिचान हुई नहीं और बात कान में पड़ने पर कहता है कि हमें इस बात का पता था-हमारे शास्त्र में यह बात है; तो जीव महा मिथ्यात्व को पुष्ट करता है।

जो जीव भूतकाल में मेरी क्या भूल थी इस बात को नहीं पकड़ता वह कभी सावधान नहीं होता। हम तो पहले से ही जानते थे, पहले साधारण जानते थे अब विशेष स्पष्टीकरण मिला-ऐसा जीव तो उपेदश सुनने का भी पात्र नहीं है। यहाँ ऐसे जीव की बात नहीं है। यहाँ तो पात्रजीव की बात है। वह विचारता है कि अहो! हमें तो इस बात का पता ही नहीं था। हम तो अभी तक शरीर की क्रिया और पुण्य-पाप के भाव में ही तन्मय थे। शरीर तो जड़-संयोगी है वह आत्मा के साथ नहीं आता। आत्मा अनादि-अनन्त है। जिस समय और जिस क्षेत्र में शरीर छूटना है वह छूट जाता है। उसे बदलने में इन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार मैं भ्रम से शरीर, वाणी, पैसा, स्त्री इत्यादि को अपना मानता था। मुझे पता नहीं था कि पुण्य-पाप बंधन है और आत्मा का स्वरूप नहीं है। मैं तो भ्रम से भूलकर पर्याय में ही तन्मय हो रहा था। यह शरीर तो श्मशान में राख होने वाला है। अतः मेरा और शरीर का क्या सम्बन्ध है? मुझे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और सच्चा उपदेश आदि सर्व निमित्त मिले हैं। इसलिये इस बात का यथार्थ निर्णय करना चाहिये। स्व-पर, जीवादि तत्व, देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि का निर्णय करना चाहिये। बिना निर्णय किये वैसे ही मान लेने में हित नहीं है। इस प्रकार वह जीव सत्य समझने के लिये सावधान होता है, कारण कि इसमें उसको अपना प्रयोजन ज्ञात होता है।

इस प्रकार विचारकर जो उपदेश सुना उसका निर्णय करने का प्रयत्न करता है। यहाँ उपदेश लिया है। प्रथम ही शास्त्र पढ़कर तत्व विचार करता है-ऐसा नहीं कहा है।

जिसने अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया है; परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये तत्वनिर्णय आदि का उद्यम करता है-ऐसे जीव की बात चलती है। जिसको आत्मा का हित करने की भावना हुई है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करके आत्मा का कल्याण करने की धगश जागी है-ऐसे जीव को प्रथम तो कषाय की मंदता हुई है। तत्व का निर्णय करने योग्य ज्ञान की शक्ति का विकास हुआ है। निमित्तरूप सच्चे देव-शास्त्र-गुरु मिले हैं और स्वयं को उनकी प्रतीति हुई है। ज्ञानी के द्वारा यथार्थ उपदेश मिला है और स्वयं ने अपने प्रयोजन के लिये मोक्षमार्ग इत्यादि का उपदेश सुना है। कौन भाव आत्मा

को हितकारी और कौन भाव अहितकारी है ? सच्चे देवादि व कुदेवादि का क्या स्वरूप है ? जीवादि नव तत्वों का क्या स्वरूप है ? द्रव्य-गुण-पर्याय और उपादान निमित्त का क्या स्वरूप है ? मोक्षमार्ग का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इत्यादि प्रयोजनभूत बातों का यथार्थ उपदेश गुरुगम से प्राप्त हुआ है और स्वयं अन्तर में उसका निर्णय करके समझने का प्रयत्न करता है। यह समझकर स्वयं अपना ही प्रयोजन साधना चाहता है। उपदेश की धारण करके मैं अन्य को सुनाऊँ अथवा समझा दूँ-ऐसे आशय से नहीं सुनता है; परन्तु समझकर अपना कल्याण करने की भावना है।

देखो! यह तो अभी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की पूर्व पात्रता बतलाते हैं। जो अपना कल्याण करना चाहता है उसकों मंद कषाय और ज्ञान का उघाड़ तो होता ही है; तदुपरांत प्रथम तो ज्ञानी के पास से यथार्थ उपदेश मिलना चाहिये। अज्ञानी-कुगुरुओं के उपदेश से यथार्थ तत्वनिर्णय नहीं हो सकता।

देखो! इसमें क्या करने को कहा ? तत्वनिर्णय का उद्यम करने को कहा है। जो कुदेव, कुगुरु को मानते हैं, सर्वज्ञ को आहार और मुनि को वस्त्र मानते हैं, व्यवहार के अवलम्बन से मोक्षमार्ग होना मानते हैं-ऐसे जीव तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं। उनको तो सम्यक्त्व होने की पात्रता भी नहीं है। जो जैन धर्म के मूल सर्वज्ञ को नहीं पहिचानता है वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है- ऐसे जीवों की यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो जो जीव सर्वज्ञ को पहिचानकर मानता है, सच्चे गुरु को मानता है और उनके द्वारा कथित यथार्थ तत्वों का निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये उद्यम करता है-ऐसे जीव की बात है। देखो! यह सम्यक्त्व सन्मुख जीव की कैसी-कैसी पवित्रता होती है यह बताते हैं:-

★ प्रथम तो मंद कषाय हुई है। आत्मा का हित करने की जिज्ञासा हुई वहाँ कषाय तो मंद हो ही गई। तीव्र विषय-कषाय के भाव में डूबे हुए जीव को तो आत्मा के हित का विचार भी नहीं उत्पन्न होता।

★ मंद कषाय से ज्ञानावरणादि का ऐसा क्षयोपशम हुआ है कि तत्व का विचार

और निर्णय करने योग्य ज्ञान की शक्ति प्रगट हुई है। देखो! तत्वनिर्णय करने जितनी बुद्धि तो है; परन्तु जिसको आत्मा की दरकार नहीं है वह जीव तत्वनिर्णय में अपनी बुद्धि को नहीं जोड़ता है और बाहर के विषय-कषायों में ही अपनी बुद्धि को लगाताहै।

★ सम्यक्त्वसन्मुख जीव को मोह की मंदता हुई है-इस कारण वह तत्वविचार में उद्यमी हुआ है। दर्शनमोह की मंदता हुई है और चारित्र मोह में भी कषायों की मंदता हुई है। अपने भाव में मिथ्यात्वादि का रस बहुत मंद हो गया है और तत्व निर्णय के प्रति झुकाव हुआ है। वह जीव संसार के कार्यों की लोलुपता छोड़कर आत्मा का विचार करने में उद्यमी हुआ है। संसार के कार्यो से निवृत्त होवे-उनका रस घटावे तब आत्मा का विचार करेगा न! जो संसार की तीव्र लोलुपता में पड़ा हो उसको आत्मा का विचार कहाँ से आयेगा? जिसके हृदय में से संसार का रस उड़ गया है और जो आत्मा के विचार का उद्यम करता है कि अरे! मुझे तो मेरी आत्मा का हित करना है, दुनिया तो ऐसे ही चलती रहेगी, दुनिया की दरकार छोड़कर मुझे तो मेरा हित करना है -ऐसे जीव की यह बात है।

★ उस जीव को बाह्य निमित्तरूप सच्चे देव-गुरु-शास्त्रादि मिले हैं; उसको कुदेवादि की मान्यता छूट गई है। अरहन्त भगवान की वीतराग प्रतिमा भी देव है। शास्त्र में नवदेव पूज्य कहे गये हैं-पंच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनचैत्य और जिन प्रतिमा-ये नवदेव के रूप में पूज्य हैं। दिगम्बर संत भावलिंगी मुनि गुरु हैं। तथा निमित्तरूप कोई ज्ञानी सत्पुरूष मिलें तो वे भी ज्ञानगुरु हैं। पात्र जीव को ज्ञानी का उपदेश ही निमित्तरूप होता है। नरकादि में मुनि इत्यादि का सीधा निमित्त नहीं है; परन्तु पूर्व में ज्ञानी की देशना मिली है उसके संस्कार वहाँ निमित्त होते हैं। देव या गुरु के बिना अकेले शास्त्र सम्यग्दर्शन के निमित्त नही होते। इसलिये कहा है कि सम्यक्त्वसन्मुख जीव को कुदेवादि की परम्परा छोड़कर सुदेवादि की परम्परा मिली है।

★ उस जीव को सत्य उपदेश का लाभ मिला है। ऐसे निमित्तों का संयोग मिलना तो पूर्व पुण्य का फल है और सत्य तत्व का निर्णय करने का उद्यम अपना वर्तमान पुरुषार्थ है। यहाँ तो पात्र जीव को कैसे निमित्त होते हैं-यह भी बताते हैं कि

निमित्तरूप सत्य उपदेश मिलना चाहिये। उस उपदेश का मिलना तो पुण्य का फल है; परन्तु उस उपदेश को सुनकर तत्व का निर्णय करने की जिम्मेदारी अपनी है।

* ज्ञानी के पास से यथार्थ तत्व का उपदेश मिलने के पश्चात् स्वयं सावधान होकर उसका विचार करता है। यों ही ऊपर-ऊपर से नहीं सुन लेता; परन्तु बराबर ध्यानपूर्वक सुनकर सावधानी पूर्वक उसका विचार करता है और उपदेश सुनकर बहुमान आता है कि अहो! मुझे तो इस बात का पता ही नहीं था, मैंने तो पूर्व में यह बात सुनी ही नहीं थी! देखो, यह जिज्ञासु जीव की योग्यता! उसको जगत की दरकार नहीं है। अन्य बहुत जीवों को समझा दूँ या अन्य का कल्याण कर दूँ-ऐसे विचार में वह नहीं अटकता है; परन्तु मेरी आत्मा का हित कैसे हो इसकी ही उसे लगन लगी है। इस जीव के शुभराग के कारण किसी पर जीव का हित नहीं हो जाता। पर जीव का हित-अहित होना उसके परिणामों के आधीन है; इसलिये मैं जगत के जीवों पर उपकार कर दूँ, देश का उद्धार कर दूँ-ऐसा वह नहीं मानता है। वह तो अपने आत्महित का ही प्रयोजन विचारकर सावधान होकर अन्तर में मोक्षमार्ग तथा जीवादि तत्वों का विचार करता है।

जिसको अपने आत्मा का हित करना हो वह जगत के लिये नहीं रुकता है। बाहर में गाँव-गाँव में बहुत जिनमन्दिर बनें और बहुत जीव धर्म प्राप्त करे तो मेरा कल्याण हो जाए-ऐसा विचारकर जो बाहर में ही रुकता है वह कब आत्मसन्मुख होगा? अरे भाई! तू तेरे आत्मा में ऐसा मन्दिर बना कि जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी भगवान आकर विराजें! भक्ति-प्रभावना आदि का शुभभाव आना अलग बात है; परन्तु पात्र जीव उस राग पर वज़न नहीं देकर आत्मा के निर्णय का प्रयत्न करता है।

देखो! यह सम्यग्दर्शन प्राप्ति की तैयारी वाले जीव की पात्रता! अभी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पूर्व ऐसा निर्णय करता है कि अरे! जीवन थोड़े काल का है, इसमें आत्मा का कार्य ही करने योग्य है-ऐसा विचारकर संसार के कार्यो का रस घटाकर चैतन्य का निर्णय करने का प्रयत्न करता है, उसमें ही निज हित भासित हुआ है; इसलिये इस कार्य को करने में अतिप्रीति और हर्ष पूर्वक उद्यम करता है। इस प्रकार उसको

अपना कार्य करने का बहुत उल्लास है। इस कारण जो उपदेश सुना उसका विचार करके निर्धार करने का निरन्तर उद्यम करता है। मैं तत्व को समझकर मेरी आत्मा का उद्धार करूँ-ऐसा विचार करके तत्वनिर्णय का उद्यम करता है। *"काम एक आत्मार्थ का, नही दूजा मनरोग।"*

वहाँ उद्देश अर्थात् नाम जानता है तथा लक्षण निर्देश अर्थात् जिसका जो लक्षण हो वह जानता है। तथा परीक्षा द्वारा विचारकर निर्णय करता है। जीव-अजीवादि का नाम सीखाता है, उनके लक्षण जानता है और परीक्षा करके निर्णय करता है। जो उपदेश सुना उसका निर्धार करने के पश्चात् अन्तर में स्वयं उसका निर्णय करता है। अर्थात् उपदेश के अनुसार नाम और लक्षण जानकर स्वयं विवेक से निर्णय करता है।

कोई सात तत्वों को तो स्वतन्त्र कहता है, वस्तु को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप कहता है और फिर यह कहता है कि 'निमित्त आवे तो पर्याय होती है, निमित्त के बिना पर्याय नही होती'- तो उसका उपदेश परस्पर विरूद्ध है।-ऐसे उपदेश को वह मानता ही नहीं; परन्तु ज्ञानी के पास से जो सच्चा उपदेश मिला है उसका भी अपने विवेक से उद्यम करके निर्णय करता है। ज्ञानी कहते हैं कि प्रत्येक तत्व स्वतन्त्र है, निमित्त कुछ नहीं करता; और फिर ऐसा भी कहते हैं कि ज्ञानी के पास से देशनालब्धि प्राप्त हुए बिना किसी जीव को सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं होता-तो इसका मेल किस प्रकार है ? इस प्रकार स्वयं बराबर विचारकर निर्णय करता है। अपने ज्ञान से विवेक करता है कि वस्तु किस प्रकार है ?

तत्वनिर्णय करने के लिये प्रथम तो तत्वों के नाम और लक्षण जानता है और पश्चात् परीक्षा द्वारा विवेक करके तत्व के भावों को पहिचानकर निर्णय करता है। अज्ञानी के विपरीत उपदेश को तो मानता ही नहीं; परन्तु ज्ञानी के यथार्थ उपदेश का भी स्वयं विवेकपूर्वक निर्णय करता है। ऐसे ही नहीं मान लेता; परन्तु स्वयं अपना विचार मिलाकर तुलना करता है। ज्ञानी के पास से सुनकर 'यह किस प्रकार है'-इस प्रकार स्वयं उसके भाव को पहिचानकर अपने विवेक से निर्णय नहीं करे तो सच्ची प्रतीति नहीं होती। इसलिये कहा है कि ज्ञानी के पास से जो तत्व का उपदेश सुना

उसे धारणा करके रखकर फिर एकान्त में विचार करके स्वयं उसका निर्णय करना चाहिये। जो उपदेश सुनने में ही ध्यान नहीं रखता और उसी समय अन्य सांसारिक विचारो में लग जाता है उसे तो तत्वनिर्णय की दरकार ही नहीं है। क्या कहा उसकी धारणा भी नहीं करे तो विचार करके अन्तर में निर्णय कैसे करेगा ? जिस प्रकार गाय खाने के समय खा लेती है और फिर आराम से बैठकर जुगाली करके उसे पचाती है; उसी प्रकार जिज्ञासु जीव जैसा उपदेश सुनता है उसे बराबर याद कर लेता है और पश्चात् एकान्त में विवेक पूर्वक विचार करके उसका निर्णय करता है और अन्तर में उसको परिणमाने का प्रयत्न करता है।-इस प्रकारः-

1. यथार्थ उपदेश सुनना,
2. याद रखना,
3. विचार करना और
4. उसका निर्णय करना-ऐसी चार बातें की हैं।

स्वयं में तत्वनिर्णय करने की शक्ति होना चाहिये। उस जीव के ज्ञान का इतना विकास तो हुआ है; परन्तु उस ज्ञान को तत्वनिर्णय करनें में लगाना चाहिये। सुनने के पश्चात् स्वयं अपने उपयोग में विचार करे कि श्रीगुरु ने जो कहा वह किस प्रकार होगा ? यदि मात्र सुनता अथवा पढ़ता ही रहे; किन्तु स्वयं कुछ भी विचार करके तत्वनिर्णय में अपनी शक्ति को नहीं लगाये तो उसको यथार्थ प्रतीति का लाभ नहीं हो सकता।

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ, मेरे आश्रय से ही मेरा हित है; मेरे अतिरिक्त पर के अवलम्बन से रागादिक भाव होते हैं उनमें मेरा हित नहीं हैं-इस प्रकार तत्वों के भाव का भासन होना चाहिये, तभी यथार्थ तत्वार्थ श्रद्धान होता है।-ऐसा तत्वार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

ज्ञानी ने ऐसा उपदेश दिया कि "तत्वार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है" और स्वयं ने सुना; परन्तु स्वयं एकान्त में बैठकर विचारना चाहिये कि ज्ञानियों ने जीवादि सात तत्व कहे हैं उनका क्या स्वरूप है ? उनके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का

लक्षण कहा है वह किस प्रकार है? इस प्रकार स्वयं निर्णय करके सात तत्वों की परीक्षा करके पहिचाने।

'सम्यग्दर्शन' ऐसा कहा वह नाम हुआ। तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन'-ऐसा कहा वह सम्यग्दर्शन का लक्षण हुआ। 'जीव'-ऐसा कहा वह नाम हुआ। जीव 'ज्ञानस्वरूप' है-ऐसा कहा वह जीव का लक्षण हुआ। इस प्रकार तत्वों का नाम और लक्षण जानना चाहिये। देव-शास्त्र-गुरु, मोक्षमार्ग, उपादान-निमित्त, स्व-पर, हित-अहित इत्यादि का नाम तथा लक्षण सुनकर जानना चाहिये तथा स्वयं परीक्षा करके उनका निर्णय करना चाहिये। ज्ञानी ने कहा वह तो ज्ञानी के पास रहा, परन्तु यदि स्वयं निर्णय नहीं करे तो स्वयं को तत्व का यथार्थ लाभ नहीं होता। इसलिये नाम और लक्षण जानकर निर्णय करना चाहिये।

'सम्यक्चारित्र'-यह नाम, वहाँ वीतरागता उसका लक्षण है। जीव-अजीव इत्यादि नाम कहे वह 'नामनिर्देष है और प्रत्येक का भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाना 'लक्षण निर्देश' है।

नव तत्वों को तथा मोक्षमार्ग को जानकर स्वयं एकान्त में विचार करना चाहिये। एकान्त में विचार करने को कहकर विचार की एकाग्रता बताते हैं। क्षेत्र की बात नहीं ली है कि निर्णय करने के लिये जंगल ही जाना पड़ेगा। भगवान के समवसरण में बैठा हो और अन्तर के विचारों में लीन होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले, तो वहाँ भी उसके लिये एकान्त कहलाया।

यहाँ, युक्ति, अनुमान, प्रत्यक्ष, तर्क आदि से उपदेश में आये हुए तत्व 'ऐसे ही है या अन्यथा'-ऐसा निर्णय करना चाहिये। तथा विशेष विचार करना चाहिये कि उपदेश में तो यह कथन आया है; परन्तु यदि ऐसा नहीं माना जाए तो क्या बाधा आयेगी?

जैसे जीव का लक्षण ज्ञान कहा। वह ज्ञान समस्त अवस्थाओं में रहता है; इसलिये वह जीव का निर्दोष लक्षण है। दया, दानादि के विकल्प जीव में त्रिकाल नहीं

रहते-इस कारण वे जीव का वास्तविक लक्षण नहीं है। देखो! अनुमान से निर्णय करने में भी ज्ञान लक्षण से जीव का निर्णय करता है; परन्तु राग अथवा शरीरादि की क्रिया को जीव का लक्षण नहीं मानता। लक्षण द्वारा अनुमान करने वाला निःशंक है। जैसे धुआँ द्वारा अग्नि का अनुमान किया कि यहाँ धुआँ है इसलिये अग्नि है, तो वह अनुमान संदेह वाला नहीं होकर सत्य है। इसी प्रकार ज्ञान सो आत्मा, राग सो आत्मा नहीं, शरीर की क्रिया सो आत्मा नहीं; परन्तु ज्ञान सो आत्मा-इस प्रकार ज्ञानलक्षण से आत्मा के स्वभाव का यथार्थ अनुमान करता है। यद्यपि अभी सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण नहीं हुआ है; तथापि यथार्थ निर्णय करने की अपेक्षा से यहाँ प्रमाण से निर्णय करना कहा है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। वह स्वसन्मुख ज्ञान से प्रगट होता है, किसी राग अथवा विकल्प से वह प्रगट नही होता। यदि विकल्प से-व्यवहार से ज्ञानस्वभाव प्रगट होता हो, प्रथम व्यवहार होने पर धर्म होता हो; तो क्या इस जीव को पूर्व में अनन्तकाल में विकल्प-भेद रूप व्यवहार, मन्द कषायरूप परिणति नहीं हुई है? जीव ने यह भेद-विकल्प तथा कषाय की मंदता तो अनन्तबार की है, अतः उससे निश्चय प्रगटना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के आधार से नहीं रहता, एक में दूसरे से किंचित् भी लाभ-नुकसान नहीं होता-इस प्रकार उपदेश में द्रव्य की स्वतंत्रता आती है वहाँ भी बराबर विचारकर निर्णय करना चाहिये। धर्मास्तिकाय के निमित्त से जीव-पुद्गल गति करते हैं-ऐसा कथन आवे वहाँ विचारना चाहिये कि जीव-पुद्गल स्वयं गति करते हैं वहाँ धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है। वह कोई बलजोरी से जीव-पुद्गल को गति नहीं कराता। इस प्रकार युक्ति से तत्व का निर्णय करना चाहिये।

जो जीव सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति करना चाहता है-ऐसे जीव का वर्णन चल रहा है। वह जीव पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा जीवादि तत्वों के नाम सुनकर उनके लक्षण पहिचानता है। पहले सुनकर धारणा करके पश्चात् स्वयं परीक्षा करके विवेक से निर्णय करता है।

1. सम्यग्दर्शन का लक्षण निर्विकल्प प्रतीति।
2. सम्यग्ज्ञान का लक्षण स्व-पर प्रकाशकपना।
3. सम्यक्चारित्र का लक्षण वीतरागता।
4. जीवतत्व का लक्षण ज्ञानस्वभाव।

इस प्रकार समस्त तत्वों के नाम और लक्षण जानता है।

आस्रव आत्मा की विकारी पर्याय है। उस पर्याय में आत्मा के द्रव्य-गुण विद्यमान है; क्योंकि गुण अपनी समस्त पर्यायों में रहता है। ऐसा नहीं मानकर जिसने विकार का होना कर्म से माना है उसने अपने चारित्रगुण को समस्त पर्यायों में रहा हुआ नहीं माना है। अर्थात् उसने गुण को और द्रव्य को ही नहीं माना है। गुण तो उसे कहते हैं कि जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व भाव हुआ वह भी जीव की पर्याय है। वह पर्याय जड़ मोह कर्म (दर्शनमोह) के कारण नहीं हुई है। मिथ्यात्व पर्याय में जड़ कर्म नहीं, बल्कि श्रद्धा गुण रहता है।

राग पर्याय हुई वह कहाँ से आई? त्रिकाल द्रव्य-गुण में तो राग नहीं है। तो क्या राग कर्म ने कराया है? नहीं, कर्म में कहाँ राग है! कर्म में ऐसी ताकत नहीं है कि वह विकार कराये। राग पर्याय भी चारित्रगुण का उससमय का स्वकाल है। चारित्रगुण अपनी समस्त पर्यायों मे रहता है। देखो! ऐसा नहीं जानने वाले ने गुण का लक्षण नहीं जाना है। यदि कर्म के कारण राग होना माना जाए तो चारित्र गुण अपनी समस्त पर्यायों में व्यापक नही रहा। तो राग के समय चारित्रगुण कहाँ गया? इस प्रकार तत्व का भाव भासित होकर ऐसी प्रतीति करे कि इन्द्र भी डिगाने के लिये आये तो भी नहीं डिगे।

राग मे जड़ कर्म निमित्त है; परन्तु उस निमित्त के गुण उसकी स्वयं की पर्याय में वर्त रहे हैं और निमित्त के गुण पर में नहीं जाते। उपादान के गुण उपादान की समस्त पर्यायों में रहते हैं और निमित्त के गुण निमित्त की समस्त पर्यायों में व्यापक हैं। एक के गुण दूसरे की पर्याय में व्यापक नहीं है।

गुण स्वतंत्रपने वर्तकर-परिणमकर अपनी पर्याय में व्यापता है वह गुण ही स्वतंत्रपने अपनी पर्याय का कर्ता है।

जीवादि सातों तत्व जगत में है। जीव के अलावा अजीव तत्व भी जगत में है। जीव अपने स्वभाव को चूककर परलक्ष्य करता है तब विकार होता है। उस विकार में अजीव निमित्त है। पुण्य-पापदि भाव आस्रव है-दुःखदायक है और संवर-निर्जरा तो जीव की अपनी सम्यग्दर्शनादिरूप निर्मल पर्याय है। मोक्ष आत्मा की पूर्ण शुद्धता है। इस प्रकार समस्त तत्वों का अनुमान तथा शास्त्र के बराबर निर्णय करना चाहिये।

परमाणु में विकार हुआ अर्थात् दो गुण चिकनाहट आदि परिणमित होकर अनन्तगुन चिकनाहट आदि हुई तो उन किसी ने उसे परिणमाया नहीं है; परन्तु वह स्वयं परिणमित हुआ है। उसकी पर्याय में उसके गुण प्रवर्तमान है। दो गुण रूक्षता या चिकनांहट वाले के साथ बंधे तो वहाँ चार गुण वाले ने उसे परिणमित नहीं किया है; परन्तु वह स्वयं अपने ही गुण से परिणमित हुआ है। इस प्रकार समस्त तत्वों को स्वतन्त्र जानना चाहिये।

त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार नहीं है तो विकार कहाँ से आया? तो कहते हैं कि पर्याय अपने स्वभाव से च्युत होकर पर में रुकी तो रागादि विकार हुआ। एक को सम्यग्दर्शन हुआ और सबको क्यों नहीं हुआ? अन्य को सम्यग्दर्शन हुआ तो मुझे क्यों नहीं हुआ? कि उसने पुरुषार्थ किया इसलिये उसको हुआ-इस प्रकार निर्णय करना।

समस्त तत्वों के यथार्थ निर्णय का उद्यम करते ही रहना चाहिये और स्वयं एकान्त में विचारना चाहिये। तथा समझने के लिये विशेष ज्ञानी के समीप प्रश्न-उत्तर करना चाहिये। यदि मैं प्रश्न पूछूँगा तो लोगों को पता लग जायेगा कि मुझे नहीं आता-ऐसे मान में नही अटककर समझने के लिये पूछना चाहिये। तथा ज्ञानीजन जो उत्तर दे उस पर बराबर विचार करना चाहिये। पूछने में शर्माना नहीं चाहिये। प्रश्न पूछने में निर्मानता आई। तथा अपने समान बुद्धिधारक साधर्मीजनों के साथ विचार-परस्पर तत्वचर्चा करना और एकान्त में उसका विचार करके निर्णय करना

चाहिये। जिसको सम्यग्दर्शन की चाहना हो, सम्यग्दर्शन प्रगट करने की गरज़ हो उस जीव की यह बात है। देखो, यह सम्यग्दर्शन का उद्यम!

अहो! चैतन्यवस्तु तो अपूर्व है। अनन्तबार शुभभाव करने पर भी चैतन्य वस्तु लक्ष्य में नहीं आई, तो राग से पार चैतन्य वस्तु अन्दर की कोई अपूर्व वस्तु है। उसके निर्णय में कोई बाहर के कारण अथवा राग मदद नहीं करता। जीव अनन्त बार द्रव्यलिंगी साधु होकर शुभभाव से नौवें ग्रैवेयक तक गया, तो भी चैतन्यवस्तु ख्याल में नहीं आई, अतः वह चैतन्य वस्तु राग के अवलम्बन से पार है। कोई अपूर्व महिमावंत वस्तु है। वह अन्तर्मुख ज्ञान द्वारा ही पकड़ में आने योग्य है। इस प्रकार एकान्त में विचार पूर्वक चैतन्य को पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिये।

पहले तो उपदेश सुनकर, ज्ञानी से पूछकर, साधमीजनों के साथ चर्चा करके और विचारकर तत्व का बराबर निर्णय करता है। यदि तत्व के निर्णय में ही भूल हो तो अनुभव नहीं हो सकता। इसलिये कहा है कि तत्वनिर्णय का उद्यम करना 'सहज' है। सम्यक्त्व सहज है। कौन जीव कब सम्यक्त्व पायेगा-यह नौंध केवलज्ञान में है-ऐसा कहा जाता है; किन्तु वहाँ सहज कहते ही उद्यम भी उसमें साथ ही है। केवली ने देखा होगा तब सम्यग्दर्शन होगा-यह सहज का अर्थ नहीं है। श्री समयसार में कहा है कि हे जीव! तू जगत का व्यर्थ कौलाहल छोड़कर अन्तर में चैतन्यवस्तु का अनुभव करने का प्रयत्न छह माह कर तो अवश्य तुझको उसकी प्राप्ति होगी। रुचि हुई हो और अन्तर में अभ्यास करे तो अल्पकाल में उसका अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिये सम्यग्दर्शन के लिये अन्तर में तत्वनिर्णय और अनुभव का प्रयत्न करना चाहिये।

तथा अन्यमतियों द्वारा कल्पित तत्व का उपदेश दिया गया है, उसके द्वारा यदि जैन उपदेश अन्यथा भासित हो, उसमें संदेह हो तो भी ऊपर कहे अनुसार उद्यम करना चाहिये। इस प्रकार उद्यम करते-करते 'जैसा श्री जिनदेव ने उपदेश दिया है वैसा ही सत्य है और मुझे भी ऐसा ही भासित होता हैं'- ऐसा निर्णय होता है; कारण कि जिनदेव अन्यथावादी नहीं है।

सनातन दिगम्बर जैनमत के अतिरिक्त सभी अन्यमती हैं। सर्वज्ञ भगवान को रोग होता है, पीड़ा होती है और वे आहार, दवा लेते हैं-ऐसा मानने वाला अन्यमत है, वह जैनमत नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदाय में रहकर भी जो यह मानते हैं कि व्यवहार करते-करते परमार्थ प्रगटेगा, धर्म निमित्त के अवलम्बन से होगा-तो ऐसी मान्यता वाला भी अन्यमती जैसा है।

आठ वर्ष की उम्र में केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् (अरिहन्त परमात्मा) को लाखों-करोड़ों वर्षो तक शरीर रहे, आहार पानी न होने पर भी शरीर ज्यों का त्यों रहे-ऐसा परमौदारिक शरीर का स्वभाव है; परन्तु इस बात में संदेह करके भगवान के आहारादि मानने-मनवाने वाले मिथ्यादृष्टि अन्यमती हैं। सनातन सर्वज्ञ परम्परा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव, धरसेनाचार्य, समन्तभद्राचार्य इत्यादि सन्तों ने जो स्वरूप कहा हैं वही यथार्थ है। इस परम्परा से विपरीत मनवाने वाले तो कल्पितमार्ग हैं।

मुनि को आहारदान देने से मिथ्यादृष्टि का संसार परिमित होना, खरगोश आदि पर जीवों की दया पालने के शुभभाव से संसार परिमित होना मानने-मनवाने वाले कल्पित मत हैं, वे जैनधर्म नहीं है। मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबंधी का राग-द्वेष पड़ा है; अतः उसको दया, दान के शुभभाव से संसार सीमित नहीं होता। सम्यग्दर्शन से ही संसार परिमित होता है-ऐसा न मानकर राग से संसार परिमित होना मनाने वाली बात मिथ्या है। यहाँ तो कहते हैं कि ऐसा मानने वाले जैनमती नहीं होकर अन्यमती है। इस प्रकार तत्व का बराबर निर्णय करना चाहिये।

महाविदेह क्षेत्र में ऐसा ही मार्ग चल रहा है। जैसा मार्ग वहाँ है वैसा ही मार्ग यहाँ है और जैसा यहाँ है वैसा ही वहाँ है। भरत-ऐरावत और महाविदेहक्षेत्रादि में सर्वत्र सनातन वीतरागमार्ग एक ही प्रकार का है। उसका जैसा भाव सर्वज्ञ-वीतरागदेव ने कहा है वैसा ही भाव अपने को भासित होना चाहिये। स्वयं को भावभासन पूर्वक होने वाली प्रतीति ही यथार्थ प्रतीति हे। जैसे एक मक्खी भी शक्कर और फिटकरी के स्वाद का भेद करके विवेक करती है और शक्कर के स्वाद का ग्रहण करने में प्रवर्तती है; उसी प्रकार पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों को तत्वनिर्णय की शक्ति मिली है, तो

अपने ज्ञान से तत्व का निर्णय करके उसका भाव-भासित होना चाहिये। सम्यग्दर्शन के लिये क्या उपादेय है और क्या हेय है-इन सब तत्वों का भाव भासित होना चाहिये। विचार तो करे; परन्तु विचार करके तत्व का निर्णय (अवाय) होना चाहिये। भगवान ने कहा है इसलिये सत्य है-ऐसा मान ले; परन्तु स्वयं को उसका भाव भासित नहीं हो तो वह प्रतीति यथार्थ नहीं हैं इसलिये विशेष वजन 'भावभासन' पर है।

....यहाँ कोई कहे कि जिनदेव यदि अन्यथावादी नहीं है तो जैसा उनका उपदेश है वैसा ही श्रद्धान कर लें, परीक्षा किसलिये करे?

समाधानः- परीक्षा किये बिना यह तो मानना हो सकता है कि जिनदेव ने ऐसा कहा है सो सत्य है, परन्तु उनका भाव अपने को भासित नहीं होगा। तथा भाव भासित हुए बिना निर्मल श्रद्धान नहीं होता; क्योंकि जिसकी किसी के वचनही से प्रतीति हो जाय, उसकी अन्य के वचन से अन्यथा भी प्रतीति हो जाय; इसलिये शक्ति अपेक्षा वचन से की गई प्रतीति अप्रतीतिवत् है। तथा जिसका भाव भासित हुआ हो, उसे अनेक प्रकार से भी अन्यथा नहीं मानता; इसलिये भाव भासित होने पर जो प्रतीति होती है वही सच्ची प्रतीति है।

यहाँ यदि कहोगे कि पुरुष की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता की जाती है? तो पुरुष की भी प्रमाणता स्वयमेव तो नहीं होती; उसके कुछ वचनों की परीक्षा पहले कर ली जाये, तब पुरुष की प्रमाणता होती है।....

प्रश्नः- यदि जिनदेव अन्यथावादी नहीं है तो जैसा उनका उपदेश है वैसा ही श्रद्धान कर लें, परीक्षा किसलिये करें ?

उत्तरः- ज्ञान में भावभासन-निर्णय-निश्चय अवाय हो गया हो तो सम्पूर्ण जगत बदल जाये, अन्यथा कथन करता हो, इन्द्र परीक्षा करे; तो भी उसकी प्रतीति नहीं बदलती, उसमें अड़िगता रहती है। भावभासित हुए बिना भूल हुए बिना नही रहती। इसका दृष्टान्त इस प्रकार हैः-

एक बार किसी लड़के को मच्छर का ज्ञान कराने के लिये उसका बड़ा चित्र बनाकर समझाया कि मच्छर के ऐसे चार पैर होते हैं, ऐसी सूंड होती है इत्यादि।

थोडे समय बाद गांव में हाथी आया, तब उस लड़के से पूछा कि यह क्या है? तो वह लड़का कहता है कि उस दिन जो चित्र में बताया था वैसा यह मच्छर है। देखो! भावभासित हुए बिना विशाल हाथी को मच्छर समझ लिया। इसी प्रकार जिसको जीवादि तत्वों का भाव भासित नहीं हुआ है वह क्षणिक राग को जीव मान लेता है। इसलिये जीवादि तत्वों का भावभासित हुए बिना उनकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती। यथार्थ भाव-भासन सहित प्रतीति होना ही सच्ची प्रतीति है।

'हम तो भोले मनुष्य है और भगवान भोले जीवों के रखवाले हैं'-ऐसा कहे तो नहीं चलता है। परीक्षा किये बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती है। जिसकी किसी के वचन द्वारा ही प्रतीति की हो तो उसकी अन्यथा वचन द्वारा अन्यथा प्रतीति भी हो जाती है। इसलिये न्याय द्वारा निर्णय करना चाहिये। स्वयं ने ही परीक्षा करके निर्णय नहीं किया हो उसको अन्य लोग अन्यथा कहे वहाँ उसके अनुसार हाँ करेगा। 'जहाँ उपादान में कार्य होता है वहाँ निमित्त होता है'-ऐसे किसी के वचन याद रखले; परन्तु जहाँ दूसरा कोई कहे कि निमित्त और व्यवहार की धर्म में आवश्यकता तो पड़ती ही है न! तो वह वापिस बदल जायेगा। इसलिये दूसरों के कहे अनुसार की जाने वाली प्रतीति तो अप्रतीतिवत् ही है। स्वयं में प्रतीति की सामर्थ्य नहीं होने से प्रतीति नहीं टिकती है, अन्य के वचनों से वह बदल जाती है।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है, इसलिये भावभासन की बात करते हैं। आत्मा द्रव्य है और अजीव भी द्रव्य है-दोनों द्रव्य ज्ञेय हैं। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष पर्याय के रूप में ज्ञेय है और कर्म की पर्याय कर्म की पर्याय के रूप में ज्ञेय है। इस प्रकार भाव भासन होना चाहिये। यह बात अन्तर ख्याल में आना चाहिये। जीव ज्ञायक स्वरूप है। शरीर,कर्म अजीव प्रथक् तत्व है। आस्रव दुःखदायक है। आत्मा का पर में अटकना बंध है। आत्मा के आश्रय से प्रगट होने वाली संवर-निर्जरारूप दशा हितकारी है। आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा मोक्ष है। इस प्रकार यथार्थ भावभासन करना चाहिये। ऐसे भावभासन पूर्वक होने वाली प्रतीति ही यथार्थ प्रतीति है।

यदि यहाँ कहोगे कि पुरुष की प्रमाणता से वचन प्रमाण करते हैं। अर्थात् सत्पुरुष का कहना सत्य है, हमें परीक्षा नहीं करना है। यदि कोई शंका करेंगे तो सत्पुरुष को अविनय हो जायेगी-इस प्रकार अज्ञानी जीव कहता है; परन्तु सत्पुरुष की प्रमाणता भी स्वयं नहीं होती। उस पुरुष की प्रमाणता होने के पूर्व उसके कितने ही वचनों की परीक्षा करने पर ही पुरुष की प्रमाणता होती है। परीक्षा किये बिना मानना सत्य नहीं है।

....प्रश्नः- उपदेश तो अनेक प्रकार हैं, किस-किसकी परीक्षा करें?

समाधानः- उपदेशमें कोई उपादेय, कोई हेय, तथा कोई ज्ञेयतत्वों का निरूपण किया जाता है। वहाँ उपादेय-हेय तत्वों की तो परीक्षा कर लेना, क्योंकि इनमें अन्यथापना होने से अपना बुरा होता है। उपादेय को हेय मानलें तो बुरा होगा, हेय को उपादेय मानलें तो बुरा होगा।....

प्रश्नः- शास्त्र तो समुद्र है, उसमें तो देव-शास्त्र-गुरु, उपादान-निमित्त आदि अनेक प्रकार के उपदेश आते हैं; वहाँ किस-किसकी परीक्षा करें?

उत्तरः- उपदेश में, कोई तत्व उपादेय है और कोई तत्व हेय है उनका वर्णन है। आत्मा की संवर, निर्जरा, मोक्षरूप निर्मल पर्याय उपादेय तत्व है तथा मिथ्यात्वादि बंध भाव हेय तत्व है। व्यवहार में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु उपादेय है और कुदेव-कुशास्त्र -कुगुरु हेय है। निश्चय में अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, अन्य जीव-अजीव तत्व ज्ञेय है। इस प्रकार नव तत्वों में हेय-उपादेय तत्व की परीक्षा करके निर्णय करना चाहिये।

यदि कुदेव-कुगुरु को सच्चा मानकर आदर करे तो उसमें अपना अहित होता है, इसलिये परीक्षा करना चाहिये। बाजार में सब्जी लेने जाते हैं तो वहाँ भी सब्जी की परीक्षा करते हैं; ऐसे ही सड़ा हुआ माल नहीं ले लेते हैं। तब जिसको धर्म करना हो उसको परीक्षा करके निर्णय करना चाहिये कि यथार्थ मोक्षमार्ग क्या है? कौन भाव उपादेय और कौन भाव हेय है? कौनसे भाव मुझे हितरूप अथवा अहितरूप है? तथा

सच्चा मोक्षमार्ग दर्शाने वाले देव-शास्त्र-गुरु कैसे हैं और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र कैसे हैं ?-इन सबकी परीक्षा करके निर्णय करना। मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि भाव अहितरूप होने पर भी उन्हें हितरूप मानने से जीव का बुरा होता है। सम्यग्दर्शानादि संवर-निर्जरारूप भाव हितरूप हैं और मोक्षभाव परमहितरूप है। इस प्रकार सबका निर्णय करना चाहिये।

शुद्ध उपादान (रूप स्वभाव) उपादेय तत्व है, राग-द्वेष जानने योग्य है, निमित्त हेय तत्व है-इन प्रयोजनभूत बातों की तो अवश्य परीक्षा करना चाहिये। मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत बातों का निर्णय करना चाहिये।

प्रवचनसार में कहा हैं कि निमित्त हेय है और अपने में होने वाला अशुद्धभाव उपादेय है; इस कथन का आशय यह है कि अशुद्धता अपने से अपने में होती है-ऐसा निर्णय करे तो स्वसन्मुख होकर अशुद्धता का अभाव कर सकता है।

तथा परम शुद्धनिश्चयनय से अकेला जीव तत्व ही उपादेय है और अन्य सभी तत्व हेय है। वहाँ जीव तत्व को अन्तःतत्व और सात तत्वों के भेद के विकल्प को बर्हितत्व कहा है। इस प्रकार जीवतत्व को आदरणीय कहा है। एकरूप परम पारिणामिक भाव आदरणीय है-ऐसा अभेद दृष्टि से नियमसार में कहा है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कथन आयें, तो वहाँ उनकी अपेक्षा समझना चाहिये। यदि ऐसा नहीं समझे तो हेय को उपादेय और उपादेय को हेय मान लेगा। तात्पर्य यह है कि उपादेय तथा हेय तत्वों को तो प्रथम ही जानना चाहिये। इनमें विपरीत मान लेने से जीव का बुरा होता है।

कोई कहे कि आत्मा का अर्थात् निश्चय का ज्ञान करके ध्यान करो, बाह्य कुदेवादिक या सुदेवादिक के निर्णय की क्या आवश्यकता है ? तो ऐसा कहने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है। तत्वज्ञान का सभी पक्षों से यथार्थ निर्णय करना चाहिये। यहाँ अनादि मिथ्यादृष्टि की बात चलती है अर्थात् जिसने निर्णय नहीं किया उसकी बात चलती है। इस प्रकार हेय-उपादेय तत्व और उपादान-निमित्त की परीक्षा करना चाहिये।

....फिर वह कहेगा:- स्वयं परीक्षा न की और जिनवचनहीं से उपादेय को उपादेय जानें तथा हेय को हेय जानें तो इसमें कैसे बुरा होगा?

समाधान:- अर्थ का भाव भासित हुए बिना वचन का अभिप्राय नहीं पहिचाना जाता। यह तो मानले कि मैं जिनवचनानुसार मानता हूँ, परन्तु भाव भासित हुए बिना अन्यथापना हो जाये। लोक मे भी नौकर को किसी कार्य के लिये भेजते हैं; वहाँ यदि वह उस कार्य का भाव जानता हो तो कार्य को सुधारेगा; यदि भावभासित नहीं होगा तो कहीं चूक ही जायेगा। इसलिये भाव भासित होने के अर्थ हेय-उपादेय तत्वों की परीक्षा अवश्य करना चाहिये।....

यहाँ कोई पूछता है कि स्वयं परीक्षा नहीं करे और जिनवचनानुसार हेय को हेय और उपादेय को उपादेय मान लें तो क्या बाधा है?

उत्तर:- अर्थ का भाव भासित हुए बिना वचन का अभिप्राय नहीं पहिचाना जा सकता। स्वयं तो मान ले कि 'मैं जिनवचन अनुसार मानता हूँ'; परन्तु भावभासित हुए बिना अन्यथापना हो जाता है।

तत्व का जैसा भाव है वैसी ही श्रद्धा करना तत्वार्थश्रद्धान है। यह बात पूर्व में की जा चुकी है। प्रयोजनभूत तत्व का जैसा स्वरूप है वैसा पहिचाने बिना यथार्थ श्रद्धान नही होता। अतः प्रयोजनभूत तत्वों की तो परीक्षा करके श्रद्धान करना और किन्ही सूक्ष्म तत्वों की परीक्षा करके उन्हें कहे अनुसार मान लेना चाहिये।

इस संदर्भ में कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 323-324 में कहा है कि-इस प्रकार निश्चय से समस्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-इन छह द्रव्यों और उन द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जो सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है-श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है; तथा जो इस प्रकार श्रद्धान नहीं करता किन्तु इनमें संदेह करता है वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल है-प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

जो जीव ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम के बिना तथा विशिष्ट गुरु के संयोग के बिना सूक्ष्म तत्वार्थों को नही जान सकता वह जीव जिनवचनानुसार श्रद्धान

करता है कि जिनेन्द्र द्वारा कथित समस्त सूक्ष्म तत्व को मैं भलीभांति इष्ट करता हूँ-इस प्रकार भी वह श्रद्धावान होता है।

स्वयं ने सामान्यपने तत्वों का निर्णय तो किया है परन्तु विशेष क्षयोपशम ज्ञान नहीं होने से सूक्ष्म तत्वों को नहीं जान सकता, तो वह सर्वज्ञ की आज्ञानुसार मानता है। परन्तु जो मूलभूत तत्वों का निर्णय भी नहीं करता उसको यथार्थ प्रतीति ही नहीं होती। इसलिये यहाँ कहते हैं कि अपने ज्ञान में तत्वार्थो का भाव भासित हुए बिना केवली के वचन का यथार्थ अभिप्राय नहीं समझा जा सकता और स्वयं परीक्षा पूर्वक पहिचाने बिना अन्यथा प्रतीति हो जाती है।

लोक में भी किसी मनुष्य को किसी कार्य के लिये भेजा हो वहाँ यदि वह मनुष्य उसका भाव नहीं समझा हो तो भूल कर बैठता है। किसी के बदले कुछ ले आता है। इस आशय का एक दृष्टान्त इस प्रकार है-एक सेठ ने अपने नोकर से कहा कि जा-घोड़े को पानी दिखा ला! वहाँ सेठ का आशय घोड़े को पानी पिलाने से था; परन्तु नोकर उसे नहीं समझा और नदीं के किनारे जाकर कहने लगा कि घोड़े! यह पानी देखले! इस प्रकार उसने घोड़े को पानी दिखाकर घर लाकर बांध दिया। जब घोड़ा प्यास से पीड़ित होकर हिनहिनाने लगा तो सेठ ने नोकर से पूछा-क्यो भाई! घोड़े को पानी पिलाया या नहीं? नोकर बोला-आपने तो पानी दिखाने के लिये कहा था, पिलाने के लिये तो कहा ही नहीं था। नोकर के उत्तर से आश्चर्य चकित होकर सेठ ने कहा अरे मूर्ख! मेरे कथन का भाव तो समझ लेता। इसी प्रकार भगवान ने कहा है इसलिये मान लो -ऐसे परीक्षा किये बिना माल ले; परन्तु स्वयं उसका प्रयोजन नहीं जाने तो लाभ नहीं होता। इसलिये कौन तत्व हेय और कौन उपादेय है इसका बराबर निर्णय करके पहिचानना चाहिये। भगवान ने कहा तदनुसार अपने आप ज्ञान में निर्णय नहीं हो वहाँ तक परीक्षा करके अपनी भूल शोधना और सत्य निर्णय करना चाहिये। चाहे जैसे देव-शास्त्र-गुरु को नहीं मान लेना चाहिये।

....फिर वह कहता है-यदि परीक्षा अन्यथा हो जाये तो क्या करे?

समाधानः- जिनवचन और अपनी परीक्षा में समानता हो; तब तो जाने कि सत्य परीक्षा हुई है। जब तक ऐसा न हो तब तक जैसे कोई हिसाब करता है और उसकी विधि न मिले तब तक अपनी चूक को ढूँढता है; उसी प्रकार यह अपनी परीक्षा में विचार किया करे।

तथा जो ज्ञेयतत्व हैं उनकी परीक्षा हो सके तो परीक्षा करे; नहीं तो यह अनुमान करे कि जो हेय-उपादेय तत्व ही अन्यथा नहीं कहे, तो ज्ञेयतत्वों को अन्यथा किसलिये कहेंगे? जैसे-कोई प्रयोजनरूप कार्यों में भी झूठ नही बोलता, वह अप्रयोजन झूठ क्यों बोलेगा? इसलिये ज्ञेयतत्वों का स्वरूप परीक्षा द्वारा भी अथवा आज्ञा से जाने । यदि उनका यथार्थ भाव भसित न हो तो दोष नहीं है।

इसीलिये जैनशास्त्रों में जहाँ तत्वादिक का निरूपण किया; वहाँ तो हेतु, युक्ति आदि द्वारा जिस प्रकार उसे अनुमानादिसे प्रतीति आये उसी प्रकार कथन किया है। तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणा, पुराणादिक के कथन आज्ञानुसार किये हैं। इसलिये हेयोपादेय तत्वों की परीक्षा करना योग्य है।

जिन वचन और अपनी परीक्षा-इन दोनो में समानता हो तो जानना चाहिये कि सत्य परीक्षा हुई है। जब तक ऐसा न हो, वहाँ तक, जैसे कोई हिसाब करता हो और रकम बराबर नहीं मिले तो अपनी भूल को ढूंढता ही रहता है; इसी प्रकार यह भी अपनी परीक्षा में विचार करता रहता है। तथा जो ज्ञेय तत्व हैं उनकी भी परीक्षा हो सके तो करना, वरना अनुमान करना कि 'जिसने हेय-उपादेय तत्व ही अन्यथा नहीं कहे वह ज्ञेय तत्व में अन्यथा किसलिये कहेगा'? जैसे कोई प्रयोजनभूत कार्य में झूठ नहीं बोलता वह अप्रयोजनभूत कार्य में झूठ क्यों बोलेगा? इसलिये ज्ञेय तत्वों का स्वरूप परीक्षा द्वारा अथवा आज्ञा से भी जानना।

जैन शास्त्र में जीवादि तत्वों, सर्वज्ञ देव-शास्त्र-गुरु आदि का तो मुख्य निरूपण किया है। उनका तो हेतु से, युक्ति से, अनुमान से निर्णय हो सकता है, उनको तो परीक्षा द्वारा पहिचानना चाहिये। तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणास्थान, और पुराणादि

के कथनों को आज्ञानुसार समझ लेना चाहिये। समस्त सूक्ष्म तत्वों की परीक्षा नहीं हो सकती वहाँ सर्वज्ञ की आज्ञा का बहुमान करके मान लेना चाहिये।

जीवादि द्रव्यों तथा तत्वों को पहिचानना; क्योंकि वे तो अनुमान, युक्ति तथा अनुभव से निर्णय हो सकने योग्य है। तथा मिथ्यात्व-अज्ञान और रागादिक भाव छोड़ने योग्य हैं उनको भी भलीभांति पहिचानना। तथा निमित्त-नैमित्तिक भावों को भी पहिचानना। छठवें-सातवें गुणस्थान की दशा वाले के बाह्य में कैसा निमित्त होता है, केवली को कैसा निमित्त होता है-यह सब पहिचानना चाहिये। मुनिदशा में भी सदोष आहार और वस्त्र का निमित्त मानने वाले को नैमित्तिकरूप मुनिदशा का पता नहीं है।

लोग प्रश्न करते हैं कि भगवान ने हमे समझमें आ सके-ऐसा क्यों नहीं कहा? तो यहाँ कहते हैं कि भगवान और मुनियों ने तो समझमें आने योग्य ही कहा है; परन्तु तुझको परीक्षा करने की दरकार नहीं है। तू हेतु-युक्ति आदि द्वारा निर्णय करने में उपयोग नही लगाता, इसलिये तुझे समझमें नहीं आता। जो समझने का प्रयत्न करता है उसको समझमें आता है।

भाई! शरीर की तो जो अवस्था जिस क्षण होने वाली है वह होगी ही। इन्द्र भी शरीर को नहीं रख सकते, तो डॉक्टर क्या रख सकते हैं? क्योंकि वह जड़ है। तू तो अन्दर में होने वाले पुण्य-पाप के भाव को रखने अथवा मिटाने में समर्थ है; परन्तु वे भी तेरा मूलस्वभाव नहीं है। तेरा मूलस्वभाव तो ज्ञान है। इसलिये तू पुण्य-पाप का अभाव कर सकता है। इस प्रकार परीक्षा द्वारा निर्णय हो सकता है; इसलिये जैन शास्त्रों में जहाँ तत्वादि का निरूपण किया है वहाँ हेतु, युक्ति, अनुमानादि द्वारा जैसे उनकी अनुमानादि द्वारा प्रतीति हो वैसा कथन किया है। इसलिये वहाँ परीक्षा द्वारा ग्रहण करना चाहिये।

....वहाँ जीवादिक द्रव्यों व तत्वों तथा स्व-पर को पहिचानना। तथा त्यागने योग्य मिथ्यात्व-रागादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना। तथा निमित्त-नैमित्तिकादिक जैसे हैं, वैसे पहिचानना।-इत्यादि

मोक्षमार्ग में जिनके जानने से प्रवृत्ति होती है उन्हें अवश्य जानना। सो इनकी तो परीक्षा करना। सामान्यरूप से किसी हेतु-युक्ति द्वारा इनको जानना, व प्रमाण-नय द्वारा जानना, व निर्देष-स्वामित्वादि से और सत्-संख्यादिसे इनके विशेष जानना। जैसी बुद्धि हो जैसा निमित्त बने, उसी प्रकार इनको सामान्य विशेषरूप से पहिचानना। तथा इस जानने में उपकारी गुणस्थान-मार्गणादिक व पुराणादिक व व्रतादिक-क्रियादिक का भी जानना योग्य है। यहाँ जिनकी परीक्षा हो सके उनकी परीक्षा करना, न हो सके उनकी आज्ञानुसार जानकारी करना।....

जीवादि द्रव्यों व तत्वों को जानना। त्यागने योग्य मिथ्यात्व रागादिक तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप बराबर जानना। तथा निमित्त-नैमित्तिकादि जैसे हैं वैसे पहिचानना। 'इत्यादि' शब्द से उपादान-निमित्त, उपादान-उपादेय इत्यादि जानना चाहिये।

'चिद्विलास' में कहा है कि कारण-कार्य को यथार्थरूप से जानने वाले ने सब जाना।

श्रीसमयसार में निमित्त को हेय तत्व कहा है। ये सभी तत्व मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के लिये अवश्य जानने योग्य है। इसलिये इनको तो भलीभांति हेतु-युक्ति प्रमाण द्वारा जानना चाहिये।

सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु ही धर्म में निमित्त होते हैं। वर्तमान पर्याय कारण है वह उपादान कारण है। उसका व्यय होकर जो कार्य होता है वह उपादेय कहलाता है। उसी समय उपस्थित अन्य वस्तु निमित्त कहलाती है । कार्य को निमित्त कारण की अपेक्षा से नैमित्तिक कहते हैं और उपादान कारण की अपेक्षा से उसे ही उपादेय कहते हैं। जब जीव राग करता है तो प्रतिमा को निमित्त कहा जाता है; परन्तु भगवान के कारण शुभराग होना माने तो वहाँ कर्ता-कर्म सम्बन्ध हो गया, जो कि मिथ्या है।

शास्त्र में कथन आता है कि शुभराग निमित्त और शुद्धदशा नैमित्तिक है; परन्तु शुभराग के कारण धर्म-शुद्धदशा होना मानने पर तो कर्ता-कर्म हो जाता है, निमित्त-नैमित्तिकपना नहीं रहता। (इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये)

अज्ञानी मानता है कि उपादान-उपादेय स्वतंत्र है और निमित्त-नैमित्तिक परतंत्र है; तो यह बात मिथ्या है। जैसे यह लकड़ी ऊँची हुई, इसमें उत्पाद हुआ वह उपादेय कहलाता है और पूर्व पर्याय कारण है उसे उपादान कहते हैं तथा यह हाथ उसमें निमित्त है-इसकी अपेक्षा से उस कार्य को ही नैमित्तिक कहते है; परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पराधीन नहीं है।

जीव स्वतन्त्ररूप से राग करता है, उसमें कर्म निमित्त है। अब इसमें पूर्व पर्याय बदलकर राग हुआ वहाँ पूर्व पर्याय उपादान और राग होना उपादेय है तथा पूर्वकर्म के निमित्त की अपेक्षा से राग को नैमित्तिक कहा जाता है; परन्तु इस कारण निमित्त-नैमित्तिकपना पराधीन नहीं है। निमित्त और राग का लक्ष्य छोड़कर धर्मदशा प्रगट करे तो निमित्त तथा राग को निमित्त कहा जाता है। शुभ राग और निमित्त से धर्म नहीं होता। निमित्त तो हेय है और नैमित्तिक शुद्धदशा उपादेय है। इस प्रकार जिनको जानने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है उनको अवश्य जानना। चींटी को तो धर्म श्रवण का योग (योग्यता) नहीं है और मनुष्य को धर्म श्रवण का योग होने पर भी स्व का निर्णय नहीं करे तो चींटी और मनुष्य अनिर्णय की अपेक्षा समान है। इसलिये देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि कैसे होते हैं उन्हें पहिचानकर सत्य श्रद्धा करना चाहिये।

प्रश्नः- विचक्षणता कम हो तो क्या करे ?

उत्तरः- सात तत्वों को जानने योग्य ज्ञान का उघाड़ तो सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के है; परन्तु जीव परीक्षा करने में तत्पर नहीं होता।

व्यवहार, व्यवहार में है; संयोग, संयोग में है-ऐसा नहीं समझे तो अनन्त की अनन्तता नहीं रहती। आत्मा में पुद्गल नहीं है और पुद्गल में आत्मा नहीं है। राग में वीतरागता नहीं है और वीतरागता में राग नहीं है। एक पर्याय में दूसरी पर्याय नहीं है-इस प्रकार अनेक को अनेक मानने पर ही वे अनेक रहते हैं, वरना अनन्त नहीं रहते।

आत्मा का एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं है, एक पर्याय दूसरी पर्यायरूप नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं है। राग के कारण वीतरागता और वीतरागता के कारण राग नहीं है। उपादान के कारण निमित्त और निमित्त के कारण उपादान नहीं है। इस प्रकार स्वतन्त्रता मानने पर प्रत्येक पदार्थ प्रथक् रहता है; एक के कारण दूसरे को मानने पर अनन्तता और प्रथकता नहीं रहती।

इस प्रकार सात तत्वों, बंधमार्ग, मोक्षमार्ग को सामान्यपने हेतु-युक्ति द्वारा जानना, तथा नय-प्रमाण द्वारा जानना। दो पक्षो का अर्थात् सामान्य और विशेष का ज्ञान प्रमाण है और एक साथ एक पक्ष (सामान्य का अथवा विशेष का) ज्ञान नय है। मुख्य-गौणता पूर्वक, अथवा निर्देश-स्वामित्व द्वारा जानना, सत् संख्यादि द्वारा उनके विशेष जानना। बुद्धि अधिक हो तो सामान्य (संक्षिप्त) और विशेष रूप से (विस्तार से) जानना और बुद्धि कम हो तो सामान्यरूप से जानना। तथा इनके जानने में उपकारी 1. गुणस्थान-मार्गणादिक 2. पुराणादिक तथा 3. व्रतादि क्रिया को भी जानना योग्य है, उन्हें जानना। वहाँ जिनकी परीक्षा हो सके उनकी तो परीक्षा करना और न हो सके उनकी आज्ञानुसार ही जानकारी करना।

छह, द्रव्य, नौ तत्व, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध आदि द्रव्यानुयोग के विषय हैं। गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि करणानुयोग के विषय हैं। पुराणादि कथानुयोग के विषय हैं और व्रतादि क्रिया चरणानुयोग के विषय हैं। इनमें द्रव्यानुयोग के विषय की तो परीक्षा करना; अन्य तीन अनुयोगों के विषयों की परीक्षा हो सके तो करना और नहीं हो सके तो आज्ञानुसार जानना; क्योंकि वे जानने के विषय है।

तात्पर्य यह है कि जैसी बुद्धि हो और जैसा निमित्त बने तदनुसार सामान्य-विशेषरूप उन तत्वों को पहिचानना चाहिये। इस प्रकार यहाँ द्रव्यानुयोग को प्रधान कहा है। साथ ही इन तत्वों को विशेष जानने के लिये उपकारी गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि को जानना- यह कहकर करणानुयोग जानने को कहा है। तथा पुराणादि (प्रथामानुयोग) और व्रतादि क्रिया (चरणानुयोग) को भी जानना चाहिये। तथा जहाँ समझमें न आवें वहाँ आज्ञानुसार जानना चाहिये।

....इस प्रकार इस जानने के अर्थ कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है- इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करने का इसको हर्ष बहुत है, इसलिये अन्तरंग प्रीति से उसका साधन करता है। इस प्रकार साधन करते हुए जब तक (1) सच्चा तत्वश्रद्धान न हो, (2) यह इसी प्रकार है-ऐसी प्रतीति सहित जीवादितत्वों का स्वरूप आपको भासित न हो, (3) जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है वैसे केवल आत्मा में अहंबुद्धि न आये, (4) हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने-तब तक सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है। यह जीव थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा; इसी भव में या अन्य पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा।

इन भवमें अभ्यास करके परलोक में तिर्यंचादि गति में भी जाये तो वहाँ संस्कार के बलसे देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त बिना भी सम्यक्त्व हो जाये, क्योंकि ऐसे अभ्यास के बल से मिथ्यात्वकर्म का अनुभाग हीन होता है। जहाँ उसका उदय न हो वही सम्यक्त्व हो जाता हैं।

मूलकारण यही है। देवादिक का तो बाह्य निमित्त है; सो मुख्यता से तो इनके निमित्त से ही सम्यक्त्व होता है; तारतम्य से पूर्व अभ्यास-संस्कार से वर्तमान में इनका निमित्त न हो तो भी सम्यक्त्व हो सकता है। सिद्धान्त में ''तन्निसर्गादधिगमाद्वा'' (तत्वार्थ सूत्र 1-3) ऐसा सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि वह सम्यग्दर्शन निसर्ग अथवा अधिगम से होता है। वहाँ देवादिक बाह्यनिमित्त के बिना हो उसे निसर्ग हुआ कहते हैं; देवादिक के निमित्त से हो, उसे अधिगम से हुआ कहते है।....

इस प्रकार उन्हें जानने के लिये विचार, शास्त्र-स्वाध्याय, श्रवण, अभ्यासादि करता है। जिसे अपना कार्य-सम्यग्दर्शन प्रगट करनें का अत्यन्त हर्ष-उल्लास है, प्रमाद नहीं है वह अन्तरंग प्रीति पूर्वक उसका साधन करते हुए जब तक तत्वार्थ श्रद्धान-अन्तरंग प्रतीति न हो तब तक उसी के अभ्यास में प्रवृत्त रहता है।

जिज्ञासु जीव को अपना कार्य करने का अत्यन्त हर्ष होने से वह अन्तरंग प्रीति से उसका साधन करता है। दुनिया के काम कर-करके मर गया, परन्तु उससे मेरा कोई कार्य नहीं सधा! पुत्र के विवाह के समय कितना हर्ष होता है! मण्डप का श्रृंगार कैसे करना, समस्त प्रकार की व्यवस्था करने इत्यादि में हर्ष का पार नही होता। भाई! वहाँ तो तू राग-द्वेष में जल रहा है; परन्तु वह तेरा कार्य नहीं है । तेरा कार्य तो सत्य-असत्य का निर्णय करना ही है।

प्रश्नः- निर्णय करते हुए प्रतिकूल संयोग आ पड़े तो....?

उत्तरः- आत्मा में संयोग का त्रिकाल अभाव है। संयोग तुझे छूता ही कहाँ है? और तू भी कहाँ संयोग को छूता है? यदि संयोग जीव को स्पर्श करे तो आये कहलायेंगे। रोग शरीर में आता है, क्या वह जीव में आया कहलायेगा? नहीं, इसलिये प्रतिकूलता बाहर से नहीं है। सातवें नरक में 33 सागर तक प्रतिकूल संयोग है वहाँ पर अनुकूलता का एक भी निमित्त नहीं है, श्वांस लेने जितना भी आराम नहीं है-ऐसी प्रतिकूलता होने पर भी कोई जीव नया उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है। वहाँ उसको कोई प्रतिकूलता बाधक नहीं होती। मुमुक्षु जीव को पर के कार्य करने में प्रीति नहीं होती। मोक्षमार्ग प्रगट करना ही अपना कार्य है। जब जीव स्वयं धर्म प्रगट करता है, तब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु अनुकूल निमित्त होते हैं वे ही अनुकूल है। बाह्य प्रतिकूलता तो प्रतिकूलता है ही नहीं। व्यवहार से सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु अनुकूल है और निश्चय से अपना आत्मा अनुकूल है।

(यहाँ तो कहते है कि) जो जीव सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ है उसको अन्तर में अपना सम्यग्दर्शनरूपी कार्य करने का अत्यन्त हर्ष है; इसलिये वह प्रमाद नहीं करके उत्साह पूर्वक तत्वविचार का उद्यम करता है और ऐसा उद्यम करते-करते अपने आत्मा में ही 'यह मैं हूँ'-ऐसी अहंबुद्धि होती है तब सम्यग्दृष्टि होता है। जैसे शरीर में अहंबुद्धि है कि 'यही मैं हूँ' वैसे ही चैतन्यस्वरूप आत्मा में अनुभव पूर्वक अहंबुद्धि होने पर ही सम्यग्दर्शन होता है।

अपना ज्ञानस्वभाव है, विकार दुःखदायक है और निमित्त पर है-'सो ऐसा ही है'-ऐसी प्रतीति पूर्वक स्वयं को जीवादि तत्वों का स्वरूप नहीं भासित हो तब तक परीक्षा करना चाहिये।

कोई पूछे कि तुमको कैसे है? तो तुरंत ही उत्तर देता है कि मुझे ठीक है। कारण कि शरीर ही मैं हूँ-ऐसा माना है। 'मुझे' अर्थात् शरीर-ऐसा विपरीत घौलन हो गया है। प्रश्न करने वाला भी तुमको अर्थात् शरीर-ऐसा समझता है और उत्तर देने वाला भी 'मुझे ठीक है'-ऐसा उत्तर दे वहाँ 'मुझे' माने शरीर ऐसा समझकर उत्तर देता है। तथा कोई पूछे कि तुम्हारे पुत्र को कैसे हैं? तो जवाब देता है कि बहुत अच्छा है-इस प्रकार पर में अहंभाव हो गया है। पुत्र मेरा नहीं है, मेरी संतान तो मेरी पर्याय है-ऐसा विचार नहीं है। अभी तुम्हारा व्यापार कैसा है?-ऐसा पूछने पर पैसों पर नज़र जाती है; परन्तु अपने में नज़र नहीं जाती। यद्यपि ज्ञानी भी ऐसे उत्तर देते हैं; तथापि वे अन्तर में भेदज्ञान पूर्वक बात करते हैं। जबकि अज्ञानी एकमेक होकर बात करता है। इस प्रकार जैसी पर्याय में अहंबुद्धि है वैसी अहंबुद्धि केवल आत्मा में न हो वहाँ तक सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि है। (सम्यग्दर्शन आत्मा में अहंबुद्धि होने पर ही होता है।)

चौथे गुणस्थान से ही शुद्ध परिणति शुरू हो जाती है और शुद्धोपयोग चौथे गुणस्थान में थोड़े ही काल रहता है, उस समय बुद्धि पूर्वक कषाय नहीं है। शुद्धोपयोग होने पर भी अभी अबुद्धिपूर्वक राग भी है, सर्वथा वीतरागता नहीं हुई है। अर्थात् जहाँ उपयोग स्वभाव सन्मुख है वहाँ बुद्धिपूर्वक राग नहीं है। अन्तर में अनुभूति पूर्वक वेदन हो गया है कि मैं तो ज्ञानमूर्ति आत्मा ही हूँ-इसका नाम सम्यग्दर्शन है। जहाँ तक ऐसा अनुभव नहीं हो वहाँ तक (सम्यक्त्व सन्मुख जीव) तत्वविचार का उद्यम किया ही करता है। वह अपने भावों को बराबर जानता है कि मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ। आत्मा के आश्रय से होने वाले सम्यग्दर्शनादि मुझे हितरूप है। इस प्रकार अनुभूति पूर्वक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जानने पर ही जीव सम्यग्दृष्टि है। निर्विकल्प अनुभव में मति-श्रुतज्ञान भी स्वानुभव प्रत्यक्ष है। ऐसे ज्ञान द्वारा आत्मस्वभाव को ही निजरूप मानने वाला जीव सम्यग्दृष्टि है।

जो सम्यक्त्व सन्मुख जीव ऐसा अभ्यास करता है वह जीव थोड़े ही काल में सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; या तो इसी भव में पाता है अथवा इस भव के संस्कार लेकर जाये तो जहाँ जाये वहाँ पाता है। तिर्यन्च गति में भी कोई जीव पूर्व संस्कार के बल से निमित्त बिना भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। अन्तर स्वरूप के सन्मुख होने का अभ्यास करते-करते मिथ्यात्व का रस एकदम घटता जाता है और ऐसा अभ्यास करते-करते स्वरूप सन्मुख होने पर मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है। इधर जीव प्रयत्न करे और सामने कर्म का रस दूर न हो-ऐसा नहीं होता। यहाँ सम्यक्त्व हुआ तो वहाँ सामने मिथ्यात्व कर्म का अभाव हो ही जाता है-ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; तथापि कोई किसी का कर्ता नहीं है। सम्यक्त्व का मूलकारण अन्तर में स्वरूप का अनुभव करना ही है तथा देव-शास्त्र-गुरु बाह्य निमित्त है। किसी जीव के वर्तमान में ऐसे निमित्त न भी हो तो भी वह पूर्व संस्कार के बल से सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। वहाँ पूर्व में देशनालाब्धि तो अवश्य होना चाहिये-यह तो नियम है। और तत्वविचार करके यथार्थ तत्वनिर्णय का उद्यम नहीं करने वाला जीव सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं है।

....देखो, तत्वविचारकी महिमा! तत्वविचाररहित देवादिककी प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं; और तत्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।

तथा किसी जीव को तत्वविचार होने के पहले कोई कारण पाकर देवादिकी प्रतीति हो, व व्रत-तप का अंगीकार हो, पश्चात् तत्वविचार करे; परन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तत्वविचार होने पर ही होता है।

तथा किसी को तत्वविचार होने के पश्चात् तत्वप्रतीति न होने से सम्यक्त्व तो नही हुआ और व्यवहारधर्म की प्रतीति-रुचि होगई, इसलिये देवादिक की प्रतीति करता है व व्रत- तप को अंगीकार करता है। किसी को देवादिक की प्रतीति और सम्यक्त्व युगपत् होते हैं तथा व्रत-तप सम्यक्त्व के साथ भी होते हैं और पहले-पीछे भी होते हैं। देवादिक की प्रतीति का तो नियम है, उसके

बिना सम्यक्त्व नहीं होता; व्रतादिक का नियम है नहीं। बहुत जीव तो पहले सम्यक्त्व हो पश्चात् ही व्रतादिक को धारण करते हैं, किन्हीं को युगपत् भी हो जाते है। इस प्रकार यह तत्वविचार वाला जीव सम्यक्त्व का अधिकारी है; परन्तु उसके सम्यक्त्व हो ही हो, ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि शास्त्र में सम्यक्त्व होने से पूर्व पंचलब्धियों का होना कहा है।....

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को प्रथम एक बार तो ज्ञानी के पास से सच्ची देशनालब्धि अवश्य प्राप्त हुई होना ही चाहिये। फिर भले ही वह देशनालब्धि पूर्वभव में प्राप्त हुई हो और उसके संस्कार से वर्तमान भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले। ऐसी स्थिति में प्राप्त सम्यग्दर्शन 'निसर्गज' कहलाता है। तथापि निसर्गज का अर्थ ऐसा नहीं है कि ज्ञानी की देशना के बिना सम्यक्त्व होगया! निसर्गज सम्यक्त्व वाले को भी एक बार पूर्व में ज्ञानी के पास से देशनालब्धि तो अवश्य होती ही है।

यहाँ तो कहना यह है कि जीव तत्वविचार के अभ्यास से सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन के लिये मूल तो तत्वविचार का उद्यम ही है। जिसको तत्व का विचार नहीं है और देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति करता है, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करता है, व्रत-तपादि करता है; तथापि वह जीव सम्यक्त्व के सन्मुख नहीं है। इसलिये तत्वविचार की मुख्यता है।

प्रथम स्वभाव सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति हो-आनन्द का वेदन हो तभी यथार्थ सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है, इसके अतिरिक्त यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती। अनुभूति के पहले तत्वविचार करके दृढ़ निर्णय करना चाहिये। जिसकी निर्णय में ही भूल हो उसको तो यथार्थ अनुभूति होगी ही कैसे ? नहीं होगी। जो जीव अकेले विकल्प से तत्वविचार किया करता है वह भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करता। अन्तर में चैतन्यस्वभाव की महिमा करके उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है।

देखो, तत्वविचार की महिमा! यह मुख्य मुद्दे की बात है। (तत्वविचार की महिमा है,) व्रत तपादि करने की महिमा नहीं है।

तत्वविचार रहित देवादिक की प्रतीति करने पर भी सम्यक्त्व नहीं होता। जिसको यह पता नहीं है कि जीव-अजीव क्या है, पुण्य-पाप क्या है, बंध-मोक्ष क्या है; वह जीव यात्रा करे, मुनियों को निर्दोष आहार-पानी दे, व्रत-तप करे; तो भी उसे सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं कहा है। कारण कि तत्वनिर्णय के बिना जीव सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता।

वस्तु स्वरूप से विपरीत श्रद्धान ही महापाप है, अज्ञान ही महापाप है। यहाँ जिनके देव-शास्त्र-गुरु ही खोटे (मिथ्या) हैं उनकी तो बात ही नहीं है; परन्तु सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति करने पर भी तत्व का विचार नहीं करने वाला जीव सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करता-इस प्रकार व्यवहार श्रद्धा वाले की बात की है।

अब व्यवहार ज्ञान की बात करते हैं-जो जीव ग्यारह अंग और नौ पूर्व का अभ्यास करने पर भी वास्तविक तत्व का विचार नहीं करता वह भी सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं है। शास्त्र पर है, उनके प्रति होने वाला राग शुभ है और आत्मा उस राग से रहित है-इत्यादि तत्वविचार नहीं करने से वह जीव मिथ्यादृष्टि रहता है।

अब बाह्य आचरण की बात करते हैं-कोई जीव यात्रा करता है, तप करता है, राग मंद करता है; परन्तु तत्व के विचार बिना सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं होता। जीव पूर्व में अनन्तबार द्रव्यलिंगी साधु बनकर नौवें ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ है; परन्तु तत्वविचार के बिना अंश भी धर्म की प्राप्ति नहीं हुई।

लोगों को तत्व का बहुमान नहीं आता है। वे मानते हैं कि व्रत-तप, उपवासादि कुछ करेंगे तो तिर जायेंगे। अतः जितनी शक्ति होती है उसे त्याग में लगाते हैं; परन्तु तत्वाभ्यास नहीं करते। इस प्रकार वे जीव मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

कोई जीव सात तत्वों का विचार करता है, उसको वर्तमान में देव-शास्त्र-गुरु का योग नही है और शास्त्रों का अधिक अभ्यास भी नहीं है, व्रत, तप भी नहीं करता; तो भी वह जीव पूर्व संस्कार पाकर तत्व का विचार करे तो सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।

तथा किसी को तत्वविचार होने के पहले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा होती है अथवा निर्दोष मूलगुणादि का पालन करता है; तथापि वह जीव सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं है; परन्तु यदि तत्वविचार करता है तो सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। इसलिये सम्यक्त्व का अधिकारी तो तत्वविचार से ही होता है और तभी सच्चा धर्म होता है।

किसी को तत्वविचार होने पर भी तत्व प्रतीति नहीं होने से सम्यक्त्व तो नहीं हुआ; परन्तु मात्र व्यवहार धर्म की प्रतीति-रुचि हो जाने से वह देवादिक की प्रतीति और व्रत, तप को अंगीकार करता है। तत्व प्रतीति अर्थात् अन्तरंग अनुभूति नहीं की, ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख नहीं हुआ तो उसको तत्वविचार के द्वारा व्यवहार धर्म की रुचि रह जाती है; परन्तु वस्तु स्वभाव को प्राप्त नहीं होता। इसलिये ज्ञायक स्वभाव सन्मुख अनुभूति ही प्रधान है, वही सम्यक्त्व है।

किसी को देवादि की प्रतीति और सम्यक्त्व एक साथ होते हैं। पहले कहा था कि प्रथम देवादि की प्रतीति करता है और पश्चात् सम्यक्त्व होता है, अथवा नहीं होता। अब यहाँ कहते है कि देवादि की प्रतीति हुई वहाँ अन्तरंग ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि की-इस कारण दोनो एकसाथ होते हैं। तथा किसी को सम्यक्त्व के साथ ही व्रत, तपादि होत हैं, किसी को नहीं भी होते; परन्तु सम्यक्त्व के समय देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति तो नियमरूप से होती है। सच्चे देवादिक की प्रतीति तो नियमरूप से होती है। सच्चे देवादिक की प्रतीति के बिना तो सम्यक्त्व होता ही नहीं। हाँ, सच्चे देवादिक की प्रतीति हो; परन्तु अन्तरंग तत्व की अनुभूति नहीं करे तो सम्यक्त्व नहीं होता। बहुत से जीव तो सम्यक्त्व होने के पश्चात् ही व्रतादि धारण करते हैं, किसी को एकसाथ भी होते हैं।

अब तक निमित्त की अपेक्षा से तत्वविचार की मुख्यता से वर्णन किया। अब अन्तरंग में उतरने के लिये तत्वविचार की प्रधानता को भी उड़ाते हैं।

इसप्रकार तत्वविचार वाला सम्यक्त्व का अधिकारी है; परन्तु उसको सम्यक्त्व हो ही, ऐसा नियम नहीं है। वह भी यदि आत्मसन्मुख परिणाम नहीं करता तो सम्यक्त्व नहीं होता; कारण कि शास्त्रों में सम्यक्त्व होने के पूर्व पांच लाब्धियां होना कहीं है। प्रथम सम्यक्त्व होने पर शुद्धोपयोग-निर्विकल्प ध्यान होता है। वहाँ बुद्धिपूर्वक विकल्प छुट जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है।

सम्यक्त्व होने के पूर्व 1. क्षयोपशम 2. विशुद्धि 3. देशना 4. प्रायोग्य और 5. करण- ये लब्धियां होती हैं।

पाँच लब्धियों का स्वरूप

....क्षयोपशम, विशुद्ध, देशना, प्रायोग्य, करण। वहाँ जिसके होने पर तत्वविचार हो सके-ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षयोपशम हो अर्थात् उदयकाल को प्राप्त सर्वधाती स्पर्द्धको के निषेकों के उदय का अभाव सो क्षय, तथा अनागतकाल में उदय आने योग्य उन्हीं का सत्तारूप रहना सो उपशम-ऐसी देशघाती स्पर्द्धको के उदय सहित कर्मो की अवस्था उसका नाम क्षयोपशम है; उसकी प्राप्ति सो क्षयोपशमलब्धि है।

तथा मोह का मन्द उदय आने से मन्दकषायरूप भाव हों कि जहाँ तत्वविचार हो सके सो विशुद्धिलब्धि है।

तथा जिनदेव के उपदिष्ट तत्व का धारण हो, विचार हो, सो देशनालब्धि है। जहाँ नरकादि मे उपदेश का निमित्त न हो वहाँ वह पूर्व संस्कार से होती है।

तथा कर्मो की पूर्वसत्ता अंतः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बन्ध अंतः कोड़ाकोड़ी प्रमाण उसके संख्यातवें भागमात्र हो, वह भी उस लब्धिकालसे लगाकर क्रमशःघटता जाये और कितनी ही पापप्रकृतियों का बन्ध क्रमशः मिटता जाये-इत्यादि योग्य अवस्था का होना सो प्रयोग्यलब्धि है।

सो ये चारो लब्धियाँ भव्य या अभव्य के होती है। ये चार लब्धियाँ होने के बाद सम्यक्त्व हो तो हो, न हो तो नहीं भी हो-ऐसा लब्धिसार में कहा है।

इसलिये उस तत्वविचार वाले को सम्यक्त्व होने का नियम नहीं है। जैसे-किसी को हितकी शिक्षा दी, उसे जानकर वह विचार करे कि यह जो शिक्षा दी सो कैसे है? पश्चात् विचार करने पर उसको ऐसे ही है-ऐसी उस शिक्षा की प्रतीति हो जाये; अथवा अन्यथा विचार हो या अन्य विचार में लगकर उस शिक्षा का निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी हो; उसी प्रकार श्रीगुरु ने तत्वोपदेश दिया, उसे जानकर विचार करे कि यह उपदेश दिया सो किस प्रकार है? पश्चात् विचार करने पर उसको ऐसा ही है- ऐसी प्रतीति हो जाये; अथवा अन्यथा विचार हो या अन्य विचार में लगकर उस उपदेश का निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी हो। सो मूलकारण मिथ्यात्वकर्म है; उसका उदय मिटे तो प्रतीति हो जाये; न मिटे तो नहीं हो;-ऐसा नियम है। उसका उद्यम तो तत्वविचार करना मात्र ही है।....

1. क्षयोपशमलब्धि- जिसके होने से तत्वविचार हो सके-ऐसा ज्ञानवरणादि कर्मो का क्षयोपशम हो। अर्थात् उदयकाल को प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकों के निषेकों के उदय का अभाव सो क्षय; तथा भावी काल में आने योग्य कर्मो का सत्तारूप रहना सो उपशम-ऐसी देशघाती कर्मो के उदय सहित कर्मो की अवस्था का नाम क्षयोपशम है, उसकी प्राप्ति सो क्षयोपशम लब्धि है।

2. विशुद्धिलब्धिः- मोह का मंद उदय आने से मंदकषायरूप भाव हों; जिससे कि तत्वविचार हो सके वह विशुद्धि लब्धि है।

जो जीव तीव्र कषाय अर्थात् व्यापार-धंधे के अशुभभाव में लीन हो वह सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य नहीं है। व्यापार, मान-प्रतिष्ठा के पाप परिणाम में लीन जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति का अवसर नही है। जिसके कषाय की मंदता हो उसको विचार करने का अवसर है।

3. देशनालब्धिः- श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदेशित तत्व का धारण होना, उसका विचार होन सो देशनालब्धि है। नरकादि में जहाँ उपदेश का निमित्त नहीं हो वहाँ यह पूर्व संस्कार से होती है। यहाँ उपदेश कहा है, कोई जीव उपदेश बिना अकेले शास्त्र पढ़कर देशनालब्धि प्राप्त कर सकता है-ऐसा नहीं होता। उपदेशित तत्व का ग्रहण-धारण भलीभांति होना चाहिये।

यहाँ मात्र सुनने की भी बात नहीं है। सुनकर धारण करके विचार करने को देशनालब्धि कहते हैं।-ऐसे जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति का अवसर है। तीसरे नरक तक तो देव जाते हैं; तथा जहां देव नहीं जा सकें तथा भोगभूमि में व अन्यगति में जहाँ ज्ञानी की उपस्थिति नही हो वहाँ पूर्व संस्कार से देशनालब्धि होती है।

4. प्रयोग्यलब्धिः- कर्मो की पूर्व सत्ता घटकर अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये तथा नवीन बंध भी अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण के संख्यात भाग मात्र हो, वह भी इस लाब्धि के काल से लेकर क्रम से घटता ही जाये और कितनी ही पाप प्रकृतियों का बंध क्रम से मिटता जाये। इत्यादि योग्य अवस्था का होना प्रायोग्य लब्धि है।

इसप्रकार ये प्रथम चार लब्धियां तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य जीव को भी होती है; परन्तु सम्यक्त्व होने पर तो चारों लाब्धियां अवश्य होती है और करण लब्धि होने पर तुरंत ही सम्यक्त्व अवश्य प्रगट होता है। इसलिये तत्वविचार वाले को सम्यक्त्व होने का नियम नहीं है। जैसे किसी ने किसी को हित की शिक्षा दी, उसे जानकर वह विचार करे कि यह शिक्षा किस प्रकार है; पश्चात् विचार करने पर ऐसे ही है-इस प्रकार उस शिक्षा की प्रतीति हो जाये अथवा अन्यथा विचार हो जाये अथवा अन्य विचार में लग जाये तो शिक्षा का निर्धार नहीं होता और प्रतीति नहीं होती। इसीप्रकार श्रीगुरु ने उपदेश दिया हो वहाँ प्रथम विचार करे और फिर अन्यथा विचार में लग जाये, अथवा विशेष विचार करके निर्णय नही कर सके तो अन्तरंग प्रतीति नहीं होती।

....तथा पाँचवी करणलब्धि होने पर सम्यक्त्व हो ही हो-ऐसा नियम है। सो जिसके पहले कही हुई चार लब्धियां तो हुई हो और अंतर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यक्त्व होना हो उसी जीव के करणलब्धि होती है।

सो इस करणलब्धि वाले के बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि उस तत्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे-किसी के शिक्षा का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसकी प्रतीति हो जायेगी; उसी प्रकार तत्वोपदेश

का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसका श्रद्धान हो जायेगा। तथा इन परिणामों का तारतम्य केवलज्ञान द्वारा देखा, उसका निरूपण करणानुयोगमें किया है।

इस करणलब्धि के तीन भेद है-अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृतिकरण। इनका विशेष व्याख्यान तो लब्धिसार शास्त्र में किया है वहाँ से जानना। यहाँ संक्षेपमें कहते हैं।

त्रिकालवर्ती सर्व करणलब्धिवाले जीवों के परिणामों की अपेक्षा ये तीन नाम है। वहाँ करण नाम तो परिणाम का है।

जहाँ पहले और पिछले समयों के परिणाम समान हों सो अधःकरण है। जेसे किसी जीव के परिणाम उस करण के पहले समय अल्प विशुद्धतासहित हुए, पश्चात् समय-समय अनन्तगुनी विशुद्धतासे बढ़ते गये, तथा उसके द्वितीय-तृतीय आदि समयों में जैसे परिणाम हो वैसे किन्हीं अन्य जीवों के प्रथम समय में ही हो और उनके उससे समय-समय अनन्तगुनी विशुद्धतासे बढ़ते हो-इस प्रकार अधःप्रवृत्तिकरण जानना।

तथा जिसमें पहले और पिछले समयों के परिणाम समान न हों, अपूर्व ही हों, वह अपूर्वकरण है। जैसे कि उस करण के परिणाम जैसे पहले समय में हों वैसे किसी भी जीव के द्वितीयादिसमयों में नहीं होते, बढते ही होते है; तथा यहाँ अधःकरणवत् जिन जीवों के करण का पहला समय ही हो, उन अनेक जीवों के परिणाम परस्पर समान भी होते है और अधिक हीन विशुद्धता सहित भी होते है; परन्तु यहाँ इतना विशेष हुआ कि इसकी उत्कृष्टता से भी द्वितीयादि समयवाले के जघन्य परिणाम भी अनन्तगुनी विशुद्धता सहित ही होते हैं। इसीप्रकार जिन्हें कारण प्रारम्भ किये द्वितीयादि समय हुए हों, उनके उस समयवालों के परिणाम तो परस्पर समान या असमान होते है; परन्तु उपर के समय वालों के परिणाम उस समय समान सर्वथा नहीं होते, अपूर्व ही होते है। इस प्रकार अपूर्वकरण जानना।

तथा जिसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते है, निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेद उससे रहित होते है; जैसे उस करण के पहले समय में

सर्व जीवों के परिणाम परस्पर समान ही होते हैं, उसी प्रकार द्वितीयादि समयों में परस्पर समानता जानना; तथा प्रथमादि समयवालों से द्वितीयादि समयवालों के अनन्तगुनी विशुद्धता सहित होते हैं। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण जानना।

इसप्रकार ये तीन करण जानना।

वहाँ पहले अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त अधःकरण होता है। वहाँ चार आवश्यक होते हैं-समय समय अनन्तगुनी विशुद्धता होती है; तथा एक (एक) अन्तर्मुहूर्त से नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है, सो स्थितिबन्धापसरण है; तथा प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग समय-समय अनन्तगुना बढ़ता है; और अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग-बन्ध समय-समय अनन्तवें भाग होता है-इस प्रकार चार आवश्यक होते है।

वहाँ पश्चात् अपूर्वकरण होता है। उसका काल अधःकरण के काल के संख्यातवें भाग है। उसमें ये आवश्यक और होते है-एक-एक अन्तर्मुहूर्त से सताभूत पूर्वकर्म की स्थिति थी उसको घटाता है सो स्थितिकाण्डघात है; तथा उससे छोटे एक-एक अन्तर्मुहूर्तसे पूर्वकर्म के अनुभाग को घटाता है सो अनुभागकाण्डकघात है; तथा गुणश्रेणी के काल में क्रमशः असंख्यातगुने प्रमाणसहित कर्मो को निर्जरा के योग्य करता है सो गुणश्रेणी निर्जरा है। तथा गुणसंक्रमण यहाँ नहीं होता, परन्तु अन्यत्र अपूर्व करण हो वहाँ होता है।

इसप्रकार अपूर्वकरण होने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है। उसका काल अपूर्वकरण के भी संख्यातवे भाग है। उसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल जाने के बाद अन्तरकरण करता है, जो अनिवृत्तिकरण के काल पश्चात् उदय आने योग्य ऐसे मिथ्यात्वकर्म के मुहूर्तमात्र निषेक उनका अभाव करता है; उन परमाणुओं को अन्यस्थितिरूप परिणमित करता है। तथा अन्तरकरण करने के पश्चात् उपशमकरण करता है। अन्तरकरण द्वारा अभावरूप किये निषेकों के ऊपर वाले जो मिथ्यात्व के निषेक हैं उनको उदय आने के अयोग्य बनाता है। इत्यादिक क्रिया द्वारा अनिवृत्तिकरण के अन्तसमय के अनन्तर जिन निषेकों का अभाव किया था, उनका काल आये, तब निषेकों के बिना उदय किसका आयेगा? इसलिये मिथ्यात्व का उदय न होने से

प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अनादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय की सत्ता नहीं है, इसलिये वह एक मिथ्यात्वकर्म का ही उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। तथा कोई जीव सम्यक्त्व पाकर फिर भ्रष्ट होता है, इसकी दशा भी अनादि मिथ्यादृष्टि जैसी हो जाती है।....

अन्तर में चैतन्य स्वभाव सन्मुख परिणाम होने पर अन्दर में कोई सूक्ष्म परिणाम हो जाते हैं वे केवलीगम्य है। वहाँ मैं अधःकरण करू, अनिवृत्तिकरण करूँ-ऐसा लक्ष्य नहीं होता; परन्तु अन्दर मैं चैतन्य सन्मुख तत्वविचार का उद्यम करते हुए वैसे अधःकरणादि परिणाम हो जाते हैं। वे अपने बुद्धिगम्य नहीं है।

अध्यात्म दृष्टि से आत्मसन्मुख परिणाम हुए हैं और आगमदृष्टि से तीन करण के परिणाम हुए हैं-ऐसा कहा जाता है। जीव के विशुद्ध परिणामों का निमित्त होने पर कर्मो का वैसा परिणमन हो जाता है; परन्तु जीव का उद्यम तो अपने स्वभाव सन्मुख परिणाम करने का ही है।

....यहाँ प्रश्न है कि परीक्षा करके तत्वश्रद्धान किया था, उसका अभाव कैसे हो?

समाधानः- जैसे किसी पुरुष को शिक्षा दी। उसकी परीक्षा द्वारा उसे 'ऐसे ही है'- ऐसी प्रतीति भी आयी थी; पश्चात् किसी प्रकार से अन्यथा विचार हुआ, इसलिये उस शिक्षा में सन्देह हुआ कि इस प्रकार है या इस प्रकार ? अथवा 'न जाने किस प्रकार है?' अथवा उस शिक्षा को झूठ जानकर उससे विपरीतता हुई तब उसे अप्रतीति हुई और उसके उस शिक्षा की प्रतीति का अभाव हो गया। अथवा पहले तो अन्यथा प्रतीति थी ही, बीचमें शिक्षा के विचार से यथार्थ प्रतीति हुई थी; परन्तु उस शिक्षा का विचार किये बहुत काल हो गया, तब उसे भूलकर जैसी पहले अन्यथा प्रतीति थी वैसी ही स्वयमेव हो गई। तब उस शिक्षा की प्रतीति का अभाव हो जाता है। अथवा यथार्थ प्रतीति पहले तो की-पश्चात् न तो कोई अन्यथा विचार किया, न बहुत काल हुआ; परन्तु वैसे ही कर्मोदय से होनहार के अनुसार स्वयमेव ही उस प्रतीति का

अभाव होकर अन्यथापना हुआ। ऐसे अनेक प्रकार से उस शिक्षा की यथार्थ प्रतीति का अभाव होता है। उसीप्रकार जीवको जिनदेव का तत्वादिरूप उपदेश हुआ; उसकी परीक्षा करके उसे 'ऐसे ही है' ऐसा श्रद्धान हुआ, पश्चात् जैसे पहले कहे थे वेसे अनेक प्रकार से उस यथार्थ श्रद्धान का अभाव होता है। यह कथन स्थूलरूप से बतलाया है; तारतम्य तो केवलज्ञान में भासित होता है कि 'इस समय श्रद्धान है और इस समय नहीं है;' क्योंकि यहाँ मूलकारण मिथ्यात्वकर्म है। उसका उदय हो तब तो अन्य विचारादि कारण मिले या न मिले, स्वयमेव सम्यक् श्रद्धान का अभाव होता है। और उसका उदय न हो तब अन्यकारण मिलें या न मिलें, स्वयमेव सम्यक् श्रद्धान हो जाता है। सो ऐसी अन्तरंग समय-समय सम्बन्धी सूक्ष्मदशा का जानना छद्मस्थ को नही होता, इसलिये इसे अपनी मिथ्या-सम्यक् श्रद्धानरूप अवस्था के तारतम्य का निश्चय नहीं हो सकता; केवलज्ञान में भासित होता है।- इस अपेक्षा गुणस्थानों का पलटना शास्त्र में कहा है।

इसप्रकार जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो उसे सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं-उसके भी पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति में पूर्वोक्त पांच लब्धियां होती है। विशेष इतना कि यहाँ किसी जीव के दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों की सत्ता होती है, सो तीनों का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्वी होता है। अथवा किसी के सम्यक्त्व मोहनीय का उदय आता है, दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता, वह क्षयोपशम सम्यक्त्वी होता है; उसके गुणश्रेणी आदि क्रिया नही होती तथा अनिवृतिकरण नहीं होता। तथा किसी को मिश्रमोहनीय का उदय आता है, दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता, वह मिश्रगुणस्थान को प्राप्त होता है, इसके करण नही होते। इसप्रकार सादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व छूटने पर दशा होती है। क्षायिक सम्यक्त्व को वेदक सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करता है, इसलिये उसका कथन यहाँ नहीं किया है। इसप्रकार सादि मिथ्यादृष्टि का जघन्य तो मध्यम अन्तर्मुहूर्तमात्र, उत्कृष्ट किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गलपरावर्तनमात्र काल जानना।....

प्रश्नः- पहले परीक्षा करके तत्व श्रद्धान किया था। देव-शास्त्र-गुरु किसको कहना यह परीक्षा की थी, धनादि मेरी वस्तु नहीं है, पुण्य मेरा नहीं है, दया, दानादि

भाव बंध के कारण हैं और मेरा स्वरूप अबंध है-इत्यादि परीक्षा की थी, तो भी उस श्रद्धा का अभाव क्यों हो जाता है?

उत्तर:- जैसे किसी ने कहा कि हीरा-माणिक ऐसे होते हैं-ऐसी शिक्षा दी, उसकी परीक्षा द्वारा ऐसी प्रतीति भी आई कि ऐसा ही है;-परन्तु पश्चात् किसी प्रकार अन्यथा विचार होने से उस शिक्षा में संदेह उत्पन्न हुआ अथवा उस शिक्षा को झूठ जानकर उससे विपरीतता होने से उस जीव को उसकी प्रतीति हुई और पूर्व प्रतीति का अभाव हुआ। अथवा पहले तो अन्यथा प्रतीति थी ही, बीच में किसी शिक्षा के प्रचार से यथार्थ प्रतीति हुई थी; परन्तु तत्पश्चात् उस शिक्षा का विचार किये बहुत काल हो जाने से उसे भूलकर जैसे पहले अन्यथा प्रतीति थी वैसी ही स्वयं हो गई। इस कारण उस शिक्षा की प्रतीति का अभाव हो जाता है। अथवा पहले तो यथार्थ प्रतीति की थी, पीछे न तो कोई अन्यथा विचार किया न बहुत काल ही बीता; परन्तु कोई ऐसे ही कर्मोदय से होनहार अनुसार स्वयं उस प्रतीति का अभाव होकर अन्यथापना हो गया। इसप्रकार अनेक प्रकार से उस शिक्षा की प्रतीति का अभाव होता है।

इसी प्रकार जीव को तीनकाल-तीनलोक के ज्ञाता सर्वज्ञ का उपदेश मिला कि तेरा स्वरूप ज्ञानानन्द है। ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। सुख तेरे में है, पर मेसे सुख नहीं आता। तू विकार और पर की रुचि छोड़कर अन्तररुचि कर तो अन्तर में से सुख प्रगट होगा। राग और परवस्तु तो जो आने योग्य है वह आती है। पैसा इत्यादि पुद्गल है, वे तेरी वस्तु नहीं है। पुण्य-पाप विकार है वह भी तेरा त्रिकाल स्वरूप नहीं है। -सर्वप्रथम ऐसा निर्णय करना प्रथम सोपान है। धर्म की पहली सीड़ी सम्यग्दर्शन है-ऐसा जिनदेव का उपदेश सुना; परन्तु पश्चात् शंका हुई अथवा विपरीतता हो गई। या तो उस उपदेश को मिथ्या माना या ऐसा कैसे होगा-ऐसा संदेह हुआ। अथवा बहुत काल होने से भूल गया। ज्ञानस्वरूप चैतन्य को भूल जाने से प्रतीति का अभाव हो जाता है। अपनी योग्यतायें ऐसी है; कर्म तो निमित्तमात्र है। निमित्त आत्मा को मिथ्यात्व नहीं कराता है। जीव स्वयं अपने स्वभाव की रुचि छोड़कर पर की तथा विकार की रुचि करता है-इस कारण मिथ्यात्व होता है। उसमें दर्शनमोहनयी कर्म का उदय निमित्त है।

यह कथन स्थूलरूप से किया है; परन्तु तारतम्यता से तो केवली के ज्ञान में ही भासित होता है। इस समय में श्रद्धान है अथवा इस समय में नहीं है-ऐसे एक समय का परिणाम छद्मस्थ नहीं पकड़ सकता है।

यहाँ मूलकारण मिथ्यात्व कर्म निमित्त है। यहाँ निमित्त से कथन किया है। जीव स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करता है इसकारण मिथ्यादृष्टि हो जाता है। कर्म जीव का कुछ नहीं करता है। तथा मिथ्यात्व कर्म का उदय न हो और स्वयं चैतन्य स्वभाव का पुरुषार्थ करे तब बाह्य देव-शास्त्र-गुरु आदि मिलें या नहीं मिलें, परन्तु सम्यक् श्रद्धान स्वयं हो जाता है। जब स्वयं स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ करता है तब मिथ्यात्व कर्म का उदय होता ही नही।

छद्मस्थ जीव समय-समय की अवस्था को नही पकड़ सकता। इस कारण अपनी मिथ्या-सम्यक्रूप अवस्था के तारतम्य का उसे निश्चय नहीं हो सकता; परन्तु वह केवलज्ञान में भासित होता है। इस अपेक्षा से शास्त्रों में गुणस्थान का पलटना कहा है।

जिस जीव ने अनादि से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया हो वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होता है उसको सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसके भी पुनः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय पांचों लब्धियों की प्राप्ति होती है। विशेष इतना है कि अनादि मिथ्यादृष्टि को एक मिथ्यात्व प्रकृति में सत्ता में होती है। सादि मिथ्यादृष्टि में किसी जीव को दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों की सत्ता होती है, उनके उपशम से वह प्रथमोपशम सम्यक्त्वी होता है। अथवा किसी के सम्यक्त्व मोहनीय का उदय आता है और दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता, वह क्षयोपशम सम्यक्त्वी होता है। उसके गुणश्रेणी आदि क्रिया और अनिवृत्ति करण नहीं होते। अथवा किसी के मिश्रमोहनीय का उदय आता है और दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता, वह मिश्रगुणस्थान को प्राप्त होता है, उसके करण नहीं होते। इस प्रकार सादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व छूटने पर दशा होती है। क्षायिक सम्यक्त्व को वेदक सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करता है; इसलिये यहाँ उसका कथन नहीं किया है। इस प्रकार सादि मिथ्यादृष्टि का जघन्य तो मध्यम अन्तर्मुहूर्त मात्र तथा उत्कृष्ट किंचित् न्यून अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र काल जानना।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् कोई जीव प्रमादवश भ्रष्ट होकर संसार में परिभ्रमण करता है। यहाँ कहा है कि मिथ्यात्व कर्म के उदय से सम्यक्त्व का अभाव हो जाता है और मिथ्यात्व के कर्म उदय का अभाव होने पर सम्यक्त्व हो जाता है-यह निमित्त का कथन है । जिस समय यहाँ जीव के परिणाम स्वभावसन्मुख होते हैं और सम्यक्त्व होता है उस समय सामने मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होता-ऐसा जानना चाहिये।

....देखो, परिणामों की विचित्रता! कोई जीव तो ग्यारहवें गुणस्थान में यथाख्यात-चारित्र प्राप्त करके पुनः मिथ्यादृष्टि होकर किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल पर्यन्त संसार में रुलता है, और कोई नित्य निगोद से निकलकर मनुष्य होकर मिथ्यात्व छूटने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा जानकर अपने परिणाम बिगड़ने का भय रखना और उनके सुधारने का उपाय करना।

तथा उस सादि मिथ्यादृष्टि के थोड़े काल मिथ्यात्व का उदय रहे तो बाह्य जैनीपना नष्ट नही होता, व तत्वों का अश्रद्धान व्यक्त नहीं होता, व विचार किये बिना ही व थोड़े विचार ही से पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। तथा बहुत काल तक मिथ्यात्व का उदय रहे तो जैसी अनादि मिथ्यादृष्टि की दशा होती है वैसी इसकी भी दशा होती है। गृहीत मिथ्यात्व को भी वह ग्रहण करता है और निगोदादि में भी रुलता है। इसका कोई प्रमाण नहीं है।

तथा कोई जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन होता है और वहाँ जघन्य एक समय उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल रहता है। उसके परिणाम की दशा वचन द्वारा कहनें मे नहीं आती। सूक्ष्मकाल मात्र किसी जाति के केवलज्ञानगम्य परिणाम होते हैं। वहाँ अनन्तानुबन्धीका तो उदय होता है, मिथ्यात्व का उदय नहीं होता। सो आगम प्रमाण से उसका स्वरूप जानना।

तथा कोई जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मिश्रगुणस्थान को प्राप्त होता है। वहाँ मिश्रमोहनीय का उदय होता है, इसका काल मध्यम अन्तर्मुहूर्तमात्र है। सो इसका भी काल थोड़ा है, इसलिये इसके भी परिणाम केवलज्ञानगम्य है। यहाँ

इतना भासित होता है कि जैसे किसी को शिक्षा दी; उसे वह कुछ सत्य और कुछ असत्य एक ही काल में माने; उसी प्रकार तत्वों का श्रद्धान-अश्रद्धान एक ही काल में हो वह मिश्रदशा है।....

कोई जीव अनादि निगोद में से निकलकर मनुष्य होकर आठ वर्ष की उम्र में सम्यक्त्व प्राप्त करके, अन्तर्मुहुर्त में ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से पड़कर फिर निगोद में चला जाता है। इसमें जीव के परिणाम की ही विचित्रता है। किसी अन्य के कारण ऐसा नहीं होता। किसी जीव ने निगोद और सिद्धदशा के बीच में मात्र एक ही मनुष्य का भव धारण किया। आठ वर्ष पूर्व निगोद में और आठ वर्ष बाद केवली! और अन्य कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर वापस निगोद में! इस प्रकार जानकर अपने परिणाम सुधारने का स्वसन्मुख उद्यम रखना। स्वयं ही अपने परिणाम बिगड़ने का भय रखना और सुधरने को उद्यम करना।

(तात्पर्य यह है कि) जो जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर अज्ञानी हुआ और निगोद में गया है उसकी दशा भी अनादि अज्ञानी के समान हो जाती है। हाँ, उसका संसार सीमित अवश्य हो गया है; परन्तु वर्तमान में तो उसके मिथ्याज्ञान ही है। जो सम्यक्त्व पाकर भ्रष्ट हुआ है उसके ज्ञान को मिथ्याज्ञान नहीं कहा जाये-ऐसा नहीं है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले की दृष्टि तो स्वभाव सन्मुख ही है; उसके समय-समय के सूक्ष्म परिणामों को छद्मस्थ नहीं पकड़ सकता।

....कितने ही कहते है-हमें तो जिनदेव तथा अन्य देव सर्व ही वन्दन करने योग्य है-इत्यादि मिश्रद्धान को मिश्रगुणस्थान कहते हैं, सो ऐसा नहीं है; यह तो प्रत्यक्ष मिथ्यावदशा है। व्यवहाररूप देवादिक का श्रद्धान होने पर भी मिथ्यात्व रहता है तब इसके तो देव-कुदेव का कुछ निर्णय ही नहीं है; इसलिये इसके तो यह विनय मिथ्यात्व प्रगट है-ऐसा जानना।

इसप्रकार सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों का कथन किया, प्रसंग पाकर अन्य भी कथन किया।....

तीसरा मिश्र गुणस्थान है; परन्तु मिश्र का यह अर्थ नहीं है कि सच्चे देव-गुरु को मानना और कुदेव-गुरु को भी मानना। कुदेव-गुरु को मानने वाला तो प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्नः- हमें तो जिनदेव और अन्य देव सब आदरणीय है-ऐसी मिश्रश्रद्धा को मिश्रगुणस्थान कहते है न?

उत्तरः- नहीं, यह तो प्रत्यक्ष मिथ्याश्रद्धा है। जब व्यवहाररूप देवादि के श्रद्धान वाले के भी मिथ्यात्व रहता है, तब इसके तो देव-कुदेव का कुछ निर्णय ही नहीं है; अतः इसके तो प्रगट विनय मिथ्यात्व है-ऐसा जानना।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने पर भी यदि अन्तरंग में आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा नहीं हो तो वह जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है, उसको भी मिश्र गुणस्थान नहीं कहते; तो फिर अभी जिसको सच्चे सर्वज्ञदेव और कुदेव के बीच ही विवेक नहीं है और सबको समान मानता है वह तो विनय मिथ्यादृष्टि है। उसको मिश्रगुणस्थान नहीं, बल्कि एकदम पहला गुणस्थान है।

इस प्रकार सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि का तथा प्रसंगानुसार अन्य भी कथन किया है।

....इस प्रकार जैनमत वाले मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप का निरूपण किया। यहाँ नाना प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है। उसका प्रयोजन यह जानना कि उन प्रकारों को पहिचानकर अपने में ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक्श्रद्धानी होना, औरों के ही ऐसे दोष देख-देखकर कषायी नहीं होना; क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से है। औरों को रुचिवान देखें तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करे। इसलिये अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है; सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है; क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है।

एक मिथ्यात्व और इसके साथ अनन्तानुबन्धी का अभाव होने पर इकतालीस प्रकृतियों का तो बन्ध ही मिट जाता है, स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागर की रह जाती है, अनुभाग थोड़ा ही रह जाता है, शीघ्र ही मोक्षपद को प्राप्त करता है। तथा मिथ्यात्व का सद्भाव रहने पर अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये जिस-तिस उपाय से सर्वप्रकार मिथ्यात्व का नाश करना योग्य है।

यहाँ नानाप्रकार के मिथ्यादृष्टियों के वर्णन का प्रयोजन इतना ही जानना कि इन प्रकरों को पहिचानकर अपने में वैसा कोई दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक् श्रद्धान युक्त होना चाहिये, परन्तु किसी अन्य के ऐसे दोष देखकर कषाय नही करना चाहिये। कारण कि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से होता है। यदि अन्य को रुचिवान देखे तो उपदेश देकर उसका भी भला करना।

जड़-चेतन के प्रति समय के परिणाम स्वतन्त्ररूप से स्वयं से क्रमबद्ध होते हैं-ऐसा वस्तु स्वरूप सर्वज्ञदेव के अलावा अन्यमत में कहाँ है? कहीं नहीं है। आत्मा का स्वभाव ज्ञायक है और जड़-चेतन के प्रति समय के परिणाम स्वतन्त्र होते हैं- ऐसी यथार्थ वस्तुस्थिति दिगम्बर जैनमत में ही है।

यहाँ मिथ्यादृष्टि जीवों का कथन किया है, उसे पहिचानकर अपने में वैसा कोई दोष हो तो उसके अभाव करने के लिये यह कथन किया है। स्वयं अपना विचार करके, आत्मा की रुचि करके, मिथ्यात्व का अभाव करके सम्यक्त्व का उद्यम करना ही प्रयोजन है।

अपने परिणाम सुधारने का उद्यम करना योग्य है। इसलिये सर्वप्रकार से मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है। कारण कि संसार का मूल मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है। एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनन्तानुबंधी का अभाव होने पर इकतालीस कर्म प्रकृतियों का बंध तो मिट ही जाता है। तथा स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर की रह जाती है और अनुभाग भी थोड़ा ही रह जाता है। अर्थात् वह जीव थोड़े ही काल में मोक्षपद प्राप्त करता है; परन्तु

मिथ्यात्व के साथ होने पर अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता। इसलिये किसी भी उपाय से सर्वप्रकार से इस मिथ्यात्व का अभाव करना योग्य है।

कर्म आदि पर के कारण जीव के परिणाम बिगड़ते-सुधरते नहीं है; परन्तु अपने उद्यम से ही परिणाम बिगड़ते-सुधरते हैं। इसकारण ऐसा उपदेश है कि अपने परिणाम सुधारने का उद्यम करना योग्य है। इसलिये समस्त प्रकार के मिथ्यात्व भाव छोड़कर स्वभाव सन्मुख होकर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है।

सम्यग्दर्शन ही परमहित का उपाय है। सम्यग्दर्शन के बिना शुभभाव करने पर भी कल्याण नहीं होता; कारण कि संसार मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी का अभाव हुआ और जीव की परिणति इतनी शुद्ध हुई कि इकतालीस कर्म प्रकृतियों का तो बंध ही नहीं होता और पूर्व कर्म की स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर ही रहती है तथा घाति कर्म आदि मे अनुभाग भी अल्प ही रह जाता है। देखो! यह सम्यग्दर्शन का प्रताप!! सम्यग्दर्शन होने पर अल्पकाल में अवश्य मोक्षपद प्राप्त होता है और मिथ्यात्व युक्त जीव कितने ही उपाय करने पर भी मोक्ष प्राप्त नहीं करता। इसलिये जिस-तिस उपाय द्वारा भी सर्वप्रकार से मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना योग्य है। इस उपाय से जीव का कल्याण होता है।

इस प्रकार पूज्य आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें

"जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन"

अधिकार पर दि. 24.1.53 से 29.4.53 तक हुए

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के मार्मिक प्रवचनों का तथा

दि. 18.8.1953 से 19.12.53 तक हुए प्रवचनांशों का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट - 1

पंचास्तिकाय संग्रह में समागत

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप

(अब केवलव्यवहारावलम्बी (अज्ञानी) जीवों का प्रवर्तन और उसका फल कहा जाता है:-)

....परन्तु जो केवलव्यवहारावलम्बी (मात्र व्यवहारका अवलम्बन करने वाले) हैं वे वास्तव में भिन्नसाध्यसाधनभाव के अवलोकन द्वारा निरन्तर अत्यन्त खेद पाते हुए, (1) पुनः पुनः धर्मादि के श्रद्धानरूप अध्यवसान में उनका चित्त लगता रहने से, (2) बहुत श्रुत के (द्रव्यश्रुतके) संस्कारों से उठनेवाले विचित्र (अनेक प्रकार के) विकल्पों के जाल द्वारा उनकी चैतन्यवृत्ति चित्र-विचित्र होती है इसलिए और (3) समस्त यति-आचरण के समुदायरूप तप में प्रवर्तनरूप कार्मकाण्ड की धमार में वे अचलित रहते हैं इसलिए, (1) कभी किसी की (किसी विषय की) रुचि करते हैं, (2) कभी किसी के (किसी विषय के) विकल्प करते हैं और (3) कभी कुछ आचरण करते हैं; दर्शनाचारण के लिए- वे कदाचित् प्रशमित होते हैं, कदाचित् संवेग को प्राप्त होते हैं, कदाचित् अनुकम्पित होते हैं, कदाचित् आस्तिक्य को धारण करते हैं, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढ़दृष्टिता के उत्थान को रोकने के हेतु नित्य कटिबद्ध रहते हैं, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना को भाते हुए बारम्बार उत्साह को बढ़ाते हैं; ज्ञानाचरण के लिए- स्वाध्यायकाल का अवलोकन करते हैं, बहु प्रकार से विनयका विस्तार करते हैं, दुर्धर उपधान करते है, भलीभाँति बहुमान को प्रसरित करते हैं, निह्नवदोष को अत्यन्त निवारते हैं, अर्थ व्यंजन और ततदुभय की शुद्धि में अत्यन्त सावधान रहते हैं; चारित्राचरण के लिए- हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह की सर्वविरतिरूप पंचमहाव्रतों में तल्लीन वृत्तिवाले रहते हैं, सम्यक् योगनिग्रह जिनका लक्षण है (योग का बराबर निरोध करना जिनका लक्षण है) ऐसी गुप्तियों में अत्यन्त उद्योग रखते हैं, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्गरूप समितियों में प्रयत्न

को अत्यन्त युक्त करते हैं, तपाचरण के लिए- अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश में सतत् उत्साहित रहते हैं, प्रयश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यानरूप परिकर द्वारा निज अन्तःकरण को अंकुशित रखते हैं; वीर्याचरण के लिए- कर्मकाण्ड में सर्व शक्ति द्वारा व्यापृत रहते हैं; ऐसा करते हुए कर्मचेतनाप्रधानपने के कारण यद्यपि अशुभकर्मप्रवृत्ति का उन्होने अत्यन्त निवारण किया है तथापि- शुभकर्मप्रवृत्तिको जिन्होने बराबर ग्रहण किया है ऐसे वे, सकल क्रियाकाण्ड के आडम्बर से पार उतरी हुई दर्शनज्ञानचारित्र की ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतना वाले वर्तते हुए, देवलोकादिके क्लेश की प्राप्ति की परम्परा द्वारा अत्यन्त दीर्घकाल तक संसारसागर में भ्रमण करते हैं। कहा भी है कि- चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा। चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति।। (अर्थात् जो चरणपरिणामप्रधान हैं और स्वसमयरूप परमार्थ में व्यापाररहित हैं, वे चरणपरिणाम का सार जो निश्चयशुद्ध (आत्मा) उसे नहीं जानते।-)

प्रवचन

एकान्त व्यवहार को मानने वाले मिथ्यादृष्टि कैसे होते हैं उनकी यह बात है। शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। गुरु भी मोक्षमार्ग का ही उपदेश देने वाले होते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उसके अवलम्बन बिना जितने शुभाशुभभाव हैं उनसे धर्म मानना तो जैन धर्म का उपदेश ही नहीं है;राग से धर्म होता है- ऐसा उपदेश दे तो वह जैन धर्म का उपदेश ही नहीं हैं। और वैसा उपदेश देने वाले भी गुरु नहीं हैं; बल्कि कुगुरु है।

तो गुरु कैसे होते हैं ?

'आत्मावलोकन' में कहा है कि :-

वीतरागं वीतरागं जीवस्य निजस्वरूपो वीतरागं।

मुहुर्मुहु गृणनाति वीतरागं स गुरुपदं भासदि सवा।।

जीव का निजस्वरूप वीतराग है। जो ऐसे वीतराग स्वरूप का बारम्बार चिन्तवन करते हैं और उसे ही बारम्बार कहते हैं- ऐसे जीव गुरु पदवी में शोभायमान होते हैं। जो जीव राग को उपादेय मानते हैं, राग से धर्म मनाते हैं वे जीव गुरु नहीं, कुगुरु हैं।

साधक को भूमिकानुसार राग आता है; परन्तु उस राग से धर्म होता है- ऐसा जैनदर्शन में तीनकाल में भी नहीं है। जो जीव चिदानन्द स्वभाव को चूककर एकान्त राग से और व्यवहार से लाभ मानता है उस जीव को जैन दर्शन का पता नहीं है। वास्तविक वात्सल्यभाव भी किस को होता है? चिदानन्द स्वभाव के भान पूर्वक बीच में देव शास्त्र-गुरु का प्रेम और साधर्मी के प्रति वात्सल्य आता है वह व्यवहार वात्सल्य है। परन्तु जो जीव चैतन्य का प्रेम चूककर अकेले पर के राग से मुक्ति होना मानता है वह तो व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। राग से मोक्ष कैसे होगा? राग तो अंगारे समान है और मोक्ष तो शान्तिमय है। अग्नि से शान्ति-शीतलता कैसे होगी?

चैतन्य ज्ञायक स्वभाव का भान करके स्वयं अपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना परमार्थ प्रभावना है और वहाँ भूमिकानुसार धर्म प्रभावना का भाव होता है; परन्तु अज्ञानी जीव तो निश्चय स्वभाव के भान बिना अकेले शुभराग की ही भावना भाता है। धर्मी को तो जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है उस भाव की भी भावना नहीं होती। अज्ञानी राग की भावना भाता है; अतः उसको कभी तीर्थंकर नामकर्म नहीं बंधता। जहाँ दर्शनशुद्धि पूर्वक सोलहकारण भावना हो वहाँ तीर्थंकर नामकर्म बंध जाता है। अज्ञानी तो अकेले शुभराग से धर्म मानकर बारम्बर उस राग में उत्साह करता है; परन्तु उसको दर्शन शुद्धि का तो भान ही नहीं है- ऐसा जीव एकान्त व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

वह जीव शास्त्राभ्यास करता है, पठन-पाठन करता है और उससे सम्यग्ज्ञान होना मानता है वह भी मूढ़ है। शास्त्र की ओर के झुकाव वाले भाव से ऐसा मानता है कि 'मैं ज्ञानभावना करता हूँ'- परन्तु ज्ञान तो ज्ञायक में है- ऐसा भान उसको नहीं है। वह ज्ञानी की विनय करता है, शास्त्र का, गुरु का बहुमान करता है और मानता है कि इस प्रकार के शुभराग से ज्ञान खिलेगा, तो यह एकान्त मानता है; परन्तु ज्ञान

ज्ञानस्वभाव में से खिलता है- ऐसे निश्चय स्वभाव को नहीं मानता और अकेले व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जायेगा ऐसा मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। शास्त्र भक्ति के लिये लाखों रूपये खर्च करता है; परन्तु कोई पैसे के आधार से धर्म नहीं होता। शास्त्र मे कोई ज्ञान नहीं है। शास्त्र में कथित अपना स्वभाव क्या है? यह समझकर उसके अवलम्बन से ज्ञान प्रगट होता है। अज्ञानी ऐसा तर्क करते हैं कि समयसार पढ़ने से एकान्त निश्चय हो जाता है; इसलिये समयसार नहीं पढ़ना चाहिये। अपनी बात के समर्थन में वे पण्डित बनारसीदासजी का दृष्टान्त देते हैं; परन्तु वह दृष्टान्त सबके लिये लागू नहीं होता। वे तो पहले एकान्त निश्चयाभासी हो गये थे; परन्तु इससे समयसार के पठन का निषेध नहीं हो सकता। निश्चय स्वभाव को समझे बिना अकेले व्यवहार क्रियाकाण्ड कितने ही करे तो भी उससे किंचित् भी कल्याण नहीं होता। (अज्ञानी) शास्त्र का बहुमान करता है, गुरु आदि का उपकार समझकर उनका बहुमान-भक्ति करता है; परन्तु गुरु तो कहते हैं कि तेरी प्रभुता तेरे आत्मा में भरी है, उसकी प्रतीति कर! स्वयं अन्तर्मुख होकर ऐसी प्रतीति नहीं करता, अकेले विनय आदि के राग को ही धर्म मानता है तो वह विनय मिथ्यादृष्टि है।

भाई! तेरा सम्यग्दर्शन तेरे द्रव्य के अवलम्बन से है। तेरा सम्यग्दर्शन गुरु के पास नहीं पड़ा है। तो भी सच्चे ज्ञानी गुरु मिले बिना कोई जीव स्वयं स्वतः सम्यग्दर्शन प्राप्त करले- ऐसा भी नहीं होता। धर्म प्राप्त करने वाले जीव को निमित्तरूप सद्गुरु होते अवश्य हैं; फिर भले ही वे इस भव में मिले हों या परभव में मिले हो; परन्तु गुरु होते अवश्य हैं; तथापि गुरु से ज्ञान प्राप्त हो जाता है- ऐसा भी नहीं है।

(व्यवहाराभासी) शास्त्र के अर्थ, अक्षर और अर्थअक्षर- ऐसे तीन प्रकार की शुद्धता रखने का विचार करता है, वह भी शुभभाव है, ऐसा शुभभाव बीच में आता अवश्य है; परन्तु जो स्वभाव को चूककर अकेले उस राग में ही धर्म मानकर प्रवर्तता है वह मिथ्यादृष्टि व्यवहारमूढ़ है। गणधर देव को भी चिदानन्द स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता प्रगट होने पर भी पूर्ण वीतरागी स्थिरता प्रगट न हुई हो वहाँ तक ज्ञानाचार आदि का शुभराग आता है। विकल्प आना अलग बात है और उसमें ही धर्म मानकर अटक जाना तो मिथ्यात्व है।

अहिंसा पालना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य पालना, परिग्रह छोड़ना- ऐसे पंच महाव्रत के विकल्प भी शुभराग है- आस्रव है। अज्ञानी उस राग को ही सर्वस्व मान लेता है; परन्तु राग तो अध्यवसाय है। सर्वज्ञदेव ने अध्यवसायों को त्याज्य कहकर व्यवहारनय का ही त्याग कराया है। आचार्य अमृतचन्द्र देव श्री समयसार कलश (173 वें) में कहते हैं कि:- 'समस्त वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं वे समस्त अध्यवसान जिन भगवंतों ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं; इसलिये हम ऐसा मानते हैं कि "पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है" तो फिर, सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निष्कम्परूप के अंगीकार करके शुद्धज्ञान धनरूप निज महिमा में (-आत्म स्वरूप में) स्थिरता क्यों नहीं करते-

इस श्लोक की टीका करते हुए पण्डित बनारसीदास जी कहते हैं

असंख्यात लोक परवांन जो मिथ्यात्वभाव,
तेहि विवहारभाव केवली-उकत है।
जिन्हकौं मिथ्यात गयौ सम्यक् दरस भयो,
ते नियत लीन व्यवहार सौं मुक्त हैं।।

अहो संतों! भगवान ने तो निश्चय स्वभाव का ही अवलम्बन कराकर समस्त व्यवहार को छुड़ाने का उपदेश दिया है। जो जीव शुद्ध स्वभाव का अवलम्बन करता है वह जीव समस्त व्यवहार के विकल्पों को छोड़कर मुक्ति पाता है। भगवान ने व्यवहारनय के अवलम्बन से लाभ मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है।

संतों को छठवें गुणस्थान में पंचमहाव्रत का शुभ विकल्प आता है वह भी आस्रव है। वह बर्हिधर्म है अर्थात् वस्तुतः वह धर्म नहीं है। राग धर्म कैसे हो सकता है? शास्त्रों का तात्पर्य तो वीतरागभाव है और वही धर्म है। पंच महाव्रत का रागभाव भी निश्चय से अचारित्र है। वह कोई मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो वीतराग स्वरूप आचरण है और वही वास्तविक चारित्र है। निश्चय स्वभाव की स्थिरता पूर्वक बीच में (साधक दशा में) पंच महाव्रतादि का राग आता अवश्य है; परन्तु ज्ञानी उसको धर्म नहीं मानते। अज्ञानी निज स्वभाव को चूककर राग में ही

धर्म मानता है। अतः उसको तो शुभराग के साथ मिथ्यात्व का सेवन होता है। इस कारण उसके शुभराग की क्या गिनती है? उसके शुभराग को तो मिथ्यात्वरूपी बड़ा पाड़ा चबा जाता है।

पहले राग सर्वथा नहीं मिटता; परन्तु राग की रुचि छूटकर स्वभाव की रुचि होनी चाहिये। जिसको जैसी रुचि है होती है, उसको चौबीसों घन्टे उसी जाति का अनुमोदन आया करता है और वैसे ही भाव को घोंटा करता है। जिसको स्वभाव की रुचि हुई है वह प्रतिक्षण स्वभाव का ही आदर करता है, राग होने पर भी उसको राग का आदर तथा रुचि नहीं है।

अज्ञानी स्वभाव की रुचि छोड़कर राग की रुचि से पांच समिति इत्यादि का शुभराग करता है, वह एकान्त व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी पर जीवों की रक्षा करने को धर्म कहता है, परन्तु कोई भी जीव पर जीव की रक्षा तो कर ही नहीं सकता; इसलिये वह कोई जैनधर्म नहीं है और परजीव की रक्षा का शुभभाव होता है वह भी जैनधर्म नहीं हैं। जैनधर्म तो वीतरागभाव है और वह वीतरागभाव चिदानन्द स्वभाव के अवलम्बन से होता है। अज्ञानी जीव राग में धर्म मानता है-इस कारण वह अपना सारा प्रयत्न पांच समिति, गुप्ति इत्यादि में ही जोड़ देता है। वह स्वभाव सन्मुखता का किंचित् भी प्रयत्न नहीं करता है-इस कारण वह एकान्त व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

तथा बाहर में अनशन करता है, कम खाता है, अमुक वस्तु छोड़ देता है, रस का परित्याग करके लूखा भोजन करता है, एकान्तवास में रहता है, काय क्लेश करता है-इस प्रकार अभिमान से नही, परन्तु मंद कषाय से करता है और उसमें धर्म मानकर सदा वहाँ ही उत्साह किया करता है। इस प्रकार वह शुभ में धर्म मानकर वहाँ ही प्रवर्तता है, उसको किंचित् मात्र भी धर्म नहीं होता है। अज्ञानी मानता है कि बाहर की वस्तु का त्याग कर दूँ तो धर्म होगा। परन्तु भाई! बाहर की वस्तु तो तुझसे भिन्न ही पड़ी है। जो उसका त्याग करना मानकर उसका अहंकार करता है वस्तुतः उसने स्वधर्म का त्याग किया है। अज्ञानी को, स्वभाव के आश्रय से शुद्धता होने पर राग

टूटता है-इस बात का भान नहीं है और बाहर में त्याग करूँ तो राग छूटेगा-ऐसा वह मानता है। भाई! तू अपने ज्ञायकस्वभाव को संभाल और उसमें एकाग्र रह, उसका नाम वास्तविक विविक्तशय्यासन आदि तप है। जो यह समझता है कि पर द्रव्य लाभ-नुकसान नहीं करता; उसको पर द्रव्य के संग की भावना छूटकर स्वभाव की भावना होती है और उसका राग भी बहुत टूट जाता है। पर द्रव्य से नुकसान नहीं है-इसका यह अर्थ नहीं है कि कैसे भी स्वच्छन्दभाव का सेवन करना चाहिये। स्वच्छन्दभाव का सेवन करने वाला तो अकेले पाप का सेवन करता है, यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो जो जीव अशुभभाव छोड़कर व्रत, तपादि के शुभभाव करता है और उस शुभभाव को ही धर्म मानता है; परन्तु स्वभाव का भान नहीं करता वह जीव भी मिथ्यादृष्टि है-यह कहना है। जो जीव स्वभाव का अवलम्बन नहीं करता और राग में ही सर्वस्व मान लेता है उस जीव को धर्म बिलकुल नही होता।

सहज पाप लगने पर सरलता से प्रायश्चित ले, देव-गुरु की सेवा-विनय करे, शरीर से उदासीनता रखे, स्वाध्याय करे और शुभविकल्पोंरूप ध्यान करे-ऐसे शुभभाव करे और उस राग को ही मोक्ष का कारण माने व चैतन्यस्वभाव को नहीं जाने तो वह व्यवहारमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। स्वभाव की दृष्टि रहित अकेले शास्त्र सन्मुखता की बुद्धि भी कलंकित बुद्धि है। जो स्वभाव को तो पढ़ता नहीं और मात्र शास्त्र पढ़कर कल्याण मानता है वह जीव भी बहिर्मुख बुद्धि वाला है। चैतन्यस्वभाव की रुचि नहीं करे और राग की रुचि करके उसको धर्म मानले उस जीव को चैतन्य का ध्यान नहीं होता। वह शुभ विकल्प करके उसको ध्यान मानता है; परन्तु वह वास्तविक ध्यान नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि-

गम पड़े बिना आगम अनर्थकारक हो जाता है।
सत्संग बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है।
संत बिना अंत की बात का अंत नहीं पाता।
लोकसंज्ञा से लोकाग्र में नहीं जाया जाता।

'ज्ञानार्णव' आदि ग्रन्थों में व्यवहार धर्मध्यान का वर्णन अनेक प्रकार से आता है; परन्तु वह तो शुभराग है। चैतन्य के ध्यान पूर्वक ऐसा शुभविकल्प होता है उसको व्यवहार से धर्म ध्यान कह दिया है; परन्तु जिसको अभी चैतन्य का भान भी नहीं है और बाहर के क्रियाकाण्ड के राग से धर्म मानता है, उसके तो निश्चय ध्यान ही नहीं होता और निश्चय धर्म ध्यान के बिना शुभराग को व्यवहार धर्म ध्यान भी नहीं कहा जाता। जो आत्मस्वभाव की तरफ आंशिक भी वीर्य (पुरुषार्थ) नहीं झुकाता, जहाँ स्वभाव के आश्रय की बात आवें वहाँ उसका तो नकार आता है और शुभरागरूप व्यवहार के अवलंबन में ही सम्पूर्ण शक्ति को रोक दिया है-ऐसा जीव एकान्त व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। उसने कर्मचेतना की प्रधानता से अशुभ कर्म की प्रवृत्ति तो दूर की है और शुभकर्म की प्रवृत्ति को अंगीकार करके उसमें प्रवर्तता है; परन्तु कर्म चेतना रहित शुद्धज्ञानचेतना क्या है-इसें नहीं जानता, वह जीव क्रियाकाण्ड के आडंबर से गर्वित है; परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से गर्भित ऐसी शुद्धज्ञान चेतना को वह किसी काल में प्राप्त नहीं करता। ऐसे जीव को क्या होता है? कि बहुत पुण्याचरण के भार से गर्भित चित्तवृत्ति को वह धारण करता है। वह शुभभाव में खेद-खिन्न, आकुल-व्याकुल रहता है।

ऐसे जीवों के लिये कहा है कि-

सौ साधन बार अनन्त धर्या, रह्यों न कोई उपाय

सत् साधन समझ्यों नहिं,वहाँ बंधन क्या जाय?

जिसको चिदानन्द स्वभाव का भान नहीं है और केवल व्यवहारनय के अवलम्बन से लाभ मानता है-ऐसा केवल व्यवहारालम्बी मिथ्यादृष्टि जीव शुभभाव से स्वार्गादिक के क्लेश की परंपरा पाता है। अज्ञानी को स्वर्ग में भी क्लेश है। अभी पुण्य करके स्वर्ग में जाऊँगा और वहाँ से भगवान के पास जाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करूँगा।-इस प्रकार जो जीव वर्तमान में राग की रुचि करता है वह मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी को ज्ञानकला का भान नही है। अज्ञानी जीव परम ज्ञानकला के अभाव से बहुत काल

पर्यंत संसार में परिभ्रमण करता है। देखो! ज्ञानी को ज्ञानकला जागृत है, उनको राग की रुचि नहीं होती, वे सहज वैरागी हैं।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि:-

ज्ञानकला जिनके घट जागी, सो जगमांहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषय सुख मांही, यह विपरीत संभवें नांही॥

ज्ञानी को स्वभाव का भान हुआ है, इसलिये वे सहज वैरागी होते हैं। उनको विषयों में सुख बुद्धि हो-ऐसा कभी नहीं होता।- ऐसे ज्ञानी तो अल्पकाल मे मोक्ष प्राप्त करते हैं। तथा व्यवहार की रुचि वाले जीव अनन्त काल संसार में परिभ्रमण करते हैं।

इस प्रकार एकान्त व्यवहारालंबी मिथ्यादृष्टि जीवों का वर्णन किया।

परिशिष्ट - 2

पंचास्तिकाय संग्रह में समागत

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप

(अब केवलनिश्चयावलम्बी (अज्ञानी) जीवों का प्रवर्तन और उसका फल कहा जाता है:-)

... अब, जो केवलनिश्चयावलम्बी हैं, सकल क्रियाकर्मकाण्ड के आडम्बर में विरक्त बुद्धिवाले वर्तते हुए, आँखो को अधमुँदा रखकर कुछ भी स्वबुद्धि से अवलोक कर यथासुख रहते हैं (अर्थात् स्वमतिकल्पना से कुछ भी भास की कल्पना करके इच्छानुसार-जैसे सुख उत्पन्न हो वैसे-रहते हैं) वे वास्तव में भिन्नसाध्यसाधन भावको तिरस्कारते हुए, अभिन्नसाध्यसाधन भाव को उपलब्ध न करते हुए, अंतराल में ही (-शुभ तथा शुद्ध के अतिरिक्त शेष तीसरी अशुभदशा में ही) प्रमादमदिरा के मद से भरे हुए आलसी चित्तवाले वर्तते हुए, मत्त (उन्मत्त) जैसे, मूर्च्छित जैसे, सुषुप्त जैसे, बहुत घी-शक्कर-खीर खाकर तृप्ति को प्राप्त हुए (तृप्त हुए) हों ऐसे, मोटे शरीर के कारण जड़ता (मंदता, निष्क्रियता) उत्पन्न हुई हो ऐसे, दारूण बुद्धिभ्रंश से मूढ़ता हो गई हो ऐसे, जिसका विशिष्टचैतन्य मुँद गये हैं ऐसी वनस्पति जैसे, मुनीन्द्र की कर्मचेतना को पुण्यबन्ध के भय से न अवलम्बते हुए और परम नैष्कर्म्यरूप ज्ञानचेतना में विश्रान्ति को प्राप्त न होते हुए (मात्र) व्यक्त-अव्यक्त प्रमाद के आधीन वर्तते हुए, प्राप्त हुए हलके (निकृष्ट) कर्मफल की चेतना के प्रधानपने वाली प्रवृत्ति जिसे वर्तती है ऐसी वनस्पति की भाँति, केवल पाप को ही बाँधते हैं। कहा भी है कि:- णिच्छयमालम्बंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता। णासंति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई।। (अर्थात् निश्चय का अवलम्बन लेनेवाले परन्तु निश्चय से (वास्तवमें) निश्चय को न जानने वाले कुछ जीव बाह्य चरण में आलसी वर्तते हुए चरणपरिणाम का नाश करते हैं।)

अब जिस जीव को शुद्ध निश्चय स्वभाव का भान तो नहीं है; परन्तु मात्र शुद्ध निश्चय की बातें करता है और व्यवहार के शुभभाव को छोड़कर स्वच्छन्दता का सेवन करता है-ऐसे एकान्त निश्चयाभासी जीव की बात करते हैं। शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा व ज्ञान होने के पश्चात् उसमें पूर्ण लीनता न हो वहाँ तक साधकदशा में गणधरदेव

को भी शुभराग आता है। जो जीव उस व्यवहार को नहीं मानता, भूमिकानुसार कैसा राग घटता है उसका विवेक नहीं करता और मात्र निश्चय की बातें करता है तो वह भी स्वच्छन्दी है।

देखो! निश्चय स्वभाव तो आदरणीय ही है; परन्तु जिसको निश्चय स्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई हो उसके ज्ञान में पर्याय का सम्यक्विवेक होता है। परद्रव्य से आत्मा को पाप नहीं लगता-ऐसा कहकर रात्रि में खाने का भाव करे, स्त्री के संग का भाव करे-ऐसे स्वच्छन्द परिणामों का सेवन करने वाला जीव भ्रष्ट है। उसको निश्चय का भी भान नही है और व्यवहार का भी भान नहीं है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में धर्मी को भगवान की पूजा, देव-गुरु का विनय, साधर्मी के प्रति वात्सल्य, धर्म की प्रभावना इत्यादि के उल्लासमय भाव आये बिना नहीं रहते। जो जीव इन शुभभावों को आडम्बर कहकर छोड़ देता है और अशुभभाव का ही सेवन करता है तो वह जीव स्वच्छन्दी और भ्रष्ट है। वह जीव वस्तुस्वरूप को नहीं जानता। जिसको निश्चय की दृष्टि होती हैं उसको पर्याय में कितना वैराग्यभाव होता है! (इसका उसे पता नहीं है।)

समयसार में 'सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु है'- ऐसा कहा है वह तो शुद्ध स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से कहा है। भोग के भाव के समय भी सम्यग्दृष्टि को शुद्धस्वभाव की दृष्टि नहीं छूटती-इस अपेक्षा से दृष्टि के जोर में उसे निर्जरा कहीं है। परन्तु जो रागभाव है वह तो उसके भी बंध का भी कारण है; रागभाव के कारण निर्जरा नहीं होती। इस प्रकार परिणाम का विवेक नहीं करके कैसे भी स्वच्छन्दभाव में प्रवर्ते वह तो मूढ़ है। जिस भूमिका में जो-जो योग्य है वह समझना चाहिये।

जिसको अन्तर में चिदानन्द ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि हुई हो उसको बहुत राग छूट जाता है और राग के निमित्तों की ओर का झुकाव भी छूट जाता है। अज्ञानी स्वभाव का भान भी नहीं करता और जैसी पर्याय होने वाली होगी वैसी पर्याय क्रमबद्ध होगी-ऐसा कहकर व्रतादि के परिणामों से उदासीन होकर तीव्र विषय-कषाय भाव का सेवन करता है। जो कुदेवादिक को माने और सच्चे देवादि के प्रति प्रेम होना नहीं माने वह जीव तो मिथ्यादृष्टि है। अपने परिवार की अपेक्षा भी धर्मी जीव को साधर्मी के प्रति अधिक प्रेम आता है।

जिसको देव-गुरु के प्रति प्रेम नहीं आता, साधर्मी के प्रति प्रेम नहीं आता और विषय-कषाय के पाप परिणामों का सेवन करता है-ऐसा जीव तो भ्रष्ट है। देखो! बीच में शुभराग, पूजा-भक्ति आदि व्यवहार आता है; परन्तु मोक्षमार्ग तो निश्चय स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव ही है। देखो! भूमिकानुसार आने वाले शुभरागरूप व्यवहार को ज्ञानी जानता है; परन्तु उस राग को मोक्षमार्ग नहीं मानता। बीच में व्यवहार आता है, यदि उसे मोक्ष का कारण मानो तो ही व्यवहार का माना कहा जाये -ऐसा नहीं है। व्यवहार से निश्चय होना मानने वाला व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है और शुभराग मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिये शुभ का विकल्प छोड़कर अशुभराग करे मद्य, मांसादि खाने के भाव करे और निश्चय की दृष्टि है-ऐसा कहे तो वह एकान्त निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। मद्य-माँस के भक्षण की वृत्ति तो महापाप है, धर्मी के ऐसी वृत्ति नहीं होती।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय गाथा-74 में कहा है कि-जो पुरुष दुःखदायक, दुस्तर और पापों के स्थानरूप इन आठ पदार्थो को छोड़कर निर्मल बुद्धिवाला होता है वही जिनधर्म के उपदेश के सुनने का पात्र बनता है। (मद्य,मांस, मधु और पंच उदम्बर फल ये आठ पदार्थ हैं।)

जिसको मांस भक्षणादि का भाव होता है,वह जीव तो उपदेश सुनने का भी पात्र नहीं है; तो फिर सम्यग्दृष्टि जीव को मांस भक्षण होगा ही कैसे। नामधारी जैन को भी मांसादि का भोजन नहीं होता। जिसको स्वभाव की रुचि हो-ऐसे जीव को मांसादि भक्षण का तीव्र रागभाव होता ही नहीं। इस प्रकार का तीव्र रागभाव तो सहज ही छूट जाता है। कोई कहे कि स्वभाव की रुचि रखना, मांसादि भक्षण में कोई बाधा नहीं है-तो वह जीव निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को जाने बिना बक रहा है। सम्यग्ज्ञानी को भूमिका का सब प्रकार का विवेक सहज होता है। निश्चय-व्यवहार दोनो का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये।

अपनी कल्पना से अपने में अभेद निश्चय साधन-साध्य मानता है और अशुभ सहित मिथ्यात्वरूप प्रमाद में मूर्छित वर्तता है। 'अतोभ्रष्ट ततो भ्रष्ट' होकर न तो निश्चय को पाते हैं और न व्यवहार-शुभभाव को पाते हैं। (उनको) मोक्षमार्ग की पर्याय का तथा राग का विवेक नहीं है, सत्शास्त्र का स्वाध्याय नहीं है, सत्समागम नहीं है,

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का विनय नहीं है और स्वच्छन्दता से मूढ़ होकर रहते हैं। प्रमादरूपी मदिरा से मस्त रहते हैं और कहते हैं कि शुद्ध उपयोग में है। परन्तु गणधरदेव को भी निर्विकल्पदशा अधिक काल तक नहीं रहती तो मुझे कैसे होगी? जैसे कोई बहुत घी-शक्कर, दूध आदि गरिष्ठ पदार्थ खाकर मूर्छित- आलसी जड़ समान होकर रहता है; उसी प्रकार शुष्कज्ञानी ज्ञायक की जागृति के बिना मूढ़ता में आनन्द मानकर, सत्साधनों का निषेध करके मूढ़ होकर प्रमाद में रहता है।

'सत्तास्वरूप' में आता है कि जैसे किसी स्त्री का पति दीर्घकाल से परदेश गया हो तथा उसके कोई समाचार नहीं मिलने से किसी पुरुष की सेवा करती है और उसका सम्मान करती है उसकी तन-मन-धन, द्रव्य-क्षेत्र-काल-कषाय द्वारा सेवा करती है; कभी भाग्ययोग से उसका सच्चा पति मिले और उस पुरुष की अपेक्षा (पति के प्रति) अधिकपने वर्तन नहीं करे तो वह स्त्री कुल्टा है। इसी प्रकार धर्मी को सच्चे देवादि के सम्बन्ध में होना चहिये। निचली भूमिका में शुभराग होता है; परन्तु उससे धर्म मानने वाला निश्चय से भ्रष्ट है वह, तथा निश्चय वीतराग दृष्टि और स्वरूप स्थिरता बिना कथनमात्र निश्चय वाला पुरुष प्रमाद में संतोष मानता है वह, -दोनो निगोद वनस्पति होने वाले हैं।

मिथ्यात्व अवस्था में त्रस पर्याय का काल अधिकतम दो हजार सागर का है। अज्ञानी कभी पुण्य करे तो साता वेदनीय की 15 कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति बांधता है; परन्तु वह उसे भोग नहीं सकता; कारण कि मिथ्यात्व का जोर है। इसलिये वह उस स्थिति को तोड़कर अशुभ के बल से निगोद में ही जायेगा। जबकि समकिती को अन्तः कोड़ाकोड़ी से अधिक कर्म की स्थिति नहीं बंधती। ज्ञानी के शुभ (पुण्य) का अनुभाग अधिक होता है; परन्तु स्थिति; जो कि संसार है, वह लम्बी नहीं होती। किसी समय बांधे, तो भी उतनी स्थिति नहीं भोगता; बल्कि स्वभाव के जोर से उस स्थिति को तोड़कर मोक्ष में ही जायेगा।

जिसको निश्चय-व्यवहार का भान नहीं है वह व्रतादि को शुभास्रव जानकर पुण्य बंध के भय से छोड़ देता है और मुनिपद में होने योग्य 28 मूलगुणादि शुभरागरूप कर्मचेतना का एकान्त निषेध करता है। 'पुण्य नहीं चाहिये'- ऐसा कहकर शुभ-व्यवहार का अवलम्बन छोड़ देता है तथा निष्कर्मरूप निर्मल ज्ञानचेतना को तो किसी प्रकार

अंगीकार किया ही नहीं है- इस कारण से पराश्रय में ही सावधान है। अतिशय चंचलभाव को धारण करता है। देह-संसार-भोग की लगनी है। निश्चय-व्यवहार का कुछ विवेक नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय में भी प्रेम नहीं है- इस कारण वह प्रगट-अप्रगट प्रमाद के आधीन है। महाअशुभभाव से भावीकाल में एकेन्द्रियदशा, कि जिसमें कर्मफल चेतना मुख्य है उसको प्राप्त करने वाला होने से वनस्पति समान जड़ है।

समयसार में कहा है कि अज्ञानी शास्त्र पढ़-पढ़कर भी पराश्रय संसार की पुष्टि करता है। 'विद्वत्जन भूतार्थ तज व्यवहार में वर्तन करे!' विद्वान नाम धराकर निश्चय तत्वज्ञान का स्वाश्रय छोड़कर पराश्रय व्यवहार का पक्ष करके वर्तता है; परन्तु कर्मक्षय का विधान तो परमार्थ स्वरूप ज्ञायक के आश्रय से ही है उसे वह नहीं जानता। भगवान ने व्यवहार का फल तो संसार कहा है- इसका उसे पता नहीं है। तथा जो निश्चय का नाम लेकर शुभ परिणाम का विवेक छोड़कर प्रमाद में ही वर्तता है, भूमिकानुसार होने वाले व्यवहार को नहीं जानता वह स्वच्छन्दी होकर अन्याय करके, अभक्ष्य सेवन करके महाअशुभ करके शीघ्र नरक-निगोद में जायेगा। सच्चे देव-गुरु-धर्म, साधर्मी के प्रति प्रेम, पूजा, भक्ति, अनुमोदन नहीं करता वह केवल पाप ही बांधता है।

जो कोई निश्चय की रुचि और ज्ञान नहीं करता, निश्चय का विषय क्या है और निश्चय का विषय करने वाला कैसा है- त्रिकाल है या वर्तमान है- यह भी नही जानता। निश्चयनय तो श्रुतज्ञान की पर्याय होने से वर्तमान है तथा उसका विषय त्रिकाल है। उसका अन्तरंग साधन त्रिकाल शुद्ध कारण परमात्म स्वभाव है, उसका फल वीतरागी अविनाशी शान्ति है- इसका भान नहीं है। सच्चे देवादिक की विनय, नवतत्व, छह द्रव्यों का ज्ञान नही करता। सच्चे गुरु के विनय करके की पात्रता नही लाता और कहता है कि आत्मा ही आत्मा का गुरु है, अन्दर से ज्ञान हो जायेगा; परन्तु सच्चे ज्ञान में कौन ज्ञानी निमित्तरूप थे इसका विवेक नहीं है वह मूढ़ है। जिसको स्व-परप्रकाशक सम्यग्ज्ञान होता है तो सत् का सत् निमित्त कौन हो यह जानता ही है और स्वसन्मुख वीतरागी दृष्टि की मुख्यता होती है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार की संधि वाले को मोक्षमार्ग होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन प्रकाशन (चार भाग) में कीमत कम करने हेतु प्राप्त राशि

२०,०००.००	श्रीमान् बाबूलालजी तोतारामजी जैन लुहाडिया, भुसावल
	५०००.०० श्रीमती ओमलता लालचंदजी लुहाडिया, भुसावल
	५०००.०० श्रीमान् योगेन्द्र कुमारजी लालचंदजी लुहाडिया, भुसावल
	५०००.०० श्रीमान् ज्ञानचन्दजी बाबूलालजी जैन लुहाडिया, भुसावल
	५०००.०० श्रीमान् महेन्द्रकुमारजी बाबूलालजी जैन लुहाडिया, भुसावल
११,०००.००	श्रीमान् आलोक कुमारजी जैन, कानपुर
१०,०००.००	श्रीमान् विक्रान्तजी पाटनी पुत्र श्री हितेशकुमारजी पाटनी, झालरापाटन
५,१००.००	श्रीमती भारती विजयकुमारजी जैन, दादर, मुम्बई
५,०००.००	श्रीमान् भबूतमलजी चम्पालालजी भंडारी, बेंगलोर
५,०००.००	श्रीमान् चन्द्रप्रकाशजी मदनलालजी गोधा, मुम्बई
२,५०१.००	श्रीमती पुष्पलता जैन जीजीबाई ध.प. श्री अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाडा
२,५००.००	श्रीमती प्रीति हेमन्तजी संघवी, पूनम अपार्टमेन्ट, मुम्बई
२,५००.००	श्री नवीनचन्दजी करणमलजी भूता दादर, मुम्बई
२,००१.००	स्व. धर्मपिता श्री कुमार बा. आहाके की पुण्य स्मृति में
	ह. सौ. स्नेहल रोकडे जैन डोम्बीवली
२,०००.००	श्री कैलाशचंदजी शैलेन्द्रकुमारजी चांदवाड, झालरापाटन सिटी
१,१००.००	श्री कमलजी बोहरा, कोटा
१,१००.००	डॉ. बाबूभाई एम दोशी, कडियाडारा, गुजरात
१,१००.००	श्री बसन्तलाल एम. दोशी, मुम्बई
१,१००.००	डॉ. शिरढोणे बी.ए. एवं डॉ. कुमारी
१,१००.००	श्री सूरजमलजी सोनी दानफंड हस्ते गजेन्द्रजी सोनी, झालरापाटन सिटी
१,१००.००	श्री दिविज सेठी पुत्र श्री दिलीपकुमारजी सेठी, झालरापाटन सिटी
१,००१.००	श्रीमती मधुबेन वीरेन्द्रकुमारजी जैन बोरीवली
१,००१.००	सौ. अबोली दिग्विजय गुलालकरी, पनवेल
१,००१.००	सौ. सोनाली संजय दुधेकर, अमेरिका
१,००१.००	श्री सुरेन्द्र कुमारजी पाडलिया, प्रतापगढ (राज)
१,०००.००	श्री हिम्मतलाल हरीलाल शाह, दादर
१,०००.००	श्रीमती सुशीलादेवी देवेन्द्रकुमारजी पांडया, झालरापाटन सिटी
१,०००.००	श्रीमती निर्मला सोगानी धर्मपत्नी श्री पदमकुमारजी सोगानी, बांरा (राज.)

१,०००.००	श्रीमती हेमलता गंगवाल धर्मपत्नी श्री अशोक कुमारजी गंगवाल,बांरा(राज)
५७०.००	गुप्तदान ह. श्री विजयभाई जैन, (हिन्दमाता)
५०१.००	श्री के.डी. जैन उदगावे, सांगली
५०१.००	श्री निमित्त जैन, मलाड, मुम्बई
५०१.००	श्रीमती कमला निमित्त जैन, मलाड, मुम्बई
५००.००	श्री सतीश भाई मेहता, शिवाजी पार्क, मुम्बई
५००.००	गुप्तदान ह. विजयभाई जैन, दादर, मुम्बई
५००.००	श्रीमती संध्या शाह ध.प. श्री अरूणकुमारजी शाह, केकडी (राज.)
५००.००	श्रीमती संपतदेवी पाटनी ध.प. श्री रतनचन्दजी पाटनी, झालरापाटन (राज.)
२५०.००	श्रीमती लीलादेवी सौभागमल जैन कियावत नई दिल्ली
२००.००	श्रीमती पानादेवी ध.प. श्री मोहनलालजी सेठी गोहाटी, जयपुर ।

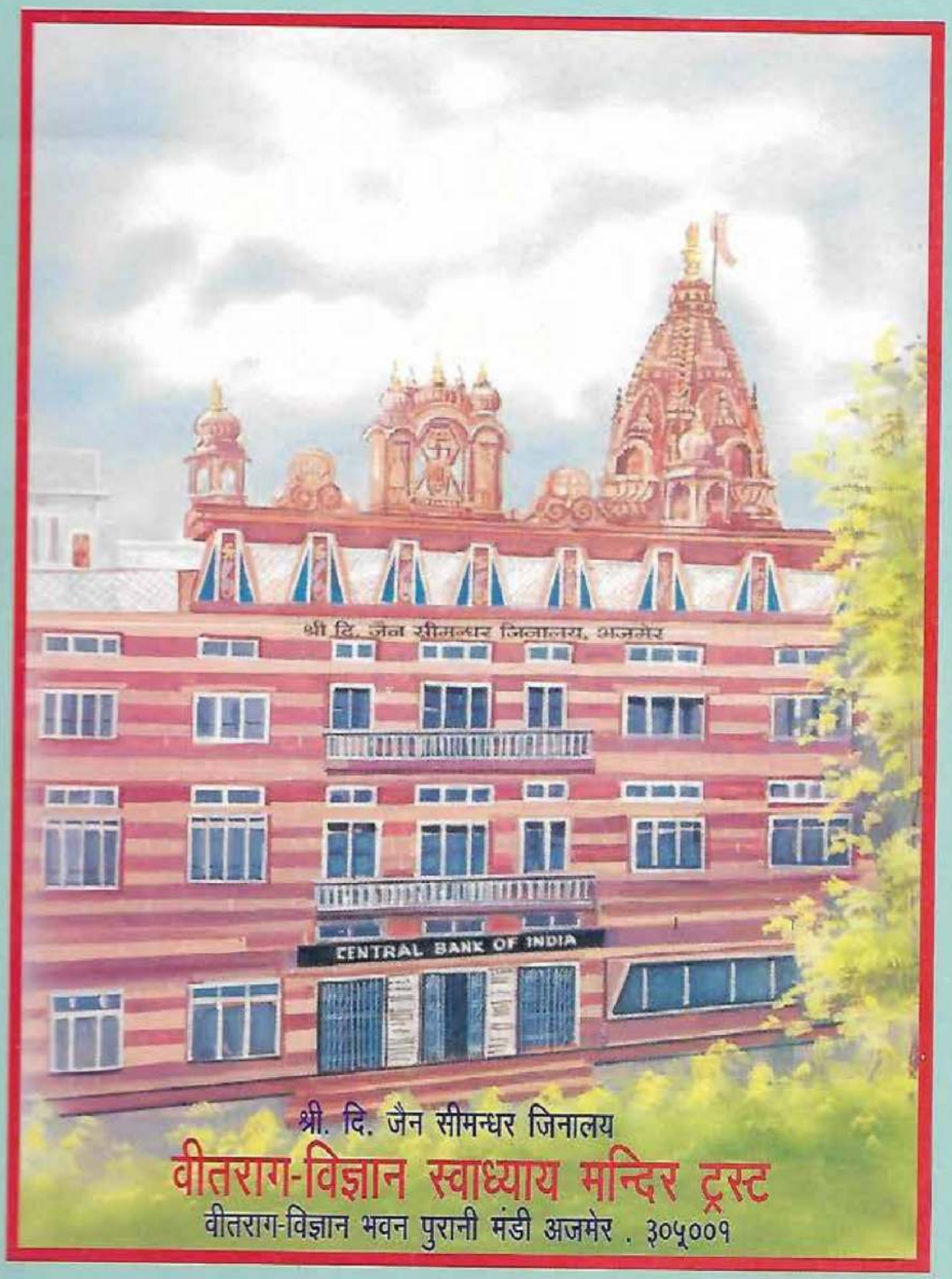

श्री. दि. जैन सीमन्धर जिनालय

वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

वीतराग-विज्ञान भवन पुरानी मंडी अजमेर . ३०५००१